महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

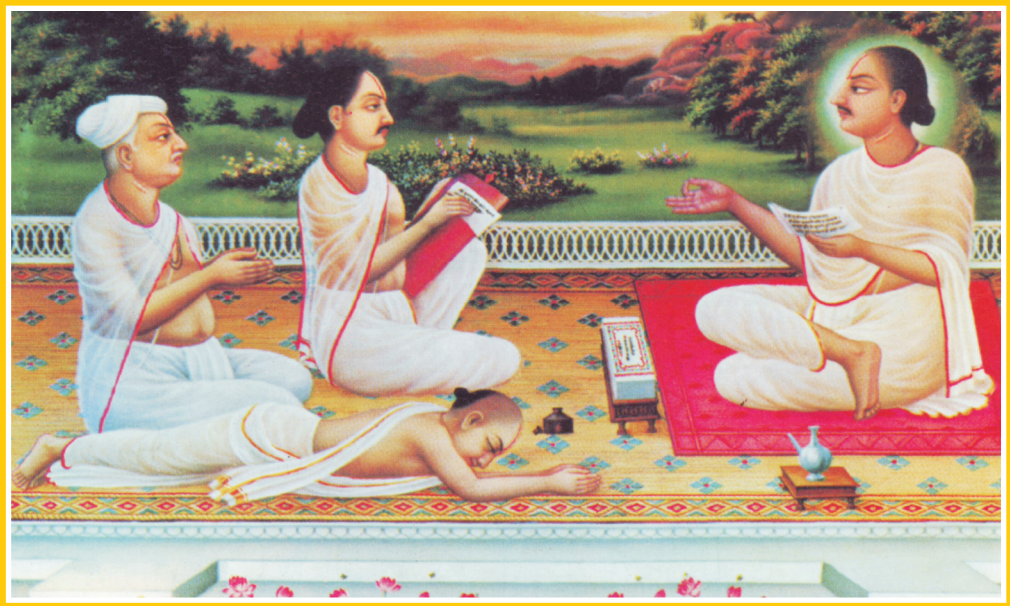

प्रथम स्कन्ध

(अध्याय १०-१९)

खंड २

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित श्रीभागवत विवृति

'सुबोधिनी' प्रथम स्कन्ध

हिन्दी भाषानुवाद

(अध्याय १०-१९)

द्वितीय खंड

(कुल दो खंड)

अनुवादक:

गो.वा.श्रीनारायणप्रसाद व्यास(कोटा)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

... तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास (श्रवण–स्मरण–कीर्तन) से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय. यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमें ही क्यों न अटक जायें परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके अन्य किसी भी उपायसे अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध.२।६७, २४३, २५४).

जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये जमीनमें खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

मुंह–हाथ–पांव आदि धोनेमें प्रयुक्त गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे अधम होते हैं दक्षिणा लेकर कथा करनेवाले ...आशय यह है कि गढ्ढेमें भरे हुवे प्रक्षालनोच्छिष्ट गंदे जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहिं होता ... पौराणिकोंके भावोंका निरूपण करनेके बाद जो गायकोंका निरूपण किया गया है वह यह दिखलानेकेलिए कि (आजीविकार्थ पुराणोंका उपयोग करनेवाले) पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य नीच ही होते हैं.

(श्रीकल्याणरायविरचित जलभेदविवृति ५).

।। प्रासंगिक ।।

यह ज्ञापित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवतकी विवृति 'सुबोधिनी'के हिन्दी अनुवादका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है.

यह तो सुविदित है कि मूल संस्कृत सुबोधिनीका पुनः प्रकाशन पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीके सम्पादकत्वमें श्रीवल्लभविद्यापीठश्रीविट्ठलेश-प्रभुचरण आश्रम ट्रस्ट, कोल्हापुर द्वारा किया गया है.

सुबोधिनीके गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी, गो.वा.श्रीमग्नलाल शास्त्री तथा गो.वा.श्रीव्रजलाल सांकळीया आदि विद्वानों द्वारा लिखित गुर्जरभाषानुवादका पुनः प्रकाशन श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा किया जा चुका है.

इसी तरह श्रीरामानुजमतानुयायी किन्तु सुबोधिनीके परम प्रेमी श्रीटी. रामनन्ने सुबोधिनीका अंग्रेजी अनुवाद करके उसे सद्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा मूल संस्कृत सहित प्रसिद्ध करवाया है, जो २४ खंडोंमें उपलब्ध होता है. यह अंग्रेजी अनुवाद श्रीरामन्ने श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर द्वारा प्रकाशित, सम्प्रति अनुपलब्ध, सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका ही किया है. वे लिखते हैं:

> "I owe a deep debt of gratitude to Sri Subodhini Parakashan Mandal (Jodhpur). My traslation is, to a very large extent, based on this book and I am, indeed, very grateful for this Mandal".

सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका प्रकाशन ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल''(जोधपुर) नामकी संस्थाको स्थापित करके उसके द्वारा गो.वा. श्रीनन्दलालजी मानधना,जोधपुर ने करवाया था. इनको इस भगीरथ कार्यमें गो.वा.श्रीरामचन्द्र(नन्ददास) वर्मा का साथ मिला. इन दोनों महानुभावोंकी निष्ठा प्रेरणा उत्साह और समर्पण से पुष्टिमार्गके अनेक विद्वानोंने मिल-जुलकर सुबोधिनीका अनुवाद तैयार किया. इनमें उल्लेखनीय हैं:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु (जोधपुर)

> दशमस्कन्धके नब्बे अध्यायोमेंसे चोहत्तर अध्याय; तृतीय स्कन्धके १७ से २१ अध्याय.

गो.वा.श्रीआनन्दीलालजी शास्त्री (श्रीनाथद्वारा)

प्रथम स्कन्धके १ से ९ अध्याय

गो.वा.श्रीनारायणप्रसाद व्यास(कोटा)

प्रथमस्कन्धके १० से १९ अध्याय.

गो.वा.पं.गोरधनजी शास्त्री(कोटा)

दशमस्कन्धके चौदह अध्याय,

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी(नाथद्वारा)

द्वितीय स्कन्धके १ से ४ अध्याय. तृतीय स्कन्धके २२ से ३३ अध्याय .

गो.वा.श्रीरमानाथ शास्त्री(कांकरोली)

द्वितीय स्कन्धके ५ से १० अध्याय.

इस अनुवादके संशोधन तथा सम्पादन कार्यमें पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला), गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी (श्रीनाथद्वारा) तथा गो.वा.श्रीरणछोड कलाधर भट्ट(मुम्बई) का भी योगदान रहा है. पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) तो ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर'' के संरक्षक भी हैं.

इस श्रीभागवत-सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादके पुनःप्रकाशनका यही एकमेव उद्देश्य है कि श्रीवल्लभवाङ्मय कभी भी किसी भी जिज्ञासुकेलिए अलभ्य न रहे. हमें विश्वास है कि इस पुनःप्रकाशनसे सुबोधिनीके अध्येताओंको अवश्य लाभ होगा.

अन्तमें सुबोधिनीके हिन्दी भाषानुवादके पूर्व प्रकाशक, अनुवादक, संशोधक, सम्पादक, द्रव्यसहायक आदि सभीके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा इस कार्यमें निःस्वार्थ भावसे सहयोग करनेवाले सभी वैष्णवोंका भी सादर स्मरण करते हैं.

सुबोधिनी स्वाध्याय मंडल

क्या आप पुष्टिमार्गी हैं?

एक बार श्रीवल्लभाचार्यके ये आदेश पढ़ें.

सोचें, क्या आप श्रीवल्लभके मार्ग पर चल रहे हैं?

परब्रह्म श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-रक्षक जानें. मन-वचन-कर्मसे अन्याश्रय कदापि न करें.

भगवानने पुष्टिजीवोंको अपनी स्वरूपसेवाकेलिये भूतल पर प्रकट किया है. कृष्णसेवा ही पुष्टिजीवका स्वधर्म है. अतः कृष्णसेवाको जो स्वधर्म समझता है वही पुष्टिजीव है और वही पुष्टमार्गमें प्रवेशके योग्य है.

भगवत् शास्त्रको अच्छी तरहसे समझकर, आत्मनिवेदित होकर अपने तन-धनसे अपने घरमें श्रीकृष्णकी सेवा करें.

घरमें बिराजते ठाकुरजीको ही अपना सर्वस्व समझें जो खास आप ही के उद्धारार्थ कृपा करके आपके घर पधारे हैं. उनको छोडकर अन्य ठाकुरजीके दर्शन-सेवा केलिये भटकना अपने सेव्यप्रभुका तिरस्कार है.

अपनी सभी वस्तु-व्यक्ति-व्यवहारका समर्पण अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें ही करें. वे ही उनके सच्चे स्वामी हैं.

अपने ठाकुरजीको सर्वस्व समर्पित करके उस समर्पित महाप्रसादसे ही खान-पान-दान आदि सभी लौकिक-शास्त्रीय कार्य करें. असमर्पित पदार्थके उपयोगका सर्वथा त्याग करें.

हवेली-मन्दिरोंमें भेंट-सामग्री देकर कराये जाते सेवा-मनोरथ पुष्टिसिद्धान्तके अनुसार सेवा-भक्ति है ही नहीं; वो न केवल सेवा-भक्तिके नामपर पाखंड है अपितु परम पवित्र भगवत्सेवाको धंधा बनानेवाले दुष्टोंको पोषित करना है.

भगवत्सेवा-मनोरथ-कीर्तनके निमित्त भेंट-सामग्री मांगना-स्वीकारना उनको व्यापार-धंधा बनाना है. ऐसा पाप करनेवालेका नर्कमें पात होता है.

अतः भगवत्सेवा–मनोरथ–कीर्तनके निमित्त किसीको कुछ भी न दें.

अनजानेमें भी यदि कोई अवैष्णव सेव्य ठाकुरजीका दर्शन कर लेता है तो हमारी एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. ऐसा हो जाने पर श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिये.

भगवत्सेवा अपने ही घरमें करें. सार्वजनिक हवेली–मन्दिरमें सेवा–मनोरथ करना पुष्टिसिद्धान्तके अत्यन्त विरुद्ध है.

दर्शनको कभी भक्ति न समझें. दर्शनका आग्रह उसीका रखें जो कृपा करके आपके घरमें आपकेलिये आपके माथेपर बिराज रहे हैं, जिनकी सेवा आप स्वयं कर रहे हैं.

मंदिर–हवेलियोंमें दिया जाता या वहांसे खरीदा जाता प्रसाद–पातल महापातकी देवद्रव्य होता है. ऐसा प्रसाद खानेवाला नर्कमें ही जाता है.

प्रसादका नहीं किन्तु घरके ठाकुरजीने जो अङ्गीकार किया है उस समर्पित महाप्रसादको लेनेका आग्रह रखें.

भगवत्सेवाकी ही तरह भागवतका पाठ भी स्वयं ही करें. भक्तिभावकी वृद्धिके अलावा दूसरे किसी भी हेतुसे भागवतका पाठ न करें.

प्राण निकल जायें तो भले ही निकल जायें परन्तु दक्षिणा लेकर भागवतकी कथा–कीर्तन कभी भी न करें.

दक्षिणा लेकर कथा–कीर्तन करनेवालोंके मुखसे कथा–कीर्तन सुनना गटरका पानी पीनेके समान हीन कृत्य है. व्यावसायिक कथावक्ताओंके संगको दुष्टसंग समझकर उनका त्याग करो.

।। अनुक्रमणिका ।।

भागवतार्थ निबन्धानुसार सारणी
भागवतार्थ निबन्ध प्रथम स्कन्ध १
श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्र (प्रथम स्कन्धके नाम) ९

प्रथम स्कन्ध

अधिकारलीला

प्रकरण ३: उत्तमाधिकार (अध्याय ७–१९)

(खंड १ से आगे)

अध्याय १०. पांडवोंका सुख १
अध्याय ११. द्वारकावासी भक्तोंका सुख ४२
अध्याय १२. परीक्षितके जन्मकी कथा ८४
अध्याय १३. विदुरके उपदेशसे धृतराष्ट्रादिका वनगमन १०९
अध्याय १४. उत्पात देखकर युधिष्ठिरकी चिन्ता; अर्जुनका आना १५६
अध्याय १५. श्रीकृष्णका निर्णय सुनकर पांडवोंका स्वर्गारोहण १७७
अध्याय १६. कलिद्वारा पीडित भूमिके पास परीक्षितका आना २२४
अध्याय १७. परीक्षितने कलिको दण्ड दिया २५४
अध्याय १८. परीक्षितको ब्राह्मणका शाप २८९
अध्याय १९. परीक्षितका गंगातट पर प्रायोपवेश, शुकदेवका आगमन ३३५

भागवतार्थ निबन्धानुसार प्रकरणादि विभाग

प्रथमस्कन्ध

अधिकार लीला

अधिकारी (श्रोता–वक्ता)

प्रकरण१: हीनाधिकारी अ.१–३.
प्रकरण२: मध्यमाधिकारी अ.४–६.
प्रकरण३: उत्तमाधिकारी अ.७–१९.

प्रकरण.१: हीनाधिकारी (शौनकादि–सूतजी)

अ.१. श्रोता–जिज्ञासुत्व
वक्ता–श्रुतभागवतत्व
अ.२. श्रोता–मात्सर्यरहितत्व.
वक्ता–चातुर्य
अ.३. श्रोता–श्रवणमें प्रीति.
वक्ता–गुह्यज्ञान

प्रकरण.२: मध्यमाधिकार (व्यासजी–नारदजी)

अ.४. श्रोता–भगवत्कृपा
वक्ता–भगवत्कृपा
अ.५. श्रोता–भगवदीयत्व
वक्ता–भगवदीयत्व
अ.६. श्रोता–भगवदेकत्व
वक्ता–प्रेमभक्ति

प्रकरण.३: उत्तमाधिकारी (अध्याय ७–१९)

श्रोता–परीक्षित
द्वादशाङ्ग पुरुषमें तत्पर–वैराग्यवान्
वक्ता–शुकदेव
द्वादशाङ्ग पुरुषमें तत्पर–वैराग्यवान्

भहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित तत्वार्थदीपनिबन्धका

।। भागवतार्थ प्रकरण ।।

प्रथम स्कन्ध

(अध्याय १०-१९)

इस तरह तीन सप्तम-अष्टम-नवम अध्यायोंका उपपादन करके अब उपसंहार करते हैं:

दुःखहानिस्त्रिभिःप्रोक्तासुखंचापितथात्रिभिः।स्वस्यसामान्यतःपूर्वंकृष्णप्रेमपुरःसरम्११४
तदुद्रेकोवियोगेस्यात्तदर्थंकृष्णनिर्गमः ।कृष्णासौख्येहितत्सौख्यमितिमूलेसुखाभिधा।।११५
पश्चाच्च पुत्रसंपत्त्या विशेषेणोपवर्ण्यते। मुक्तिस्त्रिभिस्तथा प्रोक्ता बीजकार्यफलैः स्फुटा।।

सप्तम, अष्टम, नवम इन तीन अध्यायोंसे दुःखकी हानिका निरूपण किया और दशम, एकादश, द्वादश इन तीन अध्यायोंसे सुखका वर्णन किया है. और त्रयोदश, चतुर्दश, पञ्चदश अध्यायोंमें मोक्षका वर्णन है. दशम, एकादश, द्वादश अध्यायोंमें जो सुख युधिष्ठिरको कहा है वह पहले सामान्य रूपसे कृष्णप्रेमपुरःसर ही था. परन्तु जब कृष्णका वियोग हुआ तो उस प्रेममें और अधिकता आ गई. इसलिये भगवान् कृष्णके निर्गमनका वर्णन है. कृष्णके सुखमें ही पाण्डवोंका सुख था इसलिये मूलमें सुखका कथन किया गया है. इसके बाद पुत्रकी प्राप्ति होने पर उस सुखकी अधिकताका वर्णन है. फिर आगेके १३, १४, १५ इन तीन अध्यायोंमें बीजकार्य और फलसे मुक्तिका वर्णन स्पष्टरूपसे है ।।११४-११६।।

दुःखहानि, सुखप्राप्ति और मोक्ष इनका तीन अध्यायोंसे प्रतिपादन किया गया है. इससे यह सिद्ध होता है कि पाण्डवोंका सब कुछ कृष्णके ही अधीन है. शंका होती है कि युधिष्ठिरके सुखके वर्णनमें भगवत्कथाका उपयोग कहां होता है? इस पर कहा हैं कि ''कृष्णसौख्ये हि तत्सौख्यम्'' कृष्णके सुखमें ही युधिष्ठिरका सुख है. अतः दो अध्यायोंमें कृष्णके सुखका वर्णन है और पुत्र प्राप्तिके कारण एक अध्यायसे युधिष्ठिरके सुखका वर्णन है. भगवान् कृष्ण तो जिस लिये आये थे उसीको करके सुखी होते हैं. भगवान् कृष्ण तो भक्तोंके उद्धारकेलिये आये थे अतः स्वकीय और परकीय दोनोंको ही प्रपञ्चसे मुक्त कर दिया. अतः दो अध्याय हैं. यहां तीन अध्यायोंमे जो प्रमेय है वह कुलिष्ट(प्रत्येक वाक्यके विचाराधीन ज्ञानजनक) है उसका अर्थ श्रीसुबोधिनी टीकासे ही स्पष्ट

होगा अतः उसे यहां नहीं कहा है.

आगेके तीन अध्यायोंका रूप बताते हैं 'मुक्तिस्त्रिभिः'. एक अध्यायमें बीज(धृतराष्ट्र)की मुक्ति कही है. धृतराष्ट्रका घरसे निकल जाना ही मुक्तिका बीज है. यदि वह घरसे निकल गया और मुक्त हो गया तो दूसरोंको भी अपनी मुक्तिमें विश्वास हो गया. इसीलिये बीजरूप मुक्ति पहले अध्यायका अर्थ है. नारदजीने जो धृतराष्ट्रके चरित्रको कहा उसका कारण यही था कि धृतराष्ट्रकी मुक्ति बीजरूप है. बीज मुक्तिसे जो कार्य युधिष्ठिर आदिका घरसे निकल जाना, वैराग्य हो जाना यह द्वितीय अध्यायका अर्थ है. और पाण्डवोंकी मुक्ति फलरूप है ।।११४-११६।।

शंका: पाण्डवोंकी मुक्तिका उपयोग कहां होता है? उस पर कहते हैं:

पूर्वजानां तथा मुक्तिः स्वस्य त्यागे हि साधनम् । त्यागे कृष्णलयश्चैव सर्वेषामुदितः स्फुटः।। तत्रत्यानां तदङ्गत्वं टीकायामेव वर्णितम् ।

अपने पूर्वजों(धृतराष्ट्र)को उस प्रकारकी मुक्ति युधिष्ठिर आदिके त्यागमें साधनरूप बनी और कृष्णका लय सभीके त्यागमें साधन बना. अर्जुनके स्वरूपका वर्णन भी उसीका अङ्ग होनेसे उसका वर्णन किया. इसका वर्णन टीकामें किया है ।।११७।।

पूर्वजोंकी जब तक मुक्ति नहीं होती तब तक उनके बादमें होनेवालोंकी मुक्ति नहीं होती इसका निरूपण पहले किया जा चुका है. दृष्टान्तके प्रकारसे भी यह उपयुक्त है. यहां श्रीपुरुषोत्तमजीने अभेद प्रतिभक्ति ऐसा लिखा है कि जहां मर्यादासे मुक्ति करते हैं वहां ही यह नियम है कि पूर्वजोंकी मुक्तिके बिना बादके मरनेवालोंकी मुक्ति नहीं होती. यदि ऐसा ही नियम सर्वत्र होता तो पाण्डुकी मुक्ति नहीं हुई तो पाण्डवोंकी मुक्ति कैसे हो गई? इसलिये आचार्यचरणोंने इसको दृष्टान्तके रूपमें लिया है. अर्थात् जिस मार्गका अनुसरण अपने पिता-पितामह करते आये वैसा ही आचरण उनकी संताने भी करती हैं. जैसे अपने पूर्वजोंने त्याग किया उसी तरह हमको भी त्याग करना चाहिये और जैसे हमारे पूर्वज मुक्त हुए उसी तरह हमको भी मुक्त होना चाहिये ''येनास्य पितरोयातायेन याताः पिता महाः'' यह नीति है.

यहां यह शंका होती है कि अर्जुनके स्वरूप वर्णन करने आदिका क्या प्रयोजन है? इसका निरूपण यहां निबन्धमें नहीं किया है किन्तु इस निबन्धके बनानेके पहले ही जो भागवतकी सूक्ष्म टीका की थी, उसमें इसकी संगतिका

निरूपण कर दिया था. अध्यायका अर्थ तो इतना ही है इसलिये यहां उस संगतिका निरूपण नहीं किया है. इसी तरह तृतीय प्रकरणमें गुणरूप नौ अध्याय हैं उनके प्रतिबन्धके अभावकेलिये निरूपण किया है. और बीज आदिकी शुद्धिके द्वारा उसका उपयोग होता है यह भी कहा है ।।११७ १/२ ।।

अब चार अध्यायोंसे परीक्षितके फलमुख साधनका निरूपण उसके अधिकारके लिये है:

परीक्षितस्तथाध्यायचतुष्टयम् उदीर्यते ।।११८ ।।

राज्य त्यागविभेदेन राज्ये द्वैविध्यमेव च। सामार्थ्यस्य द्विरूपत्वाद् लौकिकालौकिकत्वतः११९

सर्वपृथ्वीजयः पूर्वः कलेश्चापि तथा परः। धरणी धर्मसंवादः तयोर्भीतत्वसूचकः।।१२०।।

परीक्षितके विषयके चार अध्याय कहे गये हैं. राज्य और त्याग के भेदसे राज्यमें द्विविधता है. लौकिक और अलौकिक यह भेद सामर्थ्यकी द्विरूपताके कारणसे है. पहले अध्यायसे सारी पृथ्वीके जयका वर्णन है. दूसरेमें कलियुगके विजयकी बात है. फिर पृथ्वी और धर्मके संवादका वर्णन है जो कि उनके भयका सूचक है ।।११८-१२०।।

अध्यायार्थके विभागको 'राज्यत्यागविभेदेन'से कहते हैं. दो अध्यायोंसे राज्यका वर्णन है और दो अध्यायोंसे उसके त्यागका वर्णन है. और राज्यकी द्विविधतामें सामर्थ्यकी द्विविधता कारण है. सारी पृथ्वीका विजय करना लौकिक सामर्थ्य और कालका विजय यह अलौकिक सामर्थ्य है. पृथ्वी और धर्म का संवाद उत्तरका अङ्गभूत है इसको बतानेके लिये 'भीतत्वसूचकः' ऐसा कहा है. भयका कारण कलियुग है. उसके भयको दूर करना आगेके अध्यायका अर्थ है. अथवा सभी जगह आध्यात्मिक और आधिभौतिक धर्मोंका स्थापन किया यह बताया है. अब आगे आध्यात्मिक धर्मको स्थापन करना है उसके भयको भी राजा दूर करता है यह उसका उत्कर्ष है।।११९-१२०।।

इस प्रकरणकी अन्य प्रकरणसे भी माहात्म्य बोधकता है इस अभिप्रायसे कहते है:

तत्स्थास्तेन कृतार्थाश्च सुतरां कलिना हताः। यो रक्षकस्तयोः पश्चात् कलिनिग्रहतो महान्।।

तस्यापि कृष्णकथया गतिरन्यकथा तु का।

जो पृथ्वी पर रहते हैं वे धर्मसे ही कृतार्थ होते हैं. उनको कलियुगने अत्यन्त नष्ट कर दिया. पृथ्वी पर रहनेवालोंका जो रक्षक है उससे तथा कलियुगके निग्रहसे वह महान् हुआ. जब उसकी गति भी कृष्णकथासे हुई फिर

अन्योंकी गति कृष्णकथासे हो तो क्या आश्चर्य है ।।१२१।।

यहां पृथ्वी और धर्मका प्रकरण चल रहा है. जो पृथ्वी पर रहते हैं वे धर्मसे ही कृतार्थ होते हैं इस तरहके मानवोंको भी कलियुगने अत्यन्त हत कर दिया. भगवानके प्रमाणके बाद कलिका निग्रह करके उनकी जो रक्षा करता है वह महान् ही होता है अतः यह ही अर्थ दो अध्यायोंका है. इस प्रकारके निरूपणका उपयोग यह बताया कि इस प्रकारके महान् राजा परीक्षितकी मुक्ति भी कृष्ण कथाके द्वारा हुई. इससे यह सूचित होता है कि इस समय पृथ्वीके तीर्थ देवता किया जानेवाला धर्म कृष्ण कथाके समान नहीं है. जिनने कालको जीत लिया है, मृत्युको भी जीत लिया है, उनको भी भगवान् या भागवत् ही मोक्ष दे सकते हैं अन्य कोई नहीं दे सकते ।।१२१।।

शंका: जिनके ऊपर भगवानकी कृपादृष्टि थी वे पाण्डव कलियुगका निग्रह न कर सके इसलिये परीक्षितमें स्वयंमें ही कोई महत्व होगा और उसकेलिये भागवतका सुनना तो भागवतकी प्रतिष्ठाको बढानेकेलिये होगा इसलिये श्रीशुकदेवजीने उसे भागवत् सुनाई इस पर कहते हैं:

कृष्णासक्तया पाण्डवानां नोत्साहः कलिनिग्रहे। कलिदोषाभिभूतानां न श्रद्धा हरिवर्णने ।।१२२।

कृष्णमें आसक्ति होनेके कारण पाण्डवोंका कलिके निग्रहमे उत्साह ही नहीं हुआ. श्रीशुकदेवजीने परीक्षितको भागवत् तो इसलिये सुनाई कि जो लोग कलियुगके दोषोंसे दब गये हैं उनकी श्रद्धा भगवानकी लीलाओंके सुननेमें नहीं होती है इसलिये परीक्षित् ही उसका अधिकारी था अतः उसे ही सुनायी.

पाण्डव भगवानमें आसक्त थे, अतः जब भगवान् पधार गये, जो समर्थ होते हुए भी वे चले गये इसलिये परीक्षितमें कोई सहज सामर्थ्य नहीं था. एक शंका होती हैं कि यदि भागवत् समर्थ है तो फिर किसीको भी शुकदेवजी सुनाते उनको मोक्ष दे देना, फिर क्या कारण है कि वह भागवत् परीक्षितको ही सुनायी. उसका उत्तर यह हैं कि भागवतके विषयमें अधिकारीकी अपेक्षा नहीं है किन्तु श्रद्धाके विषयमें अधिकारीकी अपेक्षा है. अन्यथा 'प्रवत्तमानस्य गुणारनात्मन' वह वाक्य विरुद्ध हो जायेगा. इसलिये जिसकी खूब श्रद्धा है वही भागवतके सुननेका अधिकारी है. कलियुगको परीक्षितने डरा दिया था इसलिये वह भगवद्भावोंको बाधा नहीं देता है ।।१२२ १/२ ।।

शंका होती है कि कलियुगने परीक्षितको भी दुर्बुद्धि देकर बाधा पहुंचायी तो फिर कलियुग दूसरोंको कैसे मुक्त होने देगा ? इस पर कहते हैं:

ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न दाहो लौकिको मतः।।१२३।।
अतः शापमिषेणेशः तक्षकाग्निमवासृजत्। कलेः स्थानप्रदानाद्धि ब्राह्मणातिक्रमे मतिः ।१२४।
युगाभिमानिदेवस्य स्वाधिकारपरिच्युतिः। निग्रहो रूपरक्षार्थं स्थानदानं प्रकीर्तितम्।।१२५
देशकालानुसारेण शुद्ध्यशुद्धी प्रकीर्तिते। कलौ षण्णां तथापेक्षा नास्ति धर्मोन्नतिस्ततः।।१२६।
असिद्धत्वान्तामसत्वात् तामसं फलमस्य तु।चित्तशुद्धिर्न चैव स्यात् पंकिलोदकपूरवत्।१२७
मालिन्यं मलिने लोके न सम्यगुपजायते। दुःखं च तामसं तस्य मूढं सह्यमलौकिकम्।।१२८

ज्ञानाग्निसे जिस देहका दाह होता है वह लौकिक दाह नहीं माना गया है. इसीलिये आपके मिषसे ऋषिने तक्षकाग्निकी सृष्टि की. परीक्षितने कलियुगको रहनेका स्थान दे दिया इसीलिये ब्राह्मणका अपमान करनेकी उसकी बुद्धि हुई. युगके अभिमानी देवता(कलियुग)को अपने अधिकारसे च्युत किया और उसका निग्रह किया तथा उसे अपने रूपकी रक्षाकेलिये स्थान भी दिया इसका वर्णन है. देश और कालके अनुसार शुद्धि और अशुद्धिका कथन किया है. कलियुगमें छः की शुद्धिकी अपेक्षा नहीं है. कलियुगके स्वरूपकी रक्षासे ही धर्मकी उन्नति हुई. कलियुगके असिद्ध और तामस होनेसे उसका फल भी तामस होता है. गन्दे जलसे जिस तरह शुद्धि नहीं होती उसी तरह कलियुगके धर्मोंसे चित्त शुद्धि नहीं होती. मलिन लोकमें मलिनता ही उत्पन्न होती है. इसके द्वारा होनेवाला दुःख तामस है इसलिये मूढतारूप है, सहन करनेके योग्य नहीं होता है और अलौकिक है।।१२३-१२८।।

परीक्षितने जो ब्राह्मणका अपमान किया वह भगवानने ही करवाया कलियुगने नहीं करवाया. यदि यह शंका हो कि भगवानने उसे ब्राह्मणका अपमान करनेकी बुद्धि क्यों दी? उस पर कहते हैं कि उसने दुष्ट कलियुगको स्थान दिया था इसलिये उसका तामस कार्यमें आग्रह हो गया. इससे यह सिद्ध होता है कि अधर्मसे ही(दुष्टको स्थान देनेसे ही) उसकी बुद्धि वैसी हुई. शंका होती है कि कलियुग तो कालरूप है, कालकी तो कोई मूर्ति होती नहीं, तो फिर निरन्तर वर्तमान उसका निग्रह और उसको स्थान देना ये सब कैसे हो सकते हैं? इस पर कहते हैं कि कलियुग जो कालरूप है उसका अभिमानी जो देवता है उसका निग्रह एवं उसीको स्थान दिया. अर्थात् परीक्षितके राज्यकालमें कलियुगके धर्मोंकी प्रवृत्ति नहीं हुई ये ही उसका निग्रह था. और उसके स्वरूपकी रक्षा की यही स्थानका दान था. शंका करते हैं कि अधर्मको जब रहनेकी जगह दी तो उसके द्वारा होनेवाले ब्राह्मणके अपमानसे अन्तमें उसका मोक्ष कैसे हो गया? इसका

समाधान करते हैं कि शुद्धि देशकालके अनुसार कही गयी है. कलियुग अत्यन्त दुष्ट नहीं है. जिस तरह अन्तकालमें रोग होता है उसी तरह कलियुगमें अन्तःकालमें भगवानका स्मरण होने पर उसकी शुद्धि हो जाती है अतः यह कलियुग शुद्ध है. यह कलियुग बिना किसीकी सहायताके ही हुए है अतः इसके स्वरूपकी रक्षा करनेसे धर्मकी उन्नति हुई. इसलिये इस कलियुगमें किये जानेवाले तामस कर्मोंसे कभी मुक्ति हो जाती है. इससे तो यह ज्ञात हुआ कि यह कलियुग महान् है और महानकी रक्षा करना सात्त्विक कर्म है तो फिर परीक्षितकी ब्राह्मणके अपमान करनेकी बुद्धि क्यों हुई और क्यों उसकी सर्पसे मृत्यु हुई? इसका उत्तर यह है कि कलियुगमें यदि धर्म होता तब कलियुगके असहाय शूर होनेसे उसकी रक्षा करना सात्त्विक कर्म होता परन्तु उसमें तो धर्म सिद्ध ही नहीं है इसलिये उसकी रक्षा करनेका ऐसा फल परीक्षितको मिला. कलियुग तामस है सत्ययुग सात्त्विक है, त्रेता राजस-सात्त्विक है. द्वापर राजस-तामस है और कलियुग तो केवल तामस है. इसलिये तामस युगकी रक्षा भी तामसी है और उसका फल भी वैसा ही होता है. इस कलियुगमें धर्मोंसे चित्तशुद्धि नहीं होती किन्तु स्वर्गादिक ही होते हैं. इस कलियुगमें अदृष्ट फल ही होता हैं दृष्ट फल नहीं होता इसके लिये गंदले जलके प्रवाहका दृष्टान्त दिया है. पापके अभावमें भी ऐसा ही समझना इसमें लौकिक न्यायको कहते हैं ''मालिन्यं मलिने लोके'' खराब अदृष्ट (भाग्य)को दूरदृष्ट कहते हैं उससे नरक तो नहीं होता किन्तु पापके कारण ऐहिक दुःख ही होता है और वह दुःख तामस होता है तीव्रवेदनारूप नहीं होता किन्तु मोह रूप होता है जिससे वह सहन करने योग्य होता है. और वह दुःख अलौकिक होता है इससे उसमें लोकनिन्दा नहीं होती. इससे कलियुगकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया ।।१२३ - १२८ ।।

इस कलियुगमें भगवान् कृष्णके कीर्तनसे बन्धनसे मुक्त होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है, यह जो इसका मुख्य श्रेष्ठता है उसका प्रतिपादन क्यों नहीं किया इसी पर कहते हैं:

भागवताप्रवृत्तेर्हि कीर्त्तनाद्यादरो न हि। अग्रे तस्य कथा वाच्या सारोयमिति बुध्यताम् ।।१२९।।
कल्पभेदाद् भारतादि कथया न विरुध्यते। सर्वज्ञत्वादृषीणां हि श्रवणार्थं तथा गति ।।१३०।।

भगवत् शास्त्रकी प्रवृत्ति होनेसे भगवानके कीर्त्तन आदिमें आदर हुआ. यदि कीर्त्तनका आदर नहीं किया जायेगा तो कोई कार्य सिद्ध नहीं होगा. आगे बारहवें स्कन्धमें इसकी परीक्षित् कथा कही जायेगी. इस युगका यही सार है यह

जानना चाहिये. महाभारतमें परीक्षितकी कथाका उत्तमत्व वर्णन नहीं है परन्तु कल्पभेदके कारण उसे विरुद्ध न समझना. ऋषियोंका परीक्षितके यहां आना दयाके कारण नहीं था किन्तु ऋषि सर्वज्ञ थे इसलिये भागवत् सुननेकेलिये वहां आये।।१२९-१३०।।

भागवत् शास्त्रकी प्रवृत्ति होनेके बाद ही कीर्त्तन आदि होते हैं. उसके आदर न करने पर यह कार्य सिद्ध नहीं होगा इसलिये उसे नहीं कहा. आगे ग्यारहवें स्कन्धमें कहेंगे. कलियुगका ये ही मुख्य गुण है ऐसा सिद्धान्तका सार है ऐसा जानना. कलियुग स्वभावसे दुष्ट था इसलिये परीक्षितमें ब्राह्मणका अपमान करनेकी बुद्धि उत्पन्न हुई. परन्तु कलियुग गुणसे श्रेष्ठ है अतः अन्तिममें परीक्षितकी मुक्ति हो गयी.

शंका: महाभारतमें तो परीक्षितकी उत्तम कथा नहीं है तो फिर ऐसेको सुनाई गई भागवतकी कथामें उत्तमता कैसे होगी? उत्तर: कल्पभेदके कारण ही महाभारत और भागवतमें भेद हैं. परीक्षितके ऊपर दया होनेसे ऋषि लोग नहीं आये थे किन्तु सर्वज्ञ होनेसे भागवतको सुननेके लिये वे आये थे।।१२९-१३०।।

व्यास और नारद मध्यम वक्ता थे तथापि किसी कारणसे नहीं आये होंगे ऐसी आशंका करके उनके नहीं आनेका कोई दूसरा ही प्रयोजन था उसे कहते हैं:

व्यास नारदयोश्चैव तत्प्रवृत्तिदिदृक्षया। अविरक्तेर्मध्यमत्वाद् रामस्य क्रियया गतिः।।१३१।।

वैराग्यके न होनेसे व्यास और नारद में मध्यमता थी इसलिये वे उस प्रवृत्तिके देखनेकी इच्छासे नहीं आये. परन्तु परशुरामजी तो वहां आये थे क्योंकि वे क्रियाशक्तिके अवतार थे और भागवत् उस क्रियाशक्तिका विशेष रूपसे कथन करता है इसलिये उनका आना उचित ही था।।१३१।।

सबकी अपेक्षा तो भगवान् उत्तम हैं अतः यहां अलौकिक धर्मोंसे उत्कर्षका और अपकर्षता का विचार क्यों किया? इसलिये सभी भगवानके अंश हैं और शुकदेवजीकी अपेक्षा उत्तम है इस आशंका पर कहते हैं:

शुकः शिवस्ततोप्येवम् ईश्वराज् ज्ञानसंस्थितिः। एतदर्थं हि भगवान् अवतीर्णो वृषध्वजः।१३२
द्वात्रिंशल्लक्षणैर्युक्तो भक्तानां सुरपादपः। तत्र प्रश्नद्वयं लोके सर्वदोपमृतिक्रमात्।।१३३।।

श्रीशुकदेवजी शिव थे और ब्रह्मज्ञानी होनेसे लौकिक श्रेष्ठता भी थी. ईश्वरके द्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञान ही स्थिर रहता है इसलिये वृषभध्वज भगवान् श्रीशिवने शुकदेवके रूपमें अवतार लिया है. शुकदेवजी बत्तीस लक्षणोंसे युक्त थे. भक्तोंकेलिये तो वे कल्पवृक्ष ही थे. श्रीशुकदेवजीसे राजाने दो प्रश्न किये.

लोकमें सर्वदा क्या करना और मृत्यु जब निकट आ जाय तब क्या करना.

गुणावतार(शिवका अवतार) होनेसे श्रीशुकदेवजी भी महान् थे. ब्रह्मवेत्ता होनेके कारण लौकिकमें भी उनकी महत्ता थी. और भी कारण बताते हैं. ईश्वरसे प्रदत्त होनेवाला ज्ञान ठीक तरहसे स्थिर होता है. वह ज्ञान माया आदिके द्वारा लुप्त नहीं होता. इससे जैसे आरोग्यकी कामना सूर्यसे की जाती है उसी तरह ज्ञान प्राप्ति शिवसे करनी चाहिये. चारोंके लिये ऐसी ही व्यवस्था मुख्य है यह सूचित किया.

शंका: शिवको शुकदेवके रूपमें अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता थी? इसका समाधान यह है कि भगवान् कृष्णने सबकी मुक्तिकेलिये अवतार लिया था किन्तु जब स्वयं स्वधाम पधारने लगे उस समय शिवजीको अपनी जगह स्थापित कर गये. इसलिये भागवतकी प्रवृत्तिकेलिये ही शिवजी(शुकदेवजी)का अवतार है. यदि कहा जाय कि शिवजी तो काशीमें रहकर ज्ञानका उपदेश कर ही रहे हैं फिर अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता हुई? शिवजीको वृषध्वज कहते हैं. 'वृष' नाम धर्मका है. उस धर्मके प्रचारसे ही सबको मुक्त करनेकेलिये उनका अवतार है. कूर्मपुराणमें यद्यपि शुकदेवजीको शिवका अवतार बताया है परन्तु शुकदेवजीमें महापुरुषोंके जो बत्तीस लक्षण है उनसे भी उनकी महापुरुषता सिद्ध होती है.

श्रीशुकदेवजीके आने पर राजाने जो किया उसे कहते हैं. राजाने यह प्रश्न किया कि सर्वदा क्या करना चाहिये और मरनेवालेको क्या करना चाहिये ।।१३२-१३३।।

इति श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचित तत्त्वार्थदीपनिबन्धके श्रीमद्भावतार्थ प्रकरणके प्रथम स्कन्धका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

।। श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रम् ।।

प्रथमस्कन्धनामानि

अधिकारलीला

(अध्याय १०-१९)

सर्वावस्थासुसंसेव्यः समः सुखहितप्रदः ।
कृतकृत्यः सर्वसाक्षी भक्तस्त्रीरतिवर्धनः ।।१९।।

(५५) सर्वावस्थासुसंसेव्यः.

सर्व अवस्थाओंमें सेवन करने योग्य.

बल्यावस्था, कौमारावस्था, पौगंडावस्था, युवावस्था इत्यादि सारी अवस्थाओंमें प्रभु भली प्रकारसे सेवन करने योग्य हैं. कारण ? देह क्षणभंगुर है, कब नाश हो जाये उसका निश्चय नहीं है. इस कारण बाल्यादि सारी अवस्थाओंमें भक्त प्रभुका चिंतन करता है. ध्रुव-प्रहलाद इत्यादि भक्तोंने बाल्यावस्थासे ही प्रभुका आराधन किया था. षष्ठ स्कंधमें दैत्य बालकोंको उपदेश देते हुये प्रहलादजीने बताया था:

''कौमारं आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतान् इह''

(इस संसारमें जन्म लेकर कुमारावस्थासे ही भगवानकी भक्ति, सर्वत्र भगवद्भाव इत्यादि भगवत्संबंधी धर्मोंका आचरण करना चाहिये, सेवा करनी चाहिये)

क्योंकि मनुष्यदेह बहुत पुण्ययोगसे प्राप्त होती है. वारंवार नहीं मिलती, इस कारण इसको दुर्लभ माना गया है. और मनुष्य देहमें ही ज्ञान सम्पन्न होता है, दूसरी योनिमें नहीं होता. इतनी उत्तम मनुष्य देहका दुरुपयोग न करते हुये भगवदीय धर्मोंका कपट इत्यादि रहित बनाकर अच्छी रीतिसे आचरण कर कृतार्थ होना ही योग्य है. इसको ऐसे ही गंवाना नहीं चाहिये. अतएव बाल्यादि सर्व अवस्थाओंमें प्रभु सेवनीय हैं, ऐसा कहा.

(५६) समः.

विकार रहित अथवा 'मा'=लक्ष्मी सहित.

सर्व कालमें सर्व विकारोंसे रहित एक प्रभु ही हैं. इस कारण आप सबमें समभावसे बरतते हैं. इस कारण ही आपको अव्यय निर्विकार ऐसे कह कर वेद तथा गीतादि वर्णन करते हैं. लक्ष्मीसे सब सौन्दर्यमात्रसे आप युक्त हैं. श्रीविष्णु सत्वगुणके अधिष्ठाता देव भगवान्का स्वरूप है. अर्थात् लक्ष्मीजीसे युक्त भी आप हैं वैसे विभूति मात्र भी आपमें ही बिराजती हैं. इस कारण प्रभु लक्ष्मी सम्पन्न हों ये स्वाभाविक ही है.

(५७) **सुखहितप्रदः.**

(१) सुख तथा हित कल्याणको देनेवाले

(२) सुखरूप हित देनेवाले.

सब भक्तोंको सुख देनेवाले और उनका कल्याण करनेवाले परमात्मा ही हैं. प्रभु सर्व प्राणीमात्रको जल इत्यादि प्रदान करके सुख अर्पण करते हैं, कल्याण करते हैं. तो फिर अपने भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करके सुख, आनन्द प्रदान करें, कल्याण करें तो इसमें आश्चर्य क्या है? इस कारण ही भक्त निष्काम बनके परमात्माको कृपानिधि, दयासिन्धु इत्यादि कहकर वर्णन करते हैं. साधन सम्पत्ति रहित ऐसे निज भक्तोंको प्रभुमें परायण होते ही भगवान्के अनुग्रहसे उनके आनन्दरूप बन जाते हैं. ऐसे उत्तम प्रकारका सुख-आनन्द सहित-कल्याण करनेके लिये आप सर्वेश्वर ही हैं.

(५८) कृतकृत्यः.

(१)जिनके सारे कार्य निरंतर सिद्ध हैं ऐसे पुरुषोत्तम

(२)भूमिके भारका हरण करने रूप कार्यका सम्पादन करनेवाले.

परमात्माके सारे कार्य सिद्ध ही हैं. दूसरोंके कार्य सिद्ध होनेमें कुछ न कुछ विघ्न देश-काल इत्यादिकी अड़चनें उपस्थित होती ही हैं. परन्तु ईश्वरके कार्योंमें ऐसा कुछ भी नहीं है. उनको तो सर्वत्र सर्व वस्तुयें सिद्ध ही हैं. प्रभु पूर्ण काम हैं, और अन्यमें अपूर्णता है इस कारण ही ईश्वरके कार्य सिद्ध हैं. महाभारतके संग्राम निमित्त महाभारभूत आसुरीभाववाले राजाओंको भीमसेन, भीष्म, अर्जुन इत्यादि द्वारा मरवाकर भूमिका भार दूर कर श्रीहरि कृतकृत्य हुये हैं. ऐसा करवाके प्रभुने अपने पूर्णावतारका प्रयोजन आप ही सिद्ध किया है. इस कारण आप कृतकृत्य हैं.

(५९) सर्वसाक्षी.

सर्वके साक्षी-प्रत्यक्ष देखनेवाले.

स्वयं भगवान् सर्व व्यापक हैं. सर्व जगत्रूपमें आपही बिराजे हैं. अतएव उनकेलिये कुछ भी अनजाना नहीं है. सारी वस्तुओंका आप प्रत्यक्ष निरीक्षण करते हैं. प्रभु इस समस्त ब्रह्मांडके साक्षात् रूपमें अनुभव करनेवाले स्वस्वरूप ज्ञानवान होनेसे उन सबके साक्षी हैं.

(६०) भक्तस्त्रीरतिवर्धनः.

(१)भक्तोंमें और स्त्रियोंमें भक्तिकी वृद्धि करनेवाले

(२)भक्तियुक्त स्त्रियोंमें अपने अनुराग बढ़ानेवाले

(३)भक्तजनोंकी स्त्रियोंमें अपने प्रति प्रेम वृद्धि करनेवाले.

भक्त युधिष्ठिरादिकमें और स्त्री कुंती-द्रौपदी इत्यादिमें भक्तिरसकी वृद्धि करनेवाले प्रभु हैं. भक्तियुक्त स्त्रीजन व्रजवनिताऐं इत्यादिकी परमात्मामें दृढ़ प्रीति है.

तो भी स्वयं इससे भी विशेष अपनेमें प्रेम बढ़े उस प्रकार निरंतर करते हैं. अर्थात् अपना आनन्द उनको समर्पण करके विशेषमें विशेष अपने ऊपर इनकी रुचि हो, ऐसी रीतिसे यत्न करते हैं. भक्तजनोंकी स्त्रीयोंको भी अपनेमें प्रेम बढ़े ऐसी प्रभु इच्छा करते हैं. क्योंकि भक्तोंकी स्त्रीयां यदि भक्तोंके प्रतिकूल हों तो अपनी भक्ति करनेमें अड़चन होगी, इस कारणसे उनकी स्त्रियोंको अपनी तरफ भक्तिपूर्वक प्रेम बढ़े वैसा प्रयत्न प्रभु करते हैं और उनमें प्रीति बढ़ती है. अतएव वो भक्त तथा उनकी स्त्रीऐं इत्यादि प्रभुमें लीन बनते हैं. श्रीभागवतके इस स्कंधमें कहा गया है

''भीमसेन धौम्यऋषि स्त्रीयें वैसे मत्स्यकुलके
पुत्रादि सारे लोग; श्रीकृष्णमें मोह पाकर उनके विरहको
सहन नहीं कर सके''.

द्वारकामें प्रभु पधार रहे थे उस समयको उद्देशित करके यह वचन कहे हैं. श्रीकृष्ण ऊपर भीमसेनादिका बहुत ही प्रेम था. भगवानने ही उनमें अपने प्रति इतने प्रेमकी वृद्धि करी थी कि आप जब द्वारकामें पधारनेके लिये तैयार हुये उस समय भक्तिमें लीन हुये वो सब विरहको सहन नहीं कर पाये और प्रेममें बहुत ही आर्द्र बन गये. ऐसी प्रीति बढ़ानेवाले प्रभु हैं.

सर्वसौभाग्यनिलयः परमाश्चर्यरूपधृक्।
अनन्यपुरुषस्वामी द्वारकाभाग्यभाजनम्।।२०।।

(६१) सर्वसौभाग्यनिलयः.

(१)सम्पूर्ण सौभाग्यके स्थानरूप
(२)सबसे उत्तम ऐसे सौभाग्यके भंडार.

सम्पूर्ण सुंदरताके स्थानरूप ईश्वर ही हैं. समस्त सुंदरता आपके चरणार-विन्दोंमें बिराजती है. सबसे उत्तम सौभाग्य प्रभुमें ही हो सकता है. किसी दूसरेमें वैसे सौभाग्यका अभाव है. जो कुछ किसी अन्यमें सौभाग्य दीखनेमें आता भी हो वो तो प्रभुकी कृपासे प्राप्त हुआ ही होता है. अर्थात् सर्वको सौभाग्य प्रदान करनेवाले भी प्रभु ही हैं. इस कारण प्रभुको सकल सौभाग्यके निधान-भंडाररूप कहा है. हस्तिनापुरसे द्वारकाकी ओर जाते हुये मार्गमें अलग-अलग देशोंके निवासीओंने आपका बहुत ही सत्कार किया है, ऐसा इस स्कन्धमें बताया गया है. श्रीकृष्णके स्वयं सौभाग्यके निधान होनेसे ही आपका सर्वजनोंने सत्कार किया है.

(६२) परमाश्चर्यरूपधृक्.

अत्यंत विस्मारक रूपको धारण करनेवाले.

सर्व आश्चर्य ईश्वरमें ही जाने जाते हैं. अतएव स्वयं अत्यंत विस्मयजनक

स्वरूपको धारण कर सकें, यह सहज ही है. श्रुति कहती है

''**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता**''

स्वयं हाथ पैर बिना है तो भी ग्रहण कर सकते हैं और चल भी सकते हैं.

इतना ही नहीं, बिना कानके सुन भी सकते हैं. नेत्र बिना देख भी सकते हैं; अर्थात् ग्रहण करना, चलना, सुनना इत्यादि क्रिया प्रभु अलौकिक-आनन्द स्वरूपसे ही करते हैं. यह आश्चर्य नहीं तो क्या है? ऐसा आश्चर्यमय स्वरूपको तो परमात्मा ही धारण कर सकता है. प्रभुका आश्चर्यमय स्वरूप इस स्कन्धमें बताया गया है कि

> ''द्वारकाके राजपथपर भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर श्वेत वर्णका छत्र तना हुआ था, श्वेत चँवर डुलाये जा रहे थे, चारों ओरसे पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी, वे पीताम्बर और वनमाला धारण किये हुये थे. इस समय वे ऐसे शोभायमान हुए, मानो श्याम मेघ एक ही साथ सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्रधनुष और बिजलीसे शोभायमान हो''.

सूर्य तारे मेघ इन्द्र धनुष बिजली इत्यादिसे जैसे मेघ अद्भुत-आश्चर्यकारक लगते हैं, वैसे आप भी वनमाला, पीतवस्त्र, श्वेत छत्र, चँवर इत्यादि द्वारा आश्चर्यमय स्वरूपवाले लगते हैं. ये ही प्रभुका आश्चर्यमय स्वरूप है.

(६३) अनन्यपुरुषस्वामी.

जिनका अन्य कोई रक्षक नहीं है वैसे द्वारकानिवासी जनोंके स्वामी.

द्वारकानिवासी यादव इत्यादिके स्वामी-रक्षक स्वयं श्रीकृष्ण थे और वैसे ही उनके देवता भी. क्योंकि उनको अनेक कष्टोंसे छुड़ानेवाले सर्व प्रकारसे आनन्द देनेवाले आप ही थे. श्रीकृष्णके द्वारा ही उन्होंने समृद्धि प्राप्त की थी. अतएव द्वारका-निवासी प्रजाजनोंके स्वामी श्रीकृष्ण ही थे. जब हस्तिनापुरसे आप द्वारका पधारे तब आपके शंखध्वनिसे आकर्षित होकर सर्व द्वारकावासी प्रजाजन दर्शनोंकेलिये उत्कंठित होकर भगवान् श्रीकृष्णका पुष्पोंसे-मोतियोंसे स्वागत किया और वैसे ही आपने अपने नयनकटाक्षोंसे उनको अपनेमें बांध लिया; ये ही आपका मुख्य स्वामीपना है.

(६४) द्वारकाभाग्यभाजनम्.

(१)द्वारका नगरीके भाग्यरूप

(२)द्वारकाकी सर्व सम्पत्तिको भोगनेवाले

(३)द्वारकाके स्थानरूप.

द्वारकामें सर्वविभूति और सम्पत्ति रूप आप ही हैं. श्रीकृष्णके चरणकमलमें सर्व सम्पत्तियां निवास करती हैं. अतएव जहां भी आप पधारते हैं वहां ही सकल

सम्पत्ति हों यह स्वाभाविक ही है. और उन सर्व सम्पत्तियोंको भोगनेवाले भी प्रभु ही हैं. भगवान् लक्ष्मीके अधीश्वर हैं और सर्व सम्पत्तियां लक्ष्मीस्वरूप ही हैं. तो वे लक्ष्मीरूप सम्पत्तियां भगवान्के चरणका सेवन करें अर्थात् उनके उपयोगके लिये प्राप्त हों, इसमें कुछ संदेहकी बात नहीं है. द्वारका नगरीकी स्थिति आपके बिराजनेसे ही है. आपने अपने उपयोगकेलिये ही द्वारकाका निर्माण किया है, अतएव श्रीकृष्णकी स्थिति-स्थानरूप द्वारका है.

बीजसंस्कारकर्ता च परीक्षिज्ज्ञानपोषकः ।
सर्वत्रपूर्णगुणकः सर्वभूषणभूषितः ।।२१।।

(६५) बीजसंस्कारकर्ता.

बीजरूप संस्कारको करनेवाले.

बीज अर्थात् भागवतशास्त्रका श्रवण करवानेकेलिये बीजरूप परीक्षितकी देहका संस्कार अर्थात् भगवद्भजनके योग्य देहसम्पत्तिको प्राप्त करवानेवाले भगवान्. प्रभुके अनुग्रहके अतिरिक्त वैसे संस्कारोंकी योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती. परीक्षितको श्रोताओंमें सर्वोत्तम माना गया है. ऐसे प्रकारकी उत्तमता प्राप्त करनी, ये साधारण बात नहीं है. इस कारण उन संस्कारोंको परीक्षितमें उत्पन्न करनेवाले प्रभु आप ही हैं.

(६६) परीक्षिज्ज्ञानपोषकः.

परीक्षितके ज्ञानका पोषण करनेवाले.

परीक्षित राजाको माताके गर्भमें जो अंगुष्ठ मात्र स्वरूपका भगवान्ने दर्शन दिया था. उस स्वरूपके ज्ञानका पोषण करनेवाले और उस ज्ञानको न भूलने देनेवाले. दूसरे लोगोंका माताके गर्भमेंसे बाहर जब जन्म होता है, तब संसारकी मायायुक्त वायु द्वारा, पूर्व संस्कारोंसे उनका ज्ञान नष्ट हो जाता है. परन्तु परीक्षित राजाको जो माताके गर्भमें ज्ञान उत्पन्न हुआ था वह प्रभुकी कृपा द्वारा हुवे शुद्ध संस्कारोंसे नाशको प्राप्त नहीं हुवे. परमात्माने उसके उस ज्ञानको विस्मृत नहीं होने दिया. इस कारण परीक्षितके ज्ञानका पोषण करनेवाले ऐसे श्रीकृष्ण, ऐसा कहा.

(६७) सर्वत्रपूर्णगुणकः.

सर्वत्र पूर्ण ऐश्वर्यादि गुणोंवाले.

सबको समस्त स्थानोंमें अर्थात् अंदर-बाहर सब स्थानोंमें जिसकी पूर्णता किसी भी समय खंडित न हो ऐसे ऐश्वर्यादिगुण जिनके प्रकाशमान हैं ऐसे प्रभु. परीक्षित राजाने भगवान्को माताके उदरमें देखा. उस समय भी आप अपने ऐश्वर्यादि गुणोंसे सम्पन्न थे. इस कारण ही 'अत्र' कहा जा रहा है कि बाहर और अंदर सब स्थानोंमें अर्थात् चराचर विश्वमें भी जिसके अखिल दिव्य गुण शोभायमान हैं, ऐश्वर्यादि गुण

किसी भी अवस्थामें सर्वत्र जिसके क्षोभ न पाते हों, ऐसा ईश्वर बिना कोई और नहीं हो सकता.

(६८) सर्वभूषणभूषितः.

सर्व भूषणोंसे भूषित.

मुकुट, कुंडल इत्यादि अनेक शृंगारोंसे सुशोभित आप प्रभु हैं. इस स्कन्धमें प्रभुका वर्णन करते हैं कि ''स्फुरायमान् सुवर्णमय मुकुटको धारण करनेवाले, तपाये हुये कुंदनके समान कुंडलों द्वारा कमनीय लगते श्रीकृष्णका अभिवंदन करता हूं'' इत्यादि रमणीय भूषणोंसे भूषित भगवान्का स्वरूप स्पष्ट है.

सर्वलक्षणदाता च धृतराष्ट्र विमुक्तिदः ।
सन्मार्गरक्षको नित्यं विदुरप्रीतिपूरकः ।।२२।।

(६९) सर्वलक्षणदाता.

सर्व लक्षणोंको देनेवाले.

परीक्षित राजाको इक्ष्वाकु, ध्रुव, मान्धाता इत्यादि प्रसिद्ध राजाओंके प्रजापालनरूपी ज्ञान, भक्ति इत्यादि प्रसिद्ध लक्षण-गुण दान देनेवाले आप प्रभु ही हैं. आपकी कृपा दृष्टिकी वृष्टि होनेसे ही परीक्षित राजाको वैसे सारे गुण-लक्षण प्राप्त हुये हैं. अतएव सर्व लक्षणोंको देनेवाले प्रभु कहा गया है.

(७०) धृतराष्ट्रविमुक्तिदः.

धृतराष्ट्रको मुक्ति देनेवाले.

भगवानने विदुरजीके द्वारा उपदेश दिलवाकर धृतराष्ट्रके भीतर वैराग्य उत्पन्न करवाया वैसे ही व्यासके द्वारा उपदेश दिलवाकर मुक्ति प्रदान की है. इस प्रकार उनको मुक्ति-मोक्षसुख देनेवाले आप प्रभु ही हैं.

(७१) सन्मार्गरक्षको नित्यम्.

निरंतर सन्मार्गके रक्षण करनेवाले.

सत्पुरुषोंका ये ही मुख्य नियम है कि गृहस्थाश्रमकी वृत्तिका त्याग करके भगवान्की प्राप्ति हो ऐसे साधन करने. इस प्रकार वैराग्यपूर्वक भक्तिभाव जिसको हुआ हो, वैसे सज्जनोंका भक्तिमार्गमें निरन्तर रक्षण करनेवाले आप श्रीकृष्ण हैं. इसीलिये आपने विदुरजीके द्वारा धृतराष्ट्र राजाको उपदेश दिलाकर गृहस्थाश्रमसे उनको दूर किया है. उसी प्रकार सर्व भगवदीय जनोंके मन भी संसारमें लीन नहीं हों वैसा करके अर्थात् उनको ज्ञान दिलवा कर आप भक्तिमार्गका रक्षण करते हैं.

(७२) विदुरप्रीतिपूरकः.

(१)विदुरजीकी प्रीतिको पूर्ण करनेवाले

(२)विदुरजीकी प्रीतिके भावको पूर्ण करनेमें ही जिनको सुख मिलता है, ऐसे पुरुषोत्तम.

अपने परम भक्त विदुरजीकी अपने ऊपर स्थिर रही हुई प्रीति–दृढ़ भक्तिके पूर्ण करनेवाले आप प्रभु हैं. क्योंकि निज भक्तोंकी प्रीति पूर्ण करनी–संपादन करनी ये ही कर्तव्य आप मुख्य मान रहे हैं. भक्तोंके भावको पूर्ण करनेसे ही प्रभुको आनन्द आता है.

लीलाव्यामोहकर्ता च कालधर्मप्रवर्तकः ।
पाण्डवानां मोक्षदाता परीक्षिद्भाग्यवर्धनः ।।२३।।

(७३) लीलाव्यामोहकर्ता.

(१)लीलाओं द्वारा विशेष मोह उत्पन्न करनेवाले;

(२)लीला–चेष्टारूप कालरूपसे सबको मोह उत्पन्न करनेवाले.

आसुरी जीवोंको व्यामोह उत्पन्न करनेकेलिये मनुष्यभावसे प्रकट होकर उनके जैसी कृति करके सर्व स्थानोंमें अत्यन्त मोहको उत्पन्न करनेवाले भगवान हैं. इसी कारण कंस, जरासंध, शिशुपाल प्रभृति असुरोंको भगवान्के स्वरूपमें मोह उत्पन्न हुआ. स्वाधाम पधारते समय पीपल वृक्षके कोमल मूलमें स्थान करके पारधीके बाणसे चरणारविन्द क्षत होनेके निमित्तको दर्शाकर आपने आसुरव्यामोहलीला की. वस्तुतः तो प्रभु जन्म–मरण रहित होते हैं. परन्तु आसुरोंको ऐसा प्रतीत होता है. इस तरह अपनी चेष्टारूपी कालसे भी सबको सब जगह मोह करनेवाले आप ही हैं. इसलिये लीला द्वारा अत्यंत मोह करनेवाले ऐसे पुरुषोत्तम यह कहा.

(७४) कालधर्मप्रवर्तकः.

कालके धर्मका विस्तार करनेवाले.

सर्वग्रासी कालका प्रवर्त्तन करनेवाले. ये तमोगुणाधिष्टाता रुद्रका काम है. प्रभु रुद्ररूपसे दैवी, भुवि और अंतरिक्ष ऐसे तीन प्रकारके उत्पत्तिरूप कालके धर्मोंका विस्तार करनेवाले–प्रवृत्त करनेवाले हैं. इस स्कन्धमें कहा है

"**व्यतीताः कतिचिन् मासाः**"

श्रीकृष्ण तथा यादव बंधुओंके समाचार प्राप्त करनेकेलिये अर्जुनको द्वारकामें भेजा गया था. परन्तु कितने ही मास व्यतीत होनेके उपरान्त भी अर्जुन आये नहीं, अतएव युधिष्ठिर राजाको घोर निमित्त जैसे लगा.

ऐसे कहके आगे घोर कालकी भयंकरता और विचित्रता दर्शायी है. इस तरह सर्व काल धर्मके प्रवर्तन करनेवाले स्वयं प्रभु ही हैं.

(७५) पाण्डवानां मोक्षदाता.

पांचों पाण्डवोंको मोक्ष प्रदान करनेवाले.

युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव –ये पांचों पाण्डवोंको मोक्ष देनेवाले स्वयं भगवान् ही हैं. अर्जुनने द्वारकासे आकर यादवोंके नाश और वैसे ही भगवान्के स्वधाम पधारने सम्बन्धी आसुरव्यामोहलीलाकी सूचना दी. जिससे भगवान्के विरहमें सर्व पांडव राज्यसम्पत्ति छोड़कर ज्ञाननिष्ठ बन कर भगवान्की भक्तिमें लीन हो गये और मुक्ति पाई. इस प्रकार अपने स्वरूपको पांचों पाण्डवोंमें प्रकाशित कर भक्ति–भगवदासक्ति देनेवाले आप श्रीकृष्ण ही हैं.

(७६) परीक्षिद्भाग्यवर्धनः.

परीक्षित राजाके भाग्यका विस्तार करनेवाले.

जब परीक्षितका जन्म हुआ तब जो लक्षण ब्राह्मणोंने बताये थे वो सब शुभ लक्षण राज्य प्राप्त होते ही उसमें विशेष रीतिसे प्रकाशमान हुये. उस प्रकारके शुभ लक्षण रूप भाग्यकी वृद्धि करनेवाले स्वयं प्रभु हैं. इसी कारण परीक्षितको भगवद्रूप श्रीभागवत श्रवणका उत्तम अधिकार प्राप्त हुआ है.

कलिनिग्रहकर्ता च धर्मादीनां च पोषकः ।
सत्सङ्गज्ञानहेतुश्च श्रीभागवतकारणम् ।।२४।।

(७७) कलिनिग्रहकर्ता.

कलियुगका निग्रह करनेवाले.

कलियुगका निग्रह करनेवाले–अपने आधीन करनेवाले आप हैं. परीक्षितने दिग्विजय करते समय धर्म और भूमि को पीड़ा देनेवाले कलिको शूद्र राजाके स्वरूपमें देखा. इस कारण क्रोधित होकर उसका पराभव करके उसे अपने अधीन बनाया. इस स्कंधमें कहा गया है कि

''**निजग्राहोजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित्**''

वीर परीक्षितने दिग्विजयमें अपने तेजसे कलियुगको वशीभूत किया.

यहां भगवान् श्रीकृष्णही कलियुगको आधीन करनेवाले हैं. कारण कि भक्त हृदयमें आप बिराजे हैं, परीक्षित राजा प्रभुका पूर्ण प्रेमी भक्त है तथा भगवान्के आवेशसे ही उसका प्राकट्य हुआ है, इस कारण परीक्षित यह स्वयं प्रभु ही हैं.

(७८) धर्मादीनां च पोषकः.

धर्म इत्यादिके पोषण करनेवाले.

धर्म वृषभ स्वरूप है. वृषभके चार चरण होते हैं: सत्य, दया, तप और शौच. परन्तु दुष्ट कलि (शूद्रराजाका वेषधारी) ने सत्य, दया और तप रूप तीन चरणोंको काट डाला, जिससे धर्मका एक ही चरण बचा. उसका भी नाश करनेका प्रयत्न कलि कर

रहा है. इस प्रकारकी धर्मकी स्थिति देखकर दिग्विजय करते हुये परीक्षितने कलिका निग्रह करके धर्मका पोषण किया है. अर्थात् उसके नष्ट किये हुये सत्यादि तीन चरणोंको साधा है; धर्मको पुष्ट किया है. 'आदि' शब्दसे गायका रूप धारण करनेवाली भूमिका भी रक्षण किया है. वैसे ही सर्व दीनजनोंके-अनाथ जीवोंका भी परीक्षित पालन करनेवाला है. ऊपर कहे प्रमाणानुसार परीक्षित राजा स्वयं प्रभुका स्वरूप होनेसे उसके सारे कार्य प्रभु द्वारा ही सम्पादित हो रहे हैं. भगवदिच्छाके अतिरिक्त कोईसे भी कुछ बन नहीं सकता, ये निर्विवाद है.

(७९) सत्सङ्गज्ञानहेतुः.

(१)सत्सङ्गसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानमें कारणरूप अथवा

(२)सत्सङ्ग ही जिनका ज्ञान प्राप्त होनेमें कारण है, ऐसे भगवान्.

सत्सङ्ग अर्थात् भगवदीय जनोंका समागम, ऐसा समागम बारंबार होनेसे भगवद्ज्ञान अंतरमें प्रकाश पाता है. वैसा ज्ञानपूर्वक प्रभुमें स्नेह होते ही प्रभु प्राप्त हो जाते हैं. इसलिये ही वैसा ज्ञान प्रकट होनेसे आप श्रीकृष्ण हैं. भगवदीयके दर्शन, उनके साथ ऐक्यतासे भगवद्वार्त्तालाप, इत्यादि करनेसे ही ज्ञान होता है, प्रभुकी प्राप्ति होती है. स्कन्धमें उपदेश है कि

''भगवत्प्रेमी भक्तोंके लवमात्रके सत्सङ्गसे स्वर्ग
एवं मोक्षकी भी तुलना नहीं की जकती; फिर मनुष्योंके
तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है''.

इसकेलिये ही सत्सङ्गके द्वारा होते ज्ञानसे आप भगवान हैं, ऐसा कहा.

(८०) श्रीभागवतकारणम्

श्रीयुक्त ऐसे श्रीमद्भागवत शास्त्रस्वरूप.

श्री=लक्ष्मी अर्थात् सर्व विभूतिमय श्रीमद्भागवतशास्त्रको प्रवृत्त करवानेवाले आप भगवान् ही हैं. कारण कि ब्राह्मणके शाप निमित्त परीक्षित राजाने श्रीभागवतका श्रवण श्रीशुकदेवजीसे किया है. इस प्रकार शुक और परीक्षितके संवाद द्वारा भागवतके अखिल भूमिमें प्रसार करनेवाले आप ही हैं.

प्राकृतदृष्टमार्गश्च.....।

(८१) प्राकृतदृष्टमार्गः.

(१)प्रकृतिस्थ अदृष्ट मार्गको चलानेवाले

(२)प्रकृतिस्थ एवं अदृष्टको दूर करनेवाले भगवान श्रीकृष्ण हैं.

प्रकृति=माया उसमें रहा हुआ ये प्रकृतिस्थ अर्थात् अदृष्ट-प्रारब्ध कर्मके आधीन रहा हुआ मार्ग, जो कि वारंवार जन्ममरणरूप प्राकृत कहलाता है. वैसे प्राकृत

अदृष्ट मार्गको चलानेवाले आप प्रभु ही हैं. वैसे प्रकृतिके कार्य–जैसे कि ''मैं–मेरा, यह मेरी देह'' इत्यादिके अदृष्ट–प्रारब्ध कर्मको दूर करनेवाले भी आप पुरुषोत्तम हैं. श्रीकृष्णका शुद्धभावसे सेवन करनेवालेको मायाके विकार, प्रारब्ध कर्म और वैसे ही अंहता–ममतात्मक संसार इत्यादि दूषित नहीं कर सकते. उन सबसे भगवानका भक्त निर्लेप ही रहता है. सर्वत्र सर्वसमर्थ प्रभु ही उनका रक्षण करते हैं.

।। इति प्रथमस्कन्धनामानि।।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवत

प्रथम स्कन्ध सुबोधिनी

(द्वितीय खंड अध्याय १०–१९)

अध्याय १०

भगवान् श्रीकृष्णका द्वारकागमन

नैश्चिन्त्यसिद्धयै विष्णोः भीष्मुक्तिर्निरूपिता।
ऐहिके सर्वसौख्यं तु दत्तवान् तद् निरूप्यते ।।१।।

कारिकार्थः भगवानकी निश्चिंततावाली सिद्धिकेलिए भीष्म पितामहकी मुक्तिका निरूपण पिछले अध्यायमें किया है।।का.१।।

पाण्डवानां यदूनां च तदध्यायद्वयेन हि।
निरूप्यं प्रथमं तत्र पाण्डवानां तदुच्यते ।।२।।

अब पाण्डवों और यादवोंको इस लोक सम्बन्धी सुख भगवानने दिया है, उसे दो अध्यायों द्वारा निरूपित किया है. उसमें पहले पाण्डवोंके ऐहिक सुखका वर्णन किया जाना है. उसे इस अध्यायमें कहा है।।का.२।।

कृष्णाधीनं सुखं यस्य स सुखीति निगद्यते ।।
अतः कृष्णपरं चित्तं सर्वेषाम् अत्र वर्ण्यते ।।३।।

जिस मनुष्यका सुख भगवान् श्रीकृष्णके अधीन होता है, वही सुखी कहलाता है. इसलिये सबका चित्त श्रीकृष्णमें लगा हुआ है यह इस अध्यायमें कहा है।।का.३।।

आभासार्थः प्रथम अर्थात् इससे पूर्ववाले अध्यायमें युधिष्ठिरको राज्य प्राप्ति हुई है यह कहा है. इससे युधिष्ठिर द्वारा ज्ञानसे अथवा अज्ञानसे राज्य करना घटित नहीं हुआ; इसलिए शौनक मुनि राज्यकी स्थितिके विषयमें प्रश्न करते हैं:

शौनक उवाच

हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनो युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः।
सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः कथं प्रवृत्तः किम् अकारषीत् ततः।।१।।

श्लोकार्थः अपने भागको लेनेवाले, आततायी (धन इत्यादिका हरण करनेवाले) को मारकर, पहले जिनका भोजन रोक लिया था ऐसे राजा युधिष्ठिर भाईयोंके साथ राज्यमें प्रवृत्त हुए; फिर इसके बाद उनने क्या किया? यह कहिये।।१।।

सुबोधिनीः अपने भागमें ईर्ष्या करनेवाले, इसलिए अपने भागके धन इत्यामें कौरव स्पर्धा करनेवाले थे, इसलिए वे आततायी थे. इसीलिए वे धन इत्यादिका हरण करनेवाले थे. कौरव मारने योग्य नहीं थे तो भी वे आततायी होनेसे उन्हें मारना पडा. वह कौरवोंके स्वयंका भाग नहीं था और वे पाण्डवों वाले भागकी स्पर्धा करते थे. अतः इस प्रकारके इन मारे जाने योग्योंको मारकर राज्य किया, ऐसा नहीं समझना चाहिए. कारण यह है कि वे कौरवादिक धनकी इच्छावाले थे, उन्हें मारकर, धन लेकर राज्य करना, यह तो युधिष्ठिरकेलिये उचित नहीं हुआ. यह सूचित किया गया.

यदि कोई इस प्रकारकी शंका करे कि इनने भी प्राकृत पुरुष जैसा कार्य किया तो उसका निवारण इस प्रकार है कि युधिष्ठिर धर्म धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं. वे केवल धर्मके विषयमें ज्ञानी हैं या क्रिया मात्र करते हैं इतना ही नहीं, अपितु धर्मको ग्रहण करके रहनेवालेमें युधिष्ठिर सबसे बडे हैं. उनकेलिये धनकी इच्छा वालोंको मारकर उनका धन लेकर राज्य करना ठीक नहीं.

भाईयोंके साथ किस प्रकार प्रवृत्त हुऐ तथा क्या कार्य किया उसका आशय यह है कि शत्रुओंको मारनेमें, रहस्यको जाननेमें, राज्यकी प्राप्तिमें प्रत्येक भाई एक मत हैं या नहीं यह जाननेकेलिए 'भाइयों सहित' पूछा है. उन भाइयोंका भोजन व पालन पहलेसे ही रोक लिया था. आततायी कौरवोंने इसे रोक दिया था. अब वह रुकावट दूर हो जानेसे उन्हें भोजनादि प्राप्त हुआ है; अतः खराब स्थितिवाले राज्यमें सर्वज्ञकी प्रवृत्ति क्यों हुई? क्योंकि राजाको राज्यमें हमेशा सन्तोषसे रहना ठीक नहीं.

राज्य प्राप्तिके बाद फिर कोई युद्ध आदि किया अथवा नहीं, शौनकजीके पूछनेका यह अभिप्राय है. इसका यह स्पष्टीकरण है कि युधिष्ठिरने अपनी इच्छासे कुछ भी नहीं किया है, भगवानकी इच्छासे ही किया है. अतः राज्यका गुण या दोष उन्हें कुछ भी नहीं हुआ. भक्त होनेसे भगवानकी इच्छासे ही युधिष्ठिरने राज्य किया है यह बतानेकेलिए ही 'भगवानको राज्य देकर संतुष्ट

हुआ' ऐसा कहा है.

सूत उवाच

वंशांकुरं वंशदवाग्निनिर्हृतं संरोहयित्वाऽभवभावनो हरिः ।
निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह।।२।।

वंशमें उत्पन्न हुई दावाग्निसे जले हुए कुरु वंशको फिरसे पल्लवित कर, मोक्षको देनेवाले भगवान् युधिष्ठिरको अपने राज्यमें आसीन करके निश्चय ही प्रसन्न हुए।।२।।

परीक्षितकी रक्षा करके युधिष्ठिरको राज्य सौंपा, यह दो कार्य करके भगवान् प्रसनन्न हुए. इसके बाद इस प्रकारका कार्य करनेसे क्या फल मिला, उसका उत्तर देते हैं कि अपने वंशकी रक्षा हर प्रकारसे करनी चाहिए. ऐसा न करनेसे प्रवृत्तिमार्गमें जो निष्ठा है, वह अयोग्य हो जाती है. क्योंकि भक्तोंके विषयमें तो भगवान् ही (उत्तरदायी हैं) ऋणी हैं. इसी प्रकार भक्तोंको तो विषय सम्बन्धी सुख होता नहीं है. इसलिए प्रवृत्तिमार्ग चलानेकेलिए भक्तोंके वंशकी भी भगवान् रक्षा करते हैं. इस प्रकार भक्तोंको अपने आप प्रवृत्तिमार्गमें निष्ठा नहीं होती है परन्तु भगवान्की इच्छासे होती है. और जब तक वंश न हो तब तक भक्तके ऊपर पितृगणका ऋण रहता है. वह दूर करनेकेलिए ऊपर बताई हुई दोनों बातें भगवान्की की हुई हैं. भक्तोंको अपने आप विषयसुखकी इच्छा नहीं होती.

दैत्य वंशके पुरुष हों तो भी उनके भक्त होनेकी स्थितिमें वंशरक्षण तथा राज्यप्राप्ति ये दोनों कार्य भगवान् सिद्ध करते हैं. अतः (ऐसी परिस्थिति-वाले भक्तोंकेलिये) भगवानको ही उसका उपाय करना चाहिए. इसलिये उनका वंश रखनेकेलिये परीक्षितकी रक्षा की है और युधिष्ठिरको राज्य दिया.

उस वंशकी रक्षा स्वयंसे नहीं हो सकती, क्योंकि वंशमें दावाग्निरूप क्लेश खडा हो था अथवा वंशसे दावाग्निरूपी क्लेश हो था. जैसे बांसका वन परस्पर बांसके घिसनेसे उसमें अग्नि उत्पन्न करता है. परन्तु उस आगको दूर करनेका काम बांस नहीं कर सकता. उसी प्रकार कुरुवंशमें परस्पर क्लेश हुआ, वह अपने आप दूर नहीं हो सकता था. उस क्लेशसे युक्त परीक्षित गर्भमें था. वहां भी उसे जलानेके लिये अश्वत्थामाका ब्रह्मास्त्र आया. जिससे उसका शरीर जलने लगा था. उसमें भगवानने नवीन अंकुर उत्पन्न करके परीक्षितकी रक्षा की. क्योंकि भगवान् मोक्ष देते हैं.

तीन ऋणोंकी निवृत्ति किये बिना मोक्षमें मन नहीं लगाना चाहिये, ऐसा स्मृतिका वाक्य हैं. इसी प्रकार पुत्र बिना मनुष्यको अच्छा लोक प्राप्त नहीं होता है, ऐसा भी श्रुतिमें कहा है. इसी प्रकार पुत्र बिना सब पशु हैं, ऐसा ऋषि लोग जानते हैं; ऐसा स्मृतिका वाक्य है. इसलिए वंश न हो तो पितृ रुदन करते हैं और उनकी मुक्ति नहीं होती.

भगवान् सबके दुःखोंको हरण करनेवाले होनेसे अपुत्रपनेका दुःख भी दूर करते हैं. इस प्रकार उत्पत्तिकी वृद्धि करनेवाले प्रभु हैं. इसलिये वंशकी वृद्धि करनेकेलिये आपने परीक्षितकी रक्षा की.

युधिष्ठिरके पास राज्य तो पहले भी था परन्तु शत्रुओंने उसे ले लिया था. वही राज्य वापस दिलवाया है. यदि ऐसे भगवान् सब भक्तोंको राज्य देते हों, तो सब भक्तोंको राज्य देनेकी परम्परा ही बन जाय. यहां युधिष्ठिरसे छीना राज्य ही वापस दिलवाया है.

युधिष्ठिरको तो भगवानने राज्यासन पर ही बिठाया है. इसका कारण है कि भगवान् ईश्वर हैं, इसलिये दूसरेको भी ईश्वर करके सुखी होते हैं. वहां शंका उठती है कि भगवान् मुक्ति देनेकेलिये प्रकट होते हैं, फिर युधिष्ठिरको मुक्ति न देकर राज्य कार्यमें क्यों लगा दिया है? उसका समाधान करते हैं कि भगवान् ईश्वर हैं, समर्थ हैं.

जो असमर्थ होते हैं वे प्रमाण पूर्वक फल लेने देनेमें तत्पर होते हैं. अतः सबका त्याग करवाकर मुक्ति देते हैं. परन्तु ये भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं. इसलिए इन्हें प्रमाणकी रीतिसे देखनेका कोई कारण नहीं.

इसलिए वे प्रभु तो राज्यमें जोडकर भी मुक्ति देनेमें समर्थ हैं. मूलमें 'ह' अव्यय रखा है वह इस बातका निश्चय बताता है.

यदि युधिष्ठिरमें ईश्वर धर्मका आविर्भाव न हुआ तो उसके अभावमें हीन भावना उत्पन्न होती तथा स्वयंमें ही राज्यसे भय उत्पन्न हो जाता. वह (भय) युधिष्ठिरके ज्ञानसे दूर हुआ है, ऐसा कहा है.

निशम्य भीष्मोक्तम् अथाच्युतोक्तं प्रवृद्ध–विज्ञान–विधूतविभ्रमः ।
शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः परिध्युपान्ताम् अनुजानुवर्त्तितः।।३।।

भीष्म पितामहके कहे हुएको हृदयंगम करके तथा इसी प्रकार भगवान्के कथनको विचारते हुए, अत्यधिक बढे हुए ज्ञानसे विशेष रूपसे दूर हो

है भ्रम जिनका, भगवानका ही एक मात्र दृढ आश्रय है जिन्हें और जो अपने भाईयों द्वारा सेवा किए जाते हुए राजा युधिष्ठिर इन्द्रके समान पृथ्वीका पालन करने लगे।।३।।

आवश्यक कार्य करना ही चाहिए. ऐसा करनेमें कोई हानि नहीं है. यह भीष्म पितामहका उपदेश सुननेके बाद युधिष्ठिरका राज्य विषयक भय दूर हो गया. मूलमें 'अथ' अव्ययका प्रयोग दूसरे विषयका प्रारम्भ सूचित करता है. अर्थात् श्रीकृष्ण हमारे रक्षक हैं. इस प्रकारसे जो नारायणमें परायण होता है, उसे भगवानकी आज्ञानुसार ही करना चाहिए. इस प्रकार सुनकर, मर्यादा और पुष्टिकी रीतिसे युधिष्ठिरके समझनेमें आया है. क्योंकि भीष्म पितामहके वाक्य मर्यादाकी रीतिके अनुसार हैं और भगवान्के वाक्य ''किसीसे भी डरे नहीं'' यह पुष्टिकी रीति बताई है. यह दोनों प्रकार युधिष्ठिरके समझनेमें आये हैं. जिससे उनके ज्ञानमें बहुत ही वृद्धि हुई है, और उस विचारके विज्ञानसे युधिष्ठिरके सब भ्रम दूर हो गए हैं. तब उस आज्ञाके अनुसार पृथ्वीका पालन करने लगे. दूसरे तो वर्षा होनेके बाद खेतोंमें उत्पन्न हुए अनाजोंकी चोर-लुटारोंसे रक्षा केवल उसी समय करते हैं और युधिष्ठिर तो वर्षाको वहीं उत्पन्न कर अपने धर्म द्वारा सबको अनुगृहित करते हुए पालन करते हैं. इसीलिए कहा है कि जैसे इन्द्र पालन करते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिर पालन करते हैं.

युधिष्ठिर तो मनुष्य हैं, तो भी देवताओंकी तरह पालन करनेकी सामर्थ्य होनेके कारण बताते हैं कि किसीसे भी जीते नहीं जाते ऐसे अजित भगवान् युधिष्ठिरके रक्षक हैं. इसलिए प्रभुकी सामर्थ्य भक्तमें आवे तो उसमें क्या आश्चर्य है? समुद्र पर्यन्त पृथ्वीका वे पालन करते हैं. यह बात इसलिए कि पृथ्वीके ऊपर अन्य दूसरे राजा भी खंड मंडलाधिपति हैं, वे सब भी युधिष्ठिरकी आज्ञानुसार ही शासन करते हैं. यह बताने केलिए ही ''समुद्र पर्यन्त पृथ्वीका पालन करते हैं'' ऐसा कहा है.

प्रथम तो उनके भाई ही सबका पालन करते हैं, उनके बाद वे स्वयं करते हैं. अथवा सब भाइयोंसे अपनी सेवा की जाती है. इस प्रकार उनके भाई भी उनकी सेवामें उपस्थित रहते हैं।।३।।

युधिष्ठिरके धर्म द्वारा जिनका शोषण हुआ है, ऐसे राज्यके गुण तीन श्लोकोंमें वर्णन किये जा रहे हैं.

कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही ।
सिषिचुः स्म व्रजान् गावः पयसोधस्वतीर्मुदा ।।४।।
नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पतिवीरुधः ।
फलन्त्योषधयः सर्वाः काममन्वृतु तस्य वै ।।५।।
नाऽऽधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः ।
अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ।।६।।

वर्षा इच्छानुसार बरसने लगी. पृथ्वी सब फल देनेवाली हुई. मोटे थनवाली गायें हर्ष पूर्वक दूधसे व्रजों (गोशालाओं)को सींचने लगी।।४।।

नदियां, समुद्र, वनस्पतियों व लताओं सहित पर्वत और अन्य सब औषधियां राजा युधिष्ठिरकी इच्छानुसार फल देनेवाली हुई।।५।।

युधिष्ठिर राजाके राज्य करते समय किसी भी प्राणीको आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक कारणवाली आधियां, व्याधियां या क्लेश नहीं व्यापे।।६।।

श्रीकृष्ण भगवान्की इच्छासे युधिष्ठिरके राज्यमें आधिदैविक आधि-भौतिक और आध्यात्मिक ये तीनों प्रकारके सुख हैं उनका निरूपण क्रमवार तीन श्लोकोंमें कहा जा रहा है.

युधिष्ठिरजीकी इच्छा अनुसार वर्षा होती है. पृथु राजाके समान पृथ्वी चारों ओरसे इच्छानुसार फलोंको देती है. पुष्ट स्तनवाली गायें हर्षित हो रही हैं कि ये राजा युधिष्ठिर हमारा पालन करनेवाले हुए हैं. ऐसा हर्ष होनेसे गायें अपने दूधसे व्रजोंकों (गोशालाओंको) सींचने लगी. जितने समयमें दूधको दुहनेवाला पात्र लावे उतने समयमें दूध अधिक बढ जानेसे गायें पृथ्वीको ही सींचने लगीं.

बरसात, पृथ्वी और गायें ये आधिदैविक हैं. समुद्र नदियोंका पति है, अतः नदी और समुद्रका जोडा कहलाता है. वृक्ष लताओंके पति हैं अतः वृक्ष और लताएं भी जोडा कहलाती हैं. ये दोनों अन्नके अतिरिक्त दूसरी सब वस्तुके कारणरूप हैं. कमोद इत्यादि औषधियां सब प्रकारसे फल रही हैं. उन सबमें जीव रहता है. इसलिए वे भूत अर्थात् प्राणी कहलाते हैं. सब इच्छाके अनुसार फल देती हैं. इच्छा हो तो भी समयके बिना फल दे तो दोषका कारणरूप होनेसे कुछ भय हो. उसकी निवृत्ति कहते हैं कि सब ऋतुके अनुसार फल देते हैं.

अध्यात्ममें गुण स्वतःसिद्ध होनेसे दोषके अभावकेलिये रोग इत्यादिके

अभावका निरूपण करते हैं. आधि(मानसिक पीडा), व्याधि(शरीर संबंधी पीडा) और अविद्यासे उत्पन्न होनेवाले क्लेश भी नहीं होते. उसी प्रकार इन्द्रिय स्राव(रक्तका निकलना), गर्भ स्राव (चार महिनेके अंदरका गर्भ जाय वह गर्भ स्राव कहलाता हैं) तथा गर्भ पात (पांचवे या छठे महीनेमें गर्भ जाय उसे पात कहते हैं) या व्यभिचार आदि नहीं थे.

अतः आधिदैविक, आध्यात्मिक व आधिभौतिक क्लेश युधिष्ठिरके राज्यमें नहीं थे. कारण यह कि राजाके धर्मद्वारा सबका समाधान हो जाता है. राज्यके प्रारम्भमें, बीचमें तथा अन्तमें एक ही प्रकारका सुख है. यह बताने केलिए मूलमें 'कर्हिचित्' (किसीको भी) अव्यय दिया है।।६।।

इस प्रकार सामान्यतया सबका सुख कहकर प्रेम सुखका निरूपण करनेकेलिए, भगवान्के पधारने पर जो उत्सव हुआ उसका इस अध्यायकी समाप्ति तक वर्णन किया जायेगा.

उषित्वा हास्तिनपुरे मासान् कतिपयान् हरिः ।
सुहृदां च विशोकाय स्वस्वसुः प्रियकाम्यया ।।७।।
आमन्त्र्य चाभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याभिवाद्य च ।
आरुरोह रथं कैश्चित् परिष्वक्तोऽभिवादितः ।।८।।

भगवान्, सम्बन्धियोंके शोकको दूर करनेकेलिए, अपनी बहिन सुभद्राके प्रिय करनेकी इच्छासे कितने ही महिने हस्तिनापुरमें रहकर,।।७।।

सबकी आज्ञा लेकर, अपनी बुआ कुंतीजी आदिकी आज्ञासे और अर्जुन आदिसे मिलकर, और इसी प्रकार नकुल सहदेव आदिसे नमस्कार कर, जाते हुए युधिष्ठिरजीसे विदा मांगकर रथ पर विराजमान हुए।।८।।

भक्ति-ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले उत्सवोंके अतिरिक्त संसारमें जीवन व्यर्थ है. श्रीकृष्णमें ही चित्त एकाग्र हो जाय, यह मुक्तिसे भी अधिक है. पद्म पुराणमें कहा है कि विष्णुका सेवक बन जाना ही मोक्ष है.

मूलमें हस्तिनापुर लिखा है, इसमें अलुक् तृतीया समास है. पूर्वमें यहां 'हस्ति' नामका राजा था, उसीका बनाया हुआ यह नगर था. इसीलिए यह 'हस्तिनापुर' कहलाता है. इस प्रकार 'हस्तिन्' यह भी उसीका नाम है. व्याकरणके नियम प्रमाणसे 'अण्' प्रत्यय होता है. इस कारण यह 'हस्तिनापुर' हुआ. ''हस्तिना निर्मितं पुरं हस्तिनापुरं'' इस प्रकार मध्यम पदका लोप हो जाता

है. उसमें 'हस्तिना' इस तृतीय पदका लोप नहीं होता. इसलिए यह अलुक् समास हो है. हस्ति द्वारा निर्माण किये गये नगरमें भगवानकी स्थिति है, यह उस वंशमें उत्पन्न होनेवालोंको मुक्ति प्रदान करनेकेलिये हैं.

मथुरा आदि नगरोमें भी भगवानकी स्थिति है. वह पृथ्वीमें मुक्ति देनेवाली है. भगवान् हस्तिनापुरमें रहते हैं, यह उस वंशमें उत्पन्न होनेवालोकी मुक्तिके लिए हैं. यह जो कहा है, वह 'निरन्तर स्मृति बनी रहे तो ही मुक्ति हो.' इसमें किसी समय विशेषका कारण नहीं है. यह बतानेकेलिये कालके अंशरूप महीनेका निरूपण किया है. भगवान् कितने ही महीने विराजे यही कहा है, यहां संख्या नहीं बताई गई है. अतः महीने भी इसमें कारणपनेको प्राप्त नहीं है, यह सूचित किया है.

भगवानका हस्तिनापुरमें विराजना मुक्तिकेलिए ही है. इसका कारण यह है कि भगवान् वहां विराजकर सबके शोकोंको दूर करें. इसके बाद वहांसे पधारे. जिससे उनके विराजनेसे शोक दूर होकर आनन्द होनेसे भगवानमें स्नेह हो, स्नेहसे भक्त कृतार्थ हो जावे. इसलिए सबकी मुक्ति होनेमें भगवानका अभिप्राय है. इसलिए सब सम्बन्धीओंका शोक दूर करनेकेलिए भगवान् विराजे. मूलमें 'च'कार होनेसे राजाका प्रिय करनेकेलिए वहां विराजे हैं.

अपनी बहिन सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु युद्धमें मारा गया, उसका शोक था. वह शोक परीक्षितके जन्मसे दूर हुआ है. इस प्रकार भगवानका विराजना प्रेमको बढानेवाला है.

भगवानने द्वारका पधारते समय सबसे आज्ञा ली, यह लौकिक रीति है. मूलमें आया हुआ 'च'कार वरदान आदि दिये जानेकी सूचना है. सबके दोषोंकी निवृत्तिकेलिए भगवान् सबसे मिले हैं. बहिर्मुखताका दोष हो तो भी उसे नष्ट करनेकेलिए भगवानने अभिवादन किया है. पीछे भी मूलमें 'च'कार होनेसे उचित दान आदि भी किये हैं. कितनोंका भगवानने आलिंगन किया है. ऐसा कहनेसे श्रवणसे लेकर सख्य तककी भक्तियां उनको सिद्ध की. इसीलिये आलिंगन किया. अथवा वे प्रेमयुक्त एवं स्नेहवाले हैं इसलिए आलिंगन किया है. ऐसे प्रेमी व स्नेही दुर्लभ होते हैं, यह सूचित किया है।।७-८।।

सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा।
गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ।।९।।

वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः ।
न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः।।१०।।

सुभद्रा, द्रोपदी, कुन्ती, उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, गौतम, नकुल, सहदेव, भीम, धौम्य और सत्यवती इत्यादि स्त्रियां मोहको प्राप्त हुए भगवान्के विराहको नहीं सह सके।।९-१०।।

सुभद्रादिक स्त्रियां भगवान्के विरहको सह न सकीं. स्नेह, देहकेलिए होता है. वह स्त्रियोंमें अधिकतासे होता ही है. इसीलिए प्रारम्भमें सुभद्राका नाम और अन्तमें सत्यवतीका नाम दिया है.

मारे जानेके तथा रक्षा करनेके प्रसंगमें जिस प्रकार पति है, उसी प्रकार पुत्र भी है. अतः गान्धारी तथा उत्तरा की समानता बताई है. क्योंकि उत्तराका पति मारा है और पुत्रकी रक्षा हुई है. इसी प्रकार गान्धारीके पुत्र मारे गए हैं तथा पतिकी रक्षा की गई है. अतः दोनोंकी समानता बतानेकेलिए मूलमें 'तथा' अव्ययका प्रयोग किया है.

युधिष्ठिर और अर्जुन ये दोनोंही उत्सवोमें आसक्त थे. अतः इन्हें विरहकी स्फूर्ति नहीं थी. इसीलिए मूलमें इनके नाम लिखे नहीं गए. अथवा 'धृतराष्ट्रश्च' इस 'च'कारसे दोनोंका अर्थ लिया जा सकता है. यदि इस 'च'कारको समूह बोधक अर्थमें न लिया जावे तो वह मात्र धृतराष्ट्रकी भक्तिको बतानेवाला 'च'कार है. क्योंकि धृतराष्ट्रको भक्ति होना बडा कठिन है. युयुत्सु धृतराष्ट्रकी भोगस्त्रीका पुत्र है. कृपाचार्य गौतमवंशमें उत्पन्न हुए हैं, इसलिए उनका नाम गौतम ही मानकर मूलमें कहा है. नकुल व सहदेव का जन्म एक साथ होनेसे उन्हें 'यम' नामसे कहा है.

'वृकोदरश्च' इस नाममें 'च'कार होनेसे अन्य नहीं कहे गए क्षत्रियोंका भी भाव सन्निहित है. धौम्य ऋषि पाण्डवोंके पूरोहित हैं, यहां भी 'च'कार है; इससे न कहे गए ब्राह्मणोंका भी समावेश हो है. उन ब्राह्मणोकी स्त्रियां, मत्स्यसुता सत्यवती आदि, ये भी विरहका दुःख सहन नहीं कर सकीं. अथवा कार्यकेलिए पहले जनाई गई उत्तराका ही ग्रहण करनेकेलिए मत्स्यसुताको कहा है. स्त्री और पुरुष दोनोंको साथ कहा है.

इस कारण व्याकरणकी रीतिसे 'विमुह्यन्तः' ऐसा पुल्लिंगका निर्देश किया है. भगवानका नाम 'शार्ङ्गधन्वा' कहा है, इसका अभिप्राय है कि भगवान्

काल-धनुषको हाथमें धारण करते हैं. अतः उनका वियोग हो जाने पर, कालके ग्रास हो जायेंगे, ऐसी शंका होनेसे विरहका दुःख होता है।।९-१०।।

आभासार्थ: विरहका सहन न होना यह किसी भी प्रकारसे लौकिक नहीं कहा जा सकता. इसलिए अलौकिक ज्ञान होने पर, भगवान् अंतर्यामी होनेसे सबके हृदयमें विराजमान हैं. अतः उनका विरह नहीं होता. इसीलिए उनके विरहका वर्णन करना उचित नहीं लगता. इस प्रकारकी शंका करते हुए, ज्ञान होने पर भी किसी अन्य प्रकारसे परम सुखके प्रदान करनेवाले होनेसे; उनका विरह होना योग्य है ऐसा डेढ श्लोकमें कहा जा रहा है:

सत्सङ्गान् मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृद् आकर्ण्य रोचनम्।
तस्मिन् न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम्।।११।।

प्रीति उत्पन्न करनेवाले भगवान्के यशका जिस किसीने एक बार भी सावधानी पूर्वक कीर्तन कर लिया है, ऐसा बुद्धिमान पुरुष भी, जिसके दुःसंग, सत्संगके कारण नष्ट हो गए हैं; भगवानको नहीं छोड सकता. तो फिर वे पाण्डव, जिन्होंने अपनी बुद्धि भगवानको सौंप दी है, वे किस प्रकार प्रभुका विरह सह सकते हैं।।११।।

भगवान्के विरहकी तो बात ही अलग है, परन्तु भगवान्के सेवकोंका भी विरह नहीं सहा जा सकता. ज्ञानका उपदेश दिए जाने पर भी, अन्तर्यामीपनेसे भगवानकी हृदयमें स्फूर्ति होने पर भी, जो रस भगवान्से प्रत्यक्षतया बाहरी रूपसे सत्संग द्वारा मिलनेका है वह ज्ञान आदिसे प्राप्त नहीं होता.

जिस प्रकार स्त्रीसे मानसिक सम्बन्धका एक अलग अनुभव है तथा स्त्रीसे प्रत्यक्ष सम्पर्कका एक अनूठा ही सुख है. जब इन दोनों प्रकारके सुखोंमेंही अन्तर है, तो फिर ज्ञानका उपदेश होने पर, अन्तर्यामीपनेसे भगवानकी स्फूर्ति तथा बाहरीरूपमें भगवान्के सहवासमें भी इसी प्रकार मध्यम-उत्तम स्थितियों का भेद स्वतः सिद्ध है.

शंका: सुख इत्यादिका उपादन कारण आत्मा अथवा मन है, अतः आत्मा और मनमें भगवान् विद्यमान होनेसे उनका ज्ञान हो जाता है. अतः उस स्थितिसे जो रस उत्पन्न होता है वह भी बाहरी अनुभव जैसा ही हुआ. इस प्रकार विरह नहीं होना चाहिए!

समाधान: यदि इस रसका अनुभव स्वयंको होता हो तो स्त्रीको भी स्वयंमें ही सुख होना चाहिए, तो फिर सब वस्तुओंमें रहनेवाले रसकी स्फूर्ति दोषयुक्त हो जाय. इसीलिए वह रस प्रकट होता है. जैसे माला, चंदन, स्त्री आदिमेंसे किसीको मालामें, किसीको चंदनमें, किसीको स्त्रीमें द्वेष अथवा अनुराग होता है वैसे ही उसमें रहनेवाले रसकी स्फूर्ति अपनेमें रहनेवाले काम आदि दोषके कारण होती है. जैसे मालाकी इच्छावालेको माला प्रिय लगती है, चंदनमें इच्छावालेको चंदन प्रिय लगता है, ओर स्त्रीमें इच्छा होय तो स्त्री प्रिय लगती है. इसके अतिरिक्त उसे सब वस्तु अप्रिय लगती है. अन्य सब वस्तुओंकी तुलनामें स्त्रीमें काम अधिक रहता है. ऐसी स्थितिमें तो स्त्रीको स्वयंके सुखमें सन्तुष्ट हो जाना चाहिए. उसमें विरहका दुःख नहीं होना चाहिए. परन्तु देखा यह जाता है कि उसे विरहका अतिशय दुःख होता है. अतः इसका कोई और ही कारण होना चाहिए. ऐसा विचार करने पर बाहरके सम्बन्धसे जो रस उत्पन्न होता है, उस रसकी अभिव्यक्ति कामादिक दोष द्वारा ही होती देखी गई है, केवल ज्ञानसे नहीं. अतः इन आधारों पर पाण्डवादिकोमें भगवान् सम्बन्धी विरह होना तर्कसंगत है.

यहां भी कोई शंका करे कि, सब स्थान पर ही सुख उत्पन्न हो जाय तो यह सुखका केवल एक भेद ही हुआ. इसलिए सुख उत्पन्न होनेमें अपने भीतर रहनेवाले दोषकी स्फूर्ति होना कारण है, ऐसा कहना युक्ति युक्त नहीं. क्योंकि सायुज्य मुक्ति आदिमें जो आत्मसुख प्रकट होता है वह दोषरहित ही प्रकट होता है. सायुज्य मुक्तिमें आत्मसुख प्रकट होता है, वह ही भगवानका रस प्रकट होनेके प्रसंगमें कहा जा सकता है. वही रस ज्ञान आदिसे भी प्रकट होता है. अतः भगवान्का विरह होना, यह उचित सा नहीं लगता. ऐसी शंकाका कोई ठोस आधार नहीं है. सायुज्य मुक्तिमें और ज्ञान आदिमें भी जो आत्मसुख प्रकट होता है, उसमें भी एक प्रकारसे अलगावपनेका बोध होता ही है तभी तो ब्राह्ममें प्रवेश करनेकी इच्छा होती है. यह इच्छा होना भी तो दोषरूप ही है. जो इसमें दोषपना न हो तो सायुज्यरूप फल होनेके बाद उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए. क्योंकि फल प्राप्तिके बाद तो दोषकी निवृत्ति हो जानी चाहिए. सायुज्य मुक्ति हो जानेके बाद तो जीवमें अलगपनेकी स्थितिका ज्ञान तथा उसमें प्रवेश करनेकी इच्छा नहीं रहती. ऐसी स्थितिमें सुखका अनुभव भी नहीं होता. जीव ब्रह्मसे अलग है, अतः

उसकी ब्रह्ममें प्रवेश करनेकी इच्छा है. उसे आप दोषरूप मानते हैं, परन्तु वह तो गुणरूप है. इस प्रकारकी कोई शंका करे तो उसका समाधान इस प्रकार है. लोकमें भूख आदिको भी गुण कहा है, उसी प्रकार जीवकी अलगाववाली स्थितिको तप व ज्ञानको, ब्रह्ममें प्रवेश करनेकी इच्छाको भी गुणरूपमें माना है. यदि इसे गुणरूप न माना जावे तो क्षुधाकेलिए प्रयत्न करनेमें न आवे. श्रुतिमें कहा है कि ''क्षुधा मनुष्यकेलिए शत्रुरूप है'' इसीलिए उसमें दोषपना है. इस कारण अन्न आदिमें सुख प्राप्त होता है. जिस प्रकार लोकमें क्षुधाको गुणरूपमें माना है तथा शास्त्रोमें क्षुधाको दोषरूप माना है; उसी प्रकार भगवान् बाहर रहकर रस उत्पन्न करनेवाले हैं. इस वास्तविकताको ज्ञानमार्गकी शैलीमें दोषरूप कहा है. पर दूसरी ओर भक्तिको गुणरूपमें स्वीकारा है. इसीलिए योगी भी, जब कृष्ण प्रकट हुए हों तो समाधिका त्याग करके उनका दर्शन करते हैं. जब प्रभु अप्रकट रहते हैं तब समाधि लगाते हैं.

अतः मुक्तिमें भी देहका सम्बन्ध है और मुक्तिकी सृष्टि भगवान् करते हैं. तो भी स्वयंके सुखका बाहरी अनुभव करानेकेलिए भक्तके हृदयमें रस उत्पन्न करते हैं. यदि ऐसा न हो तो जो मुक्त जीव होते हैं, उन्हें प्रलयमें देह सम्बन्ध नहीं होता है. तो फिर भगवान् जो देहका सम्बन्ध कराते हैं, उसे न कराए. क्योंकि देहादिक दोषरूप कहलाते हैं. इतना ही नहीं, भगवान् तो परम कृपालु हैं, इसलिए सृष्टि ही न करें. लेकिन सुखका अनुभव करानेकेलिए ही भगवान् जीवकेलिए दोषरूप देहको प्रदान करते हैं.

देहके बिना भगवान्के सुखका अनुभव नहीं हो सकता. इसीलिए भगवानने उद्धवजीसे आज्ञा की है कि ''किसी स्थान पर गुण हो तो भी परिस्थितिके अनुसार वह दोषरूप हो जाता है तथा किसी स्थल पर दोष हो तो स्थिति विशेषमें वह गुणरूप हो जाता है.'' इसी व्यवहारको लेकर सारे वेद एवं शास्त्र गतिशील हैं. बाहरके कार्योकी मुख्यता होनेसे सब स्थानमें भगवान् व्यापक हैं, यह ज्ञान होते हुवे भी भगवानका विरह सहन नहीं हुआ, ऐसा कथन ठीक ही कहा है. मूलमें 'सत्संगान्' बहुवचन लिखा हुआ है.

जिसके एक संग विद्यमान हो और दूसरा संग प्राप्त हो जाय तो भी तोड नहीं सकता. उसी प्रकार सत्पुरुष भी बहुत होने चाहिए. अतः एकमें ही अनेक प्रकारके रसोंकी उत्पत्ति हो जाती है. सत्पुरुषोकी कृपा द्वारा जिन्होनें दुष्ट संग छोड

दिया है और इसके बाद सत्पुरुषों द्वारा ही ज्ञानको प्राप्त हुआ है, ऐसा सत्संगका जिन्हें फल हुआ है; ऐसा पुरुष चिंतामणिकी तरह सत्संगको छोडनेकी इच्छा कभी भी नहीं करता. प्रसंग यह है कि, भगवानका विरह सहन नहीं हो सकता उसी प्रकार सत्संगका त्याग भी नहीं किया जा सकता. तात्पर्य यह है कि सत्संगमें भगवान्के यशका कीर्तन होता है. सत्संगको करते रहनेका गुण बतलाते हैं कि कानोंमें रस घोल देनेवाला यशोवर्णन सत्संगमें होता है. भगवान्के यशका एक ही बार सावधानीपूर्वक कीर्तन करनेसे सत्पुरुष सत्संगके त्यागकी इच्छा नहीं करता. कारण यह है कि प्रभुकी कीर्ति प्रेमको उत्पन्न करनेवाली है, और सत्संग कीर्तनका कारणरूप है. अथवा भगवान्के यशका चिन्तन रहनेसे उससे कभी सत्संग नहीं छूट सकता. तो फिर जिन पाण्डवोकी बुद्धि भगवानमें लगी हुई है वे भगवानका विरह भला कैसे सह सकते हैं? जिस प्रकार मनुष्य सुदृढ पेटीको देखकर अपनी अमूल्य वस्तु उसमें स्थापित कर देते हैं उसी प्रकार भगवानकी कीर्तिको सुनकर बुद्धिरूपी रत्नको भगवानमें स्थापित कर देते हैं.

मूलमें 'बुध' शब्द सामान्य मनुष्यसे ऊपर उठी हुई चिन्तनशीलताके कारण आया है. यहां सामान्य शब्द लौकिक व वैदिक बुद्धिवालोंकेलिए प्रयोगमें लिया है.

कुन्ती भगवानकी परम भगवदीया हैं. कुन्ती द्वारा पाण्डवोंके प्रति पहले कहे गये वचनोंके अनुसार पाण्डवोंकी भगवानमें अनन्य प्रीति हो गई. भगवानमें ही लगा दी है बुद्धि जिन्होंने ऐसे पाण्डव भगवानका विरह कैसे सह सकते हैं. अतः उनका विरह सहन नहीं हो सकता. अब या तो भगवान्के साथ ही जाया जावे अथवा इस कार्यमें बाधा डालनेवाले इस शरीरको छोड दिया जावे. सारांश यह निकला कि भगवानका यहांसे पधारना समयानुकूल नहीं है.

तदपि भगवान्के पधारने पर क्या प्रतिक्रिया हुई इस प्रसंगमें यह बात इस प्रकार है:

दर्शन–स्पर्शनालाप–शयनासन–भोजनैः।
सर्वे तेऽनिमिषैर्नेत्रैः तम् अनुद्रुतचेतसः।
वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेरुस्तत्र तत्र ह ।।१२।।

भगवान्के ही दर्शन, स्पर्श, बातचीत, शयन करना, साथ–साथ उठना–बैठना, साथ ही भोजन करना आदि द्वारा जिनका चित्त भगवानका ही

अनुसरण कर रहा है; ऐसे पाण्डव टकटकी लगाकर भगवान्के दर्शन करते हैं. प्रभुके स्नेहसे बंधे हुए प्रभुके अनुकुल सेवामें जुट गए।।१२।।

जिस समय भगवान् पधारने लगे उस समय क्या हुआ? ऐसी जिज्ञासा होने पर समाधान करते हैं कि भगवान्के दर्शन-स्पर्श करना, भगवान्के साथ वार्तालाप करना, शयन करना, बैठना, प्रभुके साथ भोजन करना ये छः क्रियाएं भगवान्के योग्य हैं. उन पाण्डवोंकी क्रियाएं तो भगवान्के साथ ही जुड गई हैं. साथ-साथ रहे बिना बातचीत नहीं की जा सकती. उसी प्रकार प्रभुके दर्शन करना, उन्हें छूना आदि भी भगवान्के साथ होने पर ही हो सकते हैं. अतः भगवान्के साथ निरन्तर रहते हुए छः प्रकारकी क्रियाओंका अभ्यास होनेसे उन क्रियाओमें ही पिरोए हुए पाण्डवोंने अपने चित्त भगवान्के संलग्न कर दिए. पाण्डव अपलक दृष्टिसे श्रीभगवानको निहारते रहते हैं, ऐसी दृष्टिके पीछे-पीछे उनका मन भी भगवानमें लगा हुआ है. इस तरह शरीर, वाणी और मन की वृत्तियां भगवानमें ही लगी हुई हैं. उनमें विवेक, धैर्य आदि कुछ भी नहीं रह है, यह सूचित हुआ.

इसके बाद क्या हुआ? इस पर कहते हैं कि भगवान् यहांसे पधारनेवाले हैं इस तरहकी याद आते ही विरह हो गया. परन्तु भगवान्के दर्शन, स्पर्श इत्यादि करनेसे भूल जाते हैं. जिससे विरह होता है उसकेलिए दुःख होता है. परन्तु प्रत्यक्ष उपस्थित परमानन्दको छोडकर उद्वेग करना निरर्थक है ऐसा समझकर पाण्डव विचार करते हुए भगवान्में देह, इन्द्रियां और अन्तःकरण की वृत्तिओंको जोडने लगे. मूलमें 'विक्षन्तः'में ईक्षण क्रिया है, वह सब इन्द्रियोंकी वृत्तिको बतानेवाली है. उन्हें भगवान्से स्नेह है, वे भगवानको हृदयमें लाते हैं. यदि भगवान् बाहर विराजते हों तो जीवको भगवान् पास ले जाते हैं. इस प्रकार दोनों ही रीतिओंसे भगवान्में चित्त लगनेमें विरोध नहीं है.

इसी प्रकार ''वे फिरने लगे'' ऐसा जो कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि भगवान्के पधारने सम्बन्धी जो-जो कार्य हैं उनमें पाण्डवोंने शरीर जोड दिये हैं. यह शरीरकी क्रिया बताई गई है।।१२।।

इतना स्नेह होने पर भी भगवान् तो पधारे ही. पीछे जो शरीरकी स्थिति रही, वह तो भगवान्के अद्भुत लीलाकार्यसे ही रह सकी. तब तो भगवान्के पधारते समय रुदन करना चाहिए था. बल्कि भगवानकी इच्छासे पाण्डवगण

थोडेसे भी नहीं रोए. इस प्रसंगमें कहते हैं:

न्यरुधन् उद्गलद् बाष्पम् औत्कण्ठ्याद् देवकीसुते ।
निर्यात्यगारान् माऽभद्रम् इति स्याद् बान्धवस्त्रियः।।१३।।

देवकीजीके पुत्र कृष्ण वहांसे पधार रहे हैं, उस समय उनके विरहके स्मरणसे नेत्रोंमें आंसू आ जाते हैं. परन्तु उन आंसुओंसे अमंगल न हो जाय, इसलिए बन्धुओंकी स्त्रियां आंसुओंको रोके हुए हैं।।१३।।

पूर्व वर्णनके अनुसार नेत्रोमेंसे आंसू निकलते हैं, तो भी देवकीजीके पुत्र घरसे बाहर पधार रहे हैं, अतः अमंगल सूचक अपशकुन न होवे, ऐसा विचारकर आंसुओंको आंखोमें ही थाम लिया है. इसमें भगवानकी इच्छा प्रबल है. प्रेमकी अत्यधिकताके कारण, आनेवाले आंसुओंको भी रोका जा सका है. तो फिर शरीर आदिको तो कैसे छोडा जा सकता है? इस प्रकार भगवानकी इच्छाकी प्रबलता बताई गई है. भगवान् देवकीजीके पुत्र हैं; इसलिए उनका पधारना तो योग्य है ही. क्योंकि देवकीजीने अत्यधिक तपस्या करके भगवान्से पुत्ररूपमें प्रकट होनेकी प्रार्थना की थी इसलिए भगवान् पुत्ररूपमें पधारे हैं. वे देवकीजीसे मिलनेकेलिए भला क्यों न पधारें? इसलिए अपनेको अपशकुन नहीं करना चाहिए, इस अभिप्रायसे उन्होंने आंसू रोक लिए हैं. भगवान् घरसे बाहर पधार रहे हैं उस समय आंसू रोके गए हैं; इसका अभिप्राय यह हुआ कि भगवानने अपने घर पधारकर बहुत बडा उपकार किया है, ओर वे वापस अपने घर पधार रहे हैं; इसलिए अपशकुन करना उचित नहीं है, ऐसा समझकर सब बान्धवोंकी स्त्रिओंने आंसू रोक लिए हैं. इस प्रकार यहां बन्धुपनेका भाव सामने आया है।।१३।।

भगवान्के पधारनेके समय दश प्रकारके वाद्य बजाए जा रहे हैं, इस प्रसंगमें कहा जा रहा है:

मृदङ्ग–शंख–भेर्यश्च वीणा–पणव–गोमुखाः ।
धुन्धुर्य्यानक–घण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयः समम् ।।१४।।

मृदंग, शंख, भेरी, वीणा, पणव, गोमुख, धुन्धुरी, आनक, घंटे और नोबत ये दश प्रकारके बाजे एक साथ बजाए गए।।१४।।

मृदंग, भेरी, आनक, पणव, दुंदुभि ये पांच बाजे ताडन द्वारा बजाए जाते हैं. अतः इन वाद्योंको 'आनद्ध'के नाम भेदसे जाना जाता है. शंख और गोमुख मुखते बजायें जाते हैं, अतः उन्हें सुषिर भेदसे जाना जाता है.

वीणा तो अपने आपमें एक है ही. घंटा और धुन्धुरी घनवाद्य कहे गए हैं. इस प्रकार आनद्ध, सुषिर, वीणा और घन ये चार भेदवाले वाद्य बजाये जाने लगे. इन दस बाजोंके लक्षण वाद्यवाले अध्यायमें प्रसिद्ध हैं।।१४।।

उत्सवमें स्त्रियोंके दर्शनका वर्णन किया जाना चाहिए इसलिए पुष्प वृष्टिके साथ उनका वर्णन इस प्रकार है:

प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया।
ववृषुः कुसुमैः कृष्णे प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः।।१५।।

श्रीकृष्णमें प्रेम और लज्जासे मन्द हास्यके साथ दर्शन करती हुई कुरूकी स्त्रियां महलोंके उपरी भागों पर चढकर उत्सव देखनेकी इच्छामें पुष्पोंकी वृष्टियां करने लगी।।१५।।

महलका शिखर अर्थात् महलके सबसे ऊपरका कक्ष उसके ऊपर कुरूकी स्त्रियां बैठी हुई हैं. क्योंकि उच्च कुलके घरकी स्त्रियां बाहर जा नहीं सकती, यह बताया है. भगवानकी दृष्टि अपने ऊपर पडनी चाहिए, अतः वे स्त्रियां पुष्प वृष्टि करे तो भगवान् सामने देखें, तो दर्शन हों. इसलिए कुरू प्रदेशकी स्त्रियां प्रभुके ऊपर पुष्प वृष्टि कर रही हैं. इसी प्रकार प्रेम, लज्जा, और मंद हास्य ये सात्विक, राजस और तामस तीनों गुणोंके कार्य हैं. उसमें दृष्टि साथ रहती है अतः प्रेमसे युक्त जिनकी दृष्टि है ऐसी सब स्त्रियां पुष्पकी वृष्टि करती हैं. भगवानमें कार्य होना यह भक्तिका कार्य है. लज्जाके साथ मन्द हास्य कर रही हैं यह स्त्रियोंका स्वभाव है और दृष्टिका कार्य इन सबका ज्ञान करना है, इस तरह कई-कई प्रकारोंसे भगवान्के दर्शन किए।।१५।।

इस प्रकार स्त्रियोंके कार्योंका निरूपण करके अब तीन श्लोकों द्वारा पुरुषोंके कार्योंका निरूपण करते हैं.

सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम्।
रत्नदण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रियतमस्य ह।।१६।।
उद्धवः सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते।
विकीर्यमाणः कुसुमैः रेजे मधुपतिः पथि।।१७।।

भगवान्के प्रिय अर्जुनने अतिप्रिय मोतियोंकी मालासे शोभित रत्नोंके दण्डवाले श्वेत छत्रको धारण किया. उद्धव और सात्यकीने परम अद्भुत पंखे धारण किये. इस प्रकार मार्गमें पुष्पोंकी वृष्टि किये जाते हुए मधुपति भगवानकी

शोभा हुई।।१६-१७।।

छत्रका दण्डा लाल और छत्र श्वेत है. सब ओरसे उस छत्रमें मोतियोंकी झालरें झूलती हुई सुन्दर लग रही हैं. यहां अर्जुनको 'गुडाकेश' कहा है, उसका कारण यह है कि अर्जुन निद्राका ईश्वर है, अतः उसका भ्रम जाता रहा है. सब प्रकारके उपचारमें महाराजपनेका उपचार उत्तम है, उसका चिन्ह छत्र है, वह अर्जुनने ले रखा है. अतः मुख्य कार्य अर्जुनने किया है, सिद्ध है कि अर्जुन बुद्धिमान है.

अर्जुन भगवान्‌को प्रिय है, ऐसा कहनेसे, भगवानकी उसने बहुत सेवा की है यह सूचित हुआ. अर्जुनकेलिए युधिष्ठिरकी तुलनामें भी भगवान् बहुत प्रिय हैं. अतः अपना लघुत्व बतानेकेलिए महाराजके योग्य छत्रको अर्जुनने भगवान्‌के ऊपर धारण किया है. उसने लौकिकपना छोड दिया है. मूलमें 'ह' अव्यय द्वारा आश्चर्य बताया है. चामर अर्थात् व्यजन(बीजणा) बहुत ही अनूठे है जो स्वयंमेंसे सुगंधित और शीतल वायु उत्पन्न करते हैं.

मार्गमें पुष्पोंकी वृष्टि हो रही है, इसलिए अपनी-अपनी दुकानों व मकानों आदिमें रहनेवाले मनुष्य भगवान् पर पुष्पोंकी वृष्टि करते हैं. इससे भगवान् बहुत शोभित हो रहे हैं.

पुष्पोंमें हर जातिके पुष्प उपयोगमें आये हैं. जिस प्रकार वसन्त ऋतुमें सब प्रकारके पुष्प प्रफुल्लित होते हैं उसी प्रकार सब प्रकारके पुष्प आये हैं. क्योंकि यहां वसन्तरूपी भगवान् प्रकट हुए हैं. यही सूचित करनेकेलिए मूलमें 'मधुपति' शब्द दिया है. अथवा उनमेंसे सबने विष्णु भगवानकी पूजा की है. थोडेसे कारणकेलिए पुष्प समर्पित नहीं किये हैं, यही सिद्ध करनेकेलिए 'मधुपति' शब्दका प्रयोग किया है. वेदोंमें कहा है कि 'उत्तम विष्णुके चरणमें मधुका स्रोत है'. इस प्रकार श्रुतिओमें 'मधु'का प्रयोग आनन्द आदिकेलिए हुआ है. वह 'मधु' भगवान्‌के चरणकमलमें रहता है, यह बताया है. पुष्पवृष्टि करनेवालोंको इस बातका ज्ञान है, यह बतानेकेलिए 'मधुपति' शब्द कहा है. सिंहासन पर विराजनेसे जो शोभा होती है उससे कहीं अधिक मार्गमें पधारते समयकी शोभा वृद्धि हो रही है।।१६-१७।।

इस प्रकार दूसरे वर्णोंके कार्योंको कहकर, अब ब्राह्मणोंने जो कार्य किया है, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं:

अश्रूयन्ताऽऽशिषः सत्याः तत्र तत्र द्विजेरिताः ।
नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः।।१८।।

भगवान् अपने निर्गुण स्वरूपके प्रतिकूल तथा गुणात्मक स्वरूपके अनुकूल स्थान-स्थान पर ब्राह्मणोंके द्वारा उच्चारे गए सत्य आशीर्वादोंको अंगीकार करने लगे।।१८।।

ईश्वरको भी आशीर्वाद प्रदान करना यह ब्राह्मणोंका जातिधर्म है. परन्तु वे आशीर्वाद ईश्वरमें जिस कारणसे न हों, उन्हें सिद्ध करनेकेलिए हों, तभी वे प्रामाणिक माने जा सकते हैं. कारण यह कि जो तथ्य अन्य प्रकारसे सिद्ध न होता हो उसे सिद्ध कर देना ही प्रमाणरूप गिना जाता है. यहां पर भगवानको आशीर्वाद दिये जानेवाले सब गुण तो (भगवानमें) पहलसे ही सिद्ध हैं. अतः आशीर्वाद केवल अनुवादरूप ही हुआ. जो बात उनमें न हो उसे सिद्ध करना ही प्रमाण माना जाय, वह बात तो यहां है नहीं. अतः अनुवाद मात्र होनेसे इसमें प्रमाणिकता नहीं है. यह सब कुछ होते हुए भी जो जो वास्तविकताएं देखनेमें आ रही है उन्हें ही आशीर्वादरूपमें कहा है. इसलिए ये आशीष सत्य हैं. मूलमें आशीषका सुना जाना नहीं लिखा है. इसलिए ब्राह्मणों द्वारा दिया आशीर्वाद भगवानमें रहनेवाले गुणोंका अनुवाद है. यह अंशरूपमें अनुकूल है. जो बात भगवानमें नहीं है उसे सिद्ध करनेकेलिए ही ये आशीर्वाद है; ऐसा कहना ठीक नहीं है. मूलमें 'च'कार होनेसे अनुकूलता तथा प्रतिकूलता दोनों ही स्थितियां या गुणधर्म भगवान्के स्वरूपमें ही सिद्ध हो रहे हैं. यही बतानेकेलिए मूलमें कहा है कि निर्गुण स्वरूपको आशीर्वाद देना योग्य नहीं है; यह तो सगुण स्वरूपके ही योग्य है. वे सगुण होनेसे सब गुणोंसे युक्त हैं, उन्हें आशीर्वाद देना योग्य नहीं. परन्तु निर्गुणमें गुणोंकी स्थापना करनेकेलिए आशीर्वाद देना योग्य है, यह अभिप्राय निकलता है. भगवान् सब प्रकारसे बन जानेमें समर्थ हैं अतः सब आशीर्वाद सत्य और शुभ हैं. मूलमें आशीर्वाद देनेवाले ब्राह्मणोंको द्विज कहा है. इसका तात्पर्य यह है कि जो दो बार जन्म ग्रहण करे वह 'द्विज' है. अतः दो बार जन्म लेनेसे व्यग्र होनेके कारण उनका निश्चयपनेसे कथन करनेमें असमर्थ है, ऐसा सूचित किया है।।१८।।

इस प्रकार सबका कार्य कहकर, भगवानकी समीपतामें भी बहिर्मुख होनेकी स्थिति भगवानकी इच्छासे ही हुई है, अज्ञानके कारण नहीं हुई, यह

कहनेकेलिए स्त्रिओंका ज्ञान बताते हैं:

अन्योन्यम् आसीत् सञ्जल्प उत्तमश्लोकचेतसाम् ।
कौरवेन्द्र–पुर–स्त्रीणां सर्व–श्रुति–मनोहरः।।१९।।

अति उत्तम कीर्तिवाले भगवानमें ही पिरोया हुआ है चित्त जिनका ऐसी कौरवेन्द्रपुरकी स्त्रियां, समस्त श्रुतियोंके मनका हरण करनेवाले भगवान्के विषयमें परस्पर वार्तालाप करने लगीं।।१९।।

जहां स्त्रिओंको भी ऐसा ज्ञान है वहां यदि अन्योंको भी यह ज्ञान हो तो कहना ही क्या? यह बतानेकेलिए स्त्रिओंके वाक्योंका निरूपण करते हैं कि उनमें संजल्प(वार्तालाप) होने लगा. अपने पक्षको मजबूत सिद्ध करते हुए दूसरेके पक्षको दोषपूर्ण सिद्ध कर देनेवाला वाक्यसमूह 'जल्प' कहलाता है. परन्तु इस प्रकार कथारूप वाणीका समुह जल्प नहीं होता, प्रत्युत विलासरूप होता है. इसीलिए तो 'संजल्प'का प्रयोग हुआ है. यद्यपि कथारूप वाद अथवा शास्त्रार्थमें तो किसी निर्णायक या मध्यस्थकी अपेक्षा होती है परन्तु विचाररूप 'जल्प'में किसी मध्यस्थकी जरूरत नहीं पडती. जो बात निर्णीत हो चुकी हो वह विचाररूप कहलाती है. अतएव यहां सम्यक् जल्प 'संजल्प'का प्रयोग हुआ है. सनकादिक मुनिओंने श्रुतिओंके तात्पर्यका निरूपण किया है. ऐसी स्थितिमें एक कथा कहनेवाले हैं बाकी सब सुननेवाले हैं. ऐसा तो यहां हो नहीं रहा. परन्तु सभी बोल रहे है और सभी सुन रहे हैं. इसका कारण यह है कि सबके चित्त भगवानमें लगे हुए हैं. जिस प्रकार लौकिकमें स्त्रिओंकी निपुणता होती है उसी प्रकार यहां अलौकिकतामें भी उनकी निपुणता सिद्ध हो गई है. भगवान्के विषयमें भी उनका ज्ञान कुशलता लिए हुए है. और भी इसके कारण हैं.

कुरु महापुरुष थे और धर्मिष्ठ थे. अतः उनके वंशमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानपरायण तथा धार्मिक होवे, यह उचित है ही. उनमें भी फिर राजा युधिष्ठिर पूर्ण ऐश्वर्यको प्राप्त तथा परम ज्ञान सम्पन्न है; अतएव उनके नगरकी स्त्रियां ज्ञान सम्पन्ना हों तो क्या आश्चर्य? उन स्त्रिओंके चित्तका भगवत् परायण होना योग्य ही है. गीताजीमें कहा है कि अन्य लोग भगवान्के माहात्म्यको इस रूपमें नहीं जानते वे तो दूसरोंसे सुनकर ही भगवानकी उपासना करते हैं. इस न्यायसे भी उनमें भगवत् विषयक ज्ञानका होना उचित है.

अतः इन वार्तालापोंको संजल्प नहीं कहा जा सकता. इस प्रसंगमें और

स्पष्ट किया है. यह वार्तालाप वेदोंके मन रूपी तात्पर्यको भी हरनेवाला है अथवा सबके कानों एवं मनका हरण करनेवाला वार्तालाप है. इस प्रकारका असाधारण वार्तालाप किसी भी स्थितिमें 'संजल्प'वाला अर्थ नहीं रखता. क्योंकि जिनके चित्त भगवानमें लगे हुए हैं, उनसे ही इस प्रकारकी भगवत् चर्चाएं निकलना सम्भव है।।१९।।

अब दश श्लोकोंमें उस वार्तालापका निरूपण किया जा रहा है:

स्त्रिय ऊचुः

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो य एक आसीद् अविशेष आत्मनि ।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे निमीलितात्मन् निशि सुप्तशक्तिषु।।२०।।

स्त्रियां कहने लगीं, ये निश्चय ही वही पुराण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं, जो पहले (प्रलय कालमें) गुणोंसे रचित जगतको अविशेष रूपसे (किसी गुणकी विशेषता धारण न करनेवाले) प्रलय निशामें अपनी शक्तिओंमें सुलाए हुए, अपनी आत्माको निमीलित किये हुए एक मात्र अकेले ही स्थित थे।।२०।।

''जिन्हें जान लिये जाने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है'' ऐसा श्रुतिओंमें कहा है. उनका मूल भगवान् है. वे ही जानने योग्य हैं. भगवान् कौन है? यह जाननेकी इच्छा होने पर, कहते हैं कि प्रभुके केवल पास जाने मात्रसे ही, उपासना-उपदेश अथवा विचार किये बिना ही हमें सब कुछ जान लेनेवाली स्थिति प्राप्त हो जाती है, वही भगवान् हैं. इसीलिए श्रुतिओंमें प्रभुको जानने योग्य कहा है. वे ही ये साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान् हैं. उस प्रसंगमें अपने अनुभवकी युक्ति कही गई है. उसमें केवल अपनी युक्ति ही नहीं, परन्तु लोक तथा वेद में भी ऐसी प्रसिद्धि है यह बतानेकेलिए मूलमें 'वै' अव्यय दिया है. उसमें अपने अनुभवकी युक्ति कही गई है.

यदि यह शंका उठे कि वेदादिक प्रमाणमें तो इस रीतिसे प्रतिपादन नहीं किया है. वेदोमें तो कहा है कि ''यह सारा जगत् पहले आत्मारूप था. पहले मात्र 'मैं' ही था. यही पुरुषका पुरुषपना है. पुरुषोत्तम नारायण भगवानने इच्छा की और फिर स्वयं जगत्रूप बन गए''. इन सब बातोंके आधार पर सृष्टिमें पुरुषकी सृष्टि कही गई है. ''जिस ब्रह्मसे इस जगतके जन्मादिक होते हैं'' ऐसा व्याससूत्रमें कहा है. अतः वे ही जगत्के कर्ता और आत्मा हैं और वे ही ब्रह्मरूप हैं. यही बात श्रुतिओंमें कही गई है कि 'पुरुष' शब्द किसी आकारको

बतानेवाला नहीं है. जिस प्रकार हम लोगोमें, जो कि आकृतिवाले हैं, अतिव्याप्ति (दूसरोमें पहलेवालोंके लक्षण मिलते रहें उसे अतिव्याप्ति कहते हैं) होती है. परन्तु जो पुरातन होनेसे, मन व वचन द्वारा निरूपण करने योग्य हैं, वे भगवान् सबसे प्राचीनतम हैं. इसीलिए जब व्यासजीने समाधि लगाई तो पूर्ण पुरुषोत्तमके दर्शन किए, ऐसा लिखा हुआ है. अतः जो सदैव रहनेवाले पुरुष हैं, उन्हें भगवान् होना ही चाहिए. दूसरे भगवान् होनेके योग्य नहीं; ऐसी शंका करके अब उसका समाधान करते हैं कि श्रीकृष्ण पुराण पुरुष हैं.

जिसे पुराण पुरुष कहा है वे श्रीकृष्ण ही हैं. क्योंकि गीताजीमें कहा है कि ''जिस कारण मैं क्षररूप (प्रति पल परिवर्तनरूप) सर्व भूत प्राणीमात्रका उल्लंघन कर रहा हूं पर वस्तुतः अक्षरसे भी उत्तम हूं. यही कारण है कि मैं लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूं''. इस कथनसे श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम हैं.

अब यहां भी कोई शंका करे कि कृष्ण तो वैकुण्ठमें विराजनेवाले हैं, जिनकी आज्ञामें माया आदि कार्य करनेवाली हैं. उनमें किसी तर्क द्वारा पुरुषपना तो सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु वे भगवान् भी हैं, यह नहीं कहा जा सकता. इस शंकाका स्पष्टीकरण देते हैं कि ''भगवान् एक ही थे''. श्रुतिमें एक स्थान पर उद्दालकसे श्वेतकेतुने कहा कि ''है सौम्य, जगत् पहले सद्रूप था, जिसका कोई न हो ऐसे वे एक ही ब्रह्म थे'' इस श्रुति द्वारा सजातीय (समान गुणधर्मवाला) विजातीय (विरुद्ध गुणधर्मवाला) और स्वगत (अपने ही रूपमें स्थित) भेदोंसे ब्रह्म रहित है. अर्थात् ब्रह्ममें किसी भी प्रकारका विकार नहीं है ऐसा निरूपण किया है. ऐसे वे, ये श्रीकृष्ण ही हैं. क्योंकि पहले यही एक थे. अब यहां पुनः यह शंका उठ खडी हो कि पहले एक मात्र श्रीकृष्ण ही थे, ऐसा कहने पर तो समय-काल, उस समयकी स्थिति और क्रिया आदि अवश्य होने चाहिए; अन्यथा वे एक ही थे ऐसा कहना कैसे संभव हो सका? उसका समाधान करते हैं. किसी भी प्रकारके धर्मसे रहित भगवान् आत्मामें निवास करते हैं. इसलिए ये भगवान् कहीं बाहर किसी स्थल पर नहीं रहे, परन्तु अपनी ही आत्मामें स्थित रहे.

तो फिर अन्य किसीको आधार बनाकर रहते होंगे! परन्तु बादमें भी वे ही शेष रहे, यह कैसे संभव हुआ? ऐसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि सबके

आधाररूपमें रहते हुए भी किसी भी प्रकारका धर्म उनमें नहीं रहता. वे अपनेमें ही लीन रहते हैं.

तो उस समय काल तो विद्यमान रहता होगा? इसका भी निवारण इस प्रकार है. क्योंकि 'सदेव सौम्य'' इस श्रुतिमें 'अग्रे'(आगे-पहले) शब्द दिया है जो कि कालवाचक है. उसमें ''न असदासीद् नो सदासीद् तदानीम्'' इस उल्लेखके अनुसार श्रुतिमें 'तदानीं' शब्द भी कालको बतानेवाला है. तो (फिर इतने सारे कालमें) एक ही आत्मा थे यह कैसै संभव हुआ? उसके समाधानमें कहते हैं कि पहलेवाली श्रुतिमें (श्रुतिके पूर्व भागमें) 'एव' शब्द लिखा है जिससे इसमें सत् और असत् दोनोंका निषेध किया है. उस समयमें कोई भी कहनेवाला न होनेसे प्रभुके मूल स्वरूपका निरूपण नहीं हो सकता. उनके बादमें काल आदि अस्तित्वमें आए. उनका भी निरूपण करते समय पहले कोई नहीं था ऐसा समझकर ही 'तदानी' तथा 'अग्रे' इन दो शब्दोंका व्यवहार किया है. परन्तु इनसे यह सिद्ध नहीं हुआ कि उस समय कालादिक थे कि उस समयमें ब्रह्मका प्रतिपादन करे और साथ ही साथ कालका भी प्रतिपादन करे. जबकि श्रुतिमें तो एक ही ब्रह्म बताया है. पहलेवाली बात मानी जाय तो प्रसंग पैदा हो जाता है. अतः किसी भी प्रकारके प्रमाणसे ब्रह्मके अतिरिक्त किसी भी अन्यके होनेकी स्थिति सिद्ध नहीं होती. उस श्रुतिमें अग्रे पद लिखनेसे 'काल था' ऐसा अनुवाद किया है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता. कारण यह है कि ''एकमेवाद्वितीयम्'' इस श्रुतिमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदोंसे रहित ब्रह्मका निरूपण किया है, उसमें विरोध उत्पन्न हो जाये. श्रुति स्वयंमें तीन प्रकारके भेदोंका निषेध करके 'काल था' ऐसा अनुवाद करे, यह बात भी सम्भव नहीं. यह तो हमें बोध करवानेकेलिए मर्यादाके अनुसार वाणीका प्रयोग किया है. इस लोकमें विश्वासकेलिए किसीको जाननेका आधाररूप माननेकेलिए, कालको प्रसन्न बनानेवाले ऊपरंजनके रूपमें निरूपित किया है.''उससे आगे कोई नहीं था'' ऐसा कहनेसे ही काल आदिक जाने जाते हैं. परन्तु उस समय तो काल भी नहीं था. तो उस रूपमें ब्रह्मकी जो भी स्थिति या क्रिया रही हो वह भी स्वरूपात्मक हुई. इसलिए किसी भी प्रकारके धर्मसे रहित आत्मामें ये कृष्ण एक ही थे ऐसा जो कहा है, वह उचित है. इस प्रकारसे वैदिक रूपमें निरूपण करके अब पुराणोंके प्रकारसे निरूपण करते हैं.

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से पहले यह श्रीकृष्ण ही थे. अतः गुणात्मक स्वरूपसे प्रभु प्रकट नहीं हुए. 'पूर्ववद् वा' इस व्याससूत्रमें जो सिद्धांत कहा है उसके अनुसार भगवान् पहले स्वधर्म रूपसे प्रकट होते हैं. बादमें शक्तिरूपसे प्रकट होते हैं. अन्तमें कार्यरूपसे प्रकट होते हैं. इसे बतानेकेलिए कहते हैं कि गुणोसे पहले अपने धर्मको प्रकट किया. अतः सबसे पहले श्रीकृष्ण ही थे.

अब यहां फिर शंका हो कि मिथ्या पदार्थकी सत्ता स्वीकार नहीं होती अतः जगत् था ही नहीं. तो सबसे पहले जगत् था यह स्वीकार करना पडे. जगत्के आरोपसे रहित रूप अर्थात् अनागन्तुक रूप (पूर्वनिर्मित) भगवानमें था अर्थात् भगवान् जगत्रूप थे. उस समय काल नहीं था उसे बतानेकेलिए कहते हैं कि वे ईश्वर हैं. एकादश स्कंधमें कहा है कि ''इस जगत्का उपादान कारण प्रकृति है और आधार परपुरुष है और उसके सत्य स्वरूपको जाननेवाला काल है'' ये तीनों ब्रह्म है. ''ये सब कुछ मैं हूं'' भगवान्के इस वाक्यसे सबके मूलरूप वे स्वयं ही हैं.

शंका: श्वेताश्वतर उपनिषद्में जीव नित्य है ऐसा कहा है. तो क्या यह मान लिया जावे कि उस समय जीवकी विद्यमानता थी? समाधान: जिस प्रकार अग्निमेंसे चिनगारियां निकलती है उसी प्रकार ब्रह्ममेंसे जीव निकले हैं. व्युच्चरणके समय अंशमें जीवभाव ही नहीं था. अतः उस समय जीव थे, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए. उसकी अपनी स्वयंकी कोई शक्ति नहीं थी यह बतानेकेलिए कहा है कि भगवानकी सब शक्तियां सोई हुई थीं. संसारका प्रवाह तो अनादि है. महाप्रलय एक ही नहीं है. ब्रह्माण्ड और सृष्टिके अनेक भेद हैं, ऐसा वेदोंसे सिद्ध होता है. अतः जिस किसी सृष्टिके विषयमें कहा जाय वह उसकी पहलेवाली अवस्था समझनी चाहिए. यह उससे पहलेवाली सृष्टि हुई ऐसी जानकारी हुई. क्योंकि शक्तिओंको सोया हुआ कहा है, अतः इससे पूर्व सृष्टि थी यह सिद्ध हुआ. इससे पूर्वकी सृष्टिका अपनी शक्ति द्वारा उपसंहार किया. इस प्रकार ब्रह्माके अन्तिम दिनकी समाप्ति हुई. अब प्रथम रात्रिका समय आया. तब ब्रह्माण्डका भंग होनेसे तत्त्वोंका भी लय हो जाता है. तिथि-दिवस भी उदय नहीं होता और रात्रि मिटती नहीं. इसीलिए 'प्रलय' शब्दका रात्रिके रूपमें व्यवहार होता है. आत्माकी शक्तियां सुप्त-प्रतिबुद्ध न्यायसे भगवान्में रहती हैं. जिस प्रकार जगत्में मनुष्य सो जाता है उसी प्रकार उनकी शक्तियां भी सो जाती हैं. उस प्रमाणसे आत्माकी शक्तियां भी स्वरूपमें लीन हो जाती हैं.

जब तक शक्तियां सोई रहती हैं तब तक वे भगवद्रूप बन जाती हैं. जहां तक शक्तियां सोई हुई है, वहां तकके समयमें अर्थात् सत्त्वादिक गुणोंके उत्पन्न होनेकी स्थितिसे पहलेवाली अवस्था तक श्रीकृष्ण एक ही थे, यह इस श्लोकमें निरूपण किया है।।२०।।

इस प्रकार पहलेकी अवस्था और सृष्टिका प्रतिपादन करके जिस लिए इस सृष्टिको किया है, उसका प्रयोजन साधनकी परम्पराके क्रमसे निरूपण करते हैं:

स एव भूयो निजवीर्यचोदितां स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम् ।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्।।२१।।

वेदोंके बनानेवाले ऐसे श्रीकृष्ण भगवानने नाम-रूप रहित होते हुए भी अपने स्वरूपमें नाम और रूप की इच्छा की. कालसे प्रेरित अपने अंशभूत जीवको मोह उत्पन्न करनेवाली और सृष्टिकी इच्छा करनेवाली माया प्रभुका सम्पूर्णतः अनुसरण करने लगी।।२१।।

मूलमें तो भगवान् एक मात्र हैं. ऐसा कहनेसे पहलेवाले श्लोकमें जो निरूपण किया है वह ध्यातव्य(समझ लेने योग्य) है. 'भूयः'(फिरसे) यह अव्यय भगवान्ने पहले भी इसी प्रकारकी जगत् रचना की थी इसे बताता है. सृष्टि करनेके क्रममें पहले अपने वीर्यरूप कालको बनाया. कालसे प्रेरित की गई माया भगवान्के प्रयोजनानुसार अपनी सेवाएं समर्पित करने लगी. अब तक सोई हुई शक्तिओंको कालने जगाया. ऐसी वह माया दो प्रकारकी हुई. उसमें एक तो वह माया है जो भगवान्की निज प्रकृति या यों कहिये कि अपनी प्रतिकृतिसे सम्बन्धित है, वह भगवान्को जगत्रूपसे जनाती है. मायाका दूसरा कार्य यह है अथवा दूसरी माया वह है जो अपनी इच्छासे उत्पन्न की गई सृष्टिके जीवोंको भुलावेमें डालती है. अतः यह सृष्टि जीवके पुरुषार्थकी सिद्धिकेलिए निर्मित होती है, उसे जीवमायाके नामसे भी जाना जाता है. उस मायाका सृष्टि रचनेकी प्रक्रियाका वर्णन इस प्रकार है:

वह प्रकृतिको रचनेकी इच्छा करती है. सृष्टि संरचना कार्यमें प्रकृति एवं पुरुष दोनों हैं. यहां पुरुषका अन्तर्भाव भगवानमें अन्तर्निहित है. अतः भगवान् प्रकृतिको बनाते हैं ऐसा अर्थ नहीं हुआ प्रत्युत प्रकृतिके कार्योंका भगवान् अनुसरण करते हैं. मायाकी की हुई क्रियाओंके बादमें भगवान् स्वयं

उससे एक पिताके समान मिले हैं. गीताजीमें कहा है कि ''समस्त योनिओंमें जितने आकार-प्रकार हैं उनमें ब्रह्म सबसे बडी योनि है''. तात्पर्य यह है कि ''बीज देनेवाला पिता मैं ही हूं''. उस प्रमाणसे भगवानने मायाको भेजा है.

इस सृष्टिमें विशेष प्रयोजन इतना ही है कि पहलेकी सृष्टिमें भगवानका अवतार, नाम और रूप इत्यादि कुछ भी नहीं था. अपनी सृष्टि भक्ति प्रदान होनेसे भगवान्के अवतार, रूप और नामोंकी विशेष आवश्यकता है. जो प्रभु पहले नाम-रूप आदिसे रहित थे, वे अपने स्वरूपमें ही रूप व नामों की इच्छावाले बने. भगवान् जीवोंकेलिए नामों व रूपोंवाले हुए.

ऐसे वे प्रभु वेदोंके बनानेवाले हैं. केवल नाम व रूप करनेसे एक साथ ही सबके मुक्त हो जानेका प्रसंग उत्पन्न हो जाए तब तो सृष्टिकालका ही ह्रास हो जाए. अतः भगवानने वेदोंको बनाया. जिससे सबके स्वभाव और गुण अलग-अलग होनेसे वेदोमें सभी मोहको प्राप्त हो जाते हैं. स्वभावानुसार युगानुसार अर्थ लगाकर वास्तविकतासे वंचित हो जाते हैं. अस्तु कोई कोई ही भगवत्कृपासे वेदोंके वास्तविक भावको जानकर मुक्त बनते हैं. इसी क्रमसे सबकी मुक्ति होती है. अतः सृष्टिकालका नाश नहीं होता।।२१।।

इस प्रकार पहलेकी अवस्था तथा सृष्टिका प्रतिपादन करके अब जिस लिए सृष्टिको रचा उसका प्रयोजन साधनकी परम्पराके क्रमसे निरूपण किया जाता है:

स वा अयं यत् पदम् अत्र सूरयो जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः ।
पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना नन्वेष स त्वं परिमार्ष्टुमर्हति।।२२।।

जिसने इन्द्रियों तथा प्राणवायुको जीत लिया है, ऐसे योगी भक्तिसे उल्लसित शुद्ध आत्मा द्वारा जिन भगवान्के चरणकमलका दर्शन करते हैं, ये वही श्रीकृष्ण हैं. ये ही वे सत्व है जो मायाको दूर करनेमें समर्थ है।।२२।।

किन्ही-किन्हीके मतमें सगुणसे भी सृष्टि उत्पन्न हो सकती है. वह सगुण आत्मा जो ब्रह्मको जानता हो उसके द्वारा उपासना करने योग्य नहीं है अतः ब्रह्मज्ञाताओं द्वारा जो उपासना करने योग्य हो वही ब्रह्म कहलाता है. ब्रह्मको जाननेवालोंके द्वारा तो समाधिमें अन्तरात्माकी उपासना की जाती है. बाहरकी ओर कोई उपासना नहीं है. ये कृष्ण तो बाहरकी ओर है तो कृष्णकी उपासना किस प्रकारसे हो सकती है? ऐसी शंका करके उसका समाधान करते हैं

कि समाधि द्वारा जो उपासना करने योग्य है, वे ही ये श्रीकृष्ण है. इनमें बाहरपने तथा अन्दरपनेका कोई दोष नहीं. ''स वै किलायं'' इस श्लोकमें निरूपण किया है कि योगी बहुत बरसों तक समाधिमें रहकर जिन भगवानको प्राप्त नहीं कर सके तो यह भगवान् कैसे प्रकट हो गए? ऐसा विचार करके योगसे उत्पन्न हुए धर्म द्वारा प्रभुको जानकर कि हमारे भगवान् श्रीकृष्णरूपसे प्रकट हुए हैं, अन्य किसी स्थल पर प्रकट नहीं हुए ऐसा निश्चय करके यहां आकर समाधिके फलरूप भगवानके चरणकमलका दर्शन करते हैं. अर्जुनने गीतामें कहा है कि ''सब ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यासजी जो कहते हैं उसे ही आप भी कह रहे हो; यह सब बात सत्य है, और मैं यह मानता हूं कि आपके प्रकटपनेको कोई भी नहीं जानता''. इस वाक्यसे यह जानकारी हो जाती है कि यह श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं.

अब यहां शंका की जाय कि उन योगीओंको समाधिके दर्शन नहीं हुए. उनके पास पूरे साधन न होनेसे समाधिमें साक्षात्कार नहीं हुआ. इस प्रसंगमें कहते हैं कि वे बडे योगी इन्द्रियों तथा प्राणोंको भी जीतनेवाले, जिन्होंने उपनिषदोंके अर्थको विचारपूर्वक सब प्रकारसे गुरुके पाससे जान लिया है और बडे विद्वान बन गये हैं, बादमें ब्रह्मचर्य आदिसे वे योगी जितेन्द्रिय होकर, पापरहित होकर और यम-नियमोंके क्रमसे जिन्होंने प्राणोंको जित लिया है ऐसे उन योगीओंको साधनोंका अभाव नहीं है.

अब शंका करते हैं भगवानका ग्रहण नेत्रोंसे कैसे हो सकता है? जिनकेलिए 'उनका दर्शन करते हैं' ऐसा कहा है. यहां कहते हैं कि भक्तिके उछलते शुद्ध आत्मा द्वारा वे योगी दर्शन करते हैं. अतः वे नेत्रों द्वारा भगवानका दर्शन नहीं करते बल्कि अंतःकरणमें भगवान्के दर्शन करते हैं. जिस प्रकार वेदोंमें आत्मसाक्षात्कारके विषयमें लिखा है कि ''ब्रह्माने इन्द्रियोंको उलटी द्रष्टिवाला बनाया है अतः वे बाहरकी ओर देखती है, अन्तरात्माको नहीं देख सकती. उनमें कोई धीर हो, जिसकी इन्द्रियां अन्दरकी ओर देखती हो और जिन्हें अमृतकी इच्छा हो ऐसा पुरुष साक्षीरूप आत्माका दर्शन करता है'' इन श्रुतिओंमें प्रत्याहार(योगका एक साधन) द्वारा नेत्रोंसे अन्दरकी ओर देखनेको कहा है. जिससे हृदयमें आये हुए नेत्रों द्वारा अपनी आत्माके दर्शन करते हैं. उसी प्रकार बाहर रहनेवाले भगवानमें भक्तिसे उछलते हुए अंतःकरण द्वारा आये हुए

और नेत्रोंमें प्रवेश कराये गये अंतःकरण द्वारा भगवान्‌के दर्शन करते हैं अर्थात् अन्दर दर्शन करते हैं. जैसे अंतःकरणमें नेत्रोंको प्रवेश कराके योगी दर्शन करते हैं, वैसे ही जब भगवान् बाहर विराजते हैं तो अंतःकरणको नेत्रमें प्रवेश कराके दर्शन करते हैं. यहां शंका होती है कि सामवेदके छान्दोग्य उपनिषद्‌में छठे प्रपाठमें उदालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुको नौ बार जो 'तत् त्वम् असि' वाक्यों द्वारा आत्माका उपदेश किया है, वह उपदेश जब तक न हो तब तक वे भगवान् आत्मामें किस प्रकार प्रकट हों? उसके समाधानमें कहते हैं कि आत्मारूप यही तो है अर्थात् श्रीकृष्ण ही आत्मारूप है. शंकामें 'ननु' ऐसा कोमल संबोधन दिया है, इसलिए श्रीकृष्णका आत्मारूपसे किस लिए उपदेश हो? ऐसी शंका करके कहते हैं कि 'तत् त्वम् असि' वाक्यमें 'वह आप हो' ऐसा कहा है अतः 'वे आप ही है' यह अभिप्राय हुआ.

यहां फिर यह शंका हुई कि जीवात्मापनेसे लक्षित किये गए भगवानकी स्थितिके वर्णनका क्या प्रयोजन है?

आत्मा और प्रकृतिके सम्बन्धोंकी प्रक्रियामें जो अनात्म पदार्थ चिपट गये हैं अर्थात् जो आत्मासे कोई मतलब ही नहीं रखते, ऐसे व्यर्थ पदार्थोंमें भी आत्मा होनेका भ्रम होने लगता है ऐसे उन अनात्म वस्तुओंके भ्रमको दूर करनेमें समर्थ प्रभुको ही यहां 'आत्मा' शब्दसे उल्लेखित किया है. भगवान्‌केलिए ऐसा उपदेश किया जाना योग्य है. वे भगवान् वासना सहित प्रकृतिके कार्योका नाश करते हैं।।२२।।

इस तरह सभी प्रकारोंसे श्रीकृष्ण ही साक्षात् भगवान् हैं, यह निर्धारित हुआ. प्रपंचके बनानेवाले होनेसे तथा साथ ही उसे भोगनेवाले होनेसे श्रीकृष्ण ही दोनों स्थितियोंके आधाररूप हुए. ऐसी स्थितिमें तो अहंता और ममता केलिए उनकी संसारमें आसक्ति भी होनी चाहिए. क्योंकि भगवान् तो इस स्थितिमें जीवकी बराबरी पर आ ठहरे. ऐसी शंकाका समाधान करते हैं:

स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः।
य एक ईशो जगदात्मलीलया सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते।।२३।।

ये ईश्वर अपनी लीला द्वारा जगतको बनाते हैं, रक्षा करते हैं और संहार करते हैं तो भी इसमें नहीं बंधते. इसीलिए वेदोंके गूढ मन्त्रोंसे मन्त्रोंको जाननेवालों द्वारा जिनकी सारी कथाका गान किया है, हे सखि! ये वे ही

श्रीकृष्ण भगवान् हैं।।२३।।

जो कर्ता हो और वही भोक्ता हो, ऐसा प्रसंग होने पर तो जहां अपने लिए कार्य किया जावे वहां किसी-किसी स्थल पर ही भोक्तापनेकी स्थितिको माना जा सकता है. परन्तु भगवान् तो सब जीवकेलिए करते हैं, अतः उनमें भोक्तापना नहीं है. जीवका रूप भी भगवानका ही है. इससे यदि उनमें भोक्तापना माना जाये तो जीवरूपसे दोषके सम्बन्धमें हानि नहीं है. जैसे शरीरमें केश होते हैं वे श्वेत हो जाते हैं, दांत कमजोर हो जाते हैं. ये सब देहके अंग हैं. इन अवयवो (अंगो) की हानि हो जाने पर भी देहको कोई क्षति नहीं होती. केशरूप अंशमें जो सफेदपन आता है वह गुण है दोष नहीं. क्योंकि जीवकेलिए ही इस प्रपंचको भोग्यपनेसे उत्पन्न किया है. इसलिए उनका भोग्यपना बताया है. जैसे केश आदिकोंकी स्वयंकी कोई सामर्थ्य नहीं है वैसे ही जीव अंश होनेसे उनमें अपने लिए जगत् निर्माण करनेकी सामर्थ्य नहीं.

अब यह प्रश्न उठता है कि ''मूर्ख भी बिना प्रयोजन किसी कार्यमें नहीं लगता'' तो भगवानका अपना कोई प्रयोजन नहीं, फिर दूसरोंकेलिए ही जगत् निर्माण क्यों किया? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे सखि! इस जगत्का निर्माण करनेके बाद सत्पुरुषोने प्रेमपूर्वक प्रभुकी कथाको प्रकट किया है. अतः इस जगत्को बनानेका प्रयोजन इतना ही है कि सत्पुरुष प्रभुका कीर्तन करें. अथवा यदि 'सखि' शब्दको पृथकसे न माना जाय और एक साथ पद करके माना जाय तो अर्थ यह होगा कि जो भक्त सख्यभक्ति तक पहुंच गए हैं उन्होंने भगवानका निरूपण करनेके बाद प्रेमपूर्वक भगवान्की कथा कही है. अतः भगवान् जीवोंको मुक्ति देनेकेलिए ही ऐसा करते हैं. इसका अभिप्राय यह हुआ कि जीव जगत्में भटकनेसे बहुत दुःखी हो गए हैं; अतः उन जीवों पर कृपा करते हुए उनका दुःख दूर करना, यह भगवानकी प्रवृत्ति (स्वभाव) है.

भगवान् जीवों पर दया करते हैं, इसका क्या प्रमाण? भगवान् स्वयं पधारकर तो यह बात कहते नहीं, कविओं द्वारा बनाई गई कथाओंसे ही उनका वक्तापना सिद्ध होता है. ऐसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि गूढ वेदोंमें, उदनिषदोंमें कहा है कि ''विष्णुके कर्मोको देखो, यह आत्मा ही देखने योग्य है, यह सुनने योग्य है'', ''जलके पार उससे भी ऊपर स्थित है'', वे ही भगवान् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानरूप हैं. इस प्रकार उस प्रकरणमें भगवान्के गुणोंका अनुवाद करके

कहा है कि ''जो इस रीतिसे जानता है, वह मरण रहित हो जाता है''. यही बात गीताजीमें भी कही है कि ''भक्ति द्वारा ही मुझे जाना जाता है''. श्रीभागवतजीमें कहा है कि ''जो मेरे चरित्रको सुनते हैं, और उसकी प्रशंसा करते हैं'' इत्यादि वाक्यों द्वारा गूढ अभिप्रायका प्रतिपादन किया है. अलग-अलग प्रकारोंसे इस गूढताकी व्याख्या की गई है.

यहां शंका हो कि अलग-अलग प्रकरणोमें भगवानका निरूपण किया है, उन प्रकरणभेदोंके अनुसार भगवानमें भी भेद होगा ही, क्योंकि शब्दोंकी तरह ही प्रकरणोंसे भी भगवानका भिन्न-भिन्न वर्णन किया है.

इसके समाधानमें कहते हैं कि समस्त प्रकरणोंमें कहे गए भगवान् एक ही हैं यह बात व्याससूत्रके तीसरें अध्यायमें तीसरे पादके प्रारंभमें ही ''सर्व वेदान्त प्रत्ययाधिकरण''के अन्तर्गत निरूपित है. ऐसे ही प्रथम अध्यायके दूसरें पादके प्रारंभमें ''सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाधिकरण'' में भी यही बात बताई गई है.

भगवान् एक ही हैं, ऐसा सब स्थल पर उपदेश किया है. उसका कारण यह है कि भगवान् सबके स्वामी हैं और स्वामीका निरूपण सब अनुजीवीको करना चाहिए. इसलिए सब स्थल पर एकका ही निरूपण किया है. जगत्का निर्माण करनेमें भगवानको क्लेश नहीं होता, यह बतानेकेलिए कहा है कि ''अपनी लीलासे ही इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करते हैं''. अन्यसे तो यह काम हो ही नहीं सकता और भगवान् तो इसे लीला मात्रसे कर देते हैं. बिना परिश्रम कार्यका किया जाना लीला कहलाता है. इस प्रकार जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय है. यह कार्य रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण का है. ऐसा कहनेसे भगवान् उसमें बंध जाते हों ऐसा अनुमान होता है. पर सच बात तो यह है कि उन कार्योंके करने पर भी भगवान् गुणोंके साथ बंधते नहीं. स्वयंमें ही अखंडपनेसे इन समस्त गतिविधिओंको करते हैं।।२३।।

इस तरह विविध प्रकारोंसे एक मात्र श्रीकृष्ण ही सिद्ध हुए, ऐसा निरूपण करनेके बाद, उनका पृथ्वीके ऊपर पधारनेमें क्या प्रयोजन था? यह वर्णन किया जाता है:

यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल ।
धत्ते भगं सत्यम् ऋतं दयां यशो भवाय रूपाणि दधद् युगे युगे ।।२४।।

जब तमोगुणकी बुद्धिवाले राजा अधर्म करते हुए जीते हैं तब-तब ये

भगवान् युग-युग में सत्व गुणसे रूप अंगीकार करते हुए जगतके कल्याणकेलिए ऐश्वर्य, सत्य, सुनृतवाणी, दया और यशको धारण करते हैं. (हे सखि! ये वे ही कृष्ण हैं) ।।२४।।

सामान्य और विशेष भेदसे भगवानकी दो प्रकारकी स्थितिओंका वर्णन किया जाना है. उस प्रसंगमें सत्त्व आदि गुणोंको अधिकृत किया है. वे गुण गीताजीमें कहे गए प्रमाणसे ''रजोगुण व तमोगुण को हराकर सत्त्वगुण प्रतिष्ठित रहता है''. इस प्रकार अन्य दो गुणोंका उपमर्दन करके एक गुण प्रकट होता है. जब सत्त्वगुणका तिरस्कार करके रजोगुण व तमोगुण प्रकट होता है तब जगत्के पालन करनेके अधिकारवाला सत्त्वगुण दुर्बल होनेसे भगवानकी प्रार्थना करता है. इस प्रकार भगवान्से अपनी निर्बलताका निवेदन करके रजोगुण व तमोगुण के कार्योंको दूर करवानेकेलिए भगवानको यहीं पधरा लाता है. तब भगवान् सत्त्वगुण द्वारा स्वरूप धारण करते हैं. यह सत्त्वगुण आनन्दरूप भगवान्का आसनरूप होनेसे भगवान्के शरीरमें समवायि(साथ मिलकर कार्य करनेवाला) कारण है. अथवा भगवान्के शरीररूप पृथ्वी आदिसे बने हुए जीवोंके शरीरोंको ही शुद्ध करके उनमें भगवानको लाता है. अथवा यह सत्त्वगुण ही उसमें कारणरूप होकर अपने आपमें भगवानको लाता है. अथवा पृथ्वी आदिमें रहते हुए सत्त्वगुणको जब रजोगुण तथा तमोगुण पीडा देने लगते हैं तब भगवान्के प्रकट होनेमें यह सत्त्वगुण कारणभूत होता है. तब सत्त्वगुणके अवयव (अंग-विभिन्न भाग) भी अलग-अलग रूप धारण करते हैं. ऐसी व्यवस्था सब युगमें है. सत्त्वगुणकी सहायताकेलिए ही भगवान् पृथ्वी पर पधारते हैं. मूलमें, जब अधर्म द्वारा राजा जीने लगते हैं तब भगवान् पधारते हैं, ऐसा कहा है. भगवान्के पधारनेमें इस स्थितिको निमित्त बताया है. जब निमित्त उपस्थित हो जाय तो भगवानको पधारना ही चाहिए, इस सुनिश्चितताको बतानेकेलिए ही यहां (निश्चयवाची) 'हि' शब्दका प्रयोग हुआ है.

घीका दीपक जलता हो उसकी छायामें काजल पडता है. वह हमेशा पडता रहता है और बढता रहता है. इसी तरह धर्मके सामनेकी छाया अधर्म है. वह अधर्म हर तरीकेसे इकठ्ठा होकर राजाओंमें पिंडरूपसे स्थित हो जाता है. उनकी बुद्धि पर पर्दा डालनेवाला अधर्म है. जिस प्रकार भ्रांतियुक्त नेत्रोंसे घट इत्यादि पदार्थ ठीक-ठीक नहीं दिखाई देते उसी प्रकार पापसे जिनकी द्रष्टियां व्याप्त हो गई

है उन्हें सत्य नामकी कोई भी वस्तु नहीं दिखाई देती. जिस प्रकार कोई अंधा मनुष्य किसी भी पदार्थका ग्रहण इसलिए करता है कि उसे जीवित रहना है, न कि इसलिए कि उस पदार्थका सत्य स्वरूप क्या है? उसी प्रकार पृथ्वीका पालन करनेमें राजागण भगवान्के अंशरूप हैं. परन्तु जब वे अंधोकी तरह यथार्थ वस्तुको नहीं जान सकते और जीवन जीना मात्र उनका लक्ष्य बन जाता है, भगवानका अंश होनेसे प्रजाका पालन करना ही उनका कर्तव्य है, इस बातको वे भूल जाते हैं, तब भगवान्के पधारनेमें ऐसे राजागण ही कारणभूत बनते हैं.

मूलमें राजाका वाचक 'नृप' शब्द दिया है, जिसका अर्थ यह होता है कि 'नृ' अर्थात् स्वतंत्र पुरुषोंका पालन करनेवाला राजा. जिन राजाओंको पालन करना चाहिए वे भी अधर्ममें निष्ठावाले हो गए हैं. कारण यह है कि जीव मात्र भगवान्के अधीन हैं, वे स्वतंत्र हो गए हैं अतः चोतरफसे अधर्म उठ खडा हुआ है. उसका निराकरण करनेमें सगुण ईश्वरकी सामर्थ्य न होनेसे ये श्रीकृष्ण पधारे हैं. क्योंकि जो सगुण होते हैं वे तो गुणके आधीन होते हैं, इसलिए रजोगुण व तमोगुण की प्रबलताको हटानेकी सामर्थ्य उनमें नहीं. श्रीकृष्ण तो गुणातीत होनेसे उन पर गुणोंका बल नहीं चल सकता. मूलमें निश्चयवाचक 'किल' अव्यय दिया है. गीताजीमें कहा है कि ''जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब भगवान् अवतार धारण करते हैं'' ये वाक्य प्रमाणरूप है, ऐसा सूचित हुआ. अथवा भगवान् रूपोंको धारण करते हैं तब सत्त्वगुण द्वारा भग(ऐश्वर्य) और सत्य इत्यादिको धारण करते हैं. वे सत्त्वगुणसे रूपोंको धारण करते हैं. इन दोनों अर्थोमें भग(ऐश्वर्य) इत्यादिको धारण करनेवाली बात कही गई है. इसे व्यर्थ समझनेवाली बात नहीं. क्योंकि भगवान् रूपोंको तो धारण करें और ऐश्वर्य इत्यादिको धारण न करें तो ईश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाला भाव ही भग कहलाता है, तब उत्पन्न हुए भगको यदि अधर्म ग्रहण कर ले तो विपरीत फल हो.

यदि भगवान् भगको ही ग्रहण करें तो राजाओंका वधरूप कार्य न हो, कारण यह कि ईश्वरभावका नाम 'भग' है. उस भावका मूलभूत राजा होता है. अतः अधर्मका निराकरण करनेकेलिए भग इत्यादिका ग्रहण करते हैं और राजाओंका निराकरण करनेकेलिए भगवान् इत्यादिको धारण करते हैं. भग तो भगवानका एक ईश्वर सम्बन्धी भाव है. ईश्वरका यह धर्म प्रमेयबलका पोषण

करनेवाला है. ऋत अर्थात् वह समस्त वाणियां जिनका अनुष्ठान वेदोंमें होता है. जो वास्तविकता वेदके पूर्वकांडमें लिखी है, वह धर्मरूप है. वे प्रवृत्ति स्वभाववालोंको प्रमाणबलसे पोषित करते हैं. 'सत्य' शब्दकी विवेचना वेदके उत्तरकांडमें हुई है, वह निवृत्तिरूप प्रमाणबलका पोषण करनेवाला है. अतः यह ज्ञानरूप है. दया लौकिक धर्म है, वह व्यवहारका पोषण करनेवाला है. 'यश' यह भगवान्की भक्तिका प्रतिपादक है अतः पुष्टि धर्म है. ये पांचो विद्याके अंग हैं. उनमें भग भगवान्की इच्छारूप है. इस तरह ऋत धर्मरूप, सत्य ज्ञानरूप, दया लोकधर्म व्यवहाररूप और यश भक्तिरूप है. समस्त लोकोंके कल्याण केलिए भगवान् इन्हें धारण करते हैं।।२४।।

इस प्रकार भगवान्के अवतारोंका प्रयोजन कहकर, 'अहो' इत्यादि पांच श्लोकों द्वारा अवतारोंके प्रसंगोंमें आए हुए फलोंका वर्णन करते हैं:

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलं अहो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम् ।
यद् एष पुंसाम् ऋषभः श्रियः पतिः स्वजन्मना चंक्रमणेन चाञ्चति।।२५।।

अहो, यादव कुल अत्यन्त प्रशंसनीय है, अहो मधुवनके पुण्यका कहना ही क्या? क्योंकि पुरुषोंमें श्रेष्ठ और लक्ष्मीजीके पति ये श्रीकृष्ण यदुकुलको अपने जन्म द्वारा और मधुवनको अपने भ्रमण द्वारा प्रशंसनीय और सर्वाधिक पुण्य युक्त बनाते हैं।।२५।।

पृथ्वी पर अवतार लेनेसे किसी वंशका होना किसी स्थलमें रहना और किसीके साथ व्यवहार होना यह कुछ भी तात्पर्य नहीं रखता. वे तो भगवान्के सम्बन्ध मात्रसे ही कृतार्थ हो गए. उसमें पहले जन्म और रहनेके स्थानरूप देशको कृतार्थ करनेका निरूपण किया जाता है. मूलमें 'अहो' अव्यय आश्चर्य बतानेवाला है. कहां यदु, जिन्हें पिताके द्वारा शाप दिया है तथा जो लोकमें निंदित है और कहां उसी वंशमें प्रभुके प्राकट्यसे उत्पन्न उत्कर्षकी स्थिति! क्योंकि भगवान् उस कुलमें प्रकट हुए और लोक उस वंशको याद करते हुए भगवानको नमस्कार करते हैं. यदुका महत्त्व बढा इसलिए पराक्रम आदिसे होनेवाली बढाईके विषयमें कहनेको जरूरत नहीं. किसी समय धर्म आदिके अर्थमें अन्य वंशका निरूपण आता है. भगवानकी अपेक्षा तो सभीको होती है. इसलिए भगवानका निरूपण करनेकेलिए यदुवंशकी हमेशा स्तुति होती है.

इसी प्रकार मधुदैत्यका वन भी अत्यंत पुण्यवाला हुआ. मथुरामें

सत्पुरुषोंका निवास न होनेसे यहां उसका नाम नहीं लिया है. मधुदैत्यका वन मधुवन था. बादमें उसके पुत्रों द्वारा विभाग कर दिये गए. इसीलिए वृंदावन आदि मधुवनके अन्तर्गत आ जाते हैं. मधुवन तो अपने नाम मात्रसे ही अतीव पुण्यवाला है परन्तु दैत्यसे आक्रान्त होनेके कारण उसे अधम कहा है. 'वन' शब्दसे उसकी भयानकता प्रकट होती है. दैत्यके भयसे आतंकित होनेके कारण उस वनमें भगवानकी प्राप्ति होना तो दूर रहा, भगवानका स्मरण करना भी कठिन हो था. मूलमें 'अलम्' अव्यय आया है, अतः किसी अन्य प्रकारसे उसके उत्कर्षकी कोई सम्भावना ही नहीं है. जिस देशमें देवता या ऋषिगण निवास करते हों वही पुण्यवाला माना जाता है. यहां तो समस्त देवताओं तथा ऋषिओंके स्वामी विराजते हैं, अतः इस स्थलकी बडाईका तो कहना ही क्या?

यादव वंशकी तो सब प्रकारसे महत्ता है. क्योंकि पुरुषोंके स्वामी श्रीकृष्ण अपने जन्मसे वंशमें पूजन करते हैं, गमन करते हैं. अन्य पुरुष तो स्त्रीओंके स्वामी हैं और श्रीकृष्ण तो पुरुषोंके भी स्वामी हैं. इस प्रकार जगतमें स्त्रीओं सहित सब पुरुष श्रीकृष्णके ही हुए. श्रीकृष्णने यदुवंशका पूजन किया अतः सभीने उस वंशका पूजन किया. उसके गमन करने पर सभी गमन करते हैं. श्रीकृष्ण मधुवनमें पधारे तो सभी देवता व ऋषिगण भी उस वनमें पधारे.

ये लक्ष्मीके पति श्रीकृष्ण मधुवनमें फिरते हैं, मधुवनको सम्मान देते हैं, यही उसकी महानताका कारण है. मूलमें 'च कार' होनेसे जन्मके कारण तो उसकी महानता है ही. सामान्यतया यदि वनमें सुन्दरता न हुई, स्वर्ण आदि धातुओंकी खानोंका उसमें अभाव हुआ, तो वह प्रशंसनीय नहीं होता, परन्तु भगवान् पधारे इसलिए लक्ष्मीजी भी साथमें पधारें, दोनोंके साथ पधारनेसे वह मधुवन लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही प्रकारकी शोभाओंसे युक्त हो गया. इतना ही नहीं, वरन् भगवान् इस वनमें चंक्रमण करते हैं, मंद-मंद गतिसे टहल-कदमी करते हैं, जिससे वनकी शोभा ओर भी अधिक बढ गई है. भगवानको लक्ष्मीपति कहनेसे, इस वनमें गोपीओंके साथ की गई क्रीडाओंकी सूचना भी मिलती।।२५।।

यह तो बहुत ही आश्चर्यकी बात हैं कि कुश दैत्यके रहनेकी भूमिको भी बडा बताया है. उस प्रसंगमें कहते हैं :

अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः ।
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत् प्रजाः।।२६।।

अहो, कुश दैत्यके रहनेकी भूमि द्वारकापुरी स्वर्गके यशका भी तिरस्कार करनेवाली है और पृथ्वीके पवित्र यशको विस्तृत करती है. जिन भगवानकी कृपासे जहांकी प्रजा अपने पति श्रीकृष्णके मन्दहास्य युक्त मुख कमलका नित्य दर्शन करती है।।२६।।

पहलेके श्लोककी तरह ही आश्चर्य बतानेवाला अहो अव्यय है. इसके साथ ही विशेषता बतानेकेलिए 'बत' अव्यय भी दिया है. देशके आसपासकी भूमि दोषसे व्याप्त और रेतीली है. ऐसी वह भूमि स्वर्गके यशका भी तिरस्कार करनेवाली हुई है. कारण यह कि स्वर्गमें तो देवता ही रहते हैं और द्वारकामें तो देवताओंके भी अधिदेव विराजते हैं. स्वर्गमें अप्सराएं हैं, तो द्वारकामें लक्ष्मीजी विराजते हैं.

स्वर्गमें रहनेवालोंका पुण्य समाप्त हो जाने पर पात होता है (उन्हें धरती पर जन्म लेना पडता है) जब कि द्वारकामें रहनेवाले मुक्त हो जाते हैं. ये सारी बातें स्वर्गकी तुलनामें द्वारकाका महत्व सिद्ध करनेवाली हैं. सुधर्मा सभा और पारिजात वृक्ष स्वर्गसे द्वारकामें लाए गए हैं. हीन स्थानसे उत्तम पदार्थोंको श्रेष्ठ स्थान पर लानेकी परम्परा है. यही नहीं द्वारका पृथ्वीके यशको भी पवित्र करती है. इस प्रकार वह इस लोक तथा परलोक के फलोंको देती है. इस प्रकारसे सब स्थानोंकी पृथ्वी द्वारकासे सम्बन्ध रखनेवाली होनेसे धन्य है. समाधियुक्त योगिओंके हृदयसे भी यह द्वारका उत्तम है. समाधिमें तो कोई ही कभी ही प्रभुके दर्शन कर सकते हैं, पर ये द्वारकावासी तो सदा ही भगवान्के दर्शन करते हैं. वायु और मन बहुत ही चंचल होनेसे और उन्हें नियन्त्रणमें रखनेके बहुत परिश्रम करनेसे समाधिकी स्थिति रहना बहुत कठिन कार्य है. द्वारकामें तो भगवान्के अनुग्रहसे मन आदि सभी स्वतः स्थिर रहते हैं. यह प्रभुका अनुग्रह सुखरूप और स्थिर है. द्वारकामें सब मनुष्यको दर्शन देनेकेलिए ही प्रभु वहां विराजते हैं और हास्यसे युक्त मुखारविंदका दर्शन प्रदान करते हैं, उससे वे भक्ति और ज्ञान को देते हैं. सब इन्द्रियको प्रसन्न बनानेवाला प्रभुका दर्शन है. भगवान् द्वारकाकी प्रजाके पति हैं अतः दर्शन करानेमें उनका निःशंकपना है, जिससे किसी भी प्रकारका दोष नहीं रहता. वह प्रजा भक्त होनेसे भगवान् द्वारा पालन करने योग्य है. भगवान् पति होनेसे प्रजाकी गति हैं. पति ही एक मात्र गतिरूप होता है ऐसा सूचित हुआ।।२६।।

इस प्रकार अचेतन पदार्थोंकी महत्ता बताकर अब तीन श्लोकों द्वारा

चेतन पदार्थोके मध्यमें भगवानकी स्त्रियोंका अतिशय महत्त्व कहते हैं:

नूनं व्रतस्नान–हुतादिनेश्वरः समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः ।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहुर्व्रजस्त्रियः सम्मुमुहुर्यदाशयाः।।२७।।

जिनने व्रत, स्नान और होम इत्यादिके द्वारा भगवानका पूजन किया है ऐसी वे व्रजकी स्त्रियां और वे स्त्रियां जिन्होंने भगवानका पाणिग्रहण किया है, मोहको प्राप्त हुई हैं. हे सखि! जिन स्त्रियोंने भगवान्के अधरामृतका पान किया है वे अधरामृतसे युक्त अन्तःकरणवाली भगवान्के मोहको प्राप्त हुई हैं।।२७।।

भगवानकी स्त्रियां मर्यादा व पुष्टि भेदसे दो प्रकारकी हुई. उन दोनों प्रकारकी स्त्रिओंको ही पुरुषार्थकी नाशक निःसाधनता प्राप्त हुई. वे साधन ही सब प्रकारके पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाले होते हैं. इस रीतिसे स्त्रिओंके स्वरूपमें मर्यादा और पुष्टि ये दो भेद हैं. पाणिग्रहणरूप साधन एक है. अतः जिन्होंने श्रीकृष्णका पाणिग्रहण किया है उन्होंने निश्चय ही श्रीकृष्णकी पूजा की है. गृहस्थाश्रम सम्बन्धी फल धर्मसे सिद्ध होता है और भगवान्से सम्बन्धवाला फल भक्तिसे सिद्ध होता है, ये दोनों फल यहीं एकत्रित हो गए हैं. उसमें जो गोपीजनों द्वारा इच्छित सेवा; भगवान्के अधरामृतका भोग ये सब भगवानकी स्त्रिओंको हमेशा प्राप्त होता है. जिससे गृहस्थाश्रमके धर्म सम्बन्धी फलकी मुख्यता है, ऐसा मानकर मुख्य रूपसे धर्मके कारणोंको कहकर बताया है कि उन्होंने व्रत स्नान और होम इत्यादिसे ईश्वरका पूजन किया है. उसमें व्रत तामस है, स्नान राजस है और होम सात्त्विक है. 'आदि' शब्दोंसे उन उन धर्मोका भेद लिया जाना है. इन धर्मोके द्वारा ये श्रीकृष्ण ही पूर्व जन्ममें सब प्रकारसे पूजे गये हैं. मूलमें 'हि' अव्यय होनेसे उस अर्थकी योग्यता बताई गई है. कारणको देखकर कार्यका अनुमान करनेसे कुछ अन्तर पड जाता है, पर कार्यको देखकर कारणका अनुमान करनेमें कुछ भी अन्तर नहीं पडता. अतः ये भगवान्का पाणिग्रहण करनेवाली स्त्रियां सदैव उन प्रभुके अधरामृतका पान करती हैं. इसे देखकर उनके द्वारा पूर्व जन्ममें श्रीकृष्णका व्रत, स्नान व होमसे पूजन किया है, यह अनुमान होता है, जो कि योग्य है. व्रत स्नान और होमसे भगवान् प्रसन्न होते हैं. छठे स्कन्धमें इन्द्र दितिसे कहते हैं कि ''महापुरुष (भगवान्)की पूजाकी सिद्धि किसी अवान्तर फलके नियमसे सहजहीमें प्राप्त होती है'' इसलिए यहां भी व्रतादिकसे भगवानका पूजन करना कहा है अथवा व्रत आदिके अन्तर्गत पूजा कही गई है. व्रत अंगरूप होनेसे मुख्य तो पूजा ही बताई गई है. पूजा व व्रतके धर्म तथा

भक्तिसे युक्त होनेके कारण भगवानका पतिरूपसे सम्बन्ध हुआ.

इन्होंने श्रीकृष्णकी ही पूजा की है, ऐसा निश्चय कैसे हो? ऐसी शंका करके कहते हैं कि हे सखिओं! ''जिन स्त्रिओंने भगवानका अधरामृत पान किया है'' आदि वाक्यसे इसकी पुष्टि होती है. अमृतका पान करना यह तो ईश्वरका आराधनपूर्वक धर्मका कार्य है. अधरामृत तो अमृतसे भी विशेष है. इसका वर्णन आगे होगा. 'हे सखि!' ऐसा कहनेसे अपनेको भी उस अधरामृतकी इच्छा होनेसे समान दुःख होता है, ऐसा जनाया है. अधरामृतका वर्णन आगे दशम स्कन्धमें करेंगे. भगवानकी स्त्रियां उस अधरामृतका पान करती हैं, यह तो धर्म और भक्तिका ही फल है. तो फिर भगवानकी आराधनामें क्या विशेषता हैं? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि, अन्य प्रकारसे करनेमें वह फल नहीं मिलता. ऐसा बताया है मि कुमारिकाओंने कात्यायनी देवीके व्रतमें भक्तिसे गानपूर्वक व्रत, स्नान व पूजा आदिक की है. परन्तु भगवानका पूजन न करके देवीका पूजन किया, जिससे भगवान्के साथ उनका रमण हुआ. पतिकी तरह भगवान् सदा हमारे पास ही विराजें, उनका यह मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ. अतः अधरामृतमें ही जिनका अन्तःकरण संलग्न है ऐसी वे व्रजांगनाएं केवल मोहको ही प्राप्त हुई हैं।।२७।।

इनके भाग्यकी तुलनामें रुक्मिणी आदिका भाग्य महत्त्वपूर्ण है. जो कालवशसे प्रवाहमें पडी हुई थीं, जिन्हें अन्य ले जा रहे थे, वहांसे भगवानने उद्यम करके बलपूर्वक अपना बना लिया. इतना ही नहीं, वरन् अपने अधरामृतका उन्हें पान कराते हैं, अपने समान पुत्रोंको देते हैं; इसलिए रुक्मिणीजीका ईश्वरपूजन विशेष महत्त्वशाली है, अब इसे कहते हैं:

या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान् हि शुष्मिणः ।
प्रद्युम्न–साम्बाम्बसुतादयोऽपरा याश्चाहृता भौमवधे सहस्त्रशः।।२८।।
एताः परं स्त्रीत्वम् अपास्तपेशलं निरस्तशौचं वत साधु कुर्वते ।
यासां गृहात् पुष्करलोचनः पतिर्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन्।।२९।।

जिन श्रीरुक्मिणीजीको श्रीकृष्णने पराक्रम रूपी शुल्कसे स्वयंवरमें हरण किया तथा शिशुपाल आदि कामुक राजाओंको हरा दिया. प्रद्युम्न, साम्ब, अम्ब जैसे पराक्रमी पुत्र जिन रुक्मिणी आदिसे उत्पन्न हुए. जिन श्रीकृष्णने भौमासुरका वध करके अन्य हजारों स्त्रिओंको अंगीकार किया।।२८।।

वे स्त्रियां, जिनमें न उत्कृष्ट कोटिका सौन्दर्य है और न ही जिनमें

पवित्रता रह गई है, आश्चर्य यह है कि भगवानने उनके हृदयोंको स्पर्श करते हुए उन्हें उत्तम बना दिया है. कमलके समान नेत्रोंवाले भगवान् उनके घरोंसे कभी भी बाहर नहीं पधारते।।२९।।

जिस कार्यकेलिए जितना द्रव्य आवश्यक है उसे 'शुल्क' कहते हैं. पराक्रम रूपी मूल्यसे भगवान् रुक्मिणी आदिको लाए हैं. इसलिए यह राक्षस विवाह किया. स्वयंवरमें विवाह हो वह गान्धर्व विवाह कहलाता है ''गान्धर्व और राक्षस ये दोनों प्रकारके विवाह क्षत्रियोंकेलिए धर्म प्राप्त हैं''. ऐसा वाक्य होनेसे क्षत्रियोंको जिस प्रकारके विवाह करने योग्य हैं उसी प्रकारके विवाहसे उनका ग्रहण किया.

अन्योंको दी जानेवाली कन्याओंका हरण भगवानने क्यों किया? ऐसी शंकाका समाधान करते हैं कि शिशुपाल जरासन्ध इत्यादि राजा कामुक थे. उनमें शिशुपाल मुख्य था. जरासन्ध आदि उसके प्रमुख सहयोगी थे. उनका मर्दन करके भगवान् रुक्मिणीजीको लाए हैं. क्षत्रियोंको युद्धमें जीतनेसे अपनी सत्ता स्थापित होती है, उससे धर्मादिकी भी सिद्धि होती है. स्त्रियां धर्म व भक्तिके योग्य थी, शिशुपाल आदि दुष्ट थे. वे ब्राह्मणोंकी तरह प्रतिग्रह द्वारा स्त्रियोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करते थे. इसलिए भगवान् उनका हरण कर लाए, ऐसा उचित किया. प्रद्युम्नजी जिनके पुत्र हैं ऐसे रुक्मिणी, जाम्बवतीके पुत्र साम्ब, जिनके पुत्र अम्ब हैं ऐसे मित्रविंदा, इन तीनोंको ही भगवान् पराक्रमसे लाए हैं. मित्रविंदाके पुत्र अम्बको ही महांस भी कहा है. उनके कन्धें पुष्ट होनेके कारण उन्हें महांस कहा है. इसी प्रकार भौमासुरको मारकर सोलह हजार स्त्रिओंको लाए हैं. उनकी गणना ऋषिओंसे ही हो सकती है, अन्योंसे गणना नहीं की जा सकती. अतः मूलमें 'सहस्त्रशः' यह शब्द दिया है. उनके द्वारा भगवान्के आराधन करनेका साधन स्त्रीपना ही है. वे भगवान्के द्वारा भोग करने योग्य नहीं है. कारण यह है कि उनकी सुन्दरता भगवान्के सामने कही नहीं ठहरती. उन्हें शाप लगा हुआ होनेकेसे कैदीके रूपमें रहना पडा. अन्योंके द्वारा ग्रहण किए जानेकेसे उनका स्त्रीपना भी अशुद्ध हो चुका था. अतएव उनका स्त्रीपना भगवान्के लिए ही था. मूलमें 'बत' अव्यय होनेसे यह बताया है कि वैसा दोष अपनेमें न होने पर भी भगवत्प्राप्ति नहीं हुई. भगवानका सामर्थ्य अत्यन्त साधारणको भी अपनी इच्छासे उत्तमोत्तम बना देती है. ये स्त्रियां निकृष्ट होते

हुए भी साधुपनेको प्राप्त हुई. सनकादिक ऋषिओंमें साधुपना है परन्तु उनकी तुलनामें भी इन स्त्रिओंमें विशेष साधुपना है. कारण यह है कि उनके घरमेंसे प्रभु बाहर पधारते ही नहीं. सत्पुरुष तो भगवान्के घर पर आकर कभी ही दर्शन पाते हैं, परन्तु यहां तो बिल्कुल विपरीत है, भगवान् कभी भी घरसे बाहर पधारते ही नहीं. ये सत्पुरुषोंसे विशेष है इतना ही नहीं प्रत्युत् पारिजात आदि वृक्ष लाकर उनका मान भी दूर करते हैं.

तब तो भगवान् दोषोंका ही सम्पादन करते हैं, गुणोंका नहीं. तब उन स्त्रिओंका भाग्य ही क्या हुआ? इस शंकाका समाधान करते हैं कि भगवान् उनके हृदयमें विराजकर उनका स्पर्श करते हैं. चूंकि उनके हृदयमें भगवान् स्थित रहकर उनका स्पर्श करते हैं अतः वे निर्दोष बन चुकी हैं।।२८-२९।।

इस प्रकार भगवानका रूप और उस प्रसंगमें आए हुए फलका सब स्त्रीने निरूपण किया. उसे सुनकर सम्मति पूर्वक सत्यवादीपना स्थिर करके, मन्द मुस्कानसे स्त्रिओंको वशमें करके, उन्हें भक्ति प्रदान करके उनके वचनोंको सत्य करते हुए भगवान् द्वारकामें पधारे, ऐसा निरूपण किया जाता है:

एवंविधा गदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम् ।
निरीक्षणेनाभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः ।।३०।।

नगरकी स्त्रियोंके द्वारा इस प्रकार कही हुई वाणीको सुनते हुए भगवान् मन्द हास्य युक्त निरीक्षणसे उनका अभिनन्दन करते हुए वहांसे पधारे।।३०।।

यह एक प्रकार कहा है. इस प्रकार स्त्रिओंने अनेकों प्रकारसे भगवान्के गुणोंका वर्णन किया है. कारण यह है कि स्त्रिओंके अनेक समूह हैं. उन सबकी वाणी भगवानने सुनी है. भगवान् श्रवण कर सकें इसलिए ऊंचे स्वरोंमें गुणानुवाद करती हैं, क्योंकि वे नगरकी स्त्रियां हैं. उन सबकी बात सुनकर ''तुम सत्य कह रही हो'' इस अनुमोदनके साथ भगवानने सबका अभिनन्दन किया है।।३०।।

राजा युधिष्ठिरकी दृष्टिमें भक्तिका महत्त्व ज्ञानसे अधिक है यह बतानेकेलिए कहा जाता है:

अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः ।
परेभ्यः शंकितः स्नेहात् प्रायुतं चतुरङ्गिणीम्।।३१।।

शत्रुओंकी शंकासे राजा युधिष्ठिरने स्नेह पूर्वक श्रीकृष्ण भगवानकी

रक्षाकेलिए चतुरंगिणी सेना साथमें भेजी।।३१।।

राजा युधिष्ठिरका नाम अजातशत्रु है अर्थात् जिसका कोई शत्रु न हो. परन्तु शत्रुकी शंका करना नामके विपरीत काम हुआ. यह काम भगवानकी इच्छासे हुआ. युधिष्ठिर ज्ञानयुक्त स्वभाववाले हैं, तो भी यह शंकारूपी कार्य उनसे हुआ है. भगवान् मधु दैत्यको मारनेवाले हैं, अतः यों भी शंका नहीं की जानी चाहिए थी. इस युद्धमें जिनके बान्धव मर गए थे वे भी शत्रुरूप ही हुए. वे कुछ विघ्न उपस्थित न कर दें, इस शंकासे युधिष्ठिरने हाथी, घोडा, रथ एवं पैदल यह चतुरंगिणी सेना भगवानकी रक्षाकेलिए साथ कर दी।।३१।।

इतने समय तक कौरव और यादव मिलकर रहे हैं. बादमें दोनों ही अपने अलग-अलग मार्गों पर चल दिए, यह निरूपण किया जा रहा है:

अथ दूरागतान् शौरिः कौरवान् विरहातुरान्।
सन्निवर्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात् स्वनगरीं प्रियैः।।३२।।

इसके बाद दूर तक आए हुए, विरहसे भारी मनवाले एवं दृढ स्नेहसे भरे हुए कौरवोंके लौट जाने पर, भगवान् अपने प्रिय वर्गके साथ अपनी नगरी द्वारकाकी और रवाना हुए।।३२।।

कौरवों और यादवोंके साथ रहनेमें तथा अलग रहनेमें भगवान् ही कारणरूप हैं. पाण्डव भगवानको विदा करनेकेलिए बहुत दूर तक आये हैं, तब भगवानने उन्हें वापस लौटाया है. भगवान् शौरि हैं, ऐसा कहनेसे लौकिक व्यवहारकी दृढता बताई है. शूर नामके यादव पाण्डवोंके मातामह(नाना) थे, और भगवान्के पितामह थे, अतः दोनों एक ही हैं. दूर तक चले आनेसे पाण्डव विह्वल हो गए हैं, तो भी आतुरताके कारण जाना तो योग्य नहीं है इसलिए आतुर पाण्डवोंको वापस लौटाकर भगवान् प्रियजनोंके साथ पधारे हैं. अपन तो भगवान्के साथ नहीं चल सकेंगे, ऐसा विचार करके भगवान्के विरहसे आतुर थे, इसलिए भगवानने उन्हें वापस भेजा. जब वे इतने आतुर ही थे तो उन्हें घरकी ओर लौटना ही नहीं चाहिए था, ऐसी शंका लानेका कोई कारण ही नहीं. क्योंकि पाण्डव भगवानमें दृढ स्नेहवाले थे. ऐसा मजबूत प्रेम शीघ्र ही नहीं मिटता।।३२।।

भगवान् जिन-जिन देशोंमें होकर द्वारकाकी और बढ रहे हैं, उनका वर्णन दो श्लोकोंमें दिया जा रहा है:

कुरुजाङ्गलपाञ्चालान् शूरसेनान् सयामुनान्।

ब्रह्मावर्त्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् सारस्वतान् अथ।।३३।।
मरुधन्वम् अतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान्।
आनर्त्तान् भार्गवोपागान् श्रान्तवाहो मनाग् विभुः।।३४।।

कुरुजांगल, पाञ्चाल, यमुना देशके साथ शूरसेन देश, ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश और मरुदेश, उसी प्रकार धन्व देशको पार करते हुए सौवीर और आभीर देशके अन्तर्गत स्थित आनर्त देशमें भगवान् पधारे. यहां तक पहुंचते-पहुंचते रथके घोडे भी थोडे बहुत थक चुके थे।।३३-३४।।

कुरुजांगल देश हस्तिनापुरका प्रदेश कहलाता है. पाञ्चाल देशका भाग जैसा आज है वैसा नहीं था. इसलिए मार्गमें आये हुए देशोंके नाम बताये गए हैं. पाञ्चाल देशको कंपिला देश भी कहते हैं. शूरसेन देशको वटेश्वर देश कहते हैं. श्रीयमुनाजीके सामनेवाले किनारे पर स्थित देशके बाद कुरुक्षेत्र आता है. सरस्वती और दृषद्वती के बीचवाले भागको ब्रह्मावर्त कहते हैं. मत्स्यदेश विराट् राजाका देश है. इसके बाद सरस्वतीके किनारेके प्रदेशको अम्बिकावन कहते हैं. मरु प्रदेशमें जलकी कमी है. धन्व देशमें जलका अभाव है. इन सभी देशोंको भगवान् पार कर गए. रेतवाली जमीनका अन्तर बतानेकेलिए मूलमें 'अथ' शब्द दिया है. सौवीर देश, सोरठ देश है. आभीर देश, यह कुंतीपुर प्रदेश है. इससे थोडी ही दूर पर द्वारकाके समीप आनर्त देश आता है, यहां पर भगवान् पधार आये हैं.

यहां सूतजी पूराने देशोंके नाम गिनने लगे तो शौनक ऋषि उद्वेगयुक्त होने लगे. यह जानकर उन्होंने ''आप भृगुवंशमें उत्पन्न हुए हो'' ऐसा सम्बोधन दिया है. भृगुवंशवालोंको यह योग्य ही है. इतना ही नहीं वरन् भगवान् भी उस देशके समीप पधारे हैं. एक ही दिनमें इतनी दूर पधार जाने पर भी थोडेसे ही थके हैं न कि पूरी तरहसे. एक ही दिनमें वे इतनी दूरी कैसे तय कर सके? उसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान् 'विभु' हैं, अतः अपने व्यापकत्वके कारण सर्व समर्थ हैं।।३३-३४।।

भगवान् जिन-जिन देशोंमें होकर पधारे वहां-वहां ही उनका पूजन हुआ, यह निरूपण करते हैं:

तत्र तत्र ह तत्रत्यैः हरिः प्रत्युद्यतार्हणः।
सायं भेजे दिशं पश्चाद् गविष्ठो गां गतस्तदा।।३५।।

जिस-जिस देशमें होकर भगवान् पधारे वहां-वहांके निवासियोंने

भगवानका पूजन किया. सायंकाल होने पर सूर्य पश्चिमके सागरमें अस्त हुए और भगवान् कृष्णने सागरके पश्चिमी तट पर पडाव डाला।।३५।।

मूलमें आया हुआ 'ह' अव्यय निश्चयकी स्थितिको बताता है. कोई भी देश ऐसा नहीं बचा था जिसने भगवानका पूजन न किया हो. पहलेसे ही पूजनकी सामग्री तैयार रखी गई थी तथा उस-उस देशके मनुष्य पूजनकेलिए बिल्कुल तैयार खडे थे कि भगवान् ज्योंही पधारें, त्योंही उसी समय उनका पूजन किया जाय. इस प्रकारसे भगवानका परम सम्मान किया है.

भगवान् संध्या समयमें पश्चिमी समुद्रके किनारे पर पधारे. गोधूलि लग्नमें नगरमें प्रवेश करनेके विचारसे भगवानने संध्याकालकी प्रतिक्षा करते हुए विराजे तब सूर्यदेवने भी विलम्ब नहीं किया. यह बतानेकेलिए कहा है कि किरणोंमें केवल सूर्यका बिम्ब मात्र दिखाई दे रहा है, ऐसा सूर्य जलमें प्रवेश कर रहा है. इसीलिए वेदोंमें कहा है कि ''प्रातःकाल जलमेंसे सूर्यका उदय होता है और सायंकालमें वह जलमें प्रवेश कर जाता है'' इस प्रकार गोधूलि लग्न एक शुभ मुहुर्त सिद्ध हुआ।।३५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथम स्कन्धके १०वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी(संस्कृत टीका)के
'उत्तमाधिकार प्रकरण'का चतुर्थ अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।।१०।।

अध्याय ११

द्वारकामें भगवान्‌का स्वागत

एवं कौरवभक्तानां सर्वसौख्यं निरूपितम् ।
द्वारकास्थितभक्तानाम् एकादशे उदीर्यते ।।का.१।।
प्रवेशे च प्रविष्टस्य स्थितस्याप्युत्सवस्त्रिधा ।
प्राकृतानामिव स्नेहः शास्त्रार्थं जानतामपि ।
कृष्णेच्छातस्तदित्युक्त्वा प्रत्यापत्तिर्निरूप्यते ।।का.२।।

इस प्रकार कुरुवंशमें उत्पन्न हुए भक्तोंका सब प्रकारके सुखका निरूपण हुआ है. अब द्वारकामें रहनेवाले भक्तोंके सुखका निरूपण अगले श्लोकमें कहा जा रहा है. भगवानने प्रवेश किया उस समयका उत्सव, प्रवेश करनेके बादका उत्सव और वहां विराजे उसका उत्सव, इस प्रकारसे तीन प्रकारका उत्सव बताया है. उनमें शास्त्रोंको जाननेवालोंका भी प्राकृत जैसा ही स्नेह है. भगवान् कृष्णकी इच्छासे ही ऐसा हुआ है. जैसा सुख पहले था उसी सुखकी फिर प्राप्ति हुई, ऐसा निरूपण किया है।।१-२।।

पहलेवाले अध्यायके अन्तमें भगवानका द्वारकामें प्रवेश करनेकेलिए श्रेष्ठ मुहूर्तका निरूपण किया है. अब इस अध्यायमें यहां प्रथम प्रवेशके समयका मंगल निरूपित किया जा रहा है:

शंखनादस्तथा स्निग्धदर्शनं स्तोत्रमेव च ।
दूराद् मङ्गलम् एतद्धि कलशादिस्तथान्तिके ।।का.३।।
दुःखिते नगरे कृष्णो न प्रवेशम् इहार्हति ।
अतः शंखनिनादेन सुखिनस्तान् करोति हि ।।का.४।।
द्वारका जलदुर्गं हि तदन्ते नगरं महत् ।
आनर्त्ताख्यं तत्प्रवेशः पूर्वे पश्चात् पुरस्य हि ।।का.५।।

शंखनाद, स्नेहपूर्वक भगवानका अवलोकन करना, स्तोत्र-पाठोंसे स्तुति करना आदि दूरसे ही मंगलको बतानेवाले हैं. घरके आगे तोरण बनाना तथा कलशोंकी स्थापना करना आदि समीपका मंगल कहलाता है. दुःखी नगरमें श्रीकृष्ण भगवानका पधारना योग्य नहीं है, इसलिए शंख बजाकर भगवानने सबको सुखी किया. द्वारका जलका किला है. उसके अगले भागमें आनर्त नामका बडा नगर है. उसमें भगवान्‌के प्रवेशको पहले बताया है, बादमें द्वारका प्रवेशका

निरूपण है.

अतः भगवानने आनर्तपुरीके समीप जाकर पाञ्चजन्य नामका अपना शंख बजाया, इस प्रकार पौराणिक श्रीसूतजीने निरूपण किया है:

सूत उवाच

आनर्त्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धान् जनपदान् स्वकान् ।
दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव।।१।।

सब प्रकारसे समृद्धिवाले अपने आनर्त्त देशके समीप जाकर उनका खेद दूर करनेकेलिए भगवानने सुन्दर शंखको बजाया।।१।।

'आनर्त्त' शब्द बहुवचनमें दिया है जो कि आस-पासके सभी जनपदोंको बतानेवाला है. वे सभी नगर धन-धान्य इत्यादिसे वैभववाले हैं. द्वारका बसानेके बाद उन्हें भी बसाया है, यह बतानेकेलिए मूलमें 'स्वकान्' अर्थात् 'अपने' कहा है. 'जिसका शब्द दानवोंके दर्पका नाश करनेवाला है', अतः अमंगल रूप दैत्योंका निराकरण करनेकेलिए भगवानने अपने उत्तम शंखका नाद किया है।।१।।

भगवानने जब शंख बजाया तब किसीने उसका वर्णन किया है. वह श्लोक भी यहां प्रकाशित किया है:

स उच्चकासे धवलोदरो दरोऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा ।
दाध्मायमानः करकञ्जसम्पुटे यथाब्जषण्डे कलहंस उत्स्वनः।।२।।

श्रीकृष्णके हस्तकमलके सम्पुटमें बजाया जानेवाला वह शंख अंदरसे श्वेत है, परंतु भगवान्के ओठोंकी लालिमाके स्पर्शसे वह लाल रंगके प्रकाशसे युक्त हो है, अतः अंदरसे श्वेत और बाहरसे लाल हो जानेसे वह शंख कमलके अन्दर उंचे स्वरसे बोलनेवाले कलहंसकी शोभाको धारण किये हुए है।।२।।

वह शंख बहुत ही सुन्दर लगा. जिसके अन्दरका भाग श्वेत है, ऐसा वह शंख है. भगवान्के ओठोंकी ललाईसे वह शंख लाल रंगवाला हो है. दोनों हस्तकमलका सम्पुट बना हुआ है, उसके बीचमें शंख धारण किया हुआ है. जैसे कमलमें उंचा शब्द करनेवाला हंस हो ऐसे उस शंखकी शोभा हुई।।२।।

पाञ्चजन्य शंखका शब्द सुनकर देश व नगरमें रहनेवाले सब व्यक्ति परमानन्दमें मग्न हो गए. निश्चय ही भगवान् पधार आए हैं ऐसा जानकर दर्शनोंकेलिए सामने दौडे आ रहे हैं, यह बताया जा रहा है:

तम् उपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम् ।
प्रत्युद्ययुः प्रजाः सर्वा भर्तृदर्शनलालसा ।।३।।
तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपम् इवादृताः ।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा ।।४।।
प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुः हर्षगद्गदया गिरा ।
पितरं सर्वसुहृदम् अवितारम् इवार्भकाः।।५।।

जगत्के भयको भय देनेवाले उस शंखके शब्दको सुनकर स्वामीके दर्शनोंकी इच्छावाले सब प्रजाजन भगवान्के सामने आये।।३।।

अपने ही लाभसे सन्तुष्ट, आत्माराम और पूर्णकाम भगवान् श्रीकृष्णके सामने वे लोग भेंटें लेकर इस प्रकार आये मानो आदरपूर्वक सूर्यके सामने दीपक अर्पण कर रहे हों।।४।।

सब पर स्नेह रखनेवाले और रक्षा करनेवाले पिताके सामने बालक जिस प्रकार बोलता है, उसी प्रकार प्रेमसे जिनके मुख खिले हुए हैं ऐसे वे प्रजाजन हर्षसे भरे हुए गद्गद् वाणीमें कहने लगे।।५।।

जिसके सुननेसे मृत्युका भय भी जाता रहता है, वहां दुसरे भयोंका कहना ही क्या? इसी अभिप्रायसे कहते हैं कि शंखका शब्द जगत्के भयको भी डरा देनेवाला है. पाञ्चजन्य नामका शंखरूपी आयुध शत्रुका वध करनेकेलिए उत्पन्न किया है. जब उसका स्वभाव मारनेवाला है, तो मंगलकेलिए उसका उपयोग किस तरह हुआ? ऐसी शंका करके कहते हैं कि उस शंखके घातक रूपमें ही मंगलपना स्थित है. यह बात बतानेकेलिए ''जगत्के भयको भी भय देनेवाला है'' ऐसा कहा है.

एक-दूसरेको हटाकर दर्शन करनेकेलिए आगे आ रहे हैं. पहले मैं दर्शन करूंगा, दूसरा व्यक्ति भी यही सोचता है कि पहले मैं दर्शन करूंगा, इस तरह एक-दूसरेसे आगे आनेकी होडमें लगे हुए हैं. भगवान् तो समानरूपसे सबके स्वामी हैं और सारी प्रजा एक के आगे एक चली आ रही है, इससे जातिका भेदभाव रह नहीं है कि अमुक जातिवाला पहले आया और अमुक जातिवाला बादमें आया.

शास्त्रमें कही हुई रीतिका पालन करनेकेलिए सब व्यक्ति हाथमें भेंट लेकर आया है. प्रजामें ऊंचापना और नीचापना भी होता ही है. उनमें दरिद्रपना

भी होता है अतः दरिद्रीकी लाई हुई भेंट भगवानके किस उपयोगमें आई होगी? ऐसी शंका करके कहते हैं कि जैसे पूजा करते समय सूर्यको दीपक अर्पण किया जाता है, उसी प्रकार वे लोग भेंटे समर्पित कर रहे है. मूलमें 'बलि' शब्द लिखा हुआ है वह पूजाके काम आनेवाली वस्तुओंकेलिए लिखा है. जो अलग है वह भी किसी क्रियासे भगवानमें बंधा हुआ है, उसीसे परमानन्द होता है. यहां द्रष्टि द्वारा इन्द्रियोंका सम्बन्ध हुआ है, परन्तु देहका सम्बन्ध सिद्ध करनेकेलिए भेंटे लाई गई है. शास्त्रोंमें सूर्यकेलिए दीपदान करनेकी बात लिखी है, वहां दीपकसे सूर्यका कार्य सिद्ध नहीं होता; तो भी आपके प्रत्यक्ष न होने पर हम इस दीपकसे ही जीते हैं, इस प्रकारकी दीनता बतानेकेलिए तथा दयाकी प्राप्तिकेलिए यह बात कही गई है. ठीक इसी तरह भगवान्के सम्बन्धमें भी अपने द्रव्यके अर्पण करनेवाली बात घटित होती है. भगवानने सभीको सामने लाकर उन्हें आदर दिया है तथा आदरके द्वारा उन्हें सुखी बनाया है. जिससे उनके मनोरथ पूर्ण हो गए हैं. अब उन्होंने जो कार्य किये हैं उन्हें कहा जाता है. आत्मामें ही रमण करनेवाले भगवानको भेंट अर्पित की अथवा पहले ही आदरयुक्त होकर आत्माराम भगवान्के सामने आए.

स्तोत्रका आरंभ तो इस पिछले श्लोकसे हुआ है. अमूल्य, बहुमूल्य भेंटें भी लाई गई, उनमें भगवानकी इच्छा नहीं थी. इस अभिप्रायसे भगवान्के स्वरूपका वर्णन किया है कि प्रभु आत्माराम तथा पूर्णकाम हैं. जगत्में दो प्रकारके मनुष्य विषयोंकी परवाह नहीं करते. एक तो वे जिन्हें विषयकी इच्छा ही नहीं होती, दूसरे वे जिनके सभी विषय परिपूर्ण हो गये हों. दोनोंही प्रकारके व्यक्तिओंको विषयोंकी आवश्यकता नहीं होती.

''परंके दर्शन करनेसे विषयोंकी निवृत्ति हो जाती है'' ऐसा गीताजीमें कहा है. अतः जिसे 'परं' अर्थात् भगवानकी प्राप्ति हो जाती है, उसकी विषयोंसे इच्छा दूर हो जाती है और भगवानको तो ओर कोई भगवानपना प्राप्त करना है नहीं. अतः स्वयं भगवान् होनेसे उन्हें भगवानपना तो पूर्वसे ही सिद्ध है इसीलिए वे आत्माराम हैं और इसी कारण पूर्णकाम भी. श्रुतिओंमें कहा है कि ''परमात्मा आत्माराम और प्राप्तकाम है''. अथवा सर्व प्रथम तो सृष्टि उत्पत्तिकेलिए काम भगवानमें ही उत्पन्न हुआ. वह काम बनाये हुए पदार्थोंमें व्यापक रूपसे रहता है, इसलिए भी भगवान् पूर्णकाम कहलाते हैं. वही काम विषयोंके रूपमें जीवोंमें

रहता है और वह पूर्ण हो नहीं सकता. परन्तु भगवानको तो यह स्वयंमें ही प्राप्त होनेसे पूर्णता प्राप्त है. भगवान् स्वयंमें स्वयंके स्वरूपसे ही लाभवाले हैं अथवा जगत्के सारे पदार्थ भी वे स्वयं ही हैं; अतः उन्हें वे सब पदार्थ सर्वत्र सर्वकाल उपलब्ध रहनेसे भी वे पूर्णकाम कहलाते हैं. वे प्रमु यदि (अवतारदशामें) विराजमान वाली स्थितिमें न भी हों और किसी प्रकारसे न समझे जा सकनेवाली स्थितिमें हों तो भी वे पूर्णकाम ही हैं. एक कारण यह भी है कि वैसे भी सब पदार्थका प्रारम्भ और लय स्पष्ट रीतिसे समझमें नहीं आता अर्थात् अक्षरमें सबका लय है और अक्षर भगवद्रूप है, जब तक प्रपंच उत्पन्न न हुआ हो तब तक वह जाननेमें आ नहीं सकता परन्तु उस स्थितिमें भी वह अक्षरमें स्थित है और तिरोभावके समय भी वह अक्षरमें ही लीन हो जाता है; अतः भगवानको सब पदार्थ प्राप्त हैं. यदि विषयके पक्षमें भी लें तो उन्हें विषय भी सदैव प्राप्त हैं, अवतार दशामें भी अपने ही स्वरूपमें स्थित रहते हैं, इसलिए मूलमें 'नित्यदा' शब्द लिखा है. स्तोत्रके पक्षमें आये हुए भगवानको क्लेश हो, ऐसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि क्लेश न हो तो स्तोत्र भी नहीं हो. इसकी निवृत्तिकेलिये कहते हैं कि भगवान्के आत्मारामादि धर्म बताये गये हैं.

प्रजाका सब व्यक्ति भीतरी स्नेहको बाहर प्रकट करनेकेलिये स्तुति करता है. भगवानकी प्रीति उत्पन्न करनेकेलिये उनके स्वरूपका वर्णन किया जाता है.

प्रेमसे मुख खिल उठता है, यह तो लोकमें प्रसिद्ध बात है. प्रभुके विरहमें जिनका मुख सूख था उन्हें प्रभुके दर्शन होनेसे प्रफुल्लता प्राप्त हुई. जिससे उनमें मिठाश पैदा हुई. उस मिठाशसे वाक्योंमें हर्षकी अभिव्यक्ति हुई. हर्षसे उत्पन्न हुइ गद्गद् वाणीके द्वारा वे वैदिक स्तोत्रोंसे स्तुतियां करने लगे. वेदोमें जो ज्ञानात्मक स्तोत्र हैं वे स्थिर मनवालोंकेलिये उपयोगी हैं. परन्तु प्रेमसे जिनका चित्त बेचेन हो उठा है ऐसे भक्तोंकेलिये वे उपयोगी नहीं. इसलिए वाणीसे बोले ऐसा कहा है. उनमें जो हर्षकी स्थिति है वह आनन्दका प्रवाह है. इसलिए वे गद्गद् वाणीसे बोल रहे हैं, ऐसा कहा है. गद्गद् शब्द ध्वनिका अनुकरण वाचक शब्द है. उन शब्दोंमें उन ध्वनिओंका योग है. 'गद्' धातु अस्पष्ट बोलनेके अर्थमें आती है. उस समय गद्गद्के प्रयोगसे आदर बताया जा रहा है. इस प्रकार हर्ष और आदरके भावसे मिलीजुली वाणी बडी कठिनाईसे मुखसे निकल रही है. उसे सुननेवालोंको भी हर्ष

और आदर उमड रहा है. ऐसा 'गद्‌गद्‌' शब्दसे जताया है.

उनके धृष्टतापनेके दोषको दूर करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार बालक पितासे बोलते हैं, उसी प्रकार वे बोल रहे हैं. जिस प्रकार पिता परदेश गये हुए हों तो, भले ही वे महाराजाधिराज हों, तो भी जब पिता लौटकर आते हैं तो पुत्र उनके सामने आते हैं. यहां तो वैसी व्याकुलता नहीं है यह बतानेकेलिए दूसरा द्रष्टांत देते हैं. वेदोंमें कहा है कि ''गाय सबका मित्र है''. जिस प्रकार गाय सुबह अपने बछडोंको स्तनपान कराकर चरने निकल गई हो और बछडे सांझ तक भूखसे व्याकुल हुए हों, ज्यों ही उसके लौटनेका शब्द सुनते ही शब्द करते हुए उसके पास दौडे चले जायें, उसी प्रकार प्रजाका सब व्यक्ति श्रीकृष्णके सम्मुख दौडा चला आ रहा है. इस द्रष्टांतमें अत्यधिक दीनता न होनेसे दूसरा द्रष्टांत दिया जा रहा है. जिस प्रकार बालकको जंगलमें चोर आदि मारते हों, तब उसको कोई पूर्व परिचित अपनी रक्षा करनेमें समर्थ पुरुष मिल जावे, उसे देखकर बालक सामने दौडता है और अपना दुःख कहता है, उसी प्रकार सारी प्रजा भगवान्‌के सामने दौडी चली आई।।३-५।।

सारी प्रजा चार प्रकारकी है. प्रथम भेद तो स्त्री और पुरुष, दो प्रकारका है. उसमें भी ज्ञानी, विषयी और भक्त इस रीतिसे तीन प्रकारके पुरुष हैं. उसमें पहले ज्ञानिओंके वचनका निरूपण करते हैं:

नताः स्म ते नाथ सदांघ्रिपंकजं विरिञ्चिवैरञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम्‌ ।
परायणं क्षेमम्‌ इहेच्छतां परं न यत्र कालः प्रभवेत्‌ परप्रभुः।।६।।

हे नाथ! ब्रह्मा शिवजी और इन्द्रादि देवोंसे वन्दित आपके चरणकमलों में हम नमस्कार करते हैं. आप कल्याण चाहनेवालोंके सबसे बडे आश्रय हो. हे सर्वोत्तम प्रभो! आप द्वारा निर्मित होनेसे काल आप पर छा नहीं सकता ।।६।।

हम आपके चरणकमलोंमें नमस्कार करते हैं. क्योंकि पञ्चम स्कन्धमें नाभिराजाके यज्ञमें भगवान्‌के दर्शन हुए, तब ऋषिओंने कहा कि ''बडे पुरुषोंको बार-बार नमन करना चाहिए, यही सत्पुरुषोंसे शिक्षा लेनी चाहिए'' महान्‌ पुरुषोंको नमस्कार करनेका सिद्धान्त होनेसे, भगवान्‌के दर्शन होने पर उन्हें नमस्कार करना चाहिए. भगवान्‌ सर्वज्ञ होनेसे अपने मनके अभिप्रायको जानते हैं, फिर भी स्वयंको अलग रूपसे स्थापित किया है. जीव नमस्कारके अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है? क्योंकि 'वेदात्मक गरुडजी जिनके आसनरूप हैं उन्हें वेदके एक

मन्त्रसे कैसे आसन दिया जा सकता है?' इत्यादि वाक्योंसे कहा है.

फिर यह नमन किस फलकेलिये है? ऐसी शंका करके कहते हैं कि हे नाथ, आप तो पालन करनेवाले स्वामी है, अतः स्वयं ही कामनाओंको पूर्ण करते हो, इसलिए आपको नित्य नमस्कार है. परन्तु वह नमस्कार कामनायुक्त नहीं है यह बतानेकेलिये कहते हैं कि हमेशा आपको नमस्कार करना चाहिए. उससे सायुज्यादि मुक्तिकी भी हमे आवश्यकता नहीं, ऐसा सूचित किया है. ब्रह्मलोक आदिमें जानेके फलको त्याग करके हमेशा आपको नमन करते रहनेवाली स्थितिकी प्रार्थना किस लिये? इस शंकाका समाधान करते हैं कि ब्रह्मा, शिव और देवता इन्द्र ये सभी उत्तम देवता हैं. उन्होंने भी आपका वन्दन किया है. इसलिए जो ब्रह्मलोक आदिमें चले गये हैं वे भी नमस्कार करते हैं. वे लोग तो दूरसे ही नमस्कार करते हैं, परन्तु यहां तो पाससे नमस्कार करनेवाली स्थिति और भी श्रेष्ठ हैं.

ज्ञानिओंको इस लोक तथा परलोकके फलमें भी वैराग्य हो जाता है. इसलिए वे भगवान्के साथ सायुज्य मोक्ष तथा भक्तिरसकी इच्छा भी नहीं करते. तो भी भगवान्के साथ जानेका साधर्म्य है, उनकी रक्षा करनी चाहिए. इसलिए स्थानसे दूर होनेके कारणका प्रतिबंध हो और प्राप्त हुए ज्ञानकी रक्षा हो, यह बात तो ज्ञानिओंमें भी रहती ही है. इसलिए उस फलकेलिये किसलिए नमनकी अपेक्षा करनी चाहिए? ऐसा कहकर निरूपण करते हैं कि इस संसारके प्रवाहमें उत्तम कल्याणकी इच्छा करनेवालोंके जो उत्तम आश्रयरूप हैं. 'यहां कल्याणकी इच्छा करनेवालोंको' इन तीन पदों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि चरणकमल ही सब सिद्ध करनेवाले हैं. इसमें जो 'क्षेम' पद आया है वह ज्ञानकी रक्षाकेलिये आया है. स्थानसे न हटना पडे इसकेलिये 'इह' पद आया है. 'इच्छता' पदसे जानेकी इच्छा हो तो भगवान्के चरणकमल ही सामर्थ्य देते हैं ऐसा सूचित किया है. यद्यपि यह वाक्यार्थ नहीं है तदपि पदोंका अर्थ है.

यह देह कालके प्रवाहमें स्थित है, अतः नमनकी सिद्धिकेलिये देहकी स्थिति मांगनी ही चाहिए ऐसा कोई कहे तो उसका समाधान करते हैं कि नमनकी स्थितिसे भगवानमें उसका नम्र भाव बना रहता है. अतः भगवान्के सेवककेलिए काल उत्पन्न नहीं होता. क्योंकि उस सेवकके प्रभु वासुदेव हैं; अतः प्रभुके सेवकोंको काल बाधा नहीं दे सकता, उनका पराभव नहीं कर

सकता।।६।।

अब जो विषयी हैं वे प्रभुको इस प्रकार नमस्कार करते हैं:

भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन! त्वमेव माताऽथ सुहृत् पतिः पिता ।
त्वं सद्गुरुर्नः परमञ्च दैवतं यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ।।७।।

हे विश्वभावन! आप हमें बनानेवाले हैं. आप ही हमारे माता हो, पिता हो, मित्र हो, पति हो. आप ही हमारे सद्गुरु हो और परम देवता हो. आपकी कृपासे हम कृतार्थ हो गये हैं।।७।।

हे विश्वभावन! इस सम्बोधन देनेका अभिप्राय यह है कि आप सबको विषयके सम्बन्धसे अधिक बना देते हो. इसलिए हमारी उत्पत्तिकेलिए भी आप ऐसा ही कीजिए अथवा आप हमारे ही हो, इसलिए भी हमारी उत्पत्तिकेलिए आप हो, क्योंकि आप हमारे स्वामी हो. इसलिए सब प्रकारसे प्रार्थना करनेमें कोई अनुचित बात नहीं यह बतानेकेलिए भगवानमें छह धर्म स्वरूपोंको बताया जाता है कि आप ही हमारी माता हो. क्योंकि आपके उदरमें रहनेवाले जीवोंकी ही बाहर सृष्टि हुई है. हम आपके गर्भमेंसे निकले हैं. वैसे भी आपके ब्रह्मांडरूप पेटमें हम अभी भी स्थित हैं ही, इसलिए आप हमारी माता हो. संसारकी दृष्टिमें जिसे माता कहा जाता है वह तो अपने दूधसे पोषण करनेवाली है. हम तो वस्तुतः आपहीके पेटसे निकले हैं और आपहीके पेटमें स्थित हैं, अतः आप हमारी माता हो. रोते हुए बलपूर्वक आप ही प्रार्थना करने योग्य हो. जिस तरह अविवेक दशामें आपकी ही प्रार्थना की जाती है उसी प्रकार विवेक दशामें भी आप ही प्रार्थना करने योग्य हो.

आप हमारे मित्र हो. क्योंकि 'जीव और ईश्वर दोनों साथ रहनेवाले सखा हैं' ऐसा वेदोंमें कहा है. यहां मित्र कहनेकेलिए 'सुहृद्' शब्दका प्रयोग किया है. जिसका अभिप्राय यह है कि जो हृदयमें सबसे अधिक निकट विराजमान हो. एक ही हृदयमें दोनोंकी स्थिति साथ होनेसे सुहृद् हो. सब फलके भोगनेवाले भगवान् ही हैं, इसलिए भला करते हैं. इन सब युक्तिओंके आधार पर आप ही प्रार्थना करने योग्य हो, क्योंकि आप सबको फल देनेवाले हो.

सेवा आदिके न बन सकने पर अपराध होता है तो आप दंड भी देते हो. ऐसी स्थितिमें भी आप ही प्रार्थना करने योग्य हो. आप हमारे पति हो अतः आपके अतिरिक्त हमारी कोई भी दूसरी गति नहीं है. पति भले ही स्वयं

आभूषण न पहने परन्तु पत्नीको बहुत आभूषणोंसे अलंकृत कर देता है. पति स्वयं भी गहने पहने हुए हो तो स्त्रीको और भी गहनोंसे सुन्दर बना देगा, इसमें सन्देह ही क्या? अतः आप हमें श्रृंगारसे युक्त बनाइयेगा.

आप हमारे पिता हो. इसलिए जन्म मात्रसे ही हम आपके उत्तराधिकारी हैं. इतना ही नहीं, जगतके बनानेवाले होनेसे भी आप हमारे पिता हो. इस प्रकारसे इस लोकका फल देनेकेलिए माता, सुहृद, पति और पिता इन चार रूपोंको बताकर अब परलोकका फल देनेके प्रसंगमें कहते हैं कि आप सदगुरु हो उत्तम दैवत हो. अब परलोककी प्रक्रियाके प्रसंगमें 'त्वम्' शब्दके विषयमें कहा जा रहा है. परलोककी प्राप्तिकेलिए शास्त्रोमें कहा है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति करनेवालोंको परलोककी प्राप्ति होती है. उसमें अज्ञानसे अथवा अन्यथा ज्ञानसे मोहको उत्पन्न करनेकेलिए पाखण्डादिक मार्ग होते हैं. उसमें सच्चे मार्गको कहनेवाले दुर्लभ हैं. यह सच्चे मार्गको कहनेवाला है अथवा मिथ्या मार्गको बतानेवाला है ऐसा संदेह होता है. जिससे किसी भी स्थल पर किसीको विश्वास रहता नहीं. आपका तो किसी भी प्रकारसे नाश होता नहीं है अतः ज्ञानरूप हो. इसलिए आप ही गुरु हो. जीव तो असद् गुरु है और आप ही सद्गुरु हो, इसलिए गुरुकी सेवासे ही समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धि है, ऐसा वाक्य कहा है. गुरुकी सेवाके माध्यमसे आपने अपनी ही सेवाकी शिक्षा दी है.

इस रीतिसे कर्म द्वारा फलकी प्राप्तिके पक्षमें सेवा द्वारा ही कृतार्थता बताई गई है. गुरु आप हैं. आपकी सेवासे ही कृतार्थता प्राप्त होती है. यदि यह माना जाये कि देवता फल प्रदान करते हैं तो भी ब्रह्मसे ही फलकी प्राप्ति सिद्ध हुई. व्यास सूत्रमें भी यही बताया है कि ब्रह्म ही सबको फल प्रदान करते हैं. ऐसा माने जाने पर भी आप ही फलके दाता हो यही निर्धारित हुआ. इन सब युक्तिओंके आधार पर आप ही परम दैवत हो. देवता स्वयं फलके देनेवाले नहीं हैं वरन् फल देनेमें सहायक मात्र हैं, क्योंकि मुख्य देवता तो आप हो, आप ही फल देते हो. परम उत्तम देवता आप ही हो. मध्यमें 'चकार' होनेसे ब्रह्म द्वारा फल दिये जानेके पक्षमें देवता आपके अंशरूप हैं. वे देवता अक्षरब्रह्मरूप है और आप तो उत्तम देवता हैं अतः आप ही फल देते हो. इसलिए हम तो आपकी ही आराधना करते हैं. अन्य बातें तो स्वयं सिद्ध हो जाती है. जिनकी सेवासे हम कृतार्थ होते हैं अथवा हमारे किये हुए कर्म नाशको नहीं पाते, ऐसे वे आप ही हैं, जिनकी सेवा

करना हमारा कर्तव्य है.

''किये हुए धर्मको दूसरेसे कहने पर वह नष्ट हो जाता है'' और ''कृतघ्न मनुष्यके पापोंकी निवृत्तिका कोई उपाय नहीं है'' ऐसा कहा है. अतः भगवानकी सेवाके अतिरिक्त कोई भी धर्म कृतार्थ करनेवाला नहीं. इसलिए आपकी अनुवृत्तिकेलिए आपकी सेवा करते रहना ही कृतार्थता है, जिससे हमारे कर्म नाश को प्राप्त होनेके स्थान पर सदैव सिद्ध रहें. अतः आप हमारे लिए वैसा ही कीजिये जिससे हम कृतार्थ बने।।७।।

अब भक्त पुरुष अपने भाव प्रकट करते हैं:

अहो सनाथा भवता स्म यद् वयं त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम् ।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम् ।।८।।

अहो, हमें सनाथ कीजिए. क्योंकि सबका सौभाग्यरूप आपका स्वरूप जो मन्द मुसकान और स्नेहयुक्त नेत्रकमलोंवाला मुखारविन्द, देवताओंको भी दिखाई देना कठिन है, उसे आप हमें दर्शन कराके सनाथ बनाईए ।।८।।

हम तो आपकी भक्तिसे ही पूर्ण मनोरथवाले हुए हैं. इस पर भी आपने हमें दर्शन दिये हैं यह तो बहुत ही आश्चर्य है, यह बतानेकेलिए 'अहो' आश्चर्यवाचक अव्यय दिया है. अथवा हमने बहुत थोडी भक्ति की है तो भी आप हमें मिले यह बहुत बडा फल हुआ, यह आश्चर्य बतानेकेलिए 'अहो' अव्यय दिया है. आपने हमें सनाथ किया है क्योंकि ''जो नारायणमें लगे रहते हैं वे किसी भी प्रकारका भय प्राप्त नहीं करते'' ऐसा कहा है. भगवानमें परायण जनोंको किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती, इसलिए नियंताकी जरूरत नहीं होती. क्योंकि जो अपेक्षावाला होता है वह अधिक ग्रहण करता है. उसकी सिद्धिकेलिए नियंताकी जरूरत होती है. परन्तु भगवानमें परायण रहनेवाले भक्तोंको इच्छा नहीं होती अतः ग्रहण करनेकेलिए उन्हें नियंताकी भी अपेक्षा नहीं रहती. जो भगवानका ग्रहण करते हैं वे तो भक्तिरसके स्वादसे ग्रहण करते हैं अर्थात् प्रभुकी भक्ति कर्तव्यरूप है. जो नारायणमें परायण होते हैं भगवान् स्वयं उनकेलिए श्रम करके उनका पालन पोषण करते हैं, जिससे भक्त सनाथ होते हैं. परन्तु यह वास्तविकता कोई आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली नहीं है. यहां तो थोडी भक्ति करनेवाले सनाथ हुए, क्योंकि भगवान् स्वयं पधारकर सब कार्य करते हैं यह आश्चर्य है. वैसे तो दूसरा आश्चर्य सब मनुष्यमें प्रसिद्ध है कि भक्तकेलिए

भगवान् जो करते हैं वह गुप्त रीतिसे करते हैं, परन्तु यहां तो सब मनुष्योंको जाननेमें आवे, ऐसे साक्षात् कार्य करते हैं. उस प्रसिद्धिको बताने केलिए मूलमें 'स्म' अव्यय दिया है. मात्र इतना ही नहीं भगवानका साक्षात्कार सब मनुष्य हर समय नहीं कर सकता, हमें तो हमेंशा उनके दर्शन होते हैं, यह विशेष आश्चर्य है.

सात्त्विक ही भगवानका साक्षात्कार करते हैं ऐसा कोई कहे तो समाधान करते हैं कि स्वर्गमें हुए अथवा वहांके रहनेवालोंको भी भगवान्का दर्शन दूर है, तो पृथ्वी पर रहनेवालोंको ऐसा कैसे? जब कभी देवताओं पर कष्ट आया तो भगवानने कृपा करके उन्हें दर्शन दिये. उस स्थितिमें भी भगवान्के इस रूपके दर्शन वे नहीं कर सके. इसी अभिप्रायसे कहा है कि आपके मुखकमलमें प्रेमसे मन्द हास्य हो रहा है और उस मन्द हास्यसे युक्त स्नेहमय आपका अवलोकन हो रहा है, ऐसे आपके स्वरूपका दर्शन हमें होता है.

गीताजीमें भगवान्ने कहा कि ''जिस रीतिसे मेरी शरणमें आता है उसी प्रमाणसे मैं उसे भजता हुं''. उस आधार पर जो प्रेमी भक्त होता है उस पर भगवानका भी प्रेम हो जाता है. जो ज्ञानसे मुक्त हुए हैं उन्हें किसी समयमें अपनी सेवा करवानेकेलिए भगवान् भक्त बनाते हैं. उन ज्ञानी भक्तोंको मानो भगवान् मोह उत्पन्न कर रहे हों ऐसा मन्द हास्य करते हैं. अथवा भगवान्के रूप तथा गुण में मोह होता है अन्य वस्तुमें मोह नहीं होता, इस हेतु उन्हें थोडा मोहित करते हैं; यह बतानेकेलिए अपने मायारूपी हास्यको मन्द बना लिया है यों कहा है. उनकी इस मन्द हास्यतासे दयालुताका निरूपण हुआ है. प्रेम और दया से सब वस्तु स्नेहवाली हो जाती है. जितने भी आकारवाले पदार्थ हैं, तैल आदि उन्हें चिकना बना देते हैं. परन्तु जिनकी कोई बनावट नहीं है और जो आत्माके साथ ही बंधे हुए हैं वे तो स्नेह तथा दयासे ही चिकने किये जाते हैं. अतः भगवानकी दृष्टि स्नेह तथा दयासे स्निग्ध बनी हुई है.

पहली बात तो यह है कि भगवान्के दर्शन ही बडे दुर्लभ हैं तिस पर भी अपने ऊपर भगवानकी दृष्टि पडे यह तो और भी कठिन है. अतः भगवानकी दृष्टि उस प्रकारके भक्तोंको ग्रहण करती है. वे भक्त मानो भगवानमें ही प्रवेश हो गये हों ऐसा लगता है. उसमें भी जो भक्त स्नेहकी दृष्टि द्वारा ग्रहण किये गये हों वे प्रभुसे कभी भी अलग नहीं होते. क्योंकि जिसके ऊपर जिसका स्नेह हो

वह उसे पृथक नहीं होने देता. भगवानकी दृष्टि अपने पर पडना दया कहलाती है, वह स्नेहसे बंधी हुई है. इसलिए जिन भगवदीयों पर भगवानकी स्नेहरूपी दृष्टि पडती है उस महानताका वर्णन जगत्में कहीं कोई नहीं कर सकता.

सार यह है कि समस्त सौभाग्योंसे भरपूर भगवानका स्वरूप है. अतः अपने द्वारा चाही गई सब वस्तु भगवानका स्वरूप है. तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी पदार्थके त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है यहां भगवान् स्वयं भक्तोंकेलिए पदार्थ रूप बन गये हैं, यह सबसे बडा आश्चर्य है।।८।।

अब स्त्रियां तथा स्त्रीभाववाले पुरुष कहते हैं. स्त्रियां न तो भगवानको ही जानती हैं और न उनके गुणोंको ही, तो भी अपने अनुभवको बताती हैं. भगवानका रूप अपनी सामर्थ्यसे जैसा हो जाता है, उसका यहां वर्णन करती हैं:

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार नो भवान् कुरुन् मधून्वाऽथ सुहृद्दिदृक्षया ।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद् रवेर्विनाक्ष्णामिव नस्तवाऽच्युत ।।९।।

हे कमल जैसे नेत्रोंवाले भगवान्, जब आप कुरुदेशके सम्बन्धियोंको तथा मधुदेशके सम्बन्धियोंको स्नेहसे देखनेकेलिये पधारते हो तब सूर्यके बिना नेत्रोंके समान, हे अच्युत आपके दर्शनोंसे रहित हमारा एक-एक क्षण करोडों वर्षोंकी तरह बीतता है।।९।।

आप तो द्रष्टिसे ही अमृतका पान कराते हो, यह बतानेकेलिये 'आप कमल नयन हो' ऐसा सम्बोधन दिया है. भगवान् यहांसे क्यों पधार जाते हैं? भगवान् सोचते हैं कि ये लोग मेरे स्वरूपको जानते नहीं हैं इसलिए यहां रहकर क्या करें? जहांके लोग मेरे स्वरूपको जानते हैं वहीं मुझे चलना चाहिए. ऐसा विचार करके ही भगवान् हमारी उपेक्षा करके यहांसे बहार पधार जाते हैं. जब वे यहांसे पधारने लगते हैं और हम उनके सामने जाते हैं, उस समय भी वे हमें देखते तक नहीं.

कुरुदेश हस्तिनापुरका प्रदेश है और मधुदेश मथुराका प्रदेश है. जब किसी अन्य प्रक्रियासे आप भीष्म आदिकोंसे मिलने पधारते हो तब आपके वियोगमें हमारा एक-एक क्षण करोडों वर्षोंके समान व्यतीत होता है. यमकी यातना भोगनेके प्रसंगमें ऐसा सुना जाता है कि एक क्षणमें वहां हजारों वर्षोंका भोग भोगलिया जाता है. उसी तरह हमें भी अनुभव होता है. सुखकी स्थितिमें भी एक क्षणमें हजारों वर्षोका भोग भोगा जाता है, एक कल्पका भोग भोग लिया

जाता है यह भी सुना है. उस प्रसंगमें उदाहरण देते हैं कि सूर्यके बिना नेत्र देख नहीं सकते. जब देखे जानेवाले पदार्थ घट पट आदिके विषयमें सूर्य आधिदैविक रूपसे नेत्रोंमें प्रवेश करता है तब नेत्र उन पदार्थोको देख सकनेमें समर्थ होते हैं. उसी प्रकारसे जब आप हमारे अंदर और बाहर विराजते हो तभी हम सब कार्य करनेमें समर्थ बन पाते हैं. जिस प्रकार योगीजन समाधिमें इन्द्रियोंको जीतनेकेलिये नेत्रोंको बन्द करके आधिदैविक देवता सूर्यको अपने वशमें लेकर स्थित रहते हैं, उसके बाद कराडों वर्ष पीछे नेत्रोंको खोलने व बन्द करनेवाला सूर्य उनके नेत्रोंको खोलता है. उनका वह एक करोड वर्ष एक निमेष बन जाता है. उसी प्रकार हमारे लिये आप हो. हमारा जीवन आपकेलिये ही है. आपकी सेवाके अभावमें हमारा एक क्षण भी व्यतीत नहीं होता. क्षण क्षणमें हमें मूर्च्छा आ जाती है. जिस प्रकार आप अच्युत होनेसे अपने स्वरूपसे दूर नहीं जाते उसी प्रकार हमारा जीवन भी आपसे अलग होकर कैसे रह सकता है? यह बतानेकेलिये ही मूलमें 'अच्युत' सम्बोधन दिया है।।९।।

इस प्रकार चार प्रकारके पुरूषों द्वारा सत्य वचनोंसे समर्थन प्राप्त करते हुए तथा सत्य वाक्योंके श्रवणसे मंगलका अनुभव करते हुए भगवानने नगरमें प्रवेश किया, इस प्रकारका निरूपण किया जाता है:

इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः ।
शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या वितन्वन् प्राविशत् पुरीम्।।१०।।

इस प्रकार प्रजाजनसे कही जाती वाणीको सुनते हुए भक्तवत्सल श्रीकृष्ण भगवान् द्रष्टि द्वारा अनुग्रहको फैलाते हुए द्वारकापुरीमें पधारे।।१०।।

मूलमें 'च'कार होनेसे प्रजाजनोंने कई प्रकारोंसे अनेक वचन प्रभु श्रीकृष्णकी स्तुतिमें कहे हैं. प्रजाके सभी स्तरके व्यक्ति स्तुति करते हैं, भगवान् उनमें किसी भी प्रकारका दोष नहीं देखते. भगवानकी बहुत बडी कृपा हुई. यह बात सूचित करनेकेलिये मूलमें भगवान्केलिए 'भक्तवत्सल' शब्द आया है. जिस प्रकारसे गाय बछडेको देखकर व्याकुल हो जाती है वैसे ही भगवान् भी अपनी प्रजाको देखकर व्याकुल हो गये हैं. अपनी दृष्टिके द्वारा प्रजाके ऊपर अनुग्रहका विस्तार करते हैं. भगवानकी कृपामय दृष्टि प्रजाके सब व्यक्ति पर पडी है. ज्ञानादिकसे युक्त भगवान् सत्य रूपसे अपनी प्रजाके हृदयमें पैठ गये.

इससे सब प्रजा सुखयुक्त हो गई. इस स्थितिमें वह कुछ भी बोल नहीं

सकी. ऐसे वातावरणमें महान उत्सवके साथ भगवानने द्वारकामें प्रवेश किया।।१०।।

पांच श्लोकों द्वारा द्वारकापुरीका वर्णन किया जाता है. जिस प्रकार विद्याके पांच पर्व हैं उसी प्रकार इस नगरीके कुल रूप पांच पर्व हैं यही बतानेकेलिये पांच श्लोकों द्वारा इसका वर्णन किया है. रहनेके स्थानोमें बाहर ऊपर और अन्दर इन अंगोंके भेदसे दूसरा कोई भी सुन्दर स्थान भगवान्के योग्य नहीं. उनमें रहनेवालोका वर्णन किया जाता हैः

मधु–भोज–दशार्हार्ह–कुकुरान्धक–वृष्णिभिः।
आत्मतुल्य–बलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीम् इव।।११।।

मधु, भोज, दाशार्ह, कुकुर, अंधक, वृष्णि ये सब प्रकारके यादव आत्मतुल्य बलवाले हैं. वे सब द्वारकापुरीकी रक्षा इस प्रकारसे करते हैं जैसे नाग भोगवती पुरीकी रक्षा करते हैं।।११।।

मधु, भोज, दाशार्होमें योग्य, कुकुर, अन्धक और वृष्णि ये छह प्रकारके यादव द्वारकामें रहते हैं. उन यादवोंसे द्वारकापुरीकी रक्षा हो रही है. सत्वगुणरूपी अन्तःकरणकी रक्षा इन्द्रियोंसे होती है तब अन्तःकरण भगवान्के प्रवेश करने योग्य होता है. क्योंकि ''विषयोंसे आकर्षित की गई इन्द्रियोंसे फेंके गये मनको धारण करनेवाली पुरुषकी बुद्धि सत्ताको जलके समीप रहनेवाला वृक्ष जिस प्रकारसे खींच लेता है, उसी प्रकार बुद्धि उस विषयी मनको धारण कर लेती हैं''. इस वाक्यसे इन्द्रियोंसे ही नाश होना सुना जाता है. इसलिये जब इन्द्रियां अन्तःकरणकी रक्षा करती हैं तभी अन्तःकरण भगवान्के प्रवेश योग्य बनता है. घरमें ही मनुष्योंमें परस्पर भेद हो जाय तो पुरीका नाश हो जाता है. अतः यहां छह प्रकारके यादव उस पुरीकी रक्षा करते हैं, ऐसा कहा है.

देहके अतिरिक्त केवल इन्द्रियों द्वारा सत्त्वयुक्त अन्तःकरणकी रक्षा नहीं हो सकती. अतः कहा जा रहा है कि जिस प्रकारसे योदवोंके शरीर हैं उसी तरह रक्षा करनेमें भी वे समर्थ हैं. अन्तःकरणकी रक्षा गुणोंसे होती है, इसलिए यहां देहकी रक्षा उपयोगी नहीं है, ऐसी शंकाका उत्तर देते हैं कि आत्मा वायु है, उसके समान बलवाले सब यादव हैं.

''मैं ही मनु हुआ, मैं ही सूर्य हुआ'' ऐसा वेदोमें लिखा हुआ है. वहां 'अहं' देवताके वायुका भेद बताया है. बृहदारण्यक श्रुतिमें तो वायुपना सिद्ध

होता नहीं परन्तु ऋग्वेदकी संहिताके प्रमाणसे वायुपना सिद्ध होता है. यहां इस प्रसंगमें कमरेके अन्दर रहनेवाला वायु कहना चाहिए. तब भी सत्त्वयुक्त अन्तःकरणकी रक्षा नहीं होती. यह सूक्त मण्डलके मध्यका है जिसमें यह श्रुति मिली है. मण्डलके दश भेद होनेसे पशुमें दश प्राण हैं ऐसा श्रुतिमें कहा है. वहां प्राणोंके बराबर मण्डलकी संख्या होनेसे प्राणवायुके अर्थका सूचन हुआ है. इसलिए आत्माका अर्थ वायुसे लिया है. अथवा आत्माके बराबर सेनावाले सब यादव हैं. जिस प्रकारसे अन्तर्यामी अन्तःकरणको सन्मार्ग पर जानेकी प्रेरणा करते हैं तब अन्तःकरण सन्मार्ग पर जानेमें प्रवृत्त होता है. तभी जाकर सन्मार्गकी रक्षा होती है. इसी तरह छह प्रकारके यादव द्वारकाकी रक्षा करते हैं. वे सब भगवानकी जितनी सेनावाले हैं. सब यादव पुरीमें प्रवेश करके रहते हैं.

यहां द्रष्टांत है कि जिस प्रकार नाग लोगों द्वारा भोगवती नगरीकी रक्षा होती है उसी प्रकार यादवों द्वारा द्वारकापुरीकी रक्षा होती है. नाग शरीरमें रहनेवालें प्राण हैं, उनसे जिस प्रकार भोगवाले शरीरकी रक्षा होती है, उसी प्रकार प्राणायाम करनेवाले योगीके शरीरकी भगवान् रक्षा करते हैं. उसी प्रकार योदवोंसे रक्षा की गई द्वारकापुरीमें भगवान् पधारे हैं.

अथवा पातालमें जो गंगाजी हैं उनका नाम भोगवती हैं. उन गंगाजीकी रक्षा नाग करते हैं. यदि वे नाग रक्षा न करें तो भगवान्के चरणकमलका जल होनेसे उसे देवता ले जावें अतः नाग रक्षा करते हैं।।११।।

इस प्रकार अधिष्ठाताओंसे सब प्रकारसे द्वारकाकी रक्षा की गई है, यह कहकर अब उसकी बाहरी शोभाका वर्णन किया जा रहा है:

सर्वर्त्तुसर्वविभव–पुण्यवृक्षलताश्रयैः।
उद्यानोपवनारामैः वृतां पद्माकरश्रियम्।।१२।।

सब ऋतुओंमें जहां सब प्रकारके पुष्प आदिकी सम्पत्तियां हैं, और जहां पुण्यकार्यमें काम आनेवाले वृक्षों तथा लताओंका समूह आश्रय लिये हुए है, ऐसे उद्यान तथा उपवन एवं आराम शोभित हैं. जिस द्वारकामें चोतरफ विभिन्न कमलोंसे भरे हुए तालाब हैं ऐसी उस नगरीमें भगवान् पधारे।।१२।।

सब ऋतुके सब प्रकारके वैभव हैं. वृक्ष पुष्प और फलों के वैभवसे लदे हुए हैं. वे वृक्ष धर्मको उत्पन्न करनेवाले हैं तथा लताओंने उनमें आश्रय ले रखा हैं. उनसे उद्यान, आराम और उपवनों की शोभा हो रही है. जिससे द्वारकापुरीकी

शोभा हो रही है. जहां अधिक पुष्पोंवाले वृक्ष हों उसे 'उद्यान' कहते हैं. जिस स्थान पर फलोंको देनेवाले वृक्ष अधिक हों उसे 'उपवन' कहा जाता है. जिनमें क्रीडा करनेके स्थान भी हों उन्हें 'आराम' अर्थात् बगीचा कहा जाता है. उन उद्यानों, उपवनों और बगीचो में तालाबोंकी सुन्दरता भी मन मोहती है. पद्मोंसे भरे हुए तालाब द्वारकाकी शोभाका अतिशय विस्तार करते हैं. ऐसी सुन्दर द्वारकामें भगवान् पधारे।।१२।।

अब ऊपरकी शोभाका वर्णन करते हैं:

गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम्।
चित्रध्वजपताकाग्रैर् अन्तःप्रतिहतातपाम्।।१३।।

नगरके महाद्वारों पर, घर घरके दरवाजों पर प्रसन्नता प्रकट करनेकेलिये तोरण बांधे गये हैं. जहां चित्र-विचित्र ध्वजा पताकाएं अग्र भागों पर लगाईं गईं हैं जो अन्दरके तापको दूर कर रही हैं ऐसी द्वारका नगरीमें भगवान्की सवारी पधार रही है।।१३।।

नगरका बाहरी द्वार 'गोपुर' कहलाता है. इसके अतिरिक्त नगरके भीतरी दरवाजें हैं. मार्गमें स्थान-स्थान पर तोरण बांधे गये हैं. दरवाजों पर, बाजारके रास्तों पर बाहरकी ओर उपरी भागोमें तोरण सुन्दरता छिटका रहे हैं. जिनमें गरुड आदिके चिन्ह हों उन्हें 'ध्वजा' कहते हैं. विजयपत्र जिनमें जडे हुए हों उन्हें 'पताका' कहा जाता है. उनके अगले भोगोंमें लम्बे किये गये विचित्र वस्त्रों द्वारा अन्दरका ताप दूर किया जा रहा है. दोपहरके समयमें उन वस्त्रोंकी छाया मार्गमें पडती हैं, जिनसे अन्दरका ताप दूर हो रहा है. परन्तु उनकी शोभा बाहरकी ओर हो रही है. ताप दूर हो है यह फलका बादवाला अंग है।।१३।।

अब अन्दरकी शोभाके विषयमें वर्णन किया जा रहा है:

सम्मार्जितमहामार्ग-रथ्यापणकचत्वराम्।
सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षतांकुरैः।।१४।।

नगरके बडे मार्गोंको स्वच्छ किया है. गलियों, बाजारों, चौराहों और प्रांगणोंको सुगन्धित जलोंसे छिडका है. फल, पुष्प, अक्षत और ज्वारे आदि मांगलिक द्रव्य भगवान्के स्वागतार्थ उन पथों पर बिखेरे गये हैं. ऐसी अनूठी सजी धजी द्वारकामें भगवान् पधारे।।१४।।

महामार्ग अर्थात् राजमार्ग, रथ्या अर्थात् गली, आपण याने दुकानें तथा

इसी प्रकार प्रांगण ये सभी भली प्रकारसे स्वच्छ किये गये हैं. सुगन्धी जलोंसे उनका छिडकाव हुआ है. नगर भरमें समान रूपसे यह सब शोभा साज हुआ है. मंगलकेलिये फल, पुष्प, अक्षत, ज्वारे अवस्थित किये गये हैं. आंगनोमें आम्रफलोंसे लदी शाखाएं भूमिकी ओर झुक रही हैं. इसी प्रकार पुष्पोंके गुच्छे भी भूमि पर विकीर्ण किये गये हैं. अक्षत ऊपरकी ओरसे (भवनोंसे) फेंके गये हैं तथा ज्वारे ऊपरकी ओरसे ही बरसाये गये हैं. इन सभी मांगलिक पदार्थोंसे श्रीप्रभुका स्वागत द्वारका नगरीमें हो रहा है. इन सब युक्तताओंके कारण ही तो यहां 'उप्ताम्' विशेषण दिया है।।१४।।

अब नगरके अंगोकी अलंकृत छबिका वर्णन इस प्रकार करते हैं:

द्वारि द्वारि गृहाणां च दध्यक्षतफलेक्षुभिः।
अलंकृतां पूर्णकुम्भैः बलिभिर्धूपदीपकैः।।१५।।

घर-घर, द्वार-द्वार पर दही, अक्षत, फल, ईख, पूर्ण कलश, भेंट सामग्रियां, धूप-दीपसे श्रृंगारी गई द्वारकापुरीमें भगवान् कृष्ण पधार रहे हैं।।१५।।

मूलमें 'च'कार लिखा हुआ होनेसे सभा, हाट, नगर द्वारों पर भी वैसी ही शोभा की गई है ऐसा सूचित किया है. मार्गमें रहनेवाले अथवा आने-जानेवाले तो अन्दरकी शोभाको नहीं देख सकते. अतः घरोंकी सजावट की गई है अथवा नहीं इस शंकाको दूर करनेकेलिये घरके द्वारोंको शृंगारा है. वहां पात्रोंमें दही भरा है, चावलकी फूलियोंके डबरे भरे रखे हैं, उन पर फल भी स्थापित हैं. दरवाजोंके दोनों ओर गन्नोंके समुच्चय शोभित हैं. जल-कलश स्थापित किये गये हैं; इस तरह समस्त द्वार सजाये गये हैं. तात्पर्य यह हुआ कि द्वारका नगरीका सब अवयव, अंग-अंग अलंकारोंसे दम-दमा रहा है. यह बोध हुआ.

यह महामहोत्सव भगवान्के पदार्पण पर किया है. अथवा यों कहिये कि सूर्यके समान भगवान् कृष्णका तेज ही सब ओर व्यापक बन कर छा रहा है।।१५।।

अति निकटके परिवारजनोंने भी श्रीकृष्णको भगवद्रूपसे हृदयमें पधराया है. माता-पिता आदि स्वयं श्रीकृष्णको लिवाने आये हैं; पर इस सम्बन्धसे नहीं कि यह हमारा पुत्र है, प्रत्युत ये साक्षात् प्रभु हैं, इस भावकी ही इस प्रसंगमें बलिष्ठता है. अगले साढे तीन श्लोक 'निशम्येति' में इस भावको प्रदर्शित करते हुए कहते हैं:

निशम्य प्रेष्ठम् आयान्तं वसुदेवो महामनाः ।
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः ।।१६।।
प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
प्रहर्षवेगोच्छ्वसित–शयनासनभोजनाः।।१७।।
वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः ससुमङ्गलैः ।
शंखतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः ।
प्रत्युज्जग्मू रथैर्ब्रह्मन् प्रणयागतसाध्वसाः।।१८।।

हे ब्रह्मन्! हमारे प्रिय भगवान् पधारे हैं, ऐसा सुनकर उदार मनवाले वसुदेवजी, अक्रूर, उग्रसेन,अद्भुत पराक्रमवाले बलदेवजी, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, जाम्बवतीके पुत्र साम्ब; ये सब अत्यधिक हर्षके बढे हुए वेगसे शयन, आसन, और भोजन इत्यादि छोडकर, एक विशाल हाथीको आभूषणोंसे सजाकर आगे प्रस्थान कराते हुए, पीछे मंगल पाठ करनेवाले ब्राह्मणोंका वेदपाठ, पश्चात् शंख, तुरहीकी ध्वनिओंसे आदर प्रकट करते हुए, रथोंमें बैठकर स्नेहसे अधीर बने हुए श्रीकृष्णके सामने आये।।१६–१८।।

यही तो कारण है कि 'सम्बन्धी' शब्द न कहकर मूलमें 'प्रेष्ठ' शब्दका प्रयोग किया है. श्रीवसुदेवजीको बडे मनवाला इसीलिये कहा है कि भगवानको ग्रहण करनेकेलिये जिनने देह सम्बन्धी ज्ञानको भुला दिया है. उग्रसेन तो राजा हैं फिर भी सामने आये हैं. भक्तिकी मुख्यता होनेसे लौकिक बडप्पनवाली बात यहां नहीं आई.

लौकिक द्रष्टिसे उग्रसेन राजा होनेसे बडे हैं परन्तु भक्तिकी विशेषता होनेसे वसुदेवका नाम सबसे पहले लिया है. मूलमें सब स्थान पर 'च'कार का प्रयोग हुआ है, जिससे सबके अलग–अलग वर्ग सूचित हुए हैं.

भगवान् तो बलदेवजीके जमाई इत्यादिको मारकर पधारे हैं तो फिर बलदेवजी किस लिये श्रीकृष्णके सामने पधार रहे है? इस शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं कि श्रीबलदेवजी प्राकृत नहीं हैं, वरन् भगवान्के ही समान अद्भुत पराक्रमसे युक्त हैं. कौरवोंमें उनका स्नेह प्रसिद्ध है. उन्हें गदायुद्ध आदिका शिक्षण स्वयं बलदेवजीने ही प्रदान किया है, कौरवोंके हितकी बात भी वे कहते हैं; परन्तु सच बात तो यह है कि दुर्योधन आदिको आपने ही मारा है. यह बात इसीसे सामने आ जाती है कि बलदेवजीने कौरवोंके युद्धका प्रशिक्षण

तो दिया परन्तु महाभारतके युद्धको बन्द करवानेमें कोई प्रयास या उपाय नहीं किया. परन्तु लोककी समझके अनुसार बलदेवजी कौरवोंके पक्षमें थे. ऐसा होना ठीक ही है क्योंकि बलदेवजी अद्‌भुत पराक्रमवाले हैं.

जाम्बवतीजीके पुत्र भी सामने आये हैं, ऐसा जो कहा है उसका अभिप्राय यह है कि साम्बको स्त्रिओं जैसे आभूषण अच्छे लगते हैं, वे स्त्रियोचित वेशभूषा पहनकर पधारे हैं, अतः व्यासजीने 'जाम्बवतीजीके पुत्र'का विशेषण दिया है.

पिता–सम्बन्धी और पुत्र सामने आये हैं. उन सबने 'भगवान् पधार आये हैं' इतना सुनते ही बहुत हर्षित होकर, हर्षके वेगसे बहुत प्रयत्नपूर्वक छोडे गये श्वासके समान भगवान्‌के सामने जानेकी गतिके अतिरिक्त शयन, आसन और भोजन भी छोड दिये हैं.

सोना तमोगुणकी अवस्था है, बैठना सत्त्वगुणकी स्थिति है और भोजन करना यह रजोगुणकी प्रवृत्ति है. इन तीनों गुणोंकी अवस्थाको छोडकर, मंगलकारी एक उत्तम हाथीको आगे करके सारे मंगल द्रव्योंके साथ ब्राह्मणोंको साथ लेकर स्वागतकेलिये ये सभी कुटुम्बवाले श्रीकृष्णके सम्मुख उपस्थित हुए. वसुदेवजीका मन भगवान्‌से जुडा हुआ है और उसी तरह ब्राह्मणोंका मन भी भगवानमें लवलीन हो रहा है. भगवान्‌के साथमें कई प्रकारके बाजे आ रहे हैं, परन्तु मंगलके समय बजाये जानेवाले शंख और तुरहीको वे साथ लाये हैं, न कि बडापन दिखानेकेलिये अन्य वाद्योंको.

वेदपाठके द्वारा मंगलका उद्‌घोष हो रहा है. मूलमें 'च'कार लिखा होनेसे मंगलाष्टक इत्यादिका पाठ भी हो रहा है. वे आदरसे भरे हुए हैं, इसलिये पहलेसे ही सामने आ गये हैं. रथों पर बैठकर शीघ्रतासे आ गये हैं. उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि उनमें स्नेहके कारण भय उत्पन्न हो गया. लौकिक पदार्थोंके साथ भगवानका स्मरण करनेसे हर्ष हुआ है और बादमें केवल माहात्म्यका स्मरण करनेसे भय उत्पन्न हुआ है, यही विवेक है ।।१६–१८।।

अन्दर और बाहरके भेदसे केवल विषय सुखको उत्पन्न करनेवाले जीव भी भगवान्‌के सामने आये हैं; जिसका वर्णन इस प्रकार है:

वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्‌दर्शनोत्सुकाः।
लसत्‌कुण्डलनिर्भात–कपोलवदनश्रियः।।१९।।

नटनर्तकगन्धर्वाः सूतमागधबन्दिनः।
गायन्ति चोत्तमश्लोक–चरितान्यद्भुतानि च।।२०।।

शोभायमान कुण्डलोंने स्वच्छ कपोलोंवाली मुखकी शोभासे प्रकाशमान सैंकडों वेश्याएं उत्साहयुक्त हुईं पालकियोंमें बैठकर भगवान्के दर्शनकेलिये आईं. नट, नर्तक, गन्धर्व, सूत, मागध, बन्दीजन भगवान्के अद्भुत पराक्रमका गायन करनेमें लगे हुए हैं।।१९–२०।।

जिन स्त्रिओंके बहुतसे वर हों, उन्हें वैश्या कहा जाता है. वे भी प्रभुके सन्मुख आई हैं. मूलमें 'च'कार होनेसे अन्य चतुर स्त्रियां भी आई हुई हैं. उनमें कई प्रकारके भेद हैं यह कहनेकेलिये 'शतशः' शब्द दिया है. उन वेश्याओंके बैठनेकेलिये पालकियां थीं. भगवान्के दर्शनोंकेलिये वे बडी उतावली हो रही थीं. अतः दर्शनोंकी शीघ्रतासे वे पालकियोंमें बैठकर आई हैं. अपने भवनोंके झरोखोंसे भी दर्शन किये जा सकते थे, फिर आनेका कारण क्या? कारण यह कि वे भगवान्के दर्शनोंकेलिये बहुत ही उत्साहित थीं, अतः समयकी बाधाको सहन नहीं करती हुई प्रभुके सम्मानार्थ सामने आईं.

उनके अलंकारोंका वर्णन इस प्रयोजनसे किया है कि वे मंगल कार्यमें सम्मिलित हो रही हैं. कानोंके कुण्डलोंके प्रकाशसे उनके गाल चमचमा रहे हैं. उस प्रकाशसे उनके मुखकी शोभा कई गुनी बढ गई हैं. ऐसी वेश्याएं प्रभुके सन्मुख आई हैं.

वहां अनेक नट, नर्तक, गन्धर्व और बन्दीजन भी आये हैं. शास्त्रोंकी रीतिसे नाचनेवाले नट कहलाते हैं. लोक परम्पराके अनुसार नाचनेवाले नर्तक कहलाते हैं. जो केवल गाते ही हैं, नाचते नहीं वे गन्धर्व कहे जाते हैं. उसी प्रकारसे सूत, मागध और बन्दीजन भी आये हुए हैं. पुराणोंका वाचन करनेवाले सूत कहलाते हैं. वंशका बखान करनेवालोंको मागध कहा जाता है. उन्हें परिहार भी कहा जाता है. प्रस्तुत प्रसंगका अनुसरण करते हुए बोलनेवालोंको बन्दीजनके नामसे पुकारा जाता है. उन्हें वैतालिक भी कहा जाता है. वे सभी भगवान्के अद्भुत चरित्रका गायन कर रहे हैं. मूलमें 'च'कार होनेसे वे स्मरण करते हैं, ऐसा भी सूचित होता है. जो अद्भुत चरित्र होते हैं उनका वर्णन स्पष्ट रूपसे लोकमें कहनेका प्रचलन नहीं है, तो भी वे उन चरित्रोंका वर्णन स्पष्टरूपसे गा रहे हैं. यही बतानेकेलिये मूलमें 'च' दिया है. भगवान् उत्तम यशवाले हैं अतः

उत्तम पुरुष ही उनके अद्भुत चरित्रोंका गान कर रहे हैं।।१९-२०।।

लौकिक स्वामियों (राजाओं)के पास जानेके समान, श्रीकृष्णके पास जानेवालोंको थोडा फल प्राप्त नहीं हुआ है, वरन् उन्हें जीवनका सर्वस्व ही फलरूपमें मिल है, अतः वे सफल हो गये हैं.

भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणाम् अनुवर्तिनाम्।
यथाविध्युपसङ्गम्य सर्वेषां मानम् आदधे।।२१।।

भगवानने बन्धुरूप, प्रजारूप और सेवकरूप से अपने सामने आई हुई प्रजा द्वारा यथाविधि सम्मानको ग्रहण किया।।२१।।

भगवान्के सामने आई हुई प्रजाके तीन भेद हैं: कितने ही उनमें बान्धव हैं कितने ही नगर निवासी हैं, तो कई सेवक हैं. सामान्यतया तो सब प्रजा है ही. अतः उन्हें मध्यमें ग्रहण किया है. क्योंकि बान्धव, नागरिक और सेवक सब द्वारकामें रहनेवाले हैं. भगवानने उनके भावानुसार किये गये सम्मानको अंगीकार किया।।२१।।

जैसी कि भगवान्ने गीताजीमें प्रतिज्ञा की है कि ''जो व्यक्ति मुझे जिस रूपसे जाहता है मैं भी उसे उसी रूपमें चाहता हूं'' अतः वहां जो जिस भावसे प्रभुके सामने सम्मान अर्पण कर रहा था, भगवान् भी उसे वैसा ही व्यवहार प्रदान कर रहे थे. इसी विषयमें आगे वर्णन किया जा रहा हैः

प्रह्वाभिवादनाश्लेष-करस्पर्श-स्मितेक्षणैः।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः।।२२।।

नम्रता, नमस्कार, भेंटना, हस्तस्पर्श करना, हास्य सहित देखना और चाहे गये वरदानोंको प्रदान करते हुए भगवानने चांडाल पर्यंतको आश्वासन दिया. इस प्रकार करते हुए भगवान् द्वारकामें पधारे।।२२।।

जो अत्यन्त नम्र हो उसे 'प्रह्व' कहते हैं. इस प्रकार भगवानने पिता आदिमें नम्रता दिखाई है. ब्राह्मणोंकेलिये नमस्कार किया है. मित्रोंसे भुजा भरभर मिले हैं. मुख्य सेवकोंके शिरों पर भगवानने अपना श्रीहस्त पधराया है. इसके अतिरिक्त बाकी प्रजा पर मन्द हास्यवाली दृष्टिसे अवलोकन किया है. सब जनके द्वारा चाहे गये वरदानोंको प्रदान करते हुए भगवानने उन्हें आश्वासन दिया है. इस प्रकार अपने विरहसे उत्पन्न हुए कष्टको दूर किया है. मूलमें 'च'कार होनेसे जिनने भगवान्के सामने अपने दुःखका निवेदन किया है, भगवानने उसे

भी दूर किया है. इस प्रकार चाण्डाल पर्यंत सबके दुःखका भगवानने निवारण किया है. यहां तक कि सब साधनोंके करनेके बाद भी जो विषय नहीं मिल सकते वे भी भगवानने प्रदान किये हैं. इस प्रकार भगवानने उन्हें इच्छित वरदान दिये हैं. मूलमें एक और 'च'कार भी है, जिसका तात्पर्य यह है कि इसके अतिरिक्त भी जिसने जो जो चाहा, प्रभुने वह सब प्रदान किया. इन सब विषयोंको प्रदान करनेका कारण यह है कि प्रभु सर्व समर्थ हैं, सब कुछ दे सकनेकी सामर्थ्य उनके पास है।।२२।।

भगवान् जीवोंको ये सब विषय क्यों देते हैं? इसका समाधान करते हुए आगे कहते हैं:

स्वयञ्च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि।
आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैः बन्धुभिश्चाविशत् पुरीम्।।२३।।

स्त्रिओं सहित गुरुओं, ब्राह्मणों, वृद्धों तथा अन्य बन्धुओं द्वारा दिये गये आशीर्वादोंसे युक्त होकर भगवान् श्रीकृष्णने द्वारकापुरीमें प्रवेश किया।।२३।।

भगवानको सभी लोगोंने सम्मान दिया है अतः भगवान् द्वारा भी उन्हें कुछ प्रदान किया जाना चाहिए. भगवानने उन्हें कई प्रकारके पदार्थ प्रदान किये हैं. ये सब विषय भगवान् द्वारा प्रदान किये हुए होनेसे बन्धनको करनेवाले नहीं है अस्तु निर्दोष हैं. वहां ब्राह्मणों सहित अन्य दुसरे गुरु लोग हैं. बहुतसे ब्राह्मण गुरु पदवाले भी हैं, बहुतसे दूसरे भी हैं, ये सब स्त्रियों सहित आये हैं. इससे अतिरिक्त बहुतसे वृद्ध जन भी हैं जिनने भगवानको आशीर्वाद प्रदान किया है. संतोषपूर्वक अभिनन्दन करना आशीर्वाद कहलाता है. इसी प्रकार अन्य बन्धुओंके प्रति भी कहा है. मूलमें 'अन्य' शब्दका यह भी अर्थ है कि अपने पुत्रोंके नवीन सम्बन्ध भी जुडे हैं, अतः उन पुत्रोंके श्वशुरों आदि सहित भगवान् पधारे हैं.

यहां यदि यह शंका उत्पन्न हो कि पुरमें पधारनेवाली बात तो पहले ही बता दी गई है, अतः यहां तो यह कहा जाना चाहिए था कि पुरमें पधारते हुए भगवान्को आशीर्वाद दिये गये और कितने ही बन्धुओं सहित भगवान् पधारे हैं, यह बात भी बतलानी चाहिए थी, यह सब कुछ न बतलाकर, भगवान् पुरमें पधारे, यही क्यों कहा गया?

उसका समाधान करते हैं कि पहले तो आनर्त देशमें पधारनेकी बात

बतलाई गई है, बादमें पुर प्रवेशकी बात कही गई है, अतः द्वारकामें प्रवेश करनेकी स्थिति अधिक उत्तमतासे वर्णित की गई है, यह बतानेकेलिये ही भगवान् द्वारकापुरीमें पधारे, ऐसा कहा है. पुरमें पधारने मात्रसे ही सर्वोत्तमपनेकी सिद्धि हो गई तब तो स्तोत्र आदि किये जाने सब व्यर्थ है? इस शंकाका समाधान कहते हैं कि उन स्तोत्रोंमें केवल भक्तिकी ही प्रधानता है, वे स्तोत्र कहनेवाले सब भक्तिसे परिपूर्ण हैं, यह सूचित किया है।।२३।।

अब मर्यादामें रहनेवाली स्त्रियोंने क्या किया? यह बताया जा रहा हैः

राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः कुलस्त्रियः।
हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्राः तदीक्षणमहोत्सवाः।।२४।।

हे ब्राह्मणों, भगवान् राजमार्ग पर पधार रहे हैं, अतः दर्शन करनेवालोंका यह एक बहुत बडा उत्सव है, इसलिये द्वारकाकी कुलांगनाएं भगवान्के दर्शनार्थ महलोंके ऊपर चढ गईं।।२४।।

स्त्रियां भी मार्गमें रहती हैं और भगवान् भी मार्गसे पधार रहे हैं इसलिये उनका दर्शन करना योग्य है ही. भगवानने द्वारकामें भी सब मार्गोंकी रक्षा की है, यह बतानेकेलिये 'विप्राः' यह सम्बोधन दिया है. भगवान्के दर्शन करना यही जिनका सबसे बडा उत्सव है, ऐसी वहांकी सब कुल अंगना हैं ऐसा कहा है. इसलिये उन्होंने आभूषणोंसे स्वयंको शृंगारित किया है, अन्य पुरुषको देखनेका दोष उन स्त्रियोंमें नहीं है, वे तो प्रभुके दर्शनार्थ ही भूषण भूषित होकर महलोंकी अटारियों पर चढ गई हैं, ऐसा सूचित किया है।।२४।।

उत्सव उसे ही कहा जाता है जिससे अत्यधिक आनन्दकी उत्पत्ति हो. यहां भगवान्के दर्शनको महान् उत्सवकी संज्ञा किस आधार पर दी गई है? इसका विवेचन 'नित्य' आदि श्लोकोंसे दिया जा रहा है:

नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम्।
न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गम् अच्युतम्।।२५।।

यद्यपि द्वारकाके निवासी भगवान्के हमेशा दर्शन करते हैं, फिर भी लक्ष्मीके निवासरूप जिनके श्रीअंग हैं ऐसे श्रीअच्युत भगवान्के दर्शन करते हुए उनकी द्रष्टि कभी तृप्त नहीं होती, नहीं थकती।।२५।।

यहां मूलमें, ''भगवान्के दर्शन करते हुए द्रष्टि तृप्त नहीं हुई'' इसलिये उनका दर्शन उत्सवरूप है ऐसा कहा है. भगवान्के अंग द्रष्टिसे स्वतन्त्र होते नहीं

प्रतिक्षण अलौकिक लगते हैं, इसलिये द्रष्टि तृप्त नहीं होती. जब कि द्वारकाके रहनेवालोंको प्रभुके दर्शन नित्य होते हैं तो भी उनकी आंखे भरती नहीं. कारण यह है कि उनके अंग लक्ष्मीजीके स्थानरूप हैं, इसलिये भगवान् तो नित्य उत्सवरूप हैं. क्षण-क्षणमें नये-नये रूपोंसे दर्शन देते हैं, अतः आनन्द भी नये-नये प्रकारका आता है. पहली बार दर्शन करने पर जो ज्ञान होता है वह दूसरी बार दर्शन करने पर मिट जाता है. जिस प्रकार समुद्रकी लहरें मध्यमें उत्पन्न होती हुई, दूसरी लहरोंको उत्पन्न करनेका कारण बनती है तथा इस क्रमसे किनारे तक पहुंच जाती है अथवा जलकी धाराका प्रवाह चलता रहता है तथा उस प्रवाहको आगेकी ओर बढाते रहनेमें पिछला जल कारणरूप बनता है. उसी प्रकार भगवान्के दर्शन बार-बार करने पर हर बार नयापन लगता है. परन्तु अन्तर इतनासा है कि धारावाहिक ज्ञानके उदाहरणकी तरह प्रभुके पहलेवाले दर्शन दूसरी बारवाले दर्शनके कारणरूप नहीं बन सकते. क्योंकि भगवान्के दर्शन अलौकिक अर्थका बोध देते हैं, अतः आनन्द तो होता है पर तृप्ति नहीं. पहला दर्शन दूसरे दर्शनकेलिये रुचि उत्पन्न कर देता है. दर्शन करनेके प्रसंगमें पदार्थ या विषयपनेकी बात भगवानमें नहीं है. जिस तरह ओषधि(दवा) रुचि उत्पन्न करनेवाली होती है उसी तरह प्रभुके एक बार दर्शन हो जाने पर फिर सदा उससे मन भर ही नहीं सकता. यदि शरीरमें दोष अधिक मात्रामें हो हो तो दवा भी कुछ लाभकारी नहीं हो सकती, उसी तरह भगवान्से विमुख रहनेके कारण भक्तिका अभावरूपी दोष उत्पन्न हो जाता है, अतः ऐसे लोग ही दर्शनके समय अनुभवहीन बने रह जाते हैं. परन्तु द्वारकावासियोंमें ऐसा कोई दोष या अभाव है ही नहीं अतः प्रभुके दर्शनसे उनका जी कभी नहीं भरता. उनकी द्रष्टिमें तेजपना है. सूर्य, नेत्र, इन्द्रियां और रूप ये तेजसे अलग नहीं है. इसीलिये भगवान् गीताजीमें आज्ञा करते हैं कि ''सब स्थल पर मेरा ही तेज है''. अतः जिस द्रष्टिमें भगवान्से सम्बन्धवाला तेज होता है, वही द्रष्टि भगवान्के दर्शनमें प्रीतिवाली होती है.

सब द्रष्टि ही तेजोरूप होनेसे बहिर्मुखोंकी द्रष्टिभी तेजोरूप माननी चाहिए. परन्तु जिस प्रकार चाण्डालकी अग्नि भी अग्नि ही है, पर उसका दुष्टसे सम्बन्ध होनेके कारण वह वैदिक कार्योंमें काम नहीं आती, उसी प्रकार द्रष्टिका सम्बन्ध बाहरी चीजोंके विचारसे जुड जाने पर वह बहिर्मुख कहलाती है. इस

स्थितिमें उस द्रष्टिकी रुचि भगवान्‌के दर्शनोमें नहीं होती. धर्मके विचारसे धर्म करनेवाला जिस रीतिसे धर्मका सम्बन्ध मानता हो, उस रीतिसे धर्म प्राप्त होता है. उसी प्रकार बहिर्मुखी पुरुषोंका भगवानमें साधारण पुरुष जैसा भ्रम होनेसे उनकी द्रष्टिमें दोष आ जाता है, वह दोषपूर्ण द्रष्टि भगवान्‌के दर्शन नहीं कर सकती. परन्तु यह दोष द्वारकावासीओंमें नहीं है, यह बतानेकेलिये कहा है कि वे द्वारकामें ही रहते हैं.

'द्वारका' शब्दका अर्थ ही यह होता है कि जो द्वारके विषयमें बतलानेवाले हो. वह द्वारकापुरी भक्तिरूप साधनके विषयमें बतलाती है. उसमें भी भगवान्‌के दर्शन कर लेना, यह तो भक्तिरूप ही होना है. ये सब साधन द्वारकामें विद्यमान रहते हैं, वहां किसी भी प्रकारका दोष नहीं है, सब दोषका निवारण हो चुका है. वेदोमें कहा है कि ''भगवान्‌के दर्शन इन इन्द्रियोंसे नहीं हो सकते, क्योंकि ये इस तरहसे बनाई गई है ही नहीं''. ऐसी स्थितिमें उनका दर्शन करनेमें सहज दोष आता है, परन्तु भगवान् उन दोषोंको हटाकर अपने प्रत्यक्ष दर्शन उन्हें प्रदान करते हैं. इन्द्रियां भगवान्‌को ग्रहण नहीं कर सकतीं, इस दोषको भगवान् स्वयं दूर करते हैं, वह दोष दूर भी तभी हो सकता है, अन्य किसी भी साधनके द्वारा यह दोष दूर नहीं होता. यहां तो भगवानने प्रकट होकर उस दोषको मिटा दिया है.

यहां कोई यह शंका करे कि भगवान् तो रसात्मक हैं, वे अमृतरूप औषधीके द्वारा सब दोषोंकी निवृत्ति तथा तृप्ति ये दोनों कार्य कैसे नहीं कर सकते? इस शंकाका समाधान करते हैं कि विशेष करके द्रष्टि तृप्त नहीं होती, यही अभिप्राय योग्य है. क्योंकि जिन्हें दर्शन हो जाते हैं वे तृप्त भी हो जाते हैं. परन्तु दूसरे ही क्षण प्रथम किये हुए दर्शनों द्वारा रुचि उत्पन्न हो जाती है और इसी क्रमसे अगले दर्शनोंकेलिये रुचि निरन्तर होती रहती है, इस कारण तृप्ति नहीं हो पाती. जिन स्थानोंमें पदार्थोंके प्रति रुचि उत्पन्न होती है, वहां यही नियम होता है. यहां भगवान्‌के दर्शन हो रहे हैं इसलिये रुचि उत्पन्न हो रही है. द्रष्टिके विषयरूप भगवान् ही रुचि उत्पन्न कर रहे हैं. उनके आनन्दको जानकर रुचि उत्पन्न हो रही है. यहां ज्ञानकी मुख्यता कही गई है. विषयसे ज्ञान प्रबल होनेसे तृप्ति नहीं हो रही.

मूलमें 'दृशः' शब्द लिखकर द्रष्टियोंकी अधिकता बताई है. भगवान्

का एक ही स्वरूप होनेसे और द्रष्टिओंका अनेक होनेसे भी तृप्ति नहीं हो पाई. एकसे अनेकोकी तृप्ति नहीं हो सकती यह जनाया है.

भगवानका एक रूप होनेसे वे अनुभव किये जा सकते हैं, परन्तु वे लक्ष्मीके स्थानरूप भी तो हैं. भगवान् लक्ष्मीके साथ हैं, इसलिये द्रष्टिरूप अन्य स्त्रियोंको तृप्ति नहीं दे रहे. पुरुष जब स्त्रियोंमें प्रवेश करे तब स्त्रियोंको तृप्ति होती है. यह स्थिति भगवानमें है ही नहीं, क्योंकि वे अच्युत हैं. यदि भगवानको दर्शनका विषय मानकर भी विचार किया जाय तो भी तृप्तिकी कोई सम्भावना नहीं रह जाती।।२५।।

लक्ष्मीका स्थान तो केवल वक्षःस्थल ही है, इसके अतिरिक्त दूसरे अंगोंका दर्शन करके तो तृप्तिका अनुभव किया जा सकता है. ऐसी शंकाका समाधान इस प्रकार किया जा रहा हैः

श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम्।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम्।।२६।।

जिन भगवानका वक्षःस्थल लक्ष्मीजीका निवासरूप है, जिन भगवानका मुख द्रष्टिओंका पान मात्र है, जिनकी भुजाओंमें लोकपालोंका निवास है और भक्तोंके निवास हेतु चरणकमल हैं।।२६।।

भगवानका कोई भी भाग ऐसा नहीं बचा जो लक्ष्मीजी आदि द्वारा ग्रहण किया हुआ न हो. लक्ष्मीजीने स्वयंकी स्थितिसे और द्रष्टिसे ऊपरके अंग भागोंको ग्रहण कर रखा है. लक्ष्मीजीका निवासरूप भगवानका वक्षःस्थल है और उन्हींकी द्रष्टिसे पान किये जानेका पात्र भगवानका मुखारविन्द है. लक्ष्मीजी भगवान्के स्वरूपमें ही विराजते हैं अतः उनकी स्थिति अलग न होनेसे उनका भोगपना भी नहीं है. इसलिये लक्ष्मीजीके नेत्रोंसे निकलनेवाली द्रष्टिके द्वारा ही वे भगवानको भोगनेवाली हुई हैं. उनके भोगे जानेमें साधनकी अपेक्षा होनी चाहिए! तो वहां लावण्यरूपी अमृत रहता है, वही द्रष्टि द्वारा भोगनेका साधन है. मुखका पानपात्र होना, श्रुतिओंमें सिद्ध किया है. उसमें 'पात्र' शब्दका प्रयोग किया है. द्रष्टियां तो अनेक हैं और पीनेका पात्र एक मुखारविन्द ही है, जिससे लक्ष्मीजीको भी तृप्ति होना बडा कठिन हो है, तो दूसरोंको कैसे तृप्ति हो सकती है?

तो दूसरे अंगोमें द्रष्टिको जोड लेना चाहिए! इसके समाधानमें कहते हैं

कि भगवान्के श्रीहस्त आलिंगन करने योग्य हैं. द्रष्टि द्वारा उनका आलिंगन भली प्रकारसे किया जा सकता है. पर उन भुजाओंको भी तो दूसरे पुरुषोंने आक्रान्त कर रखा है. अतः वहां तक द्रष्टि चली जावे यही कठिन कार्य है. वे पुरुष संख्यामें बहुत होनेसे हटाये भी नहीं जा सकते.

जहां तक स्त्री (लक्ष्मीजी)को ही नहीं हटाया जा सकता, जिसने केवल दो ही स्थानोंको दबा रखा है तो लोकपालोंको कैसे हटाया जा सकता है? लोकोंका पालन करनेकेलिये वे आवश्यक रूप हैं, अनिवार्य हैं.

जब ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं तो नीचेवाले अंगोसे ही अपनी द्रष्टि तृप्त कीजिए! उसका समाधान देते हैं कि मध्यमें जो अंग हैं, वे वस्त्र आदिसे ढंके हुए हैं, इसलिये उनके दर्शन नहीं हो सकते. अब बचते हैं केवल दो चरणोंके दर्शन. उसमें भी त्रिविक्रम (वामन) भगवानने बलि राजाके पाससे तीन लोक लेनेकेलिये त्रिलोकीको नापा था तब एक चरण ऊपरके लोकमें चला था, वह ब्रह्मा आदिने ग्रहण कर लिया. वह चरण उस लोककी स्थिति बनाये रखनेकेलिये वहां ही रहा. वह गङ्गाजीके द्वारा ग्रहण किया होनेके कारण ब्रह्माण्डके छिद्रमें रहता है. यदि वह चरण छिद्रकी आडमें न रहे तो गङ्गाके जलसे ब्रह्माण्ड भर जाय और सर्वनाश हो जाय. अब मात्र एक ही चरण बचा, जिसे बहुतसे लोकोने आक्रान्त कर लिया. वह चरण सारङ्गका तात्पर्य सदाचारवाले तथा कर्मनिष्ठ जनोंसे लिया जाना चाहिए. सर अर्थात् चलनेवाला, चलनेवाले समूहको 'सार' कहा जाता है. रसके समूहको 'सार' कहा जाता है. उस रसके समूहको पान करनेवाले कर्म फलकी इच्छा करनेवाले विषयी पुरुष तथा योगियोंसे समझना चाहिए. जो सारको जान लेता है वह 'सारङ्ग' कहलाता है, इस व्याख्याके अनुसार 'सारङ्ग'का अर्थ भक्त हुआ. इसी प्रकार 'सर' सुदर्शन चक्रका भी नाम है. उससे युक्त होनेके कारण भगवान् 'सार' कहलाते हैं. जो आरोंसे युक्त हो उसे 'सार' कहते हैं, इस प्रकार सुदर्शन चक्र अर्थ हुआ. वह चक्र कालरूप है. कालके भयसे जो जाते हैं अथवा उसका गान करते हैं उन्हें 'सारङ्ग' कहते हैं. ये सब समान भाववाले होनेसे इन सबका एक प्रतिनिधि अर्थ ही शेष रह जाता है. यों तो सारङ्गके अनेक अर्थ हैं परन्तु उन सबका आश्रयरूप एक ही चरणकमल है. वह चरणकमल उन ज्ञानियों, योगियों, कर्मनिष्ठों, भक्तोंका स्थान है, अतः वे उसे छोडकर अन्य स्थान पर नहीं जाते.

'सारंग' शब्दका भ्रमर अर्थ भी होता है. कमलमें रहनेवाले मकरंदको तो भंवरा ही जान सकता है. इसलिये ऊपर कहे गये सब अर्थको भ्रमरमें मानकर उसका तात्पर्य समझना चाहिए. अतः भक्तगण चरणकमलके रसकी इच्छावाले हैं. उन भक्तोंकी द्रष्टियोंको स्वतन्त्र स्थान न मिलनेसे, उनकी तृप्तिका न हो सकना, यह योग्य ही है।।२६।।

इस प्रकार साधारणपनेसे द्वारकापुरी तथा उसमें रहनेवाले भक्तोंका निरूपण करके भगवानका वर्णन विशेषतापूर्वक क्यों नहीं किया गया? ऐसी जिज्ञासा होने पर समाधान देते हैं कि उपमान वस्तु नहीं होनेसे ऐसा वर्णन किया गया. उपमानके अभावमें भी भक्तोंकी बुद्धि द्वारा तो अभूतपूर्व उपमाओं द्वारा वर्णन किया जाता है, इस सिद्धान्तको बतानेकेलिये आगे कहते हैं:

सितातपत्र–व्यजनैरुपस्कृतः प्रसूनवर्षैरभिवर्षितः पथि ।
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ घनो यथार्कोडुपचापवैद्युतैः।।२७।।

भगवान् पर श्वेत छत्र छाया किये हुए है, दोनों ओरसे चमर ढुराये जा रहे हैं, मार्गमें पुष्पोंकी बरसात सी हो रही है. भगवान् श्रीकृष्ण पीले वस्त्र धारण किये हुए हैं. वनमाला धारण किये हुए आप अतिशय सुशोभित लग रहे हैं. इस सारे सौन्दर्यका एकत्रित रूप ऐसा लगता है मानो श्रीकृष्ण सूर्य चन्द्रमा बिजली इन्द्रधनुषसे युक्त मेघ हों।।२७।।

ऊपर श्वेत छत्र है, दोनों बाजुओं पर चमरोंसे पवन किया जा रहा है, चारों ओरसे पुष्पोंकी वृष्टियां हो रही हैं. पीताम्बर धारण किये हुए तथा वनमाला पहने हुए भगवान् श्रीकृष्ण बहुत ही लुभावने लग रहे हैं. पुष्प अनेक जातियोंके हैं अथवा वृष्टि करनेवाले बहुत होनेसे पुष्पकी वृष्टिमें बहुवचन लिखा है. पीताम्बर नित्य है तदपि रूपवाले पदार्थके रूपमें बताया है. उसमें कारण रूपसे पीताम्बरका वर्णन किया है. वनमालासे युक्त हैं. सभी शोभनीय सामग्रियोंके होने पर भी भगवान् अधिक रूपसे शोभित हैं. जैसे कोई नीले रंगवाला मेघ, जिसके ऊपरकी ओर सूर्य हो, दोनों ओर चंचल चन्द्रमा हों, मध्यभागमें बिजलीको जड दिया हो, दोनों ओरसे दो इन्द्रधनुष आकर मिल गये हों, ऐसी अद्‌भूत् शोभासे युक्त भगवान् श्रीकृष्णकी शोभासे कौन समानता करे! यहां भगवान् श्रीकृष्णको अद्‌भूत उपमाओंसे मण्डित किया है. जो बात कभी घटित हुई ही न हो और उसे कवि सत्यके द्वारा घटित कर दिया जावे उसे अभूत

उपमा या अद्‌भूत उपमा अलंकारशास्त्रोंमें कहा है।।२७।।

इस वर्णनकी समाप्तिके बाद सम्बन्धियोंके बढे हुए स्नेहका चित्रण किया जा रहा है:

प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः स्वमातृभिः ।
ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखास्तदा ।।२८।।

अपने माता-पिताके घरमें प्रवेश करते हुए भगवानको माताओंने स्नेहसे लिपटाया. उस समय भगवानने मस्तक नवांकर देवकीजी सहित सात माताओं की वन्दना की।।२८।।

मूलमें 'तु' शब्द है जो पहलेवाले वर्णनकी समाप्ति पर दूसरे वर्णनके प्रारंभ करने हेतु प्रयोगमें लिया जाता है. माता-पिताको एक साथ बतानेवाला शब्द 'पित्रोः' द्विवचनमें आया है; इसलिये मातापनेसे सब माताकेलिये मान लिया है. कारण यह कि माताओंके स्वभाव और धर्म इत्यादि समान हैं. अतः माताओंका और पिता वसुदेवजीका एक ही घर है. अलग घर बनानेका कोई कारण नहीं. कारण यह कि स्त्रियोंके धर्म और स्वभावमें अलगाव हो तो ही अलग-अलग घरोंकी आवश्यकता होती है, वह स्थिति तो यहां है नहीं, अस्तु एक ही घर है.

भगवानने उस घरमें प्रवेश किया. वहां भगवान् द्वारा कुछ किये जानेसे पहले ही माताओं आदिने उठकर उन्हें अपनी स्नेहमयी भुजाओंमें लिपटा लिया. गीताजीमें कह है ''जो मुझे जिस रूपमें समझना चाहता है मैं भी उसकी समझमें उसी प्रकारसे आ जाता हुं''. भगवान् अपनी माताओंकेलिये तो बालक ही हैं. भगवत् धर्मकी अपेक्षा लौकिक व्यवहारके कारण माताओंने भगवान्‌को नमस्कार करके पहले आलिंगन किया. वहां पिताओंकी भी माताएं हैं अतः अपनी माताओंने आलिंगन किया, ऐसा कहा गया. वसुदेवजीके अठारह स्त्रियां थीं. उनमें सात तो देवकी सहित सब बहिनें थीं और ग्यारह अन्य पत्नियां थीं. सगी बहिनोंको एक ही वरकेलिये दे देना प्रायः देखा है. वर और कन्याके स्वभावमें एकता हो तो ऐसा कर दिया जाता है तब उनका पत्नी होना सिद्ध हो जाता है. यदि ऐसा न हो तो उन्हें केवल भार्या पद मिलता है, जिनका कि भरण पोषण ही किया जाता है. यहां देवकीजी आदि सात माताओंको एक ही स्वभाववाला बताया है. भगवानने एकही बारमें सब माताओंकी वन्दना की है. मस्तकसे सबकी वन्दना की है, यह भगवद्

धर्म सिद्ध किया है. कारण यह कि शब्दसे तो सभीको एक ही बारमें प्रणाम किया जा सकता है, पर शरीर द्वारा सातों माताओंका एक साथ वन्दन किया जा सकना संभव नहीं. श्रीकृष्णने स्वयंके भगवान् होनेकी कार्यप्रणालीको प्रकट करते हुए एक ही बारमें सबकी वन्दना की. भगवद्धर्मको सूचित करनेकेलिये ही मूलमें 'तदा' अव्यय दिया है।।२८।।

नमस्कार करनेके बाद भगवानमें बालकपना प्रकट हुआ. बालक पुत्र पर माताओंका जो भाव जागा, उस मनोदशाका वर्णन इस प्रकार कहा है:

ताः पुत्रम् अंकम् आरोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः।।२९।।

स्नेहसे स्तनोंसे दूध झराती, हर्षसे विह्वल आत्मावाली उन माताओंने श्रीकृष्णको गोदीमें बिठलाकर स्नेहके आंसुओंसे सींचा।।२९।।

सभी माताएं श्रीकृष्णको गोदमें पधराकर स्नेहवश स्तनोंसे दूध बहाने लगीं. उस दूधका कोई उपयोग तो था नहीं केवल यह जानकर कि भगवान् बडे हुए, फिर प्रौढ भी हो गये, वे विह्वल अन्तःकरणवाली हो गई. भगवान्के बचपनका जो संस्कार उनके हृदयोंमें जमा हुआ था वह आजकी स्थितिमें भी उतना ही सुद्रढ था. सब माता नेत्रोंसे निकलते हुए हर्षके जलसे भगवान् कृष्णके मस्तकको सींचने लगी।।२९।।

अब भार्याओंकी मनःस्थितिओंका वर्णन किया जाता हैः

अथाविशत् स्वभवनं सर्वकामम् अनुत्तमम्।
प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश।।३०।।
पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहान् उपागतं विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः।
उत्तस्थुरारात् सहसासनाशयात् साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः।।३१।।

समस्त प्रकारके भोग्य पदार्थोंसे भरपूर अर्थात् समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले अपने उस राजभवनमें भगवान् श्रीकृष्णने प्रवेश किया; जिसमें पत्नीओंके रहनेकेलिये सोलह हजार प्रासाद निर्मित थे।।३०।।

विदेशसे घर पर पधारे पतिके दर्शन करके जिनके मनोंमें महान् महोत्सव हुआ है. पतिकी परदेश गमनवाली स्थितिमें जिनने किसी भी प्रकारके अलंकारको धारण न करनेका व्रत ले रखा है, वे पहले तो एकदम आसनके ऊपर खडी हो गईं और तब लजीले नयनोंसे युक्त मुखवाली हो गईं ।।३१।।

एक ही भवनमें विश्वकर्माने चतुराई प्रसिद्ध करनेकेलिये सोलह हजार महलोंकों बनाया. उस भवनकी तुलनामें दूसरा कोई उत्तम स्थान नहीं था. समस्त इच्छा पूर्तियां जिसमें व्यवस्थित हैं. सब प्रकारकी कामनाओंको पूरा करनेवाले पदार्थ जिसमें रखे हुए हैं, ऐसे भवनमें श्रीकृष्णने प्रवेश किया.

जिस प्रकार माताओंमें भगवानने पुत्रपनेसे प्रवेश किया उसी प्रकार अपनी स्त्रियोंमें पतिपनेसे प्रवेश किया, न कि प्रभुपनेसे. अतः उनका पतिके व्यवहाररूपसे साधारणतया जो कार्य हुआ, वह ठीक ही हुआ. दूरसे पतिको पधारे हुए देखकर जिनके मनमें महान उत्सव हुआ. इस प्रकार सब स्त्री पहले तो जो जिस स्थितिमें थी दूरसे ही खडी हो गई है. जब तक वे सावधान नहीं हुई थीं, उनका देह और आत्मा, आसन और चित्त में मग्न थे. हमारे भगवान् पधार आये हैं तो आसन और अन्तःकरणमेंसे उनके देह और आत्मा एकदम बहार निकल आये. परन्तु उन्होंने विशेष अलंकार धारण नहीं कर रखे थे. क्योंकि पतिके बाहर होने पर स्त्रीको गहने नहीं पहनने चाहिए ऐसे व्रतका पालन वे कर रही थीं. तभी सुना कि कृष्ण पधार आये तो शरीरकी मलिनता दूर करनेका तथा गहने पहननेका समय ही नहीं मिला अतः लज्जासे उनकी आंखे मुंदसी गई और मुख नीचेकी ओर झुक गये।।३०-३१।।

उनके द्वारा की गई भगवान्की पूजाका वर्णन किया जा रहा है:

तम् आत्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम् ।
निरुद्धम् अप्यास्रवदम्बु नेत्रयोः विलज्जतीनां भृगुवर्य विक्लवात्।।३२।।

जिनके भावोंका पार नहीं पाया जा सकता ऐसी उन पत्नीओंने घर पर पधारे हुए पति भगवानका पुत्रों द्वारा, द्रष्टि द्वारा और अन्तरात्मा द्वारा परिरम्भण किया(आलिंगन किया). हे शौनक! उन लज्जित होती हुई स्त्रीओंके नेत्रोंमें ठहरे हुए आंसु, आनन्दकी विकलतासे ढुलक पडे।।३२।।

जिस समय भगवान् पधारे उस समयमें सब स्त्री एक बारगी ही उठ खडी हुई. वे शरीर तथा मनसे भगवानको भेंटने लगी. उनके इस भेंटनेके प्रकारको बताया जा रहा है. अपने छोटे-छोटे पुत्रोंको भगवान्के हाथमें अर्पण कर रही है. इस प्रकार पुत्रोंके द्वारा मिल रही है. समीपमें आकर शरीरसे भगवानको भेंट रही हैं तथा कई भगवानकी द्रष्टिसे द्रष्टि मिलाकर आलिंगनका भाव प्रकट कर रही हैं. इस प्रकारके माध्यमोंसे वे चेष्टाओं द्वारा भगवान्से

परिरम्भण करती हैं. कई भगवानमें मनको प्रवेश कराकर आलिंगन करती हैं. उनका मनोरथ आलिंगन करनेमें ही समाप्त हो है. उन्होंने बाहरी कृत्य कुछ भी नहीं किया है. उनके अन्तःकरणके भावोंकी थाह नहीं पाई जा सकती. क्योंकि भाव आन्तरिक(भीतरी) क्रिया है. उसकी समाप्ति पर ही बाहरकी क्रिया प्रकट होती है. भगवान् बहुत समय बाद पधारे हैं, अतः उन स्त्रियोंने मनमें मान धारण कर रखा है. यह मान भगवान् जब तक दूर न करें, तब तक रहनेकी स्थितिमें है. यहां बडा ही अनूठापन हुआ है कि मानकी निवृत्ति होनेसे पहले ही नेत्रोंमेसे आंसु बरस पडे. उन मानवती स्त्रिओंने यद्यपि आंसुओंको रोक रखा है परन्तु रोके जाने पर भी वे कुछ-कुछ ढुलक पडे हैं.

मानवती स्त्रिओंके नेत्रोंसे आंसुओंका निकल पडना योग्य नहीं है, ऐसी बात यदि शौनकजीके मनमें आवे तो उसका निराकरण दिया जा रहा है कि आप भृगुकुलमें उत्पन्न हुए हो. इस सम्बोधन द्वारा उनके वंशके महत्त्वको बताया है. भृगुऋषिने भगवान्के माहात्म्यका अनुभव किया था और उस वंशमें हे शौनकजी आप उत्तम हो. अतः आपकोभी उनके माहात्म्यका ज्ञान है . उनके माहात्म्यसे ही मानवती स्त्रिओंके नेत्रोंसे जल निकलने लगा. उन स्त्रिओंको तो मान रखना चाहिए था पर इसके बजाय उनमें व्याकुलता भर गई।।३२।।

भगवान्के प्रति उन स्त्रीओंका भाव इतनी अधिक मात्रामें बढा हुआ है, यह निरूपण करनेके बाद, जो भगवान्के साथ हमेशा रहते हैं, उनमें भी इस भावके बढे रहनेका आश्चर्य है, अब इस शंकाका निराकरण करते हुए आगे कहते हैं:

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतः तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।
पदे-पदे का विरमेत तत्पदात् चलापि यच् छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् ।।३३।।

यद्यपि भगवान् उनकी बाजूमें ही रहते हैं, उनके साथ एकांतका सेवन करते हैं तथापि श्रीकृष्णके दोनों चरणकमल नये-नये लगते हैं. क्षण-क्षणमें उनके चरणकमलोंसे भला कौन विरामको प्राप्त हो! चंचल होते हुए भी लक्ष्मीजी जिनके चरण कमलोंका त्याग कभी नहीं करती हैं।।३३।।

मानवती स्त्रिओंको रोना उचित नहीं है. मनुष्यको वस्तु न मिलने पर ही रोना उचित है. परन्तु भगवान् तो सदैव पासमें ही विराजते हैं और वो भी एकान्तमें, अतः उनका रोना ठीक नहीं है. इन सब स्थितिओंके बावजूद भी

भगवान्के चरणकमल नये-नये हैं. जिनकी जैसी भावना है भगवानने उसे वैसे ही बरतनेकेलिये कहा है. भगवान्के दोनों चरणकमलोंको हृदयमें पधराना चाहिए, ऐसा उनका अभिप्राय है. संसर्गकी स्थितिमें ही अत्यन्त रसकी उत्पत्ति हो सकती है, तभी वह मनोरथ पूरा हो सकता है. पहले तो भक्तिद्वारा, धर्मद्वारा और लोकद्वारा चरणारविन्दका प्रक्षालन करे, इसके बाद चरणारविन्दकी सेवा करे तब कहीं जाकर पहलेवाला मनोरथ सिद्ध हो. परन्तु भगवान्के चरणारविन्द तो सदैव नवीन हैं. इसलिये चरण कमलोंकी सेवारूप क्रिया करे. वैसा करते करते अपने जन्मकी समाप्ति हो जाय. क्योंकि चरणारविन्दोंके नित्य नवीन होनेसे एक चरणकी सेवाके बाद दूसरा चरण नवीन हो गया. फिर उसकी सेवा करनेके बाद तीसरा नवीन हो गया. इस प्रकार चरणारविन्द बार-बार नया रूप धारण करते हैं और वे उनकी सेवा करते जाते हैं, इस तरह सेवा करते-करते ही उनका जन्म समाप्त हो जाता है. अतः अपना मनोरथ सिद्ध करनेका समय ही नहीं आता, इस प्रकार उनका रोना ठीक ही है. इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि क्षण-क्षणमें नवीन होते इन चरणकमलोंकी सेवा करते-करते भला कोई स्त्री थक सकती है?

मनोरथके पूर्ण न होने पर भी कोई भी किसी भी समय विरामको प्राप्त नहीं होती. अथवा भगवान्के चरणकमल भक्तिरूप होनेसे, भक्तिके विषयरूप उन चरणोंकी पहलेसे की जा रही सेवा ज्यों ही रुकनेको होती है त्यों ही अगला मनोरथ प्रारंभ हो जाता है. इस तरह किसी प्रकारका विराम न पानेसे आगेका मनोरथ सफल नहीं होता अतः इस बातकेलिये रोना ठीक ही है.

इस विषय पर द्रष्टांत दिया जाता है कि लक्ष्मीजी चलायमान हैं तो भी भगवानको छोडती नहीं. जब एक जगहका काम पूरा हो तभी दूसरी जगह जाया जा सकता है, परन्तु प्रभुके चरणकमल हमेशा नवीन होनेसे, चरणकमलके सेवारूप कार्यसे ही लक्ष्मीजी नहीं निपट पाती, इसलिये वे भगवानको किसी भी समय नहीं छोडती।।३३।।

ऊपर बताये गए प्रकारसे लक्ष्मीजीका तथा दूसरी स्त्रियोंका कार्य पूरा न हो सकनेकी स्थितिमें भगवानने उनहें रख छोडा है. परन्तु वे स्त्रियां यह नहीं जानती कि भगवानने स्वयंको भी अपूर्ण कार्यवाला ही बना रखा है. पृथ्वीका भार हटानेके काममें लगे हुए भगवानने एक ही क्रिया द्वारा अधूरे कार्यको समाप्त

कर दिया, यह आगे बताया जा रहा है:

एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मनाम् अक्षौहिणीभिः परिवृत्ततेजसाम् ।
विधाय वैरं श्वसनो यथानलं मिथो वधेनोपरतो निरायुधः।।३४।।

अक्षौहिणी सेनाओंसे बढे हुए तेजवाले भूमिके भाररूप राजाओंको आपसमें लडाकर वैसे ही मार दिया जैसे बांसोमें आग लग जाने पर जंगल नष्ट हो जाता है. जिन भगवानका जन्म भूमिका बोज हटानेकेलिए ही हुआ है, वे इस प्रकार आयुध रहित होकर शांत हो गए।।३४।।

जिस प्रकार स्त्रियां जब एक कार्यमें लगी रहती हैं, तो दूसरे क्षण उनसे कार्य करनेकी प्रार्थना नहीं करनी पडती, वे स्वयं कार्यमें लगी रहती हैं, उसी प्रकार पृथ्वीका भार उतारनेकेलिये उन्होनें प्रथम कार्यका आरंभ किया और उसके पूरे न हो जाने तक अन्तिम रूपसे उसीमें जुटे रहे. जिस प्रकार पहले आगका सम्बन्ध हो जाने पर सबको जलाता हुआ अग्नि तब तक जलानेके कार्यमें लगा रहता है, जब तक सब जलकर खाक न हो जाय. ये भगवान् अद्भूत कर्म करनेवाले हैं, अतः स्वयं उस कर्ममें लगे हुए हैं, परन्तु संसारके दूसरे लोगोंकी तरह ऊपरसे काम करते हुए नहीं लगते.

पृथ्वी पर बोझा बननेकेलिये ही जिन राजाओंने जन्म लिया है या यों कहे कि पृथ्वी पर किसी भी प्रकारसे भार उत्पन्न करना ही जिनका कार्य है और अक्षौहिणी सेनाओंसे घीरे रहनेके कारण जिनका तेज और भी अधिक मात्रामें अथवा दुगने रूपमें बढा हुआ है. ऐसे भाररूप और बढे हुए तेजसे युक्त राजाओंके बीचमें भगवानका क्या कार्य है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवानने उन भाररूप राजाओंमें परस्पर शत्रुताकी भावना पैदा कर दी. वह वैर कोई साधारण वैर नहीं था, उसका सामर्थ्य अग्निकी दाहक शक्तिके समान था. आग जब जलानेका काम प्रारम्भ करती है तो हवा केवल निमित्तरूपसे उसमें सहायक होती है, बाकी तो जलानेका वास्तविक कार्य अग्निका ही है. वह बांसोकी आपसकी रगडसे ही पैदा होती है और उस बांसके जंगलको ही जला डालती है. इस प्रकार भगवानने भी उनमें फूट डालकर आपसमें लडा लडाकर मार दिया. जब तक पृथ्वीका भाररूप राजा जीवित रहे तब तक भगवानको विश्राम नहीं मिला. अग्निकेलिये जिस प्रकार लकडियां आयुधरूप हैं. इस प्रकार युद्धमें एक राजा दूसरे राजाको मारनेकेलिये भगवानका हथियाररूप था. जब सब

राजा मर गये तब भगवान् बिना आयुधवाले हो गए. सबका संहार करनेवाले भगवान् अद्भूत पराक्रमवाले हैं, उनका सब काम समाप्त हुआ।।३४।।

इस प्रकार अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् सबको मारनेवाले हैं. इससे सम्बन्ध रखनेवाला सब कार्य भगवानने समाप्त कर दिया है. इसके बाद भक्तोंका उद्धार करनेवाले भागवत अधिकारियोंके देहको सिद्ध करना बाकी रह है, जिसे बादवाले अध्यायमें कहा जाएगा. बीचमें भगवान्के विरुद्ध-धर्माश्रयपनेका वर्णन करनेकेलिए भगवानकी शृंगार क्रीडाका निरूपण करते हैं:

स एव नरलोकेऽस्मिन् अवतीर्णः स्वमायया।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा ।।३५।।

अपनी मायाके माध्यमसे 'वही' भगवान् प्रकृतिसे नियन्त्रित पुरुषके समान स्त्रीरूपके समुहमें रहकर रमण करने लगे. वही संहार कार्य करनेवाले कालात्मा भगवान् हैं, अतः कालके लक्षण करने योग्य मनुष्योंमें स्वयं मनुष्य रूप धारण करके पधारे।।३५।।

वे ही भगवान् सबका नाश करनेवाले कालरूपसे भी जाने जाते हैं. मनुष्य जो कि कालका भोजन है ऐसी मानव आकृतिमें स्वयं भगवानने अवतार लिया. एक ऐसी प्रणालीसे जिसका रहस्य कोई समझ ही नहीं सकता, अपनी मायाको आदेशित करते हुए जो मारण निमित्त मनुष्यजगतमें पधारे. अपने आपको ऐसा दिखाया जैसे साधारण मानव समाजके वे भी एक अंग हों. वे अत्यधिक सुन्दर स्त्रिओंके मध्यमें उनकी वशीभूतताको प्राप्त हुए, प्राकृत जनोंके समान गति करने लगे. ''जब तक स्वयं रसमें प्रवेश नहीं करेंगे रसके विषयमें जान ही नहीं पायेंगे'' ऐसा कामशास्त्रका सिद्धान्त है. अपने आपमें ही स्थित रूपवाला किसी अन्य पदार्थके रसके विषयमें नहीं जान सकता. अतः रस उत्पत्तिकेलिये आलम्बनका होना आवश्यक होता है. यहां आप सुन्दर स्त्रिओंके बीचमें शृंगाररसकी उत्पत्ति हेतु वशीभूत हुएसे रसकी उत्पत्ति कर रहे हैं ।।३५।।

इस प्रकार भगवान् स्वयंकी इच्छासे ही स्त्रियोंके वशमें हुए हैं. आपने अपनी इच्छासे उन्हें अंगीकार किया है. किसी ग्लानि अथवा दोषके लक्ष्यसे नहीं. न्यायानुसार भगवानने सब स्त्रीके साथ रमण किया है. विषय धर्मके आधीन भगवान् नहीं होते. स्त्रियोंके सम्बन्धमें उनकी विषयगत आधीनता नहीं है, इसीका प्रतिपादन इस प्रकार हैं:

उद्दामभाव–पिशुनामलवल्गुहास–व्रीडावलोक–निहतो मदनोऽपि यासाम् ।
सम्मुह्य चापमजहात् प्रमदोत्तमास्ता यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः।।३६।।

वे स्त्रियां उद्दाम भाववाली अपने श्रेष्ठ मनोहर कपटपूर्ण हास्य तथा लज्जासे अवलोकन द्वारा श्रीकृष्णको विचलित इन्द्रियोंवाला नहीं बना सकीं. जिनमें स्थित कामदेवने मोहको प्राप्त होकर अपना धनुष भी छोड दिया. ऐसी वे उत्तम कोटिकी प्रमदायें भगवानकी इन्द्रियोंमें खलबली न मचा सकीं।।३६।।

वे भगवानकी स्त्रियां यद्यपि बहुत ही समर्थ थीं, तो भी भगवान्के मनको जीतनेमें समर्थ नहीं हो सकी यह बतानेकेलिये उनकी सामर्थ्यका निरूपण करते हैं. उनका भाव सभी सीमा बन्धनोंको तोड चुका था. न उनमें लज्जा ही रह गई थी, न उनमें कोई डर ही बाकी बचा था. इन सब बातोंकी सूचना दे रही है उनकी लुभावनी हंसी. इस हंसीकी सूचनामें एक महत्वपूर्ण शब्द 'पिशुन' भी मिला हुआ है. बिना स्थान देखे, बिना किसी समयका ध्यान रखे जो न बताने योग्य बातको भी जना दे उस व्यवहारको पिशुन कहते हैं. सब स्त्रीके इस उच्छृंखल भावको उनका हास्य प्रकट कर रहा है, इस अर्थमें 'पिशुन' शब्दका प्रयोग हुआ है. यह सब कुछ होते हुए भी वे निर्मल हैं. स्वाभाविकता होनेसे उनमें दोष नहीं है. जिसे वह हास्य सूचन करता है उसकेलिये वह हित करनेवाला है. इसलिये वह हास्य स्वच्छ है. पुरुषके मनका हरण कर लेना उस हास्यकी सामर्थ्य है. इस प्रकार यह हास्य पहले तो अपनी कार्यकी सिद्धिकेलिये सक्रिय हुआ परन्तु जब कार्य हो तो वही लज्जाके रूपमें परिवर्तित हो गया. क्योंकि वे स्त्रियां होकर भी इस कार्य हेतु पहले कार्य प्रारम्भ करनेवाली सिद्ध हुई. बादमें उन्हें लगा कि हम ठगी गई हैं, अतः लजाने लगी. कामदेवने भी अपने हथियार डाल दिये. जो कामदेव सबको मोह उत्पन्न करनेकेलिये ही बना है, वह स्वयं ही मोहित हो है. उस कामदेवने भगवान् श्रीकृष्णकी स्त्रियोंके द्रष्टिबलको जानकर अपने बाण उनके नयन सेनसे छोडे थे और उनका प्रभाव भगवान्के सामने अस्तित्वहीन रहा. कामदेवने सोचा कि जो काम मुझे करना है उसे तो ये भगवानकी स्त्रियां ही करेंगी, तो अपनेको धनुष धारणकी आवश्यकता क्या है? ऐसा मानकर धनुष छोड दिया. ओह, जब मैं मोहित करनेवाला काम ही मोहको प्राप्त हो रहा हूं तो अन्योंके मोहित हो जानेकी बात ही क्या?

कामसे भी कामकी सेना अधिक बलवाली है. भगवानकी स्त्रियां ही

यहां कामकी सेनारूप हैं. भगवान्‌के इन्द्रियरूप मनको अनेक प्रकारके कपट करते हुए भी वे स्त्रियां जीतनेमें समर्थ नहीं हुई. द्रष्टि मात्रसे ही कामदेवको जीत लिया है. हावभावरूपी कपटोंसे भगवानका मन वशमें कैसे किया जा सकता है? क्योंकि भगवान् कामके पितामह हैं. उन वासुदेवसे प्रद्युम्नरूप कामदेव ही उत्पन्न हुए थे. इस रूपमें भगवान् कामके पितामह हुए।।३६।।

इस प्रकार हारी हुई भगवानकी सारी स्त्रियां भगवानको जीतनेमें समर्थ न होते हुए भी अज्ञानसे अपना धर्म भगवानमें आरोपित करती हुई कहती हैं:

तम् अयं मन्यते लोको ह्यसङ्गम् अपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः।।३७।।

उन संग रहित भगवानको भी यह लोक संग करनेवाला मानता है. जन सामान्यकी तरह व्यवहार करता हुआ देखकर यह मानव अपने ही समान भगवानको भी समझने लगा, क्योंकि वह अज्ञानी है।।३७।।

यह लोक भ्रमित है, जो संगरहित भगवानको भी संगवाला मानता है. इस प्रसंगमें लोग स्वयंका द्रष्टांत लेते हैं. भगवान् संगी हैं. 'देवदत्त' (उदाहरण देनेकेलिये दर्शनशास्त्रकी परिकल्पित संज्ञा) के समान विषयवाले चरित्र जैसा अनुमान करके कि जैसे हम लोग विषयोंकी ओर आकर्षित होकर रमण करते हैं, भगवान् भी उसी प्रकार रमण करते होंगे. इसलिये उनको भी विषयोंका संग था, ऐसा मानते हैं.

भगवान् विषयोंको ग्रहण नहीं करते यह बात यह लोक नहीं जान पाता. इस विषयमें वे अपना उदाहरण लेकर भगवान्‌के चरित्रका मुल्यांकन करते हैं. कारण यह है कि भगवान् स्वयंको ऐसा ही प्रदर्शित करते हैं, जिससे कि लोग उन्हें एक मनुष्य मात्र समझे. वास्तविक स्थिति यह है कि भगवान् जो मनुष्यों जैसे कार्य करते हैं, वैसी चेष्टाएं करते हैं वह केवल दुसरोंकेलिये ही करते हैं, स्वयंका उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता. परन्तु सृष्टिके गुणोंसे युक्त उपाधिवाले जीव उस तात्त्विक स्वरूपको समझ नहीं पाते क्योंकि वे 'अबुध' हैं, अज्ञानी हैं. इधर भगवान् भी 'विरुद्धधर्म'का आश्रय लिये हुए लोकव्यवहारमें लौकिक व्यक्ति जैसा अभिनय करते हैं अतएव मनुष्य उन्हें अपने जैसा ही समझ लेनेकी भूल कर जाते हैं.

यह उनका अज्ञान जीवरूप उपाधिके कारण ही है, जिसका आरोपण

उननें भगवान् पर भी कर दिया है अतः वे अज्ञानी हैं।।३७।।

स्वयंको न जान पाना ही अज्ञान है, यह अज्ञानकी क्रिया ही हीनपनेका सम्पादन भी करती है, सामान्यतया जीवमें अज्ञानपना होना स्वाभाविक है. जिस प्रकार मूर्च्छा आ जाने पर व्यक्तिको अपने देह आदिकी स्थितिका कोई बोध नहीं रह जाता वैसे ही अज्ञान होने पर जीवको आत्मस्वरूपका कोई भी ज्ञान नहीं रहता. यह अज्ञान मूर्च्छाके समान दोषको उत्पन्न करनेवाला है. इसी स्थितिसे जीव भगवानमें भी जीवपना मान लेते हैं. हम स्वयं अज्ञानी हैं इसलिए भगवान् भी ऐसे ही हैं यह कहना दूसरोंकेलिए भ्रम उत्पन्न करता है. यह भ्रम ही प्रतारणा है, एक यही ऐसी विवेशता है जिससे जीवमें हीन भावना घर कर गई है, जिससे वह खुद अपने आपके विषयमें धोखेमें पड है. यह छलावेकी स्थिति केवल जीवमें ही रहती हैं. प्रायः यह देखा है कि मुक्त हुए जीव भी लोकमें इस प्रकारका आचरण करते हैं, जिससे लोगोंको उनके विषयमें वास्तविकताका पता न लगे. ऐसा वे इसलिए करते हैं कि कहीं दुबारा सांसारिक बन्धनोंमें न पड जाएं, परन्तु जिन भगवान्के बन्धनमें पडनेकी कोई सम्भावना ही नहीं, वे ऐसा दिखानेका आचरण क्यों करते हैं? ऐसी शंका करके जीवसे स्वयंका विलक्षणपना बताते हुए कहा है कि भगवानका विषयसे सम्बन्ध होना उनके जीवपनेको नहीं बताता:

एतद् ईशनम् ईशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदात्मस्थैः यथाबुद्धिस्तदाश्रया।।३८।।

ईश्वरकी ईश्वरता यही तो है कि प्रकृतिमें स्थित होने पर भी वे सदैव आत्मामें ही स्थित रहते हैं तथा प्रकृतिके गुणोंसे नहीं जुडते. जैसे ईश्वरका आश्रय लेनेवाली बुद्धि प्रकृतिके गुणोंसे प्रभावित नहीं होती (तो ईश्वर वैसे कैसे हो सकते हैं)।।३८।।

विषयके सम्बन्धसे ही जीवपनेकी शंका भगवानमें की जाती है. यह बात एकदम उलटी है. यदि भ्रमसे विषयका सम्बन्ध हो तो जीवपना घटित हो सकता है किन्तु विषयको अपने आधीन रखकर सम्बन्ध किया जाय तो उसमें ईश्वरपने की सिद्धि होती है. जीवपनेके कई कार्य तो पूर्वसेही निश्चित किये गये हैं, वे नियमित कार्य भगवानमें नहीं. जीवपनेके धर्म भगवानको बाधा पहुंचानेवाले नहीं है. मणिमें और मन्त्रादिकोमें जो अलौकिक शक्ति देखनेमें

आती है, वो भगवानकी शक्ति है. इस कारण भगवान् प्रकृतिमें रहे हैं, विषयोमें रमण भी किया है, परन्तु प्रकृतिके गुणोंसे वे जुडे हुए नहीं हैं.

कर्तापनेके वशीभूत हो जाना, अपने स्वरूपको भूल जाना आदि दोषोंको उत्पन्न करना, प्रकृतिके गुण हैं. सामान्यतया ऊपरसे अग्निका स्पर्श करने पर नहीं जलता, ऐसा मानकर कोई यह सोच ले कि हमेशा ही आगसे सम्बन्ध रखूंगा तो भी नहीं जलूंगा तो यह बात केवल भगवानमें ही होती है. ऐसी शंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वे गुण भगवानमें स्वयंके अन्तर्गत रहते हैं, कारण यह है कि भगवान् सबके आश्रयरूप हैं या इसी बातको यों समझ ले कि संयुक्त समवाय सम्बन्ध (नेत्रके साथ संयोगसम्बन्धसे घट रहता है, उस घडेमें घटका रूप समवायसम्बन्धसे रहता है तथा नेत्रके संयुक्तसमवायके सम्बन्धसे घडेके रूपका बोध होता है, यह सम्बन्ध संयुक्तसमवाय कहलाता है)से सदैव आत्मामें ही प्रकृतिके गुण रहते हैं, अतः प्रकृतिके साथ आत्माका संयोग है.

प्रकृतिमें वे गुण समवाय सम्बन्धसे (मिट्टी घडेमें और तन्तु वस्त्रमें समवाय सम्बन्धसे रहते हैं) रहते हैं. यदि वे गुण स्वयंके आश्रयमें अपना कार्य सम्पादन करें तो भगवानका आश्रय करके न रहें. क्योंकि प्रकृतिके गुण भगवानमें अपना कार्य कर सकते होते तो भगवानपना टूट जाता और न उनमें सर्वाश्रयत्व धर्म ही सिद्ध होता. अतः जो गुण उनमें नहीं हैं, वे भी उनमें हैं, ऐसा मात्र भ्रम है. अज्ञानके कारण ही हमें भगवानमें प्रकृतिके गुण दिखाई देते हैं. वे गुण ही भगवानका संगीपना और जीवपना बतलाते हैं, परन्तु नियमसे आश्रय करके रहनेवाले गुण, संगीपना तथा जीवपना नहीं बताते. जैसे कोई किसीका धन या पदार्थ लेनेकी इच्छा करता है तो उसमें दोष उत्पन्न हो जाता है. चोरोंके द्वारा चुराया जाकर अथवा रोगोमें फसकर उसकी दुर्गती होती है. संसारमें इन बातोंको सभी जानते हैं. उसी प्रकार जैसे कुष्ठ रोग संसर्गसे दूसरेको भी लग जाता है और फिर दोषोंकी एक परम्परासी प्रारम्भ हो जाती है, यह लोकसिद्ध बात है. दूसरेका आश्रय लेकर रहनेवाले गुणोंसे ही दूसरोंको दोष उत्पन्न होता है. परन्तु जो सदैवसे अपनेमें ही रहते आये हैं वह अपनेके प्रति दोष उत्पन्न नहीं करते. जैसे अविद्या भगवानका आश्रय करके रहती है वह भगवानमें दोष उत्पन्न नहीं करती. जिस प्रकार राजा दूसरोंकेलिये शस्त्र, पाश आदि रखता है परन्तु अपने समीप रहनेवालोंका कुछ भी बिगाड नहीं करता, उसी प्रकार अविद्या भगवानमें

आश्रय करके रहती है परन्तु भगवानमें दोषोंको उत्पन्न नहीं कर सकती.

भागवत दशम स्कन्धमें अक्रूरजीको भगवानने दर्शन दिये, उस प्रसंगमें कहा है कि ''श्री पुष्टि गिरा कांति कीर्ति तुष्टि इला उर्जा विद्या अविद्या शक्ति और माया द्वारा भगवान् सेवा किये जाते हैं''. एकादश स्कन्धमें भगवान् उद्धवजीके प्रति कहते हैं कि ''विद्या और अविद्या ये दो मेरे शरीर हैं'' इत्यादि वाक्योंमें भगवानका आश्रय करके अविद्या रहती है ऐसा निरूपण है. मति विद्या है, और इसकी सौतके समान बराबरी करनेवाली अमति अथवा अविद्या है. वह अविद्या जिस प्रकार भगवानमें अपना कार्य नहीं कर सकती, उसी प्रकार ये विषय भी भगवानमें कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं कर सकते, यह तात्पर्य हुआ.

श्रीकृष्ण भगवानने उद्धवजीसे ग्यारहवें स्कन्धमें कहा है कि ''हे श्रेष्ठ बुद्धिवाले उद्धव, मेरे अंशरूप जीवको अनादिकालसे ही अविद्याका बन्धन लगा हुआ है और उसका मोक्ष विद्यासे ही होता है''. इस वाक्यसे यह प्रमाणित हो जाता है कि विषय जिसका आश्रय करके रहते हैं, उसमें दोषोका सम्पादन नहीं करते. श्रीकृष्ण अपनी स्त्रिओंमें जो रमण करते हैं, वह रमण तो श्री कृष्णका ईश्वरपना सिद्ध करता है. अविद्या जिस प्रकार जीवको मोहित करनेवाली है उसी प्रकार अज्ञान आदि भी दैत्योंको मोह उत्पन्न करनेवाले हैं. यही कारण है कि भगवान्के स्वरूपको दैत्य नहीं जानते. ''अज्ञानी देवाधिदेव भगवानका अपमान करते हैं'' ऐसा वाक्य है, इस प्रमाणसे भगवानका स्मरण न करने पर जो दोष उत्पन्न होता है उसे दूर करनेकेलिये ही तो सद्धर्मकी उपयोगिता है.

अतः दुष्टोंसे अपना स्वरूप छिपाकर उन्हें छल लेना अथवा भुलावेमें डाले रहना सद्धर्म कहलाता है. सिद्ध यह हुआ कि भगवान् हरि दोषोंसे रहित तथा सारें गुणोंसे भरपूर हैं।।३८।।

इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है कि सभी लोक भगवान्के विषयमें भ्रमित हैं. यहां तक कि जिन लोगोंका भगवान्से नियत सम्बन्ध है वे भी भगवान्के विषयमें भ्रमित हैं. यही बात बताई जा रही है:

तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैणं चानुव्रतं रहः ।
अप्रमाणविदो भर्तुः ईश्वरं मतयो यथा।।३९।।

ज्ञानके साधनरूप शास्त्र जिन ईश्वरको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे मानते हैं उन अपने पतिरूप भगवान्के प्रमाणको न जाननेवाली मूढ स्त्रियां उन्हें एकान्तमें

अपना अनुसरण करनेवाले तथा स्त्रियोंके वशमें रहनेवाले 'स्त्रैण'के रूपमें मान बैठती हैं।।३९।।

अबलाएं ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली क्रियामें समर्थ नहीं होतीं. ज्ञानसे रहित होनेके कारण ही उन्हें मूढ बताया है. भगवान्के विषयमें वे दूसरा ही अर्थ निकालती हैं. जो कार्य भगवान् दूसरोंकेलिये करते हैं, वही हमारे लिये भी करते हैं, ऐसा मानती हैं. अपनी मान्यताको वे स्त्रियां यह कहकर प्रकट करती हैं कि भगवान् स्त्रीलम्पट हैं. मूलमें 'च'कार होनेसे भगवान् स्त्रीओंके वशमें हैं, ऐसा भी वे स्त्रियां मानती हैं. इसका कारण यह है कि जब एकान्त स्थान होता है तो भगवान् उन स्त्रिओंके पास ही बने रहते हैं. उनके ऐसे एकान्तिक स्वभावके कारण उन्हें स्त्रीलम्पट मान लेनेकी मूर्खता कर बैठी हैं. निरन्तर एकान्तमें स्त्रिओंके पीछे लगे रहना ही मानो श्रीकृष्णका व्रत हो ऐसा सब स्त्री मानती हैं.

उन स्त्रिओंका ऐसा मानना उचित ही है. वे स्त्रियां अपने पति भगवानका प्रमाण नहीं जानती. जिस प्रकार अन्धे व्यक्ति केवल स्पर्शके द्वारा हाथीका रूप नहीं समझ सकते. वे जिस-जिस अंगका स्पर्श करते हैं, उसी आकारको हाथीका वास्तविक रूप मान बैठते हैं. कोई अन्धा हाथीको खम्भेके आकारका बताता है, क्योंकि उसके हाथमें पांव आया है, कोई उसे पेटका स्पर्श करनेके कारण कोठीके आकारका समझ बैठता है. इसी प्रकार कानका स्पर्श करनेवाले सूप जैसा, दांतोंका स्पर्श करनेवाला खूंटी जैसा तथा पूंछको छूनेवाला डण्डे जैसा मान लेता है. उस हाथीका वास्तविक आकार तो नेत्रोंसे ही जाना जा सकता है. इसी तरह शास्त्रों द्वारा ही भगवानको जाना जा सकता है. अलग-अलग समयमें भिन्न-भिन्न रीतिसे भगवान् विराजते हों और पृथक-पृथक क्रियाएं करतें हों तो भगवान् समझमें नहीं आ सकते. भगवान् स्त्रिओंके साथ एकान्तमें विराजते हैं, परन्तु भर्ता(स्वामी)की तरह ही रहते हैं. क्योंकि श्रुतिओंमें कहा है कि ''सावधानीपूर्वक स्त्रिओंकी रक्षा करनी चाहिए''. इस प्रमाणसे श्रुतिओंके अर्थका प्रतिपादन करनेवाले भगवान् ही हैं. अतः स्त्रिओंके स्वामी होनेसे एकान्तमें रहना भगवानका स्वभाव है. उन स्त्रिओंकी रक्षा करनेकेलिये ही भगवान् ऐसा करते हैं. परन्तु यह ज्ञान स्त्रिओंको कहां?

इस प्रसंगमें द्रष्टांत दिया जा रहा है कि जैसे ज्ञानके साधनरूप शास्त्रोंको भगवानने ही बनाया है, तो भी अलग-अलग विचारवाले अपने तर्कों

व मान्यताओं द्वारा भगवान्‌के विषयमें अपना मत प्रकट करते हैं, और वे मत भगवानकी द्रष्टिके अनुकूल न होकर अन्यथा अर्थवाले अथवा विपरीत विचारवाले हो जाते हैं. निरीश्वर सांख्यवादी कहते हैं कि ईश्वर है ही नहीं. नास्तिक मतावलंबी भी यही कहते हैं. जैमिनीय मतवाले 'यज्ञ'को ही ईश्वर मानते हैं. वैशेषिक मतवाले न्यायशास्त्रोंमें ईश्वरको केवल कर्ताके रूपमें ही स्वीकारते हैं, जब कि सांख्यमतकी एक शाखा विशेष प्रकारके जीवके रूपमें ईश्वरका अस्तित्व मानती है.

इस प्रकार सब माननेवालेको मूल प्रमाणरूप वेदका ज्ञान न होनेसे अपनी कल्पनासे भगवानका रूप समझमें आता है, ठीक इसी प्रकार भगवानकी स्त्रिओंको भगवान्‌के स्वरूप तथा अभिप्रायका ज्ञान न होनेसे स्त्रीलम्पट कहना पडा।।३९।।

इति श्रीमद्‌भागवत महापुराण, प्रथम स्कन्धके ११वें अध्यायकी
श्रीमद्‌वल्लभाचार्य चरण कृत श्रीसुबोधिनी (संस्कृत टीका)के
'उत्तमाधिकार प्रकरण'का पंचम अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।।११।।

अध्याय १२

राजा परीक्षितका जन्म

एवमैकाग्र्यसिद्धार्थं सर्वं कार्यं निरूपितम् ।
अधुना श्रोतृदेहस्य रक्षणम् विनिरूप्यते ।।का.१।।
यथा वेदान्तविज्ञाने पञ्चाग्नौ देहसम्भवः ।
तथा भागवतज्ञाने ब्रह्माग्नौ बोधसंयुते ।।का.२।।
सर्वलक्षणसम्पन्नः सर्वदोषविवर्जितः ।
बीजसंस्कारसहितः श्रोता भागवते मतः ।।का.३।।

इस रीतिसे एकाग्रता सिद्ध करनेकेलिए सब कार्यका निरूपण किया गया, अब इस अध्यायमें श्रीभागवतके श्रोता परीक्षितके देहकी रक्षाका निरूपण किया जाएगा।।१।।

ब्राह्मण द्वारा फेंके गए ब्रह्मास्त्ररूप अग्निमें जलनेके बाद परीक्षितकी रक्षा की गई, इससे तो पहले ही रक्षा करना ठीक था. जलनेके बाद भगवानने क्यों रक्षा की? वह तो जल ही चुका होगा, न भी जला होगा तो उसमें चेतना किस रूपमें रही होगी? इस शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं कि पंचाग्निमेंसे शरीरकी उत्पत्ति होती है. जिस प्रकार शुद्ध होनेके बाद वेदान्त जाननेका अधिकारी बनता है उसी प्रकार ज्ञान मुक्त ब्रह्माग्निमें देह शुद्ध होनेके बाद भागवतके ज्ञानका अधिकारी बनता है।।२।।

सब लक्षणोंसे युक्त, सब दोषोंसे रहित और बीज अवस्थामें ही जिसका संस्कार हो हो, ऐसे पुरुषको ही भागवतका श्रोता माना है।।३।।

शौनक ऋषिने चौथे अध्यायमें परीक्षितके जन्म आदिके विषयमें प्रश्न किये थे किन्तु प्रसंगानुसार बीचमें दूसरी कथाएं आ गई थीं, अतः शौनक ऋषि फिरसे पहलेवाली कथाको याद दिलाते हुए उसे सुननेकेलिए पूछते हैं:

शौनक उवाच

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा ।
उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाऽऽजीवितः पुनः।।१।।

अश्वत्थामा द्वारा फेंके गए अत्यधिक तेजवाले ब्रह्मास्त्रसे जब उत्तराका गर्भ नष्ट हो रहा था तब ईश्वर श्रीकृष्णने उसे फिरसे जीवित कर दिया।।१।।

आपके वाक्य आपसमें मिल जानेसे ऐसा जाना जाता है कि अश्वत्थामा ब्राह्मण है और उसका फेंका हुआ ब्रह्मास्त्र सफल है, जिससे कि उत्तराका गर्भ नष्ट हो था. श्रीकृष्णने वह गर्भ अपनी सामर्थ्यसे पुनः जीवित कर दिया. पहले किसीकी समझमें न आ सके ऐसी रीतिसे अपनी शक्ति द्वारा बीजमें उसका प्रवेश कराकर जीवित कर दिया. इस समय भी वह बीज ब्रह्मास्त्रसे जल तब फिरसे बीजमें उस परीक्षितका प्रवेश कराकर जीवित कर दिया. इस प्रकार मूलमें लिखे हुए 'पुनः' शब्दका अर्थ हुआ।।१।।

इस प्रकार पिछली घटनाका वर्णन करके अब आगे सुने जानेवाले प्रसंगके विषयमें पूछा जा रहा है:

तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः।
निधनञ्च यथैवासीत् स प्रेत्य गतवान् यथा।।२।।

श्रेष्ठ बुद्धिवाले उन महात्मा परीक्षितका जन्म और कर्म जिस प्रकार हुआ तथा मृत्युको प्राप्त करके जिस प्रकार उनका जाना हुआ, यह सब सुननेकी मेरी इच्छा है।।२।।

वे परीक्षित उत्तम बुद्धिवाले थे, इसलिए उन्हें पहलेसे ही ज्ञान सिद्ध था. वे महात्मा थे, अतः उनके कर्म भी श्रेष्ठ थे, उन कर्मोको आप हमसे कहिये जो जन्म और कर्मसे शुद्ध होता है, उसकी तो मृत्युकी संभावना भी नहीं होती. अतः उनकी मृत्युको तो गर्भमें ही दूर कर दिया है, फिर किस प्रकार उनकी मृत्यु हुई? यह प्रश्न रह जाता है. जिस प्रकार पहलेके जन्ममें उन्हें ज्ञान आदि सिद्ध थे तो भी उन्हें उत्तरामें गर्भका सम्बन्ध हुआ और फिर देहका सम्बन्ध हुआ होगा, ऐसी शंका करके कहते हैं कि वे परीक्षित राजा जिस प्रकार शरीर छोडकर गए, यह बात कहिए. यह शौनकजीके प्रश्नका अभिप्राय है।।२।।

तद् इदं श्रोतुम् इच्छामि गदितुं यदि मन्यसे।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानम् अदाच् छुकः।।३।।

यदि आप कहना उचित समझते हों तो श्रद्धाको धारण किये हुए, सुननेकी इच्छावाले हमसे वही ज्ञानकी बात कहिए जो शुकदेवजीने राजा परीक्षितके प्रति कही थी।।३।।

ऊपर कहे गये अनुसार उनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा उनका परलोकमें गमन किस रीतिसे हुआ, उस विषयमें शास्त्रोंके अर्थका सन्देह होनेसे

सुननेकी इच्छा करता हूं. उस ज्ञानको कहनेमें बहुत समय लगनेसे क्लेश होते हुए भी यदि आप उसे कहना आवश्यक मानते हो तो हम सब भी श्रद्धासे युक्त हुए सुननेकी इच्छा रखते हैं. इच्छासे कहनेवाली बातमें भगवानका चरित्र विद्यमान है ऐसा समझा है. इसीलिए कहा है ''यदि आप कथन करना योग्य समझते हैं'' तो हम सुननेको तत्पर हैं. चाहे वह कथा परीक्षितके जन्म व कर्मसे सम्बन्ध रखती हो या भगवान्के अतिरिक्त अन्य किसीकी कथा हो तो भी भगवान्के भक्तकी कथा तो है ही अतः उसे सुननेमें हमारी श्रद्धा है. यदि परीक्षित भगवदीय न होते तो जो ज्ञान शुकदेवजीने उन्हें दिया है उसे न देते. उस ज्ञान दानकी सम्भावना तक न होती. परीक्षित भगवदीय हैं अतः उनका चरित्र हमसे कहिए।।३।।

परीक्षितका जन्म निरूपण करना है, इसलिए उनका वंश, देश व कालकी उत्तमता पौराणिक सूतजी तीन श्लोकोंसे कहते हैं:

सूत उवाच

अपीपलन् महाराजः पितृवद् रञ्जयन् प्रजाः ।

निस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादानुसेवया ।।४।।

श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंकी सेवासे सब विषयोंसे निस्पृह हुए और पिताके समान प्रसन्न रखनेवाले राजा युधिष्ठिरजी प्रजाका पालन करने लगे।।४।।

राजा युधिष्ठिर प्रजाका पालन करने लगे हैं. स्वधर्मका पालन करनेसे और विष्णु भगवानकी भक्तिसे सब व्यक्ति महान् बन जाता है. इससे अतिरिक्त महान् नहीं बना जा सकता. विषयोंमेंसे तृष्णा चली जाय, यह स्थिति प्रभुकी सेवाकेलिये भक्तिको सूचित करती है. उसमें भी प्रजाका पालन करना तो राजाका धर्म है.

धर्मराज पिताके समान प्रजाका आनन्द बढाते हैं, ऐसा कहा है. वे युधिष्ठिरजी ज्ञान सहित राज्य करते हैं यह बताया है. यदि वे ज्ञानवाले न हों तो सबमें भगवानकी द्रष्टि न होनेसे प्रजाका रंजन नहीं हो सकता.

राजा युधिष्ठिर इच्छा रहित हो गये हैं, ऐसा कहकर उनकी निरपेक्षता बताई गई है. श्रीकृष्ण भगवानकी सेवाका तत्त्वज्ञान सब प्रकारसे हो जाने पर शास्त्रोंके अनुसार जो भजन होता है, वही कारणरूप है. इसलिए श्रीकृष्णके

चरणकमलोंकी सेवा युधिष्ठिरने सब प्रकारसे की है ऐसा बताया है. क्योंकि उन्हें शास्त्रानुसार फल मिला है. अतः विषयोंमें उनका वैराग्य हो है. भगवानकी सेवाके साथ सब स्थल पर उनका भाव भगवन्मय बन है. यह श्रीकृष्णकी सेवा करनेका फल है.

यह निरूपण करनेका अभिप्राय यह है कि राजा युधिष्ठिर उत्तम होनेसे उनका राज्य, वह समय और उनका वंश भी उत्तम है. राजाके धर्मके अनुसार ही सब प्रजा धर्म करती है. उनके राज्यमें सब स्थान पर श्रीकृष्णकी सेवा ही फैली हुई है, इसलिए वह देश उत्तम है. ज्ञान, भक्ति और कर्म रूप धर्म भी उस समय विद्यमान होनेसे वह काल उत्तम कहा है।।४।।

युधिष्ठिरको वैराग्य कैसे हो गया? क्योंकि राज्य और वैराग्य में तो विरोध है. ऐसी शंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं कि युधिष्ठिरका वैराग्य साधनरूप नहीं है अपितु भक्तिसे भरा हुआ है. वैराग्य तो भक्तिके साथ आनुषंगिक (पीछेसे जुडा हुआ) है, ऐसा निरूपण किया जा रहा है:

सम्पदः क्रतवो विप्रा महिषी भ्रातरो मही।
जम्बूद्वीपाधिपत्यं च यशश्च त्रिदिवं गतम्।।५।।
किं तेऽकामाः सुरस्यार्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे।।६।।

हे ब्राह्मणों ! समृद्धि, यज्ञ, पट्टरानी, पृथ्वी, जम्बूद्वीप पर सर्वोपरि शासन और स्वर्ग तक हुआ यश और देवताओं द्वारा भोगे जाने योग्य विषय युधिष्ठिरजीने नहीं चाहे. कारण यह कि राजा युधिष्ठिरका मन मुकुन्द भगवानमें लगा हुआ था. जिस प्रकार भूखे मनुष्यको स्त्री आदि विषयका आनन्द नहीं दे सकती, उसी प्रकार युधिष्ठिरका मन भगवानमें होनेसे वे विषय उन्हें आनन्दित करनेवाले सिद्ध न हो सके।।५-६।।

राज्य, धन और घोडे आदिकी सम्पत्ति राजा युधिष्ठिरके पास बहुत है तथा उन्होंने राजसूय यज्ञ आदि भी किये हैं. यहां 'हे विप्राः' यह सम्बोधन दिया है, वह इस विषय के प्रमाणकेलिये है. द्रौपदी युधिष्ठिरकी पट्टरानी है, भीम आदि भाई हैं, सारी पृथ्वीका राज्य उनके पास है. राजा होनेके कारण शास्त्रानुसार उन्हें पृथ्वी प्राप्त हुई है. उनके पराक्रमसे सब स्थान पर उनकी सत्ता फैली है. इस प्रकार वे शास्त्रानुसार राजा तथा पौरुषके कारण अधिपति बने हैं,

यही राजा व अधिपतिपनेमें भेद है. अर्जुनने तो इन्द्र पर भी उपकार किया है, अतः उनका यश स्वर्ग तक चला है. ये समस्त विषय भगवानकी कृपासे उनकेलिये सिद्ध हुए हैं. इसलिए यह कहा है कि युधिष्ठिरने उन विषयोंको नहीं मांगा. वे विषय तो राजाके हृदयमें भी नहीं आए, यही कारण है कि उन विषयोंकी बात छिपे रूपमें कही गई है. सच कहा जाय तो वे विषय देवताओंके योग्य हैं. मनुष्य चाहे उनकी इच्छा रखे, पर भगवान्के भक्त विषयोंको नहीं चाहते. जो बहुत इच्छा करता हो, जिसे बहुत प्राप्त हो हो उसे यदि तुच्छ विषयोंकी प्राप्ति हो तो वह उनकी इच्छा नहीं करता.

युधिष्ठिरजीका मन मुकुंद भगवानमें लगा हुआ है, अतः जिनका मन मोक्षमें हो उनकी विषयोंमें इच्छा नहीं रहती. जिसका मन मोक्षको देनेवाले भगवानमें लगा हुआ हो उन भक्तोंको विषयोंसे क्या?

यहां 'द्विजाः' सम्बोधन प्रमाण बतानेकेलिये है. मोक्षमें लगे हुए मनवालेको विषय अच्छे नहीं लगते इस बातको वे द्विज भली प्रकार जानते हैं. अतः समस्त सम्पत्तियां राजा युधिष्ठिरको आनन्दित नहीं कर सकीं. वे विषय युधिष्ठिरजीमें आसक्ति, मोह आदि उत्पन्न नहीं कर सके. जिस प्रकार भुखे मनुष्यमें स्त्री आदि अपने धर्म विषय आदिको उत्पन्न नहीं कर सकती, उसी प्रकार मोक्षको देनेवाले भगवानमें युधिष्ठिरका मन लगा होनेके कारण सम्पत्ति आदि विषय उन्हें आनन्द नहीं दे सकते।।५-६।।

इस प्रकार राजा युधिष्ठिरका माहात्म्य कहकर, उनके वंशमें उत्पन्न राजा परीक्षितका स्वभाव भी इतना ही उत्कृष्ट था यह बतानेकेलिए अब उनका माहात्म्य बताया जा रहा है:

मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन।
ददर्श पुरुषं कञ्चिद् दह्यमानोऽस्त्रतेजसा।।७।।

हे शौनक! माताके गर्भमें स्थित उस वीरने ब्रह्मास्त्रके तेजसे जलते समय किसी पुरुषको देखा।।७।।

मूलमें 'मातुः' और 'गर्भगतः' ये शब्द अलग-अलग हैं जिसका कि अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार घरमें मनुष्य अलग-अलग प्रकारसे रहते हैं उसी प्रकार माताके गर्भमें परीक्षित अलग ही प्रकारसे रहते हैं अतः उन्हें गर्भमें जानेका क्लेश नहीं हैं, यह बताया है. वे गर्भकी स्थितिसे पहले ही ज्ञान आदिसे युक्त हैं.

गर्भमें तो वे केवल आये हैं. वे वीर हैं, ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि वे बन्धनमें बंधे हुए नहीं है अत्युत पराक्रम सहित रहते हैं. कारण यह है कि उनके ऊपर साक्षात् परब्रह्मकी द्रष्टि होनेसे देवताओंने भी उन्हें बन्धनमें नहीं बांधा. क्योंकि गर्भको तो रस्सी द्वारा देवता बांधते हैं. यद्यपि ऐसी प्रसिद्धि बहुत अधिक नहीं है, तो भी ''राजाके उत्पन्न होते ही देवता डरने लगे'' ऐसा तैतरीय श्रुतिमें कहा है. वहां भय होना लिखा हुआ है, अतः बन्धन घट सकता है. इस विश्वासको दृढ करनेकेलिये मूलमें 'भृगुनन्दन' सम्बोधन दिया है.

जब वे ब्रह्मास्त्रके तेजसे जल रहे थे तब उसकी जलनको कुछ भी न गिनते हुए एक पुरुषके दर्शन कर रहे थे. भगवान् सब कार्य सिद्ध करके, सब दैत्योंका प्रवेश न होने देनेकेलिये परीक्षितके रक्षार्थ सब तत्त्वोंको साथ लेकर पेटमें प्रवेश करके भ्रमण करने लगे. प्रभु उसकी रक्षा कर रहे हैं, अपना यह उपकार बतानेकेलिये वे अपने स्वरूपका दर्शन दे रहे हैं.

वेदोंमें जितने रूप प्रसिद्ध हैं उसमें जिस प्रथम रूपकी भावना भी नहीं की जा सकती उस रूपसे भगवान् प्रकट हुए हैं. परीक्षित गर्भमें ब्रह्मास्त्रसे जल रहे थे, यह उनका तप है, और उनकी वीरता स्वधर्म है. तप और स्वधर्मसे युक्त परीक्षितने भगवान्के दर्शन किये. ''जिसको तपका अनुभव नहीं होता वह अपक्व(कच्चा) कहलाता है. ऐसा व्यक्ति पुरुष पदको प्राप्त नहीं कर सकता'' ऐसा श्रुतिओंमें कहा है. अतः ब्रह्मास्त्रसे जलना परीक्षितका तप है, उससे उन्हें भगवान्के दर्शन हुए. गर्भमें दिखाई दिये भगवान्के स्वरूपका वर्णन न किये जा सकनेके कारण उन्हें 'कोई पुरुष' कहकर सम्बोधित किया है. परीक्षितने 'किसी पुरुष'को देखा, ऐसा कहा है।।७।।

अब उस रूपका वर्णन किया जा रहा है:

अङ्गुष्ठमात्रम् अमलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्।
अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससम् अच्युतम्।।८।।
श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम्।
क्षतजाक्षं गदापाणिम् आत्मनः सर्वतोदिशम्।
परिभ्रमन्तम् उल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः।।९।।

अंगूठे जितने, शुद्ध, प्रकाशमान स्वर्णके मुकुटवाले, सुन्दर दर्शनवाले, श्याम वर्ण, बिजलीके जैसे पीले वस्त्र पहिने हुए, अच्युत, शोभायमान और

लम्बे चार श्रीहस्तवाले तपे हुए स्वर्णके कुण्डल धारण किये हुए, रक्तिम नेत्रोंवाले, श्रीहस्तमें गदा धारण किये हुए, अपने चारों ओर उल्का जैसी गदाको बार-बार घुमाते हुए भगवान्के दर्शन परीक्षितने किये।।८-९।।

''भगवानका स्वरूप अंगुष्ठ परिमाणवाला है, वे परपुरुष अंगूठेका सब प्रकारसे आश्रय करके रहते हैं. वे सबके स्वामी हैं, सारे जगत्के प्रभु है और सारे जगत्के भोगनेवाले हैं. वे प्रभु सभीको आनन्द प्रदान करते हैं'' ऐसा वेदोंमें कहा है. जो अंगुष्ठ मात्र हैं, वह ब्रह्मरूप हैं, अतः अतीव स्वच्छ हैं. गर्भमें रहते हों तो मलसम्बन्ध होनेकी संभावना होती है. उसे दूर करनेकेलिये कहा है कि भगवानने तपे हुए स्वर्णके कुण्डलोंको धारण कर रखा है, इससे उनका ऐश्वर्य बताया है. उन प्रभुका दर्शन बहुत ही सुन्दर है, इसीलिए स्त्रिओंको सुन्दर पुरुष प्रिय लगता है, ऐसा श्रुतिओंमें कहा है. सुन्दरताकी परीक्षामें सब स्त्रीको सुन्दर लगे, यही सुन्दर होनेकी कसौटी है. अतः सब स्त्रीओंको जिनका दर्शन सुन्दर लगता है, ऐसे वे प्रभु सबको सुन्दर लगते हैं, इसलिए वे लक्ष्मीजीके भी आश्रयरूप हैं. वैष्णव सिद्धान्तसे सिद्ध भगवानका श्याम स्वरूप है, जिससे भक्तोंके आश्रयरूप भगवान् हैं, ऐसा बताया है. बिजली जैसे वस्त्र बताकर यह कहा है कि वे कालकी वृष्टि करनेवाले प्रभु हैं. प्रभु अच्युत हैं इसलिए परिभ्रमण करते हैं, फिर भी समस्त देशसे सम्बन्धवाले हैं, अथवा शंख और चक्रादिके साथ हैं जिससे उनकी रक्षा करनेकी सामर्थ्य प्रकट होती है.

भगवान्के चार श्रीहस्त लम्बे और शोभायमान हैं. सूक्ष्म स्वरूपमें आकार भली प्रकार स्पष्ट नहीं होता, ऐसी किसीकी शंका हो इसलिए भगवानकी लम्बी चार भुजाएं हैं, यह कहा है. उन्हें घुटनों तक लम्बी भुजाओंवाला बताया है. चारों पुरुषार्थ देनेकेलिये चार भुजाओंसे दर्शन दिये हैं. चारों पुरुषार्थोको देने आदिकी क्रिया गति तक बताई है. यही बात बतानेकेलिये श्रीहस्तकी लम्बाईके विषयमें कहा है. क्रिया और गति लक्ष्मीजीके साथ हो, तब ही कार्यकी सिद्धि होती है. यह बतानेकेलिये 'श्रीमद् दीर्घ चतुर्बाहुम' (लक्ष्मीजी युक्त चार लम्बे हाथोंवाले) कहा है. जिससे वे लोक तथा परलोकके फलोंको प्रदान करनेवाले हैं यह सूचित किया है. तपे हुए स्वर्णके रंगवाले दो कुण्डल हैं. अर्थात् सांख्य और योग ही दो कुण्डल हैं. अतः सब विद्याको प्रदान करनेवाली स्थिति उस स्वरूपमें विद्यमान है. तपे हुए स्वर्णकी उपमा देनेका

अभिप्राय यह है कि क्लेशसे ताप होता है और उसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है.

प्रभु रुधिर जैसे लाल नेत्रोंवाले हैं, ऐसा कहकर बाधकरूप ब्रह्मास्त्रको दूर करनेकेलिये सहज क्रोधको प्रकट किया है. इससे भक्तोंकी रक्षा करनेमें प्रभुकी आसक्ति बताई है. प्रभुका उग्रपना बताकर उनकी सावधानी सूचित की है.

भगवान्के श्रीहस्तमें गदा है. बारहवे स्कन्धमें कहा है कि ''मनकी शक्ति, इन्द्रियोंकी शक्ति और शरीरकी शक्ति युक्त मुख्य तत्त्वरूप गदाको भगवानने धारण कर रखा है''. वह गदा आसन्य प्राणयुक्त है यह सिद्ध किया है. इससे प्राण जानेके भयका अभाव बताया है.

वायुमें तेजकी उत्पत्ति होनेसे तेजका लय वायुमें होता है. तेजका ग्रास करनेमें वायुतत्त्व ही सक्षम है, अतः ब्रह्मास्त्रके तेजका ग्रास करनेकेलिये वायुरूपी गदाको भगवानने धारण किया ताकि बढे हुए तेजको वह वायु-गदा शान्त कर दे. भगवानने ऐसा निश्चय करके श्रीहस्तमें गदाको धारण किया. भगवानकी गदा चौतरफ फिरती हुई ''सर्वत्र मैं ही मैं हूं, मैं ही रक्षा करता हूं'' ऐसा सन्देश जीवको देती है.

यहां यह एक विशेष बात बताई गई है कि जिस प्रकार आकाशमें चमकते तारों (उल्काएं)की प्रकाश रेखाए गिरती हैं, वैसी तेजस्वी गदाको भगवान् फिरा रहे हैं. तेजमें अपने कारणपनेको बताती हुई वह गदा अपने अन्दर रहनेवाले तेजको प्रकट कर रही है, वह उल्काके समान दिखाई देती है. गदाको लगातार फिराते रहनेका आशय यह है कि वे दैत्योंका निवारण कर रहे हैं. अपनी गदासे ब्रह्मास्त्रके तेजका नाश कर रहे हैं।।८-९।।

इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है?

अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः।
विधमन्तं सन्निकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ।।१०।।

जिस प्रकार सूर्य ओसको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार अपनी गदा द्वारा वे प्रभु ब्रह्मास्त्रके तेजको दूर कर रहे थे. ऐसे उन भगवानको, ये कौन है? इस प्रकार वे परीक्षित चारों ओर देखने लगे।।१०।।

अपनी गदासे भगवान् ब्रह्मास्त्रके तेजका नाश कर रहे हैं. इसलिए कि उस गर्भके जन्म तक ब्रह्मास्त्र रहे, तो गर्भके बाहर निकलने पर वह अशुभ और

मलयुक्त होनेसे दैत्यका बल बढ जाये अथवा उसको जलाकर ही नष्ट कर दे, अतः अपने ही स्वरूपसे नाश करते हैं. अग्निकी तरह नाश करने पर भी उसका अंशरूप भस्म तो रह ही जाय, अतः वह भस्म भी न रहे, इस कारण स्वरूपसे उसका नाश करते हैं. यह बतानेकेलिये द्रष्टांत देते हैं कि जिस प्रकार सूर्य ओसको मिटा देता है उसी प्रकार प्रभुका स्वरूप ब्रह्मास्त्रका नाश कर देता है. उस गर्भको जब प्रभुका दर्शन हुआ तो ब्रह्मास्त्रका नाश करते हुए हुआ.

वे अत्यधिक निकट हैं, यह कहकर उन पर स्नेह बताया है. बिलकुल पासमें दर्शन करते हुए कि ये कौन हैं, ऐसी जाननेकी इच्छा परीक्षितको हुई. उन्हें समझनेकेलिये परीक्षा की और यह विचारपूर्वक जान लिया कि ये सदैव रहनेवाले हैं, और वही मेरे अनुभवमें आ रहे हैं. ये कृत्रिम (बनावटी) नहीं है, जैसे कभी मायामय रूपसे दिखाई देते हैं, ये वैसे नहीं हैं।।१०।।

इस तरह सब कार्य करके परीक्षितकी रक्षा करनेमें भगवानका जो अभिप्राय था उसके सिद्ध हो जाने पर, मध्यमें उनके द्वारा राज्य आदिका भोग सिद्ध करनेकेलिए वे अन्तर्धान हो गए ऐसा कहा जा रहा है:

विधूय तद् अमेयात्मा भगवान् धर्मगुब्विभुः ।
मिषतो दशमास्यस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः।।११।।

जिनका स्वरूप सीमामें नहीं आ सकता, ऐसे धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ भगवानने ब्रह्मास्त्रके तेजको नष्ट कर दिया तथा दस महीने तक गर्भ द्वारा दर्शन किये जाते हुए वहां ही स्वयंमें अन्तर्हित हो गए कारण यह कि प्रभु भक्तके दुःखोंको दूर करनेवाले हैं।।११।।

उस ब्रह्मास्त्रके तेजको नष्ट करके भगवान् अन्तर्धान हो गए तब परीक्षितने किस लिए उन्हें नहीं रोके रखा? ऐसा कोई कहे तो उसका समाधान है कि जब भगवानका स्वरूप मनको भी पकडमें नहीं आ सकता तो उसे कौन रोके रख सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं रोक सकता. वे प्राकृत नहीं हैं यह बतानेकेलिये 'भगवान्' शब्दका प्रयोग किया है. परीक्षित द्वारा धर्मकी रक्षा करानी है इसलिए भगवान् अन्तर्धान हो गये.

उस गर्भकी रक्षा करने मात्रसे ही सब कार्य कैसे सिद्ध हो जायेगा? ऐसी शंकाका उत्तर देते हैं कि वे भगवान् सब कुछ करनेमें समर्थ हैं. भगवानकी जैसी इच्छा होती है वैसा ही करते हैं. दस महीने तक भगवान् गर्भमें विराजकर फिर

अन्तर्हित हुए हैं. अथवा जब उस गर्भको दस महीने व्यतीत हो गये तब भगवान् अन्तर्हित हुए. उस गर्भके देखते-देखते प्रभु न दिखाई देनेवाले हो गये. इसलिए भगवान् किसी दूसरे स्थान पर पधार गये, इस शंकाको दूर किया है. भगवान् वहां किसी दूसरी जगहसे नहीं आये, बल्कि वहीं प्रकट हुए थे, यह बतानेकेलिए वहां ही गायब हो गये ऐसा कहा है.

परीक्षित जो शुकदेवजीके ही बराबर हैं, परन्तु उन्हें पूर्ण ज्ञान हो जाता तो वे भी जन्म लेते ही घर छोडकर चल देते और इससे उनके बन्धुओंको दुःख होता, अतः भगवानने परीक्षितको प्राकृत जैसा ही बनाये रखा. यह बतानेकेलिए कहा है कि भगवान् हरि हैं, अतः भक्तोंके दुःखोंका हरण करनेवाले हैं ।।११।।

इस तरह भगवानकी कृपाको प्राप्त करके मुख्य अधिकारीके देह द्वारा महापुरुषपना बतानेकेलिए मुख्य कालमें परीक्षितका जन्म हुआ यह बताया जा रहा है:

ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा।।१२।।

इसके बाद सब गुणोंके फलोंको प्राप्त करनेका समय आया और उसमें अनुकूल ग्रहोंका उदय हुआ. उस समयमें पाण्डुके वंशको धारण करनेवाला, मानो मनकी शक्तिसे दूसरा ही पाण्डु उत्पन्न हुआ हो, इस प्रकार परीक्षितका जन्म हुआ।।१२।।

अन्तमें जब गुणोंके फल-उदयका समय आया, तब परीक्षितका जन्म हुआ. कालके बहुत गुण हैं, वे कभी उपकार करते हैं और आगे आनेवाले समयमें भी वे उपकार करेंगे. इसलिए अनुकूलताके साथ उस समयमें ग्रहोंका उदय हुआ. उन ग्रहोंके फलसे बालकके भविष्यफलको भी जाना जा सकता है, ऐसा कहा है. वे परीक्षित वंशको धारण करनेवाले हैं. इससे उनके आगे पुत्र होगा, ऐसा जनाया है. पाण्डु राजाका वंश नष्ट हो ही था, इस गर्भ द्वारा ही वंशकी रक्षा हुई. ऐसा नित्य सापेक्ष होनेसे, असमर्थ पदका समास किया है. पाण्डुसे पहले धृतराष्ट्र उत्पन्न हुए थे, वे अन्धे थे. पर अन्धेको कोई कार्य करनेका अधिकार नहीं होता है, अतः धृतराष्ट्र राज्य करनेके योग्य नहीं थे. राज्यकेलिए योग्य पुत्र होनेकी कामना थी, अस्तु मानो पाण्डु राजाका ही इस रूपमें पुनः जन्म हुआ हो. पाण्डवोंका भगवान्के साथ जाना भी जरूरी था,

अतः पृथ्वी पर राजा होना चाहिए इसलिए परीक्षितका जन्म हुआ. जिस प्रकारका ओजबल पाण्डु राजाका था वैसा ही परीक्षितमें है ।।१२।।

जन्म हो जाने पर उससे सम्बन्धित प्रासंगिक कार्योंको कहते हैं :

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः ।
जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम्।।१३।।

प्रसन्न मन हुए राजा युधिष्ठिरने धौम्य और कृपाचार्य आदि ब्राह्मणोंसे मंगल सूचक स्वस्तिवाचन कराते हुए परीक्षितका जातकर्म संस्कार करवाया ।।१३।।

यद्यपि गर्भ सम्बन्धसे अथवा बीज सम्बन्धसे बालकमें कोई पाप नहीं है, तदपि जातकके निमित्तसे बालकका संस्कार किया जाना चाहिए. इस पक्षका आश्रय करके, अडतालीस संस्कारोंका निरूपण करनेके अन्तर्गत जातकर्म संस्कार भी आ जाता है, उसका निरूपण किया जाता है.

राजा युधिष्ठिरका पट्टाभिषेक हुआ है, अतः वे स्वयं इस कर्मको नहीं कर सके इसलिए ब्राह्मणोंसे यह कर्म करवाया. धौम्य ऋषि पाण्डवोंके पुरोहित हैं और कृपाचार्य परंपरासे राजकुलमें सम्मानित हैं. इसी प्रकार कई ब्राह्मणोंने बालक परीक्षितका जातकर्म संस्कार कराया. उस संस्कारमें पुण्याहवाचन भी किया गया।।१३।।

जन्मके समयका उत्सव वर्णन किया जा रहा है:

हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान् नृपतिर्वरान् ।
प्रादात् स्वन्नञ्चविप्रेभ्यः प्रजातीर्थे सतीर्थवित् ।।१४।।

तीर्थके स्वरूपको जाननेवाले ब्राह्मण जिनके साथ हैं, ऐसे राजा युधिष्ठिरने पुत्र जन्मरूप तीर्थमें ब्राह्मणोंको सोना, गाय, भूमि, गांव, हाथी, घोडे, इच्छित वस्तुएं तथा बहुत सा अन्न प्रदान किया।।१४।।

आजीविका चलने जितनी भूमि ब्राह्मणोंकेलिये दानमें दी गई. जिसने जिस वस्तुकी चाहना प्रकट की, उसे वही वस्तु दी गई. गेहूं आदि अन्नोंके भण्डार मुक्त कर दिये गये. ये सभी दान पुत्रके जन्मरूपी तीर्थमें दिये. पुत्रजन्मके समय ''देवता तथा पितर वहां प्रसन्न होकर आते हैं'' ऐसा वाक्य होनेसे सब देवता वहां उपस्थित हैं, अतः उसे प्रजातीर्थ कहा है.

वैदिक कर्ममें ज्ञानसे ही फल उत्पन्न होता है. यहां पुत्रजन्मको तीर्थ

मान लिया जाना प्रसिद्ध अर्थके अन्तर्गत कैसे हुआ? क्योंकि उसका कोई फल नहीं. इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि तीर्थके स्वरूपको जाननेवाले ब्राह्मण उनके साथ थे, अतः उनके अनुसार राजा युधिष्ठिरने सब कार्य सम्पन्न किये ।।१४।।

अब अधिक सन्तोष उत्पन्न करनेकेलिए ज्योतिष सम्बन्धी बातें कही जा रही है:

तम् ऊचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयानतम् ।
एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ कुरूणां पौरवर्षभ ।।१५।।
दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थाम् उपेयुषि ।
रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना ।।१६।।
तस्माद् नाम्ना विष्णुरात इति लोके बृहच्छ्रवाः ।
भविष्यति न सन्देहो महाभागवतो महान् ।।१७।।

विनयशील राजा युधिष्ठिरसे प्रसन्न हुए ब्राह्मण कहने लगे कि हे पुरुवंशमें श्रेष्ठ, कुरुवंशकी प्रजामें (जिसके बचावका) तन्तु मात्र भी उपाय नहीं था, दैवसे जो गर्भ मरणको प्राप्त हो रहा था, तब तुम्हारे ऊपर कृपा करनेकेलिए ही अत्यन्त प्रभाववाले विष्णुने उस गर्भकी रक्षा की. तुम्हारा यह पुत्र जगत्में बहुत बडे यशवाला, भगवानका महान् भक्त और 'विष्णुरात' नामसे प्रसिद्ध होगा इसमें किसी भी प्रकारका सन्देह नहीं।।१५-१७।।

इस बालकमें दो प्रकार के उत्कर्ष हैं: भगवान्के द्वारा किया तथा कालके द्वारा किया गया. भगवान्के द्वारा किये गये उत्कर्षके अन्तर्गत वहां सर्वज्ञ वसिष्ठ आदि ब्राह्मण, जो दानको प्राप्त कर बहुत सन्तुष्ट हुए हैं; विनयसे नम्र हुए राजा युधिष्ठिरके प्रति उस रहस्यका वर्णन करते हैं. 'एष' कहकर पहलेसे ही परीक्षितके उन गुणोंकी ओर निर्देश कर दिया है जो कि आगे बताये जाने हैं. जिस प्रकार(ज्योतिष विद्याके आधार पर पहलेसे ही) यह बता दिया जाता है कि यह स्त्री सोमवल्लीको बेचनेवाली है, उसी प्रकार इस बालक परीक्षितके विषयमें भी कहा जा रहा है. इस अर्थको बतानेकेलिये मूलमें 'हि' अव्यय दिया है. राजा, बालक और वंशमें उत्पन्न हुए अन्य लोगोंका निर्देश करके कहा जा रहा है कि इस प्रजातन्तुमें अर्थात् पुत्रादि रूप वंशमें ये परीक्षित उत्पन्न हुए हैं, जिनकी रक्षा भगवानने की है. कुरुराजाके वंशमें यह बालक हुआ

है. कुरुराजाके भगवदीय होनेसे उनके वंशकी समाप्ति होना योग्य नहीं है. मुख्यके नामसे ही वंश गिना जाता है, बहुत दूरके पुरुषके समाप्त होने पर भी मुख्यके नामसे ही समाप्ति कहलाती है.

यहां 'पौरवर्षभ' सम्बोधन दिया है, जिसका अभिप्राय यह है कि पुरु राजाने अपने पिता ययातिका बुढापा लेकर अपनी युवा अवस्था उन्हें दे दी. इस बातसे वे पिताके भक्त सिद्ध हुए. पिता पर जिसकी पूर्ण भक्ति होती है, उसका वंश नहीं मिटता. अतः भगवान् विष्णुने बालककी रक्षा की है. उस गर्भका अत्यधिक समीपतासे नाश होनेका कारण बताया जा रहा है. जो वापस कभी नहीं लौटता, ऐसे देवके द्वारा उनका नाश हो था. इसके वंशके कर्ताओंका अदृष्ट समाप्त हो था अथवा वंशका विच्छेद करने पर अदृष्ट तुल था. उस गर्भका सुखपूर्वक प्रसव करानेमें, या कि प्रतिबन्ध दूर करनेमें अदृष्ट कारण नहीं था, अतः वंशकी समाप्ति सुनिश्चित थी.

वंशकी रक्षा करनेवाला अदृष्ट नहीं था. भगवानने रक्षकरूपमें पधारकर रक्षा की, यह बात कैसे सम्भव हुई? ऐसी शंका होने पर उसका समाधान इस प्रकार बताया जा रहा है. वंश रहनेकी इस आशंकाको करके, फिर उसका निषेध करनेकेलिये ही यह कहा है कि गर्भकी मृत्यु हुई.

नवम स्कन्धमें यह कथा है कि युवनाश्व राजाके सौ स्त्रियां थीं, उनमेंसे किसीके प्रारब्धमें संतति नहीं थी. ऋषिओंने उनके संतति करनेका विचार किया और पुंसवनका अभिमंत्रित किया हुआ जल एक घडेमें भर दिया गया. रातमें प्याससे व्याकुल हुए राजाने वह जल पी लिया. प्रातः ऋषिओंको यह बात ज्ञात हुई, तब ऋषिओंने कहा कि ''दैव बल बलवान है''. सौ स्त्रिओंमेंसे एकके भी प्रारब्धमें सन्तान नहीं थी, परन्तु ईश्वरकी प्रेरणासे राजा उस जलको पी गया. बादमें उस राजाकी कोखको फाडकर एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'मान्धाता' रखा गया.

वहां दैवबलकी व्याख्या की गई है. वह गर्भ मृत्युको प्राप्त हो ही, ऐसा अदृष्ट था. कालादिक उसके अनुकूल थे. उस समय भगवानने केवल अनुग्रहरूप पुष्टिमार्गका आश्रय करके ही उसकी रक्षा की है, क्योंकि किसी भी अन्य प्रकारसे उसकी रक्षा हो ही नहीं सकती थी. उस अनुग्रहका प्रयोजन गर्भकी रक्षा करना मात्र ही था. ''पुत्रके बिना उत्तम लोककी प्राप्ति नहीं होती'' ऐसा

वेदोंमें कहा है. ''प्रजाके बादमें प्रजारूप होना, यही मनुष्यकेलिये अमृत है'' यह भी वेदोंमें कहा है, अतः वंशकी वृद्धि हुई, यह सामान्य अमृत है. भगवान् अमृतका संपादन करनेवाले हैं, इसीलिए भगवानने इस बालककी रक्षा की है. भगवानने अपने लिये भी परीक्षित की रक्षा की है. भूलोकमेंसे अवताररूपसे तिरोहित हो जानेके बाद श्रीभागवतके रूपमें प्रकट होनेकी आपकी इच्छा हुई. भागवत द्वारा भक्तोंमें आविर्भाव होनेकेलिये ही आप एक रसरूप हुए. अतः परीक्षित द्वारा श्रीभागवतकी प्रसिद्धि करवानेकेलिये ही प्रभुने गर्भकी रक्षा की ऐसा अर्थ होनेके कारण इस बालकका नाम 'विष्णुरात' लोकमें प्रसिद्ध हुआ.

संज्ञा–नामकी अपेक्षा अर्थकी व्यावहारिकतावाला नाम ही वास्तविक नाम होता है. जिस नाममें उसका अर्थत्याग न हो अर्थात् जैसा नाम वैसा काम हो, तभी नामकी सार्थकता है. इसीलिए 'विष्णुरात' नामसे यह बालक प्रसिद्ध हुआ. उसकी उत्पत्तिके महत्त्वके प्रतिपादनके बाद अब कार्यके द्वारा महत्ता बताई जा रही है. यह बालक बहुत यशवाला होगा. यों तो आप सभी पाण्डव बहुत यशवाले हो, परन्तु यह बालक परीक्षित आपसे भी बढचढकर कीर्ति प्राप्त करेगा. कारण यह है कि भगवानने इस प्रकार किसीकी भी रक्षा नहीं की. कालने भी तुम्हें इस तरह नहीं बांधा. इसी तरह आपको भागवत भी प्राप्त नहीं हुआ.

मृत्युको प्राप्त करनेवाले काल द्वारा बाधा पहुंचाये जाने पर भी ये सब बातें इस रूपमें किस तरह घटित हुई? ऐसी शंका करके कहते हैं कि इसमें सन्देह नहीं है. क्योंकि परीक्षित भगवान्के परम भक्त हैं. भगवान्के भक्तकी महानता भगवान्के प्रिय होने पर ही होती है. ये सभी बातें इस बालकके लक्षण आदिको देखकर जानी गई है. यहीं कारण है कि काल आदि यहां किसी भी प्रकारका अपकार करनेवाले सिद्ध नहीं हुए. काल कुछ भी बिगाड नहीं सका. इसे आगे चलकर पृथ्वी तथा धर्मके वार्तालाप द्वारा वर्णन किया जायेगा. जिस समय कलियुगके निग्रहका प्रसंग आयेगा, उस समय कलियुग व परीक्षितके संवादसे इसे भली प्रकार समझाकर कहा जायेगा.

जिस प्रकार काल आदिको भगवानने बल प्रदान किया है उसी प्रकार परीक्षितको भी भगवानने बहुत कुछ प्रदान किया है; इसमें सन्देह करनेका कुछ भी स्थान नहीं कि यह बालक निश्चय ही महान होगा।।१५–१७।।

इस प्रकार परीक्षितकी महानताका निरूपण करनेके पश्चात्, पहले जो

भीष्मपितामहने कहा था कि ''तुम्हें जो दुःख आदि प्राप्त हुए हैं, ये काल द्वारा हुए हैं'' ऐसे कालसे भयभीत हुए राजा युधिष्ठिर काल जाननेवाले ज्योतिषियोंसे पूछते हैं:

राजोवाच

अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान् महात्मनः।
अनुवर्त्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः।।१८।।

हे उत्तम सत्पुरुषो ! क्या यह बालक, हमारे वंशमें पहले उत्पन्न हुए, पुण्य यशवाले महात्माओं तथा राजर्षियोंके यश एवं श्रेष्ठ पुरुषोंसे दिये गये साधुवादके अनुसार आचरण करनेवाला होगा?।।१८।।

भगवानकी कृपाके अतिरिक्त भी जैसे कालने हमारे वंशजोकी रक्षा की तथा उन्हें यशवाला बनाया, क्या उसी प्रकार यह बालक भी बनेगा? ऐसा प्रश्न युधिष्ठिरने किया. वंशमें भी जो पुरुरवा आदिके समान पुण्यश्लोक हुए हैं तथा कुरुके समान महात्मा पुरुष हुए हैं, क्या यह बालक वैसा ही यशस्वी, पुण्यश्लोक और महात्मा बनेगा? यश तो सर्वजनीन है. सभी जन यशको जाननेवाले होते हैं, परन्तु साधुवाद तो श्रेष्ठ लोगोंके द्वारा ही दिया जाता है; क्या यह ऐसे साधुवादका पात्र होगा? चरित्र, स्वभाव, उत्कर्षकी स्थितियोंका कथन, साधुवाद शब्दमें समाहित करते हुए कहा है. वेदके तात्पर्यको पूरी-पूरी तरह जाननेवाले और सर्वज्ञताकी स्थितिवाले जनोंको 'सत्तमाः' शब्दसे सम्बोधित किया है।।१८।।

परीक्षितके प्रसंगमें कालद्वारा किये गए सब ही उत्कर्षोंको ब्राह्मणोंद्वारा इस प्रकार कहा जा रहा है:

ब्राह्मणा ऊचुः

पार्थ प्रजाविता साक्षाद् इक्ष्वाकुरिव मानवः।
ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा।।१९।।

हे पार्थ ! जिस प्रकार साक्षात् मनुका पुत्र इक्ष्वाकु हो वैसा ही यह प्रजाका पालन करनेवाला होगा. यह परीक्षित, श्रीदशरथके पुत्र श्रीरामचन्द्रजीके समान ब्राह्मणोंका भक्त और सत्यका पालन करनेवाला होगा।।१९।।

यद्यपि भगवान्के द्वारा इस प्रकार रक्षा किये जाने पर सन्देह करना अनुचित हैं तथापि हे पार्थ! यह परीक्षित साक्षात् प्रजाकी रक्षा करनेवाले बनेंगे,

न कि मन्त्री द्वारा रक्षा कार्य करायेंगे. स्वयं प्रजासे सीधा सम्पर्क रखते हुए उनके हित आदि इष्टकार्योंको करनेवाले होंगे. यों तो मनुके बहुतसे पुत्र हुए परन्तु अन्तमें वंशको आगे बढानेवाला एक इक्ष्वाकु ही हुआ. जिस प्रकार उसका प्रजा पालन कर्म बाधारहित था या निरन्तरतायुक्त था वैसा ही प्रजापालक यह परीक्षित भी होगा. अथवा उसी प्रकार शत्रु तथा मित्रमें समानभाव रखनेवाला होगा. इक्ष्वाकुने अपने पुत्र शशादको किसी अपराधके दण्ड स्वरूप नगरसे बाहर निकाल दिया था, इससे उसका प्रजामें समानभाव होना सूचित हुआ, वैसा ही समदृष्टा यह भी होगा. अथवा वे ब्राह्मण सर्वज्ञ होनेसे ये सब बातें बता रहे हैं. इक्ष्वाकु वैवस्वत मनुके पुत्र थे. उन्हींके वंशमें उत्पन्न रामने ब्राह्मणोंको सर्वस्व दानमें दिया था, अतः वे ब्राह्मण भक्त थे. वे राम सत्यप्रतिज्ञ थे जो कि उनके वनवास गमनसे प्रमाणित होता है. राम ही की तरह परीक्षित भी ब्राह्मणभक्त तथा सत्यका पालन करनेवाले बनेंगे. अपनी इच्छासे कालको भी दण्ड देनेकी सामर्थ्य भगवानमें है और वही क्षमता इस बालकमें भी है, अतः यहां भगवान् सम्बन्धी उदाहरण दिया है।।१९।।

एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः।
यशो वितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम्।।२०।।

यह, उशीनर देशके राजा शिबिके समान दाता तथा शरण आये हुएकी रक्षा करनेवाला होगा. दुष्यन्तके पुत्र राजा भरतके समान यज्ञोंका करनेवाला तथा अपने जनोंका यश विस्तार करनेवाला बनेगा।।२०।।

शिबि राजा शरणागतकी रक्षा करनेवाले थे. मूलमें 'च'कार होनेसे दाता और शरणागतरक्षक होंगे, ऐसा कहा है. इस प्रकार ये दोनों प्रकारसे कीर्तिवाले बनेंगे.

शिबि राजा उशीनरके वंशमें हुए थे. उनकी दोनों ही प्रसंगोमें कीर्ति थी. उनके पासमें कबूतर बनकर इन्द्र तथा बाज बनकर अग्नि गये थे. शरणमें आये कबूतरकी रक्षाकेलिये शिबिने अपना मांस देकर उसकी रक्षा की. इन्द्र और अग्निके संवादमें उनकी कीर्ति प्रसिद्ध है. दुष्यन्तसे शकुन्तलामें पुत्र भरत हुए. वे समस्त सोमवंशके यश तथा यज्ञोंके विस्तार करनेवाले थे. उन्होंने सौ से भी अधिक अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था. भरतके समान ही आपका पुत्र परीक्षित भी अपने पूर्वजोंके यशको बढानेवाला होगा. मूलमें 'च'कारसे यह

बताया है कि राजा भरतके समान अपने पूर्वजोंका यश बढानेवाला होगा तथा यज्ञोंको फैलानेवाला होगा. सर्वत्र 'च'कारसे पूर्वोक्त द्रष्टांत तथा जिसकेलिये द्रष्टांत दिया जा रहा है उसे समझ लेना चाहिए।।२०।।

धन्विनाम् अग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः ।
हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः ।।२१।।

धनुष धारण करनेवालोंमें यह अर्जुन तथा सहस्रार्जुनके समान अग्रणी होगा. अग्निके समान दुर्धर्ष तथा समुद्रके समान किसीसे भी पार न किया जा सकने जैसा होगा।।२१।।

धनुष धारण करनेवालोंमें पितामह अर्जुन और कार्त्तवीर्य सहस्रार्जुनके समान यह बालक पराक्रमी होगा. इतना ही नहीं, यह तो कालका भी निग्रह करेगा, इस प्रकार यह दोनों अर्जुनोंसे बढचढकर होगा; यह बात 'च'कारसे सूचित होती है. आगको कोई भी नहीं उलांघ सकता, इसी प्रकार इस परीक्षितकी आज्ञाको भी कोई टाल नहीं सकेगा. जैसे समुद्रमें तैरा नहीं जा सकता वैसे ही युद्धमें परीक्षित तथा इसकी सेनाको कोई हरा नहीं सकता।।२१।।

मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव ।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव।।२२।।

(परीक्षित) सिंहके समान पराक्रमवाला, हिमालयके समान सेवन करने योग्य, पृथ्वीके समान सहनशील तथा माता-पिताके समान सहिष्णु (अपराधों को सहन करनेवाला) होगा।।२२।।

(परीक्षित) सिंहके समान पराक्रमी होगा. देहकी तुलनामें अधिक कौशलसे युक्त तथा बलसे सम्पन्न होगा. जिस प्रकार हिमालय देवताओं तथा महादेवजी आदि द्वारा सेवन किया जाता है अथवा महादेव जिस प्रकार हिमालयका आश्रय करके रहते हैं उसी प्रकार परीक्षित भी देवताओंका आश्रयभूत होगा. हिमालय दोषरहित होनेसे ऋषिओं द्वारा सेवित होता है, वे उसमें तपश्चर्या करते हैं, उसी प्रकार परीक्षितके राज्यमें भी (शौनक आदि) ऋषिगण निवास करते हैं. सभी स्थान पर गुणोंको प्रकट करनेकेलिये ही द्रष्टांत दिये गए हैं. जैसे पृथ्वी पर अनेक प्रकारके अतिक्रम किये जाने पर भी वो उनको सह लेती है, वैसे ही अपने प्रति किये गए अपराधोंको भी यह सहन करेगा. माता-पिता अपनी सन्तानों द्वारा किये गए अनुचित कार्योंको भी जैसे सह लेते हैं

वैसे ही अपने प्रति किये गए अनुचित कार्योंको भी यह सह लेगा।।२२।।

पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः ।
आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः ।।२३।।

(परीक्षित) ब्रह्माजीके समान सबमें समान दृष्टि रखनेवाला होगा, कृपा करनेमें महादेवके समान होगा, लक्ष्मीजीके आश्रयरूप विष्णु भगवान्‌के समान सभीका आश्रयरूप होगा।।२३।।

जैसे ब्रह्माजी देव, दैत्य व मनुष्योंमें समान द्रष्टिवाले हैं, वैसे यह भी सभीको समान द्रष्टिसे देखनेवाला होगा. पात्रका विचार न करते हुए जैसे महादेवजी वरदान देते हैं वैसा ही वरदाता यह होगा (कलियुगको इच्छित स्थान देनेके उदाहरणरूपमें यह वरदानशीलता घटित हुई है). जिस प्रकार सब अर्थमें भगवान् लक्ष्मीजी तथा भूत प्राणीओंके आश्रयरूप हैं उसी प्रकार यह सबका आधाररूप होगा. सबका आधार किस रूपमें होगा? यह स्पष्ट करनेकेलिये भगवान्‌का द्रष्टांत दिया है. जैसे भगवान् धर्म आदिकी रक्षा करते हैं, वैसे ही यह करेगा।।२३।।

सर्वसद्‌गुणमाहात्म्य एष कृष्णम् अनुव्रतः ।
रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः ।।२४।।

सभी सद्‌गुणोंके माहात्म्यमें श्रीकृष्णके ही सिद्धान्तोंका अनुकरण करनेवाला होगा. रंतिदेव राजाके समान उदार और ययातिके समान धार्मिक होगा।।२४।।

सत्य, शौच इत्यादि कितने ही गुणोंकी उन्नतिकेलिये श्रीकृष्ण भगवान्‌के कार्योंका अनुव्रत करनेवाला होगा. कृष्णके ही लक्ष्यों पर आचरण करेगा. क्योंकि इसने श्रीकृष्णकी उपासना की है अतः प्रभुकी इस पर कृपा होनेसे यह उनकी बराबरीका माना है. रंतिदेव राजाकी कथा नवम् स्कन्धमें कही जायेगी. रंतिदेव राजाके ४८ उपवास हो जानेके बाद उन्हें भोजन एवं जल मिला. उसमेंसे भोजन भिक्षुकको दे दिया तथा पानी एक प्यासे चाण्डालको पिला दिया; इस तरह अपनी बहुत बडी उदारताका परिचय दिया. राजा ययातिने भी शुक्राचार्यजीकी पुत्री देवयानीको कुएसे बाहर निकाला था, तब देवयानीने राजा ययातिसे विवाहकी प्रार्थना की. राजाको ब्राह्मणकी पुत्रीके साथ विवाह नहीं करना चाहिए, तो भी वह दैवयोगसे प्राप्त हुई है तथा राजाका मन भी उसमें लग

है, इसलिए यह विवाह धर्मरूप हुआ, यह मानकर राजाने इस कार्यको किया. (बृहस्पतिके पुत्र कचका देवयानीको शाप था, अतः उसका विवाह ब्राह्मणके साथ होनेवाला नहीं था, इसलिए ययातिका मन उसमें लगा, क्योंकि वह विवाह धर्मरूप था). इसी प्रकार यह बालक भी धर्मके स्वरूपको जाननेवाला होगा।।२४।।

धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः।
आहर्त्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः।।२५।।

बलि राजाके समान धैर्यशाली, प्रभुभक्तिमें आग्रह रखनेवाले प्रह्लादके समान भक्त होंगे. (परीक्षित) अश्वमेध यज्ञोंके करनेवाले और वृद्धोंकी उपासना करनेवाले होंगे।।२५।।

बलिराजाके समान परीक्षित धैर्य धारण करनेवाले होंगे. श्रीकृष्णमें जैसी भक्ति प्रह्लादजीकी थी इस भक्तिके प्रति वे जितने सदाग्रही थे वैसे ही भक्त परीक्षित भी होंगे. यह बालक अश्वमेध यज्ञोंका करनेवाला होगा. ऊपर भरत राजाका द्रष्टांत यश करनेवालोंका यज्ञ बढानेके विषयमें कहा था. दूसरे प्रकारके यज्ञोंको करनेसे भी यश बढ सकता है, अतः यहां विशिष्ट शब्द अश्वमेध यज्ञका करनेवाला बताया है. अन्योंसे बढचढकर होने पर भी, सर्वाधिक गुणोंका भण्डार होने पर भी इसे अभिमान तनिक भी स्पर्श नहीं करेगा. यही बात बतानेकेलिये उसे वृद्धजनोंका उपासक कहा है. (बडोंके समान विनम्रता, आज्ञापालन, सिद्धान्त, अनुसरण आदि वृद्धोंकी उपासना कहलाती है). पुत्र आदि द्वारा भी परीक्षितकी गौरव वृद्धि बताई जा रही है।।२५।।

राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम्।
निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात्।।२६।।

(परीक्षित) राजर्षियोंको भी उत्पन्न करनेवाला होगा. नीति विरुद्ध चलनेवाले लोगोंको शिक्षा देनेवाला होगा. पृथ्वी तथा धर्मकी रक्षाकेलिए यह कलियुगका भी निग्रह करनेवाला होगा।।२६।।

आपका यह बालक अपने पुत्रों द्वारा भी यश प्राप्त करनेवाला होगा. जनमेजय आदि राजर्षि पुत्रोंको यह उत्पन्न करनेवाला होगा. अपराध करने पर पुत्रको भी दण्ड देनेवाली बात बतानेकेलिये तुरन्त ही यह कहा जा रहा है कि बार-बार मर्यादा तोडनेवालेको यह दण्ड देनेवाला होगा. शिक्षापूर्वक दण्ड दिये

जानेको 'शासन' कहा जाता है. परीक्षितके शासनकालमें जो नियमसे उलटा चलनेवाला होगा उसे यह दण्ड द्वारा नियमित करेगा. यह कलियुगका भी नियन्त्रण करनेवाला बनेगा. कलियुगका यह निग्रह पृथ्वी तथा धर्मकी रक्षाके कारण ही किया जायेगा. यह सब वास्तविकता उनके चरित्रसे स्पष्ट हो जायेगी ।।२६।।

अन्तमें वैराग्य इसे बहुत ही पाससे फलको देनेवाला होगा, ऐसा बताया जा रहा है:

तक्षकाद् आत्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात् ।
प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्ग पदं हरेः ।।२७।।
जिज्ञासितात्मयाथात्म्यो मुनेर्व्यासस्तादृ असौ ।
हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाकुतोभयम् ।।२८।।
इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः।
लब्धोपचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान्।।२९।।

शमीक ब्राह्मणके पुत्र श्रृंगी द्वारा भेजे जानेवाले तक्षक सर्पसे स्वयंकी मृत्यु सुनकर, यह परीक्षित सब प्रकारके संगका त्याग करके हरि भगवान्के पदको प्राप्त करेगा।।२७।।

हे युधिष्ठिरजी, यह बालक व्यासजीके पुत्र शुकदेवजीसे आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेकी इच्छावाला होगा और अपने शरीरको गंगाजीमें त्यागकर साक्षात् भगवानको प्राप्त होगा।।२८।।

इस प्रकार ज्योतिष शास्त्रके पारंगत पण्डितोंने राजाको (परीक्षित विषय समस्त भविष्य) बताया तथा राजासे बहुत सी दक्षिणादि प्राप्त करके अपने-अपने घरोंकी ओर प्रस्थान कर गए।।२९।।

स्वयंके देहका नाश ब्राह्मणके पुत्र श्रृंगी ऋषि द्वारा भेजे गये 'तक्षक' नामके सर्पसे सुनकर, ये परीक्षित समस्त प्रकारके संगका त्याग करके संन्यास ग्रहण कर लेंगे एवं हरि भगवान्के चरणकमलोंको प्राप्त होंगे. गंगाजीके किनारे पर जहां सत्पुरुषोंकी सभा होगी, वहां इन्हें भगवान्के चरणकमलोंकी प्राप्ति होगी. ये व्यासजीके पुत्र शुकदेवजीके पाससे विचारपूर्वक भगवानका निर्णय पूरी तरह जान जायेंगे साथ ही अपने स्वरूपको भी निर्णयात्मक रूपसे समझ लेंगे. यह बालक भय आदिको भगवानमें समर्पित कर देगा. ''यह बालक'' ऐसा शब्द

कहकर यह निर्देश किया है कि इसे फिरसे ब्रह्मास्त्रकी प्राप्ति होगी. मध्यमें उससे कार्य करवाने हेतु ही भगवानने उसकी रक्षा की. बादमें तक्षक सर्परूपी ब्रह्मास्त्रसे उसका उपसंहार किया है, जिससे यह अपना शरीर छोडेगा. ''हे नृप'' ऐसा जो सम्बोधन दिया है, वह इसलिए कि युद्धमें निष्ठावाले राजाओंको मोह नहीं होता. जिन भगवान्‌के चरणकमलोंकी शरण होने पर भय स्पर्श भी नहीं कर सकता; यह परीक्षित उन चरणकमलोंको प्राप्त होगा. एकांतमें इस वास्तविकताको पण्डितोंने केवल युधिष्ठिरको ही बताया है. उन ब्राह्मणोंको ऐसा ज्ञान होनेमें कारण यह है कि वे जातकविद्यामे ज्ञाता थे. जातकविद्या ज्योतिष शास्त्रका एक भाग है जो कि भविष्य कथनकेलिये बहुत ही उपयोगी है. अतः पण्डितोंको जातक जाननेवाला बताया है. वैसे तो सत्य बात यह है कि ब्राह्मण सभी बातोंको जाननेवाले थे. उन ब्राह्मणों द्वारा जातकके कथन किये जाने पर राजाने बहुत सी दक्षिणाएं धन आदि भेंटके रूपमें दी. इस प्रकार वे सब ब्राह्मण पूर्ण मनोरथ होकर अपने-अपने घर गए, कहीं अन्यत्र नहीं गए. जिन पर भगवान् सन्तुष्ट होते हैं, ऐसे पुरुषोंकेलिये सेवकरूपमें स्थित काल आदि भी अनुकूल स्थितियां जुटा देते हैं, ऐसा कहा है।।२७-२९।।

ऊपर किये गए कथनोंके आधार पर अब क्रमसे उन संवादोंका कथन किया जा रहा है.

स एष लोके विख्यातः 'परीक्षिद्' इति यत् प्रभुः।
पूर्वदृष्टम् अनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह।।३०।।

वे ये 'परीक्षित्' इस नामसे लोकमें विख्यात हैं. भगवान् द्वारा सामर्थ्य प्रदान करनेसे ये प्रभुके समान ही हैं. पहले जिनका दर्शन किया था, उन्हीं पुरुषका ये अब ध्यान करते हैं, अतः ये 'परीक्षित' नामसे प्रसिद्ध हैं।।३०।।

जिनकी रक्षा भगवानने की है उनकी कथाकेलिये यह अनुवाद किया जा रहा है कि ये 'परीक्षित्' नामसे विख्यात होंगे. सर्वज्ञ ब्राह्मणोंका यह वचन है कि 'विष्णुरात' नामसे यज्ञ प्राप्त करेंगे. बादमें 'परीक्षित' नामसे क्यों प्रसिद्ध हुए? ऐसी कोई शंका करे वहां कहते हैं कि ये प्रभु हैं, अर्थात् भगवानने अपना सामर्थ्य प्रदान किया, इसलिए ये भगवद्‌रूप हुए हैं. पहले भगवानने जो किया है उसकी तुलनामें अब भगवानका कार्य सम्पादन करनेसे ये अधिक आदरणीय हुए हैं. भगवान् द्वारा परीक्षितकी रक्षा भी इसलिए की गई कि यह रक्षा हो जाने पर

धर्मकी रक्षा करेगा जिससे भागवतकी प्रवृत्ति होगी. 'विष्णुरात' (विष्णुसे रक्षित) नामसे प्रसिद्ध होने पर भी 'परीक्षित्' नामसे प्रसिद्ध हुआ है, इसमें कारण यह है कि पहले गर्भमें जिनका दर्शन किया है, उन्हींका ध्यान करते हुए परीक्षा करते हैं, अतः यह 'परीक्षित्' नाम उनके कार्यको बतानेवाला है. अथवा 'परीक्षित्' सुनकर चोतरफ भगवानको ही देखने लगे. 'परि'(चारों ओर) 'इक्षाम्'(देखनेसे) होनेसे इनका नाम 'परीक्षित्' हुआ. अथवा 'परीक्षित्' शब्दमें इत् शब्द 'इव'के अर्थमें अव्ययरूपसे प्रयुक्त है. पांचवे स्कन्धमें आग्नीध्र राजाने पूर्वचिति नामकी अप्सरासे वाक्य कहे थे वहां ''सर इन्मुखं त'' ऐसा कहा है, अतः ईक्ष धातु देखनेके अर्थमें आता है. इसीको आधार मानकर अर्थ करनेसे, चोतरफ जिसे भगवान्के दर्शन होते हैं ऐसा अर्थ 'परीक्षित्' शब्दका हुआ. परीक्षितके संगसे अन्योंको भी भगवान्के दर्शन हुए, यह भी सिद्ध हुआ. पुरुषोंमें परीक्षा करते हैं, ऐसा कहा है. एकादश स्कन्धमें भगवानने उद्धवजीसे कहा है कि पुरुष शरीरमें भगवानको प्रकट देखना चाहिए. इससे पुरुषके शरीरमें भगवान्के दर्शनका अधिकार बताया है . अथवा 'परीक्षित्' नामसे प्रसिद्ध होनेका एक कारण ओर भी है कि भगवानने जाना कि यह बालक मेरे स्वरूपका जिस रूपमें दर्शन कर चुका है, उस स्वरूपको पुरुषशरीरमें देखकर, ध्यान करते हुए यह परीक्षा करेगा कि इसी स्वरूपका मुझे पहले दर्शन हुआ था. इन सभी कारणोंसे इनका 'परीक्षित्' नामसे विख्यात होना युक्ति युक्त है. ''अंगूठे जितने अकारवाले पुरुषको बलपूर्वक यम देवकाने खींचा'' ऐसा एक वाक्य आता है; जिसके आधार पर जीव भी अंगुष्ठमात्र होता है. पर उसे तो अन्य रूपमें नहीं माना जा सकता, क्योंकि भगवानने जो दर्शन जिन-जिन आयुधों, वस्त्रों आदि सामग्रियोंके साथ दिये थे, वे जीवके साथ होती ही नहीं. इस विलक्षणताके कारण भगवानका स्वरूप जीवसे भिन्न होता है. उस भिन्नताको समझ लेनेकी क्षमताके कारण ही इनका नाम 'परीक्षित' है. इस संसारमें आये हुओंका बुद्धिनाश बहुत अधिक हो चुका होता है, पर उस बुद्धिमें भगवानकी स्मृति बनी रही, यह सिद्ध करनेकेलिये यहां 'परीक्षित्' नाम दिया है।।३०।।

उनका शरीर अश्वत्थामाके द्वारा फेंके गए ब्रह्मास्त्रसे जल है, अतः उस शरीरमें क्षीणता आ गई होगी? ऐसी शंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं कि:

स राजपुत्रो ववृध आशु शुक्ल इवोडुपः।

आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम्।।३१।।

जिस प्रकार शुक्ल पक्षमें ताराओंका पति चन्द्रमा बढता है, उसी प्रकार सदैव नवीन कलाओंसे पूर्ण होता हुआ, पिताओं द्वारा उन्नत किया जाता परीक्षित् प्रतिदिन बडा होने लगा।।३१।।

शुक्ल पक्षमें तारोंका पति चन्द्रमा जिस प्रकार बडा होता है, उसी प्रकार वह राजपुत्र बढने लगा. जैसे चन्द्रमा स्त्रिओंसे घिरा रहता है, क्योंकि स्त्रियां पोषण करनेमें चतुर होती हैं, वह भी उनके बीच दिनोंदिन पोषित हो रहा है. युधिष्ठिर आदि पितागण भी बालक परीक्षितको सब इच्छित वस्तु प्रदान करते हुए पूर्ण बनाते हैं. कलाओंसे पूर्ण होता हुआ चन्द्रमा जैसे प्रतिदिन विलक्षण दिखाई देता है, वैसे राजपुत्र प्रतिदिन विशेष गुणोंको धारण करता हुआ विकसित होता है. यही विकास बतानेके लिये यहां चन्द्रमाका द्रष्टांत दिया है।।३१।।

इस प्रकार परीक्षितका सब चरित्र कहकर, पहले भगवान् द्वारा मनसे अश्वमेध यज्ञ किया जाकर और फिरसे भगवान् द्वारा ही यज्ञ सम्पादित किये जानेकी बात कही गई है. यह कहनेकेलिए ही अब वह प्रकार बताया जा रहा है:

यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया।
राजालब्धधनो दध्यावन्यत्र करदण्डयोः।।३२।।
तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरः कृष्णचोदिताः।
धनं प्रहीणम् आजह्रुः उदीच्यां दिशि भूरिशः।।३३।।
तेन सम्भृतसम्भारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद् हरिम्।।३४।।

जातिके द्रोहको छोडनेकी इच्छासे अश्वमेध यज्ञ द्वारा यजन करनेवाले राजा युधिष्ठिर कर और दंड के अतिरिक्त अन्य किसी स्थलसे धन न मिलने पर विचार करने लगे।।३२।।

युधिष्ठिरके अभिप्रायको जानकर, भगवान्से प्रेरित किये गए उनके भाईयोंने उत्तर दिशासे धन लाकर प्रदान किया।।३३।।

ऐसे धर्मके पुत्र राजा युधिष्ठिरने उस धन द्वारा सब सामग्री एकत्रित करके, भयपूर्वक तीन अश्वमेध यज्ञों द्वारा हरि भगवानका भलीभांति यजन किया।।३४।।

जातिका द्रोह दूर करनेकेलिये अश्वमेध यज्ञ करना ही चाहिये था, परन्तु

नये कर लगाकर या दण्डरूपमें धन लेकर यह सम्पन्न नहीं किया जा सकता था, क्योंकि इससे प्रजाका द्रोह भडक उठता. जो कर आदि सदैवसे योग्यरूपमें चला आ रहा था, वह तो राज्यव्यवस्थाको संचालित करनेमें ही पूरा हो जाता था. अतः यज्ञकेलिये इन तरीकोंसे धन प्राप्त करना उचित न होनेसे युधिष्ठिरको अन्य माध्यमोंसे धन प्राप्त न हुआ. यज्ञकेलिये धन कहांसे आयेगा? इस विचारमें युधिष्ठिर तल्लीन हैं. कर और दण्ड से मिला हुआ धन तो राज्यके आवश्यक कार्योंमें व्यय करनेकेलिये है. राजा होनेसे युधिष्ठिर यज्ञहेतु दान भी नहीं मांग सकते थे. मेरु पर्वत आदिमें देवताओंका निवास है, अतः वहांसे भी धन नहीं लिया जा सकता था. पहले राजा युधिष्ठिरके राज्यवर्णन प्रसंगमें उनकी प्रजाकी रक्षाके विषयमें महानताका वर्णन किया है. जो धन प्रजासे प्राप्त हुआ है वह तो उसीकेलिये व्यय किये जानेकेलिये है. प्रजासे प्राप्त उस धनको राजकीय धनके रूपमें खान-पान आदि खर्चोंमें नहीं लगाया जा सकता था. राजा किसीसे मांगे यह भी उचित नहीं लगता, अतः युधिष्ठिर इसी चिंतामें उलझे हुए थे।।३२।।

युधिष्ठिरने भगवान्से भी धन विषयक याचना नहीं की, अन्यथा भगवान् तो उसे नूतन धन ही प्रदान कर देते. युधिष्ठिरका अभिप्राय जानकर उनके भाईयोंने धन लाकर प्रदान किया. पहले तो वे सब भाई भी चिन्तासे व्याकुल हुए, बादमें भगवानकी प्रेरणासे वे धन लाये. भक्तोंको थोडीसी भी चिन्ता हो उसे भगवान् नहीं सह सकते. उत्तर दिशासे लाया धन बहुत अधिक था अथवा बहुत निन्दित था. क्योंकि वह धन ब्राह्मणोंका था. उस धनको वे भगवानकी प्रेरणासे लाये. युधिष्ठिरका अभिप्राय किसीको भी पीडा देनेका नहीं था, प्रत्युत ब्राह्मणों आदिका दुःख दूर करनेकेलिये ही यह अश्वमेध यज्ञ किया जाना था, अतः ब्राह्मणोंके धनसे ही इस यज्ञका किया जाना उचित था, इसीलिए भगवानने प्रेरणा की. यह धन उत्तर दिशामें स्थित था. राजा मरुतके यज्ञमें यह धन ब्राह्मणोंको दक्षिणाके रूपमें दिया था. वह धन इतनी अधिक मात्रामें था कि उस बोझको ब्राह्मण अपने साथ नहीं ले जा सके, अतः उसे उत्तर दिशामें ही छोड दिया गया, उसी धनको अब इस समय लाया गया।।३३।।

उस धनसे पशु-पुरोडाश तथा ऐसे ही अनेक पदार्थोंका संचयन करके वह यज्ञ सम्पन्न किया गया. ब्राह्मणोंके धनसे यज्ञका किया जाना तो ठीक नहीं था! ऐसी शंकाका उत्तर दिया जाता है कि युधिष्ठिर धर्मपुत्र हैं, अतः किसीके भी

द्वारा पृथ्वी पर छोड दिया धन राजाका ही कहलाता है, इस धर्मको राजा युधिष्ठिर जानते हैं. दिग्विजय करनेके बाद ही अश्वमेध यज्ञ सम्भव है. जो युद्धमें स्थिर रहे उसीसे अश्वमेध सिद्ध होता है, यह बतानेकेलिये ही राजाका नाम युधिष्ठिर कहा है. युधिष्ठिर = युद्धमें स्थिर. तीन अश्वमेध यज्ञोंके द्वारा प्रभुका यजन किया है. पुरुषसूक्तमें कहा है कि ''यज्ञों द्वारा देवताओंने यज्ञका यजन किया''. उस अर्थको प्रसिद्ध करनेकेलिये यज्ञों द्वारा हरिका यजन करना लिखा है. भगवान् हरि होनेसे ब्राह्मणोंका भी दुःख दूर करनेवाले हैं, अतः ब्राह्मणोंने जो धन पृथ्वीके ऊपर छोड दिया था उसे लानेकेलिये भगवानने प्रेरणा की, यह बात पहले कही गई बातका विरोध नहीं करती.

इस प्रसंगमें 'आहूतः' इत्यादि दो श्लोक इस अध्यायमें ओर मिलते हैं जो कि प्रक्षिप्त है।।३४।।

।। इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथम स्कन्धके १२वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण'का षष्टम् अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।।

अध्याय १३

विदुरजीके उपदेशसे धृतराष्ट्र और गांधारी का वनमें जाना

एवं भागवतश्रोतुर्देहोत्पत्तिर्निरूपिता ।
पुरुषत्रयमुक्तिर्हि तन्मुक्त्यर्थं निरूप्यते ।।का.१।।

कारिकार्थः इस प्रकार भागवतके श्रोता परीक्षितकी देह उत्पत्तिका निरूपण किया गया. अब उनकी मुक्तिकेलिए तीन पुरुषोंकी मुक्तिका निरूपण किया जाता है।।१।।

पिता पितामहश्चै को धृतराष्ट्रस्ततः परः ।
प्रपितामहमुक्तिर्हि पूर्वं तत उदीर्यते ।।का.२।।

पिता, पितामह और प्रपितामह धृतराष्ट्र –इन तीन पुरुषोंकी मुक्तिका निरूपण किया जाता है. इसमें पिता अभिमन्यु चन्द्रमाके अंश थे और युद्धमें उनका सन्मुख मरण हुआ है अतः वे तो मुक्त हुए ही. बाकी बचे पांच पितामह, उनमें युधिष्ठिर मुख्य होनेसे प्रतिनिधि रूपमें एक मानकर गणना की गई और धृतराष्ट्र प्रपितामह हैं. अब इन दोनोंकी मुक्तिका निरूपण किया जाता है. इस तेरहवें अध्यायमें पहले धृतराष्ट्रकी मुक्तिका निरूपण किया जा रहा है।।२।।

ततोऽध्यायद्वयेनैव द्विरूपत्वात् पितामहे ।
सनिमित्तां मुक्तिम् आह हेतुकार्यविभेदतः ।।का.३।।

मुक्ति होनेके कारण और मुक्तिरूप कार्य, ये दो भेद युधिष्ठिरमें होनेसे चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायमें उनकी मुक्तिका निरूपण किया जाएगा. भगवान् भूतल परसे पधारे यह उनकी मुक्ति होनेका कारण है और बादमें इन्द्रियों आदिके लय होनेकी भावना की, यह मुक्तिरूप कार्यमें नियामक है. भगवान्के पधारने को सूचित करनेवाले उत्पात युधिष्ठिरने देखे. उन निमितोंके साथ चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायोंसे युधिष्ठिर आदिकी मुक्तिका निरूपण होगा. युधिष्ठिर द्वारा उत्पातोंका देखा जाना एक अध्यायमें हि और दूसरे अध्यायमें वे सब पदार्थका त्याग करके निकल पडे और मुक्त हो गए, इस बातका वर्णन है।।३।।

अमुक्तपितृका मुक्तिं नाप्नुवन्तीति वार्यते ।
अतो निश्चिन्ततासिद्धयै चित्तशुद्धिरिहोच्यते ।।का.४।।

जिनके पिता, पितामह इत्यादि मुक्त न हुए हों, वे मुक्त नहीं होते.

इसलिए पिता, पितामह आदिकी अमुक्तिका वर्णन किया है. वे तो मुक्त हो ही गए थे, ऐसा कहा है. अतः राजा परीक्षितको उस विषयमें चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं रह गई थी. इसके पश्चात् तीन अध्यायोंमें उनकी चित्तकी शुद्धिका निरूपण किया है. वे उनकी मुक्तिमें उपकार करनेवाले आधार हैं. इसलिए तीनों पुरुषोंकी मुक्ति परीक्षितकी मुक्तिको सिद्ध करनेमें कारणरूपा है।।४।।

ततो द्वयेनेन्द्रियाणां राज्यशौर्यादिवर्णनैः।
ततो वैराग्यसत्सङ्गावधिकारः फलोन्मुखः।
ततो भवति पुष्टोऽपि नान्यथेत्यग्रिमा कथा।।का.५।।

सोलहवें तथा सत्रहवें अध्याय द्वारा इन्द्रियों, राज्य तथा पराक्रम आदिका वर्णन किया है. अठ्ठारहवें तथा उन्नीसवें अध्यायमें परीक्षितके वैराग्य तथा सत्संग किये जानेका वर्णन है. वे उस फलके सिद्ध होनेमें अधिकार देनेवाले आधारभूत तत्त्व हैं. तभी तो परीक्षित भागवतकी कथाके श्रोता होनेसे पुष्ट अर्थात् अनुगृहीत हुए. यदि शुकदेवजीका सत्संग नहीं होता तो परीक्षित पुष्ट नहीं होते, इसलिए उन्नीसवें अध्यायकी कथा कही गई है।।५।।

धृतराष्ट्रको ज्ञान सिद्ध होनेमें विदुरजीके प्रसंगका निरूपण किया जा रहा है. धृतराष्ट्रको पहले सनत्सुजात आदिने उपदेश दिया था उसी उपदेशको विदुरजीने फिरसे सुनाया. उसमें विदुरजी अवांतर व्यापाररूप हैं. अथवा विदुरजी धर्मराजके अवतार होनेसे धृतराष्ट्रको समझाने लगे थे, अतः वे गुरु हुए. उद्योग पर्वमें विदुरजीने धृतराष्ट्रको नीति बतलाई है वहां ''ज्ञानका उपदेश करनेमें मेरा अधिकार नहीं'' ऐसा कहकर, सनत्सुजातको बुलाकर, उनके द्वारा धृतराष्ट्रको ज्ञानका उपदेश दिलवाया. यहां क्या उपदेश दिया गया? ऐसी शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं कि श्रीकृष्ण भगवानने प्रभास लीलाके समयमें विदुरजीको याद करके मैत्रेयजीकेलिए आज्ञा दी थी कि आप विदुरजीकेलिये ज्ञानका उपदेश करना. तदनुसार उपदेश मिलनेके बाद वे यहां आये हैं. विदुरजीको शुद्रपनेका शाप सौ वर्षकी अवधि तकका था. वे वर्ष पूरे हो चुके थे, अतः उपदेश न दे सकनेका दोष निवारण हो चुका था. श्रीभागवतमें श्रीविदुरजी और मैत्रेयजीका प्रसंग लक्षणरूपमें प्रतिपादन किया है. उसमें दश लीलाओंके अन्तर्गत सर्ग लीला और विर्सग लीला होनेसे तीसरे और चतुर्थ स्कन्धमें उसका वर्णन किया जाएगा.

उस कथाके प्रयोजनरूपमें यहां उसका प्रसंग कहा जा रहा है:

सूत उवाच

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयाद् आत्मनो गतिम् ।
ज्ञात्वाऽगाद् हस्तिनपुरं तया चात्मविवित्सितः।।१।।

तीर्थयात्रामें मैत्रेयजीसे आत्माकी गति जानकर, उस गतिसे आत्माके स्वरूपको पहचानकर विदुरजी हस्तिनापुर पधारे।।१।।

विदुरजीकी तीर्थयात्रा समाप्त हुई तब चित्तशुद्धि हो जानेसे तथा उद्धवजीके कहनेसे मैत्रेयजीसे मिलकर, उनसे भगवानकी लीला जानकर वे ज्ञान सम्पन्न हुए और इसके बाद वे हस्तिनापुर गए. भगवानकी क्रिया द्वारा ही उन्हें भगवानका वास्तविक स्वरूप स्फुरित हुआ है. इस प्रसंगमें कहते हैं कि उस गतिके द्वारा ही विदुरजीने आत्माके स्वरूपको विशेषरूपसे जाना है. इसलिए विदुरजीने मैत्रेयजीके पास जाकर अपने आपमें सर्वज्ञपनेकी सिद्धिकेलिये बहुत पूछा. ''जिसके जान लिये जाने पर सब कुछ जान लिया जाता है'' ऐसा श्रुतिमें कहा है. तदनुसार भगवानका चरित्र जाना जाय तो सब कुछ जाननेमें आ जाता है. इसलिए तृतीय व चतुर्थ इन दो स्कन्धों द्वारा भगवानका चरित्र विदुरजीने जाना है. उसमें यह अर्थ सिद्ध हुआ कि सब कुछ भगवान्के अधीन है. जैसा भगवान करेंगे वैसा ही होगा, अतः केवल उनका आश्रय रखकर रहना चाहिए. वे जैसी प्रेरणा करते हैं, वैसा ही सब करते हैं, ऐसा समझकर कार्य करना चाहिए. ऐसा समझनेसे मध्यमें धृतराष्ट्रकी मुक्ति करनेकेलिये भगवदिच्छाने विदुरजीको प्रेरणा की. चौथा स्कन्ध पूरा होने पर पांचवे स्कन्धमें वर्णन किये गये चरित्र विदुरजीने नहीं जाने, तो भी अन्यथा रूप छोडकर अपने स्वरूपमें रहना मुक्तिका स्वरूप है ऐसा सब स्थान पर जाननेमें आया है. इसलिए भगवानका आश्रय सिद्ध होनेकेलिये श्रीभागवतमें दश लीलाओंका वर्णन है, यह विदुरजीके जाननेमें आया है, अतः शीघ्र ही हस्तिनापुर आये।।१।।

विदुरजीकी जानकारीमें श्रीभागवतका सारा फल आ गया, इसलिए उनसे बहुतसे पदार्थोंके विषयमें पूछा गया, पर वे उस विषयमें कुछ भी न सुनते हुए सीधे हस्तिनापुर चले आए :

यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवाग्रतः ।
जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह ।।२।।

जितने प्रश्न विदुरजीने मैत्रेयजीके पास कहे हैं, उनमेंसे गोविन्द भगवानमें मुख्य भक्ति करानेवाले प्रश्नोंके अलावा बचे हुए प्रश्नोंके प्रसंगमें विदुरजी मौन रह गए।।२।।

अन्तःपुरके अध्यक्षको 'क्षत्ता' कहा जाता है. यहां विदुरजीका नाम क्षत्ता कहा है, जिससे उनका जनानामें अध्यक्ष होना सिद्ध होता है. इसे यह सूचित किया है कि वे बहुत ही चतुर थे. उनने मैत्रेयजीसे अनेक प्रश्न किये हैं. मैत्रेयजीको यहां 'कौषारव' नामसे पुकारा है. मैत्रेयजी कुषारुके पुत्र हैं. विदुरजी उत्तम अधिकारी थे, अतः सर्ग विसर्गादिक दश लीलाओंमेंसे सर्ग व विसर्ग इन दो लीलाओंको सुनकर ही उन्हें भक्ति सिद्ध हो गई. फल सिद्धि हो जानेके कारण बाकीके प्रश्नोंसे विराम प्राप्त कर लिया अर्थात् इसे सुनकर वे कृत कार्य हुए।।२।।

इस प्रकार विदुरजी ज्ञानवाले हैं, यह बतानेकेलिए उनकी पहली कथाका अनुवाद करके विदुरजी यहां आए हैं. अब उनके बादका कार्य कहा जा रहा है. यही उनके कार्यका समय है, अतः उनकी उस स्थितिको सिद्ध करनेकेलिए यहां उनके सत्कारका निरूपण किया है. अब आगे ग्यारह इन्द्रियोंकी प्रीतिकेलिए ग्यारह श्लोकों द्वारा निरूपण किया जा रहा है:

तं बन्धुम् आगतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः ।
धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा ।।३।।
गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् सुभद्रा चोत्तरा कृपी ।
अन्याश्च जामयः पाण्डोः ज्ञातयः ससुतास्त्रियः ।।४।।
प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्व इवागतम् ।
अभिसङ्गम्य विधिवत् परिष्वङ्गाभिवादनैः ।।५।।
मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः ।
राजा तम् अर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम् ।।६।।

आए हुए अपने बन्धुको देखकर सब भाईयों सहित युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, संजय, कृपाचार्य, कुंती, गान्धारी, द्रोपदी, सुभद्रा, उत्तरा, द्रोणाचार्यकी स्त्री कृपी और पाण्डुकी अन्य कुलस्त्रियां तथा पुत्रों सहित पुत्रवधुएं अपनी जातिके साथ बहुत हर्षित होकर उनके स्वागतकेलिए सन्मुख गए. जिस प्रकार प्राण आने पर हाथ, पैर आदि सारा शरीर जागृत होकर चलने-फिरने लगता है उसी प्रकार ये सब सामने आए हैं. विदुरजीसे मिलकर आलिंगन तथा

अभिवादन शास्त्रकी विधिके अनुसार यथायोग्य सम्पन्न करके विरहके कारण प्रेम बढ जानेसे कातर हुए सभी प्रेमभरी अश्रुधाराएं बहाने लगे. विदुरजीको आसन प्रदान किया गया. उनके आसन ग्रहण कर लेने पर राजा युधिष्ठिरने उनकी पूजा की।।३-६।।

सब इन्द्रियोंकी प्रीतिके कारण जो परस्पर बंधे हुए हों, उन्हें बन्धु कहा जाता है अर्थात् सुख-दुःख और मोक्ष मेंसे जिसका जितना अधिकार है उसीके साथ उसी प्रकार जो बंधा हुआ है, इस रीतिसे विदुरजी बन्धु हैं. वे धृतराष्ट्रकी मुक्तिकेलिये आये हैं. पाण्डवोंके कामकेलिये नहीं. इसलिए उन्होंने दूरसे खबर नहीं भिजवाई. जो पहलेसे खबर भेजी हुई होती तो सब उन्हें लिवानेकेलिये सामने जाते. उनके पास आने पर, उन्हें देखकर सभी खडे हो गए. संजय कृपाचार्य जिन्हें बाणोंके समूहमेंसे उत्पन्न होनेके कारण 'शारद्वतः' भी कहा है और कुंती आदि स्त्रियां सभी उठ खडे हुए. यहां स्त्रियोंकी गणना करते समय 'ब्रह्मन्' यह सम्बोधन इसलिए किया है कि वे विकारोंसे रहित हैं. कृपी अर्थात् द्रोणाचार्यकी स्त्री तथा पाण्डुकी अन्य कुलस्त्रियोंने भी विदुरजीकी लज्जा इसलिए नहीं की कि वे देवर थे, अतः उन्होंने भी विदुरजीका खडे होकर सन्मुख स्वागत किया. चारों ओरसे पुरुष-स्त्रिओं तथा पुत्रों सहित विदुरजी महाराजके सम्मानमें जुट गये. अपने-अपने कुटुम्बिओं सहित वे सारे पुरुष इस प्रकार सामने आये हैं जैसे प्राणोंके आने पर हाथ-पैर इत्यादि अंग एक साथ संचालित हो गये हों. वे सब विदुरजीसे मिलकर विधि अनुसार आलिंगन और अभिवादन करने लगे. समान अवस्थावालोंने आलिंगन तथा छोटी उम्रवालोंने अभिवादन किया है. इस प्रकार जिसे जो करना उचित था उसी प्रमाणसे वह विदुरजीसे मिला. प्रेमकी अधिकतासे नेत्रोंसे आंसू झरने लगे है. विदुरजीमें जो अतिशय प्रेम प्रकट हुआ है उसके कारण वे दीन हो गये, उनका हृदय आकुल हो उठा. पहली अवस्थामें जब विदुरजी गये हुए थे, उस समय उनमें जो प्रेम था, वह भगवान्के समान आनन्दरूपवाला नहीं था, अतः उनसे न मिलनेके कारण वे प्रेमसे कातरताकी स्थितिमें उत्कण्ठित हो उठे. यह स्थिति सबकी थी. विदुरजीकी पूजा करनेमें मुख्यका अधिकार होनेसे युधिष्ठिरजीने ही पूजा की. समान प्रदान किये जाने पर विदुरजीने आसन स्वीकार किया. इस प्रकार उन्होंने अपनी पूजा किये जाने पर निषेध नहीं किया यह सूचित हुआ।।३-६।।

विदेशसे आए हुए मनुष्यकी थकान आदि उतरने पर कुशल समाचार आदि पूछने चाहिए, ऐसा धर्म शास्त्रोंमें लिखा है. उनके श्रम निवृत्त होनेके प्रसंगमें इस प्रकार कहा जा रहा है:

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तम् आसीनं सुखम् आसने।
प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषाञ्च शृण्वताम् ।।७।।

उन विदुरजीके भोजन कर लेने पर तथा विश्रामसे निवृत्त होकर सुखपूर्वक आसन पर विराजमान होने पर, जिसे दूसरे भी सुन सकें इस प्रकार विनयसे नम्र हुए राजा युधिष्ठिर पूछने लगे।।७।।

सब विदुरजीसे नहीं पूछ रहे हैं, केवल राजा युधिष्ठिर ही प्रश्न कर रहे हैं. इस बातको बतानेकेलिये ही ''वे सब सुन रहे हैं'' ऐसा कहा है. युधिष्ठिरके पूजा करनेके बाद, जो बीचमें आये हैं वे भी सब सुन रहे हैं, यह बतानेकेलिये मूलमें 'च'कार लिखा है।।७।।

सबसे पहले राजा युधिष्ठिर उनमें अपने प्रति दया उत्पन्न कर रहे हैं:

युधिष्ठिर उवाच
अपि स्मरथ नो युष्मत् पक्षच्छायासमेधितान्।
विपद्गणाद् विषाग्न्यादेः मोचिता यत् समातृकाः।।८।।
कया वृत्त्या वर्त्तितं वः चरद्भिः क्षितिमण्डलम्।
तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले।।९।।

विष तथा लाक्षागृह की अग्नि आदि विपत्तियोंमें हम माता सहित बचा लिए गए, आपके ही पक्षके छाया तले हमारा विकास हुआ, इस प्रकारके हम क्या कभी आपके द्वारा याद भी किये जाते हैं? इस पृथ्वी मण्डल पर भ्रमण करते समय आपने किस आजीविकासे अपना जीवनयापन किया? इस भूतलके क्षेत्रोंमें जो मुख्य तीर्थ हैं, उनमेंसे आपने किन-किनका सेवन किया?।।८-९।।

आपके पक्षकी छायामें बढे हुए हमें क्या कभी आप याद करते हैं? पहले तो आपने ही हमारी रक्षा की. हमारी ओर आपका पक्षपात था इसलिए आपने हमारा हित आचरण किया. पक्षिओंमें ऐसी व्यवस्था है कि अपने पंखोकी छायामें बच्चोंकी वृद्धि करते हैं. इसके बाद माता-पिता अपने पुत्रको भी कालान्तरमें भूल जाते हैं. उसी प्रकार आपने हमको बढाया है, यह

बतानेकेलिये मूलमें 'पक्षच्छाया' शब्द दिया है. विदुरजीको याद दिलानेकेलिये, उनके द्वारा पाले जानेवाली बात कही गई है, और कहा है कि आपने हमें विपत्तिओंसे छुडाया है. जहरके लड्डू आये थे तथा लाखके बने हुए महलोंका दाह किया था, इन दो प्रसंगोकी याद दिलाई है, जिसमें जहरके लड्डूवाला प्रसंग भीमसेनको लक्ष्य करके कहा है और लाक्षागृहके दाहकी बात सबकेलिये कही गई है. इस प्रकार कभी आपने एकको तो कभी सभीको एक साथ बचाया है. हमें ही नहीं, हमारे साथ-साथ माताको भी बचाया है. ऐसा कहकर यह बताया है कि स्त्रिओंको मारनेमें भी शत्रुको किसी प्रकारका विचार नहीं आया. अथवा हमारी रक्षा करनेवाली माता सहित आपने हमारी रक्षा की ऐसा बताया है।।८।।

वर्णाश्रमकी जो आजीविका शास्त्रोंमें लिखी है उसीके अनुसार रहे अथवा भगवानकी इच्छासे जो कुछ मिल उससे सन्तुष्ट रहे? आपको तो जीवनकी कोई विशेष इच्छा नहीं है, अतः स्वतंत्रता नहीं है. यहां कर्तापनेको बतानेवाली तृतीया विभक्तिका प्रयोग नहीं किया है. केवल जीवनके साधनरूपमें आजीविका इत्यादिके साथ सम्बन्ध मात्र है, यह बतानेकेलिये मूलमें छठी विभक्ति लिखी गई है. पृथ्वीके ऊपर फिरनेमें तो अपनी स्वतंत्रताको कहनेकी इच्छा रहती है, इसलिए वहां कर्ताके सम्बन्धमें तृतीया विभक्ति दी गई है. ''पृथ्वी मण्डलमें फिरते हुए'' ऐसा कहा है, वहां अत्यन्त संयोगके अर्थमें द्वितीया विभक्तिका प्रयोग हुआ है. आप सब स्थलमें एक प्रकारका अन्न न होनेसे त्यागकी भावना करके जीवित रहे हो या अत्यागकी भावना करके जीवन बिताया है, यह पूछनेका अर्थ है. इतने दिनों तक यदि परित्यागकी भावनासे रहे हो तो अब बादमें भी यहीं रहोगे, युधिष्ठिरजीका ऐसा मनोरथ है. क्षेत्र जिनमें मुख्य है ऐसे कितने तीर्थोंका आपने सेवन किया है. जहां जलकी मुख्यता हो वह 'तीर्थ' कहलाता है तथा जहां स्थलकी महत्ता हो उसे 'क्षेत्र' कहा जाता है. किसी स्थान पर ये दोनों साथ-साथ होते हैं, जैसे कि प्रयागमें जल व स्थल दोनोंकी मुख्यता है. इस प्रकार आपने पृथ्वीके सारे ही तीर्थों व क्षेत्रोंका सेवन कर लिया है, अतः अब आपसे कोई स्थान बचा नहीं रह है. तात्पर्य यह है कि अब तो आप यहां ही निवास किजीए।।९।।

जब तक फल सिद्ध न हो और जब तक पूरी तरह चित्त शुद्ध न हो तब तक तीर्थोमें भ्रमण करना चाहिए, यदि विदुरजी ऐसा कहें तो उसका स्पष्टीकरण

दिया जा रहा है:

भवद्विधा भागवताः तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ।।१०।।

हे समर्थ, आप जैसे भगवान्के भक्त तो अपने आपमें ही तीर्थ रूप हैं. अतः आपके हृदयमें विराजनेवाले गदा धारण किये हुए भगवान् द्वारा तीर्थोंको भी तीर्थरूप बना दिया जाता है।।१०।।

आपके द्वारा तीर्थाटन करनेमें कोई गुण नहीं. तीर्थाटनके अधिकारी तो ओर ही होते हैं. हमारे जैसे भी तो तीर्थोमें भ्रमण करते ही हैं, ऐसा यदि विदुरजी कहे तो वहां कहा जाता है कि यह बात तो सत्य है कि आप जैसे तीर्थोमें फिरते हो तो किसी अपने स्वार्थसे नहीं प्रत्युत् तीर्थो पर कृपा करनेकेलिये घूमते हो. नवे स्कन्धमें भगीरथ राजाने गंगाजीसे पृथ्वी पर पधारनेकी प्रार्थना की, उस समय गंगाजीका यह कथन है कि ''मैं पृथ्वी पर तो आउं परन्तु पृथ्वीके लोग मुझमें अपने पाप धोएंगे तब, मैं उन पापोको कहां धोउंगी?''. तब भगीरथजीने कहा है कि ''भगवान्के भक्त आपमें स्नान करेंगे, वे अपने अंगके संगसे आपके पापोंको दूर कर देंगे, कारण यह है कि भक्तोंमें पापोंके हरण करनेवाले हरि भगवान् निवास करते हैं'' ऐसा वाक्य है. इसलिए आप जैसे भक्त तो स्वयं ही तीर्थरूप हैं. पापी पुरुषोंके स्पर्शसे पापिओंके दोष तीर्थमें आ जाते हैं, इस प्रकार तीर्थ भी दोषयुक्त हो जाते हैं. उन तीर्थोंके दोषको भगवान्के भक्त ग्रहण करके, जो उन दोषोंके कारण पहले अतीर्थरूप हो गये हैं, उन्हें भी तीर्थरूप बना देते हैं. तब तो तीर्थोके दोष जब भक्तोंमें आते हैं तब उनकी क्या दशा होती है? इस शंकाका समाधान करते हैं कि भक्तोंके हृदयमें भगवान् गदा लेकर प्रकट रूपसे विराजते हैं. वह गदा आसन्य प्राणरूप होनेसे भगवानमें या पापरहित शुद्ध साधनमें दोषोंको नहीं रहने देती. वेदोंमें आसन्य प्राणके विषयमें लिखा है. वहां आसन्य प्राणसे सब पापका नाश लिखा है और यहां आसन्य प्राणरूप गदाको लेकर भगवान् भक्तोंके हृदयमें विराजते हैं. अतः ऐसे भक्तोंका स्पर्श तीर्थोंको होने पर वे पाप भगवान्के समीपमें आते ही नष्ट हो जाते हैं. इस श्लोकका यह अभिप्राय है कि भगवानकी आज्ञा हो तभी भक्तोंको तीर्थाटन करना चाहिए. भगवानकी आज्ञा न हो तो तीर्थाटन नहीं करना चाहिए. क्योंकि भगवानका भक्त तीर्थोमें जावे, उन तीर्थोमें पापी पुरुषोंके स्नानसे जो पाप लगा हुआ हो तो भक्तके हृदयमें विराजमान भगवानको वह पाप दूर करना पडता

है. जिससे भगवानको श्रम होता है. अतः भगवानकी आज्ञा पूरी तरह समझकर ही भगवद्भक्तोंको तीर्थोमें जाना चाहिए, इसके अलावा नहीं. अतः अब आपको यहीं रहना चाहिए, ऐसा अभिप्राय युधिष्ठिरजी विदुरजी महाराजको बता रहे हैं।।१०।।

इस प्रकार पधारे हुए विदुरजीसे कुशल प्रश्न पूछकर, विदुरजी भगवान्के भक्त होनेसे भगवानका वृतान्त जानते होंगे, ऐसी सम्भावना करके पूछते हैं:

अपि नः सुहृदस्तात! बान्धवाः कृष्णदेवताः।
दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्यां सुखम् आसते ।।११।।
इत्युक्तो धर्मराजेन तत् सर्वं समवर्णयत्।
यथानुभूतं क्रमशो विना यदुकुलक्षयम् ।।१२।।

हे तात, श्रीकृष्ण ही जिनके देवता हैं, ऐसे हमारे स्नेही बन्धु यादव अपनी पुरी द्वारकामें सुखपूर्वक तो निवास करते हैं न? आपने उन्हें देखा तो होगा ही अथवा उनके विषयमें सुना ही होगा? ।।११।।

इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरके पूछने पर, विदुरजीने जो अनुभव जिस प्रकार किया था उसे क्रमपूर्वक बताने लगे. केवल यदुकुलके विनाशकी बातको नहीं बताया।।१२।।

विदुरजीका यादवोंके साथ वैसा सम्बन्ध नहीं है जैसा युधिष्ठिरजीका यादवोंके साथ है, इसलिए 'हमारे बान्धव' ऐसा कहा अथवा विदुरजीको भी अपने आत्माके ही रूपमें मानकर 'अपने बन्धु' ऐसा कहा है. 'सुहृद्' मित्रका अर्थ बताता है. हे तात! यह स्नेहमय सम्बोधन दिया है. इससे यह सूचित हुआ है कि विदुरजीका भी यादवोंमें स्नेह है. यादव सुखपूर्वक निवास करते हैं, क्योंकि उनके एक मात्र देवता श्रीकृष्ण ही हैं. आपने उन्हें देखा होगा? अथवा जब आप तीर्थयात्रामें थे तो आपका अवधूत वेष होनेसे उनके पास जानेमें लज्जा आ गई हो, अतः उन्हें न भी देखा हो? तो भी आप भगवदीय हैं, इसलिए उनके विषयमें आपने सुना तो होगा ही. वे यादव अपनी पुरी द्वारकामें रहते हैं, यह पुछनेका अभिप्राय यह है कि अपने स्थान पर व्यक्ति थोडेसे साधनोंसे भी सुखी रहता है. यदुराजा भक्त थे, अतः उन्हींके वंशके होनेसे यादवोंको भी सुख होनेकी संभावना है. इसलिए तीनों प्रकारके दुःख उन्हें नहीं हो सकते, यह कहा. तिस पर भी उनके देवता श्रीकृष्ण

होनेसे आधिदैविक दुःख उनमें नहीं है. यदुवंशके होनेसे आध्यात्मिक दुःख भी उनमें नहीं है और अपनी ही पुरीमें निवास करनेके कारण आधिभौतिक दुःख भी उनके पास नहीं है. इस प्रकार यादवकुलके विषयमें सम्भावना की गई है. आपके मुखसे निश्चयात्मक समाचार सुनकर हमें सुख होगा, ऐसा था, युधिष्ठिरजीके पुछनेका अभिप्राय है ।।११।।

इस तरह अपनोंके विषयमें संभाल पूछी. जहांसे आरम्भ करके युधिष्ठिरजीने कुशल-क्षेम पूछी थी, वहांसे लगाकर विदुरजीको जिस प्रकारका अनुभव हुआ था, उस प्रकार कुलके विषयमें सारा वर्णन बताया. केवल मूसलवाली घटनाके विषयमें नहीं बताया. प्रभासलीलाके विषयमें उद्धवजीसे जो विदुरजीने सुना उसे युधिष्ठिरके प्रति नहीं कहा।।१२।।

''राजाकी सभामें बोले नहीं अथवा विपरीत बोले तो ऐसा मनुष्य पापी कहलाता है'' ऐसा वाक्य है. यहां सभारूपी समाजमें धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा पूछे जाने पर भी विदुरजीने प्रभास लीलाकी सत्यताको उद्‌घाटित क्यों नहीं किया? ऐसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं:

नन्वप्रियं दुर्विषहं नृणां स्वयम् उपस्थितम्।
नावेदयेत् सकरुणो दुःखितान् द्रष्टुम् अक्षमः।।१३।।

बहुत ही कठिनाईसे जिसे सहन किया जावे, ऐसे अप्रिय मनुष्योंकेलिए स्वयं आ पडा है. वे विदुरजी दुःखियोंको देख सकनेमें समर्थ नहीं हैं, अतः करुणाशाली उन विदुरजीने प्रभासलीलाकी घटनाको नहीं बताया।।१३।।

जो पूछा हो उसे सब कहना चाहिए, परन्तु अप्रिय बात नहीं कहनी चाहिए. कहा भी है कि, ''सत्य बोले, प्रिय बोले परन्तु ऐसा सत्य न बोले जो अप्रिय लगता हो, साथ ही ऐसा खोटा भी न बोले जो प्रिय लगता हो, यही सनातन धर्म है'' ऐसा वाक्य होनेसे, पूछा हुआ होने पर भी तथा सत्य होने पर भी यदि वह कडवा लगता हो तो नहीं कहना चाहिए. उसमें भी जो सहन हो ही नहीं सकता उसे तो नहीं ही कहना चाहिए. क्योंकि श्रोता सुनने मात्रसे ही मर जाय तो ऐसी बात नहीं सुनानी चाहिए. यदि वह बात कही ही न जाय तो सुननेके बाद जो कार्य करना चाहिए, वह कैसे सिद्ध हो? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि वह तो स्वतः ही प्राप्त होता है, अपने ही किसी मनुष्य द्वारा कह दिया जाता है, स्वयं आगे होकर कहें उससे क्या? यही विचार करके विदुरजीने प्रभासलीलाकी

घटना नहीं बताई. तिस पर भी यदि वक्ता दयालु हृदयवाला हो तो बिल्कुल ही नहीं कहता, क्योंकि वैसी बात कहनेसे सुननेवाला दुःखी होता है. उसे देखकर स्वयंको भी दुःख होना सम्भव है. इसलिए धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र तथा युक्तिसे भी दूसरोंको दुःखी करनेवाली बात नहीं कहना चाहिए. विदुरजी दुःखियोंको देखनेमें असमर्थ हैं, क्योंकि वे दयासे भरे हृदयवाले हैं।।१३।।

इसलिए विदुरजीके हृदयमें जो अभिप्राय है, उसे कोई न जान सके, ऐसा वह गुप्तभाव है, अतः अपने अवसरकी प्रतिक्षा करते हुए विदुरजी वहां ही विराजे ऐसा कहा जा रहा है:

कञ्चित् कालम् अथावात्सीत् सत्कृतो देववत् सुखम् ।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत् सर्वेषां प्रीतिम् आवहन्।।१४।।

अपने बडे भाई धृतराष्ट्रका कल्याण करनेवाले और सबसे प्रीति करनेवाले विदुरजी सत्कार रूपमें देवताओंके समान सुख प्राप्त करते हुए कुछ समय वहां ही रहे।।१४।।

युधिष्ठिरके पूछ लेनेके बाद, जिनका सम्मान देवताओंके समान हुआ है ऐसे विदुरजी जैसा सब कहते हैं वैसा ही करते हैं, उन्हें अपना मानते हैं, क्योंकि सबको विश्वास उत्पन्न करते हैं, अतः वहां उन्हें सुख प्राप्त हो रहा है. जैसे अन्य विदुरजीका सम्मान करते हैं, वैसे वे वहां रह रहे हैं. वहां रहनेका कारण यह है कि अपने बडे भाई धृतराष्ट्रको वैराग्य उत्पन्न करके मोक्ष सिद्ध करवाना चाहते हैं, इसलिए सबको प्रेम करते हैं. अतः विश्वास उत्पन्न करनेकेलिये अथवा जो दुःख अब होना है उसे दूर करनेमें अपना धर्म मानकर विदुरजी वहां निवास कर रहे हैं।।१४।।

अब यहां यह शंका हो कि विदुरजी तो धृतराष्ट्रसे छोटे हैं और दासी पुत्र हैं, इसलिए उन्हें उपदेश देनेका अधिकार नहीं है, अतः उनका दिया हुआ उपदेश किस प्रकार मोक्षको सिद्ध कर सकेगा? इसका निवारण कहते हैं:

अबिभ्रद् अर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु ।
यावद् दधार शूद्रत्वं शापाद् वर्षशतं यमः।।१५।।

जब तक शापके कारण यम देवताने सौ वर्ष तक शूद्रपना धारण किया, तब तक पाप करनेवाले जीवोंको यथायोग्य दण्ड देनेका कार्य अर्यमाने किया है।।१५।।

देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा इनका उत्तरोत्तर ज्ञान न होनेसे पहले-पहले इन्हें बलवान माना है. क्योंकि आत्माका ज्ञान न होनेसे अन्तःकरणको बलिष्ठ माना है. अन्तःकरणका ज्ञान हो तब तक प्राणोंको बलवान माना है. जब तक प्राणका ज्ञान न हो तब तक इन्द्रियोंको बलवान माना है. ऐसे ही इन्द्रियोंका ज्ञान न होने तक शरीरको बलवान माना है. उसमें 'यह अमुक मैं हूं' ऐसा आत्माको जान ले तो अन्य धर्म दुर्बल पड जाते हैं. इसलिए काकभुषंडजी भी उपदेशकके रूपमें माने गये हैं. काकभुषंडजी पूर्ण ज्ञानवाले थे, परन्तु सभी स्थान पर बिना विचार किये अन्न खानेसे अथवा देह त्यागके समय भी काक जैसी ही वृत्तिओंमें रहनेसे वे काकपनेको प्राप्त हो गये थे, परन्तु उपदेश देनेवाली स्थिति उनमें थी. उसी प्रकार विदुरजी धृतराष्ट्रके छोटे भाई अथवा शुद्र नहीं थे, वरन् यमराज थे. ''प्रजाको नियममें रखनेवाले यमको माण्डव्य ऋषिका शाप होनेसे, सत्यवतीके पुत्र व्यासजीसे अपने भाई विचित्रवीर्यकी क्षेत्ररूपा दासीमें हुए हैं'' ऐसा तृतीय स्कन्धमें कहा जायेगा. यमराजको शाप होनेसे वे शूद्र बने. तब यमलोकके अधिकारी कौन रहे? ऐसी शंका उत्पन्न होने पर कहते हैं कि विवस्वान्, अर्यमा, पूषा इत्यादि बारह सूर्य हैं. उनमें दूसरे क्रम पर अर्यमा हैं. जब तक माण्डव्य ऋषिके शापसे यम देव शूद्र बने तब तक अर्यमा यमपुरीके अधिकारी रहे. इसलिए यमका अधिकार अर्यमाने किया है. जिसने जितने पाप किये हों उस प्रमाणसे दण्ड देनेका अधिकार भोगा है. इसलिए जब यमराज शूद्र हुए तो विदुरजीके रूपमें रहे. उनके सौ वर्षका शाप पूरे हो जाने पर शूद्रपना जाता रहा. अतः विदुरजी द्वारा उपदेश देनेमें कोई दोष नहीं रहा।।१५।।

युधिष्ठिरजीको थोडा बहुत राज्यभोगोंने घेर लिया अतः विदुरजीकी उपस्थितिको भूला बैठे, इस प्रसंग पर आगे कहा जा रहा है:

युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलन्धरम्।
भ्रातृभिर्लोकपालाभैः मुमुदे परया श्रिया।।१६।।

युधिष्ठिरने राज्य प्राप्त करके, कुलको धारण करनेवाले पौत्र परीक्षितको देखकर, इन्द्रादिक लोकपाल जैसी कान्तिवाले भाईयोंके साथ उत्तम लक्ष्मीको प्राप्त करके आनन्दका अनुभव किया।।१६।।

राज्यको प्राप्त करके और राज्यके योग्य पौत्रको देखकर, इन्द्र आदि जैसे अपने भाईओंके साथ, इन्द्रादिको भी प्राप्त न हो सकनेवाली लक्ष्मीसे

युक्त, अथवा ब्रह्माजीके समान लक्ष्मीसे युधिष्ठिर हर्षसे प्राप्त हुए. ''राज्य वंश, भाईगण और धन ये अज्ञानके कारणरूप हैं'' इस सुखमें डूब जाने पर फिर अन्य कोई ज्ञान शेष नहीं रहता।।१६।।

यदि ऐसा हो भी तो क्या होगा? उस प्रसंगमें कहते हैं:

एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया।
अत्यक्रामद् अविज्ञातः कालः परमदुस्तरः।।१७।।

इस प्रकार घरमें आसक्त हुए और उन्हीं गतिविधियोंमें प्रमत्त बने पाण्डवोंको नहीं जाना जा सकनेवाला तथा बहुत ही दुःखसे पार किया जा सकनेवाला समय प्राप्त हुआ।।१७।।

भगवान् जब भूतल पर बिराजते थे तभी परीक्षित युवक हो गये थे. तब पाण्डवोंने द्वारकामें जाकर भगवान्से पुछा था और प्रभु की आज्ञानुसार पौत्र परीक्षितको राज्य पर स्थापित किया था और वे सदैव भगवानका चिन्तन करते रहते थे. वे भगवानकी भक्तिमें ही दीक्षित होनेके योग्य थे. भगवानकी भक्तिमें जुड जानेकेलिये ही भगवान् सत्रमें दीक्षित हुए, ऐसा कहा है, जिससे पाण्डवोंको राज्यदोष नहीं हुआ. इस विषयमें कहते हैं कि पाण्डवोंने छत्तीस वर्ष तक राज्य किया. सोलह वर्ष बाद परीक्षित राज्य करने योग्य हो गये थे. ऊपर कहे गये प्रमाणसे वे घरमें आसक्त हो गये थे, अतः घर सम्बन्धी कार्योमें ही व्यग्र रहा करते थे. वे अपने काममें सावधान नहीं रह गये थे. उन पाण्डवोंको यह विचार ही नहीं आया कि कितना काल बीत है, वे यही समझते रहे कि हम ही सदैव राज्य सिंहासन पर बैठे रहेंगे।।१७।।

कुछ समय रहनेके बाद विदुरजी यह जान गए कि ये पाण्डव अपने कार्यमें इतने प्रमत्त हो चुके हैं कि कालके ग्रास हो जाएंगे. यदि ये स्वार्थमें न डूबे रहें और भक्त हो जावें तो अयोध्याकी तरह सारा नगर ही वैकुण्ठमें चला जाय. धृतराष्ट्रका भी कोई कर्त्तव्य शेष न रहे, क्योंकि जब सारा नगर ही वैकुण्ठको जावें तो धृतराष्ट्र भी जावें ही. पर ऐसा नहीं हो सका. उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि कलियुगका प्रवेश होगा. सबकी बुद्धिका नाश हो जाएगा. एक दुसरेको मारेंगे, तब भीमसे धृतराष्ट्रको बडा भय होगा. ऐसी शंका करके धृतराष्ट्रको बोध करानेकेलिए विदुरजी प्रसन्न हुए, अब उस प्रसंगको कहते हैं:

विदुरस्तद् अभिप्रेत्य धृतराष्ट्रम् अभाषत।

राजन्! निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयम् आगतम्।।१८।।

इस वास्तविकताको जानकर विदुरजी धृतराष्ट्रसे बोले कि हे राजन्, सामने आते हुए भयको देखो और जितना शीघ्र हो सके यहांसे निकल चलो ।।१८।।

कलियुग रूप काल बहुत ही कठिन है. उस प्रकारके काल अंश बहुत व्यतीत हो गये हैं. सबका नाश करनेवाले कालके मध्यमें धृतराष्ट्र पडे हुए हैं. यह जानकर धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजी बोले कि है राजन्, तुम शीघ्र ही घरसे निकलो, क्योंकि राज्यकेलिये सदैव बहुत अधर्म करना पडता है. यही कारण है कि राजागण कालके भक्षण शीघ्र ही बन जाते हैं. शीघ्र निकलनेमें कारण बताया जा रहा है कि इस आते हुए भयको तुम देखो. जिस प्रकार काल भगवानका अधिकारी है, उसे कालकी पुत्री जरा वरण करने गई. इसी प्रकार कालका एक अनुचर भय भी है, जिसका वर्णन चतुर्थ स्कन्धमें किया जायेगा. हमारे भगवान् भूतलके ऊपरसे पधार चुके हैं, इसलिए जो भगवान्के भक्त हैं उन्हें भी अपने कल्याणकेलिये घरसे निकल जाना चाहिए. इतना होने पर भी कोई घरसे न निकले तो अष्टावक्र मुनिने जिनको शाप दिया था और भौमासुर जिसे उठा लाया था उस कुशकी स्त्रिओंके समान यह भयरूप अधिकारी सबका भक्षण कर जायेगा. गीतामें विश्वरूप दर्शनके समय अर्जुनने कहा है कि ''यह सब आपके मुखमें प्रवेश कर रहे हैं और भयसे कांपते हुए कितने ही हाथ जोडकर आपकी स्तुति कर रहे हैं''. वहां पहले ही निरूपण कर दिया है. तदनुसार जो पहले ही लक्ष्यपनेसे रहते थे और उन पर भगवानकी द्रष्टि थी जिससे भयने उनका भक्षण नहीं किया, पर हमारा भक्षण करनेकेलिये तो भय आ रहा है. विधिपूर्वक दीक्षामें जिस प्रकार गुरु अपनेमें स्थित ज्ञानको शिष्यकेलिये प्रदान करते हैं, तान्त्रिक दीक्षामें भी जिस प्रकार अपनेमें रहनेवाले देवताओंका संचार गुरु अपने शिष्योंमें कर देते हैं, उसी प्रकार अपनेमें रहनेवाले ज्ञानका संचार विदुरजी अपने सामर्थ्यसे धृतराष्ट्रमें कर रहे हैं. अपने सामर्थ्यकी शक्तिसे वे धृतराष्ट्रको सामने आते हुए काल भयको बताते हुए कहते हैं कि देखो सामनेसे आनेवाले भयको देखो।।१८।।

पहलेकी ही तरह अब भी इसे हटानेका कोई उपाय करो, ऐसी शंका यदि धृतराष्ट्रकी ओरसे की जाय, वहां कहते हैं:

प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित् कर्हिचित् प्रभो।

स एव भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः।।१९।।

हे प्रभो, जिसे दूर करनेका उपाय किसी भी समय किसीसे भी नहीं किया जा सकता वे ही भगवान् काल रूपसे हम सबकेलिए आ रहे हैं।।१९।।

भगवान् भूतल परसे पधार गए, इसलिए अन्य कोई भी उस कालका प्रतिकार नहीं कर सकता. पहले भी यही व्यवस्था थी. 'प्रभो' सम्बोधनमें पाण्डवोंको छलनेवाले कालमें आपका प्रभुपना चला था, यहां भी वह प्रभुपना चले ऐसा आवश्यक नहीं है. यह कहकर धृतराष्ट्रसे विदुरजीने उपहास किया है. अपना भक्षण करनेकेलिये ही यह काल चला आ रहा है अथवा सभीका भक्षण करने आ रहा है. जो यह काल सभीका भक्षण करने चला आ रहा है, तो कोई भी इसे दूर करनेका उपाय नहीं करता उसी प्रकार हमें भी इससे बचनेका कोई उपाय नहीं करना चाहिए. यदि यह काल केवल अपना ही भक्षण करने चला आ रहा हो तो पाण्डवोंका आश्रय छोडकर अन्यका आश्रय कर लेना चाहिए. क्या इसका कोई उपाय ही नहीं है? ऐसी शंका करके कहते हैं कि पहले कृष्ण भगवानने तुम्हारें पुत्रोंको मारा वे ही अब तुम्हें और हमें मारने चले आ रहे हैं. भगवान् कृष्ण भूतल ऊपरसे पधार गये हैं ऐसा नहीं मानना चाहिए. भगवान् पहले बीजरूपसे रहते थे, अब भी बीजरूपसे रहते हैं. अतः उनका स्वरूप ही अलग हुआ है, नाम-रूप तो वही है. इसे बतानेकेलिये कहते हैं, इसलिए सबकी गणना रखते हैं. पहले जिस प्रकार पाण्डव बच गये थे उसी प्रकार अब भी बच जायेंगे. उनका आश्रय करनेसे क्या हम भी बच जायेंगे? ऐसी आशंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं कि अपन सबका काल आ रहा है. यह पहलेकी अपेक्षा विलक्षण है. इस समय तो यह मुझे भी ले जायेगा. यह बतानेकेलिये ही ''अपन सबका काल आया है'' ऐसा कहा है।।१९।।

तब फिर हमें क्या करना चाहिए? ऐसी शंका करके कहते हैं कि जिन दोषोंके कारण काल भक्षण कर जाता है उन दोषोंको छोड देना चाहिए. अर्थात् अहंता-ममताको छोड देना चाहिए, इसी अभिप्रायसे आगे कहा जा रहा है:

येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि।
जनः सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः।।२०।।

जिस कालसे पराभव पाया हुआ यह मनुष्य बहुत ही प्रिय अपने प्राणोंको भी छोड देता है तब धन इत्यादिसे इसे अलग हो जाना पडे तो इसमें

कहना ही क्या?।।२०।।

काल आत्माका ग्रास नहीं कर सकता. कारण यह है कि आत्मा सब स्थल पर व्याप्त है. अपने द्वारा उत्पन्न किये गये शरीर आदिमें ही वह प्रवेश कर सकता है. रेशममें रहनेवाले कीडेके समान उन देहादिका भक्षण करता है. इसलिए देह और इन्द्रियों में अहंता-ममता आदि छोड देना चाहिए. देह इत्यादि तो रक्षा करनेवाले हैं, इन्हें कैसे छोडा जा सकता है? ऐसी शंका करके कहते हैं कि जब तक काल नहीं आता वहीं तक यह व्यवस्था है, जब काल आता है तो सदैव रक्षा करनेवाले प्राणोंको भी छोड देना पडता है. 'च' तथा 'एवं' ये दो अव्यय दिये गये हैं, वे रोग आदिको सूचित करते हैं. यह देह तो जायेगा ही, ऐसी सूचना देते हैं. जिन प्राणोंके मूलसे धन इत्यादि हैं, ऐसे बहुत ही प्रिय प्राणोंको भी छोड देना पडता है, वहां धन इत्यादिके छूट जानेका तो विचार ही क्यों हो? क्योंकि जब काल आता है तो बहुत परिश्रमसे पोषित किया यह देह भी छोड देना पडता है. देह प्राणोंको छोडकर चला जाता है।।२०।।

जो अपनेको छोडते हों उनमें ममताको छोड देना ही न्याय है इसलिए जब काल आ रहा है तो सबको छोड देना चाहिए. हम बीचमें ही इन सबको छोड दें, इसका क्या फल है? यदि इस तरहकी शंका धृतराष्ट्रकी ओरसे हो तो कहा जाता है:

पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयः।
आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहम् उपासते।।२१।।

पिता, भाई, स्नेही, सम्बन्धी और तुम्हारे पुत्रोंको मार डाला है. आपकी अवस्था भी चली गई है और बुढापेके कारण तुम्हारी देह भी गल गई है, फिर भी तुम दूसरेके घरमें क्यों पडे हुए हो।।२१।।

जो भोगे जानेवाले विषय हैं, वे इस प्रकार कहते हैं कि काल आ रहा है, इसलिए हम जा रहे हैं. तुम्हारा तो जीना भी मरनेके समान ही है. क्योंकि ''हमेशा प्रयास करनेवाला और बाहर फिरनेवाला रोगी, दूसरेका अन्न खानेवाला और दूसरेके स्थानमें शयन करनेवाला मरे बराबर ही है''. जिसका मरण होता है, वह उसका एक विश्राम है, ऐसा कहा है. इसलिए तुम्हें और हमें तो यह त्याग करना ही उचित है. भीष्म पितामह जो पिता ही थे, मारे गये. भुरिश्रवा आदि भाई मारे गये. शल्य आदि तुम्हारे मित्र मारे गये. दुर्योधन आदि

तुम्हारे पुत्र भी मारे गये. सब कुछ नाश हो है. इतनोंमेंसे एक भी मर जाय तो लज्जावाला रह नहीं सकता. जब हमारे सभी मार दिये गये तो अब हमें यहां क्यों रहना चाहिए? यही नहीं, आपकी अवस्था भी समाप्त हो गई है. कालकी कन्या जराने देहको गला दिया है. इतना सब कुछ होने पर भी तुम शत्रुके घरमें उसी प्रकार पडे हो जैसे घरकी रखवाली करनेवाला कुत्ता पडा रहता है. ऐसी बात कहकर विदुरजीने धृतराष्ट्रके मनमें ग्लानि पैदा की है।।२१।।

अब साधारणतया ग्लानि उत्पन्न करके, विशेष बात कही जा रही है:

अहो महीयसी जन्तोः जीविताशा यया भवान्।
भीमेनावर्जितं पिण्डम् आदत्ते गृहपालवत्।।२२।।

अहो प्राणियोंकी जीवन आशा कितनी बडी होती है. उस आशाके अधीन होकर तुम भीम द्वारा दिए गए अन्न पिण्डको घरके चौकीदार कुत्तेकी तरह खाते हो।।२२।।

जिस भीमसेनने तुम्हारे पुत्र दुःशासनका खून पी लिया था अर्थात् तुम्हारा ही खून पी डाला था, उसके अपमानपूर्वक दिये गये अन्नको बाहरके बलिदान पिण्डकी तरह आप खाते हो. जिस प्रकार घरके आंगनमें पडे हुए कुत्तेको अन्न डाला जाता है और वह कुत्ता उसे इसलिए जल्दी खा जाता है कि कोई अन्य कुत्ता आकर उसे न झपट ले, ठीक वही स्थिति तुम्हारी हो रही है।।२२।।

जिन्हें अभिमान नहीं है, उन्हें तो जो मिल जाय वही खाना योग्य है, यदि धृतराष्ट्र इस प्रकार कहें तो आगे उसका समाधान करते हुए कहते हैं:

अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः।
हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत्।।२३।।

जिनके ऊपर अग्नि डाली गई, जिन्हें जहर दिया गया, जिनकी स्त्रियोंको दूषित किया तथा जिनका घर व धन ले लिया गया, उन्हींके द्वारा दिए गए प्राणोंसे अब तुम्हारा क्या प्रयोजन है।।२३।।

यदि तुमने कभी भी उनका बुरा न चाहा होता तो इस प्रकार अभिमान रहित होकर भोजन करना उचित था, परन्तु तुमने तो पाण्डवोंके साथ सदैव शत्रुताका व्यवहार किया है. अतः दुःशासनका रक्त पीकर भीमने उचित ही किया. परन्तु तुम्हारे द्वारा यहां भोजन किया जाना उचित नहीं है. क्योंकि न तो शत्रुका अन्न खाना चाहिए और न ही शत्रुको खिलाना चाहिए. ''शत्रुका खाया

हुआ अन्न इस लोक तथा परलोकमें फल देनेवाला नहीं होता'' ऐसा स्मृतिओंमें कहा है. लाक्षागृहमें उनके ऊपर अग्नि डाली गई. भीमसेनको जहरके लड्डू खिलाए गए. लाक्षागृहमें तुमने पांचो पाण्डवोंका अपराध किया. उसमें साधारण रीतिसे भीमसेन भी आ था, उसका विशेष रूपसे अपराध किया गया, यह बतानेकेलिए जहरके लड्डूवाली घटना कही गई है. द्रौपदीके वस्त्र तथा केश खींचे गये, इस प्रकार उसे दूषित किया गया. पाण्डवोंको वृक्षकी छाल पहननेकेलिये विवश किया गया, इस प्रकार उन्हें भी दुषित किया गया. उनके रहनेका स्थान भी तुमने छीन लिया था, इस प्रकार तुमने तो उनका बहुत ही अपकार किया. उन्हींके द्वारा तुम्हारे जीवनकी रक्षा किया जाना लोक तथा शास्त्रके विरुद्ध है. वे तुम्हें खानेको देते हैं और तुम्हारे प्राणोंकी रक्षा करते हैं, ऐसे प्राणोंसे तुम्हें अब क्या लेना देना है. इस प्रकार जीनेसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं हैं, यह अभिप्राय हुआ।।२३।।

इस तरह सबका विरोध करके जिस देहका पोषण किया है, वह देह वैसे भी नहीं रहनेवाला, यह कहा है:

तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः।
परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव।।२४।।

इस प्रकार दीन बने हुए तदपि जीनेकी इच्छा रखनेवाले, यह शरीर चला न जावे ऐसी विचारधारावाले तुम्हारे इस शरीरको बुढापा पुराने वस्त्रकी तरह नष्ट कर देगा।।२४।।

यह बात नहीं है कि तुम इस ग्लानिका अनुभव न करते हो, तो भी तुम कृपण हो रहे हो. मांगनेका पदार्थ, मांगनेकी योग्यता, अपना स्वरूप तथा देनेवाला, इन चारोंमेंसे एकका अथवा सबका स्वरूप आदि विचारे बिना जो मांगता है उसे कृपण कहा जाता है. अथवा भीमसेनसे तुम्हें नहीं मांगना चाहिए. उसके पाससे मांगते हो इसलिए तुम कृपण हो. आज भी तुम्हें जीनेकी बहुत बडी इच्छा है. तुम्हारा शरीर वैसे भी बुढापेके कारण नष्ट हो जाता रहा है. पहननेका वस्त्र अथवा कोई ओर वस्त्र उपरना आदि प्रयोगमें न लेनेसे जीर्ण हो जाता है. फिर वह स्पर्श करने मात्रसे अथवा धोनेसे भी नष्ट हो जाता है।।२४।।

तो फिर अब हमें क्या करना चाहिए? ऐसा यदि धृतराष्ट्र पूछे तो उसका उत्तर है:

गतस्वार्थम् इमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः ।
अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः।।२५।।

धीर पुरुष वह होता है जो वैराग्यसे युक्त हो, बन्धनोंसे मुक्त हो हो किसीसे भी न जानी जा सकनेवाली गतिवाला होकर इस देहको अपना न मानते हुए छोड दे।।२५।।

विषयोंमें दोष देखनेसे जिन्हें वैराग्य उत्पन्न हो है फिर उसे आगे बाधा नहीं होती. इसलिए इस देहको वृक्षके समान बताया है. इस शरीरको ऐसी जगह छोडना चाहिए जहां इसका छोडना कोई न जान सके. जब तक शरीर नहीं छोड दिया जाता तब तक ही यह अपकार करनेवाला है. इस शरीरका त्याग भुने हुए बीजके समान करना चाहिए, जिसमेंसे फिर कभी अंकुरकी उत्पत्ति न हो. इस शरीरकी रक्षाका प्रयोजन तब तक ही मानना चाहिए जब तक इससे अपना(आत्म सम्बन्धी) कार्य सिद्ध हो. कार्य सिद्ध होने पर इस देहका परित्याग कर देना चाहिए, इस स्थितिको ही गतस्वार्थ कहा है. अथवा सिद्ध हो है स्वार्थ जिसका ऐसे देहको छोड देना चाहिए. पहले कहे अनुसार त्यागकी परिभाषाके अन्तर्गत जिनका ज्ञान–धर्म आदि स्वार्थ चला है, उनको देह त्यागना ही उचित है. यह शरीर अपकार ही करनेवाला है. इसलिए इसमेंसे आसक्तिको छोडकर और इसकी सांकलरूप पुत्रादिका परित्याग करके इसके इस दुष्ट देहको छोडना चाहिए. जिस आत्माकी गतिको नहीं जाना जा सकता है अथवा यह शरीर जहां छोडा जाना है उसे कोई न जान सके. पुत्रादि श्रृंखलासे फिर न बंधना पडे, इसलिए इसको छोडनेकी गति भी किसीको ज्ञात नहीं होनी चाहिए. इसका क्या फल होता है, उसे बताया जा रहा है. इस प्रकार जो शरीरको छोडता है, वह धीर पुरुष कहलाता है. धीर पुरुषको जो फल मिलता है, वही उसको मिलता है. ''ब्रह्मकी धारणा करके, प्राणोंको जीतकर, योगमें प्रीति रखकर इस शरीरको छोडे अथवा युद्धमें आगे होकर इस देहका त्याग करे'' ये दोनों प्रकारकी मृत्यु मिलना बडा कठीन है. छठे स्कन्धमें वृत्रासुरके कथनके अनुसार दोनों प्रकारकी मृत्युको उत्तम माना है. यही धैर्यका फल है. उस फलके मिलने तक ही धैर्य धारण करना चाहिए. यह बात बतानेकेलिये मूलमें 'वै' अव्यय दिया है. जहां फलकेलिये ही धैर्यकी गणना की गई है. वहां निश्चयात्मक फलपनेसे इस धैर्यकी गणना हुई है।।२५।।

इस तरह सब प्रकारसे शरीरको छोडना बताया है. अब शरीरको छोडनेका दूसरा प्रकार भी बतलाते हैं:

यः स्वकात् परतो वापि जातनिर्वेद आत्मवान्।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तमः।।२६।।

अपना हित चाहनेवाला, सम्बन्धी अथवा शत्रुसे जिसे वैराग्य ही उत्पन्न हो है, ऐसे पुरुषको धैर्यवान होकर, भगवानको हृदयमें धारण करके घरसे निकल जाना चाहिए, वही पुरुष उत्तम है।।२६।।

उपदेश देनेवाला और अपना हित करनेवाला बन्धु हो अथवा शत्रु हो तो भी वक्ताके गुण-दोषको मनमें नहीं रखना चाहिए. ऐसी द्रष्टिसे जिसे वैराग्य उत्पन्न हो है तथा घरसे निकल पडा है, वही उत्तम है. इसलिए देह तथा इन्द्रियों आदिके अज्ञानसे दूसरोंकेलिये विनियोग करके जिससे सबका नाश हो जाय, इस प्रकार देहका त्याग करना चाहिए, यह प्रथम पक्ष है. अपने शरीर आदिका विनियोग भोगोंकेलिये नहीं करना चाहिए. जिस किसी भी वाक्यसे तृष्णा उत्पन्न न हो इसलिए जिसे वैराग्यवान् पुरुष देहादिके परिकरके साथ भगवानको जाने, प्रभुको जाननेके बाद हृदयमें पधरावे, इसके बाद देह त्याग करनेकी इच्छाको छोडकर, उस देहसे दुर्लभ ऐसे भगवानका स्मरण करता-करता बाहर निकल जाय. घर बाधक होनेसे फिर उसका सम्बन्ध न हो जाय इसलिए कर्मके सन्यासी होकर बाहर जाये, ऐसा पुरुष सब प्राणीकी तुलनामें उत्तम है।।२६।।

तब फिर मुझे क्या करना चाहिए, इस प्रकार धृतराष्ट्र पूछे तो उसकेलिए कहा जा रहा है:

अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान्।
इतोऽर्वाक् प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः।।२७।।

अब अपनोंसे भी जाननेमें न आ सके इस प्रकार तुम उत्तर दिशामें जाओ. क्योंकि अब जो काल आनेवाला है वह पुरुषोंके गुणोंका अत्यधिक खिचाव करेगा।।२७।।

तुम्हारा मार्ग ही अलग है. अतः तुम्हें तो देहका त्याग करना नहीं है. अन्य स्थान पर आपका विनियोग हो जायेगा, यह बात भी नहीं. इसलिए इस स्थानका त्याग करना ही उत्तम है. देहका त्याग भी न हो, दूसरे स्थल पर विनियोग भी न हो तो ऐसे त्यागका क्या फल है? ऐसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि आप उत्तर दिशाकी

ओर जाओ. क्योंकि उधर जाना महाप्रस्थान कहलाता है. वह एक ही मार्ग बताया है. ''जो गुण रहित होता है, उसे दोष नहीं लगता, फिर भी एक गुण है'' इस न्यायसे यहां रहनेमें दोष उत्पन्न होना सम्भव है. इसलिए उत्तर दिशा देवताओं तथा मनुष्योंकी शांत दिशा है, ऐसा वेदोंमें कहा है. अतः उत्तर दिशा उत्तम होनेसे वहां निवास करने पर देवतागण उसकी बुद्धिका नाश नहीं करते और स्वयंसे भी बुद्धिका नाश नहीं होता. परन्तु ऐसा करनेमें उसके सम्बन्धी बाधक बन जाते हैं, अतः उनकी जानकारीमें न आ सके इस रीतिसे तुम्हें जाना चाहिए. इसके बाद जैसा अधिकार है उसके अनुसार करनेवाली बात आगे बताउंगा. दोषोंको दूर करनेकी ही बात हो तब तो यहीं रहकर दोष दूर करना चाहिए. विवेक, धैर्य, सत्संग और भगवद्गुण यहीं हो सकते हैं, इसकेलिये बाहर जानेसे क्या फल? ऐसी शंका होने पर उत्तर देते हैं कि अब जो काल आनेवाला है वह पुरुषके गुणोंको खींचनेवाला है. सभी वाक्योंमें विदुरजीने क्रियापदमें प्रथम पुरुषके एक वचनका प्रयोग किया है, वह धृतराष्ट्रकी दयनीय स्थिति सिद्ध करता है. आपके उदाहरणको ही ले लो कि यह समय सबकी बुद्धिका नाश करनेवाला है और इसके बाद जो काल आनेवाला है, वह तो विवेकशील स्वतन्त्र पुरुषोंकी विवेकशीलताको भी नष्ट करनेवाला है. तब विवेककी उत्पत्ति तो हो ही कैसे सकती है. पुरुष तो अपने ही देशकी अपेक्षा रखता है. काल दोषोंको उत्पन्न करनेवाला होनेसे आप देशकी इच्छा छोडकर चले जाओ. अपना देश छोडकर उत्तर दिशामें जो ऋषि गये हैं, उनकी बुद्धिका नाश काल नहीं कर सका. देशका त्याग करनेके बाद भी यदि बुद्धि भ्रष्ट हो जाये तब तो त्याग करना ही व्यर्थ है. पहले स्कन्धमें नारदजीने व्यासजीसे कहा है कि ''जिस प्रकार काल द्वारा बिना परिश्रमके ही दुःख होता है उसी प्रकार सुख भी काल द्वारा ही मिलता है, अतः उसके लिये परिश्रम नहीं करना चाहिए. परन्तु जो ऊपर-नीचे घूमते हुए भी नहीं मिलता, उसकेलिये ही मनुष्य प्रयत्न करे''. इसलिए सर्वोत्तम फल मिलनेमें काल कारण नहीं है. उसी प्रसंगमें देशका प्रयोजनपना भी कहा है. पांचवे स्कन्धमें ब्रह्माजीने प्रियव्रतसे कहा है कि ''जिसके साथ काम-क्रोधादिक होते हैं ऐसे उन्मत्त पुरुषको वनमें निवास करने पर भी भय बना रहता है''. वहां तो ईश्वरकी इच्छाका ही नियन्त्रण होता है, इसलिए देश और काल उसे सिद्ध नहीं कर सकता, यह कहा है. परन्तु इस प्रसंगमें तो काल और देश को बाधक बताया है, इसलिए यहां देश छोडकर जानेवाली बात कही गई है. अतः ऊपरवाले वाक्योंका

विरोध नहीं होता. इसलिए हमें यह स्थान छोडकर उत्तर दिशामें चला जाना चाहिए, यह सिद्ध हुआ।।२७।।

इस प्रकार विदुरजीके कहने पर धृतराष्ट्रने वैसा ही किया, उसे आगे कहते हैं:

एवं राजा विदुरेणानुजेन प्रज्ञाचक्षुर्बोधितो ह्याजमीढः ।
छित्वा स्वेषु स्नेहपाशान् द्रढिम्नो निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा।।२८।।

इस प्रकार छोटे भाई विदुरजी द्वारा समझाया गया, अजमीढके वंशमें उत्पन्न हुआ धृतराष्ट्र, भाईके द्वारा जिसे सब प्रकारका मार्ग बता दिया है, अपनोंमें बंधे हुए स्नेह पाशको तोडकर, घरसे निकल गया।।२८।।

धृतराष्ट्र राजा है, इसलिए उस प्रकारसे करनेमें उनका सामर्थ्य है, यह कहा है. बोध करानेवाले छोटे भाई विदुरजी हैं, इसलिए वे उन्हें कोई अनुचित बात बतावें या छल करें यह संभव नहीं. धृतराष्ट्र 'प्रज्ञाचक्षु' है ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि उनके बुद्धिरूपी नेत्र हैं, अतः उनका उत्तम अधिकार बताया है. वे अजमीढके वंशमें उत्पन्न हुए हैं, यह कथन इस ओर संकेत करता है कि अजमीढ राजाने अपने पिता हस्ति द्वारा बसाया नगर हस्तिनापुर छोड दिया था. इस प्रकार पिता द्वारा नगरका त्याग करनेसे वंशका सब धर्म त्याग करना बताया है. विदुरजीने जैसा कहा उसी अनुसार वे गये, यह बतानेकेलिये धृतराष्ट्रका अपनोंमें जो दृढ स्नेह था, उस बन्धन पाशको उन्होंने काट दिया. भाई विदुरजीने बाहरका और भीतरका मार्ग उन्हें बता दिया है. जिसलिए स्वार्थ है, ऐसे इस देहको भगवानको हृदयमें रखकर छोडे उसे धीर कहा है, ऐसा विदुरजीने कहा है. उस पक्षमें रहनेवाले ये धृतराष्ट्र धीर हैं ऐसा श्रीधर तथा बोपदेव आदि भी मानते हैं।।२८।।

धृतराष्ट्रने स्त्रीसे भी मोह छोड दिया है, तो भी स्त्रीका यह धर्म है कि वह पतिके साथ जावे, इसलिए वह भी साथ ही गई है, यह कहा जा रहा है:

पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री पतिव्रता चानुजगाम साध्वी ।
हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं मनस्विनामिव सत्सम्प्रहारम्।।२९।।

साध्वी और पतिव्रता सुबलकी पुत्री गान्धारी अपने पति धृतराष्ट्रके पीछे हिमालय पर्वत पर गई, जहां वीर पुरुषको तथा सत्पुरुषोंको मानो प्रहार लगा हो और प्राणी मात्रके ऊपर जिसने दण्ड छोडा हो ऐसे सत्पुरुषोंको जहां बहुत आनन्द होता है ।।२९।।

गान्धारी सुबलराजाकी पुत्री है, ऐसा उसमें क्षत्रियपनेका अभिमान बताया है. जाति धर्मसे वह भी उनके पीछे गई है. धृतराष्ट्रकी मृत्युके बाद वह सती हो जायेगी, यह सूचित किया है. मूलमें 'च'कार होनेसे विदुरजी भी साथ गये, यह सूचित होता है. जो पतिव्रता होती है, वह साध्वी कहलाती है. मूलमें 'साध्वी' शब्द कहा है, जिसका अर्थ यह है कि सन्यास लेते समय देवता स्त्री-पुत्रादिमें प्रवेश करके बाधा खडी करते हैं. परन्तु उन्होंनें गान्धारीमें प्रवेश नहीं किया. धृतराष्ट्रमें बहुत धैर्य है यह बतानेकेलिये हिमालयमें जाना कहा है. जिस देशमें दुःख बहुत हो वहां चित्तकी स्थिरता नहीं होती. जिसे परलोककी इच्छा हो उसकेलिये चित्तकी स्थिरता बहुत आवश्यक है. वे वहां किस प्रकार जा रहे हैं? ऐसी शंका होने पर कहा जा रहा है कि जिसने भूत-प्राणी मात्र पर दण्ड छोडा है, अतः सब प्राणीको अभय देनेवाले उस हिमालय पर्वत पर गये, जिस स्थल पर उन्हें विशेष हर्ष होता है. क्योंकि दूसरी सारी पृथ्वी जीवोंसे भरी हुई है, इसलिए छोटे-बडे सभी जीव सब स्थल पर होते हैं. अन्य किसी स्थान पर जो कोई पुरुष रहता है वह इच्छाके बिना ही बहुतसे जीवोंको मार डालता है और इस प्रकार उसका व्रत भंग हो जाता है पर हिमालयमें तो बर्फ होनेसे वहां कोई जीव नहीं रहता अर्थात् सब जीवका परिहार हो जाता है. वहां तो शरीरमें भी कृमि आदि जीव नहीं लगते. इसलिए परमहंसोंको हिमालय बहुत प्रिय लगता है. जिसने सबका परित्याग कर दिया है, वह देहका भी त्याग करनेकेलिये तैयार हो है. उसको तो हिमालयमें देहत्यागकी सुविधा हो जाती है. जिस प्रकार मनस्वी पुरुषोंको युद्धमें देह त्याग करनेका साधन सुगम हो जाता है, वहां देहके त्यागनेवाले पुरुषको प्रहार प्रिय लगते हैं, उसी प्रकार जिन परमहंस पुरुषोंको देह त्याग करना हो, उन्हें हिमालय बहुत प्रिय लगता है. युद्धमें पुरुषोंको ऐसा विचार आता है कि या तो विजय मिल जाय या फिर शस्त्रके चिन्ह हो जावें. अतः हिमालय पर जानेवाला दृढ विचारसे ही जाता है. वीररसके आवेशवाले पुरुषको जिस प्रकार युद्धभूमि प्रिय लगती है उसी प्रकार वैराग्य रसवाले पुरुषोंको विषय रहित स्थान हितकर लगता है. इस प्रकार धृतराष्ट्र उत्तर देशमें गये।।२९।।

इसके बाद धृतराष्ट्रने क्या किया? इसका स्पष्टीकरण नारदजी युधिष्ठिरजीको करेंगे. विदुरजी द्वारा प्रत्यक्ष उपदेश देनेसे धृतराष्ट्र गए हैं, यदि नारदजी ऐसा कहते हैं तो युधिष्ठिरके मनमें यह बात आवे कि पहले तो विदुरजी

अपने ऊपर स्नेह रखते थे और अब हमारा दोष देखने लगे हैं अतः ऐसा कहना उचित नहीं लगा. क्योंकि विदुरजीका तात्पर्य धृतराष्ट्रको मुक्ति दिलानेका था, अतः विदुरजीके उपदेशसे धृतराष्ट्र गए हैं, यह नहीं कहा. ''जब तक किसीका भी हृदय सर्वात्मासे लगा हुआ न हो तब तक बन्धन होनेसे वह मुक्त नहीं हो सकता. इसलिए इष्ट वर्ग सम्बन्धियोंकी इच्छा जिस उपायसे निवृत्त हो वही करना चाहिए''. धृतराष्ट्रमें युधिष्ठिरजीका बन्धन न रह जाय, इसलिए भगवान्के प्रिय नारदजीने युधिष्ठिरजीका मोह नष्ट किया. वे स्वयं अपने मोहका नाश नहीं कर सकते थे, इसलिए युधिष्ठिरके प्रश्न आदिकी कथा कही गई है. इस प्रकार आधी रात्रिमें धृतराष्ट्र निकल गए. सूर्योदयके बाद एक प्रहर तक किसीको भी जाननेकी इच्छा नहीं हुई, उस प्रसंगमें आगे इस प्रकार कहा जा रहा है:

अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्निः विप्रान् नत्वा तिलगोभूमिरुक्मैः।।
गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय न चापश्यत् पितरौ सौबलीञ्च।।३०।।
तत्र सञ्जयम् आसीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः।
गावल्गणे क्व नस्तातो वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः।
अम्बा च हतपुत्रार्त्ता पितृव्यः क्वः गतः सुहृत्।।३१।।

जिनने प्रातःकालकी सन्ध्या और होम कर लिया है, ऐसे सबके मित्र रूप अजातशत्रु युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंको नमन करते हुए उन्हें तिल, गायें, पृथ्वी और स्वर्ण दानमें दिया. गुरुको वन्दन करनेकेलिए ज्यों ही युधिष्ठिरजीने घरमें प्रवेश किया तो वहां धृतराष्ट्र, विदुरजी तथा गान्धारी नहीं दिखाई दिए।।३०।।

उद्वेग युक्त मनवाले युधिष्ठिरने वहां बैठे हुए संजयसे पूछा कि हे गवल्गणके पुत्र, वृद्ध और नेत्रोंसे रहित हमारे पिता धृतराष्ट्र कहां हैं? पुत्रोंके नाशसे दुःखित माता गान्धारी भी नहीं दिखाई दे रहीं और हमारे ऊपर स्नेह रखनेवाले काका विदुरजी किधर पधार गए हैं।।३१।।

युधिष्ठिरका नाम अजातशत्रु इसलिए है कि उनका कोई शत्रु नहीं था. देवता, पितर, ऋषि तथा भूत-प्राणिओंका तर्पण करनेसे युधिष्ठिरकी मित्रता सभीसे हो गई. प्रातःसन्ध्यामें ''मित्रस्य चर्षणी धृताः'' इस मन्त्रसे सूर्यका उपस्थान होता है और बार्हष्पत्यादि कुण्डमेंसे अग्नि निकालनेसे पहले मित्र (सूर्य)को चरु देनेका विधान है. प्रातः सन्ध्याके देवता सूर्य हैं, उनका वन्दन किया है अथवा विसर्ग, इन्द्रिय, वायुके देवता मित्र होनेसे प्रातःकालीन आवश्यक कार्य

राजाने किये हैं. सर्वप्रथम शौचादिसे निवृत्त होना, फिर सन्ध्या वन्दन और बादमें तर्पणादि यह क्रम है. अग्निमें होम किया है. राजाको दान देना चाहिए, उसमें तिलपात्र, गायका दान, पृथ्वीका दान और स्वर्णका दान –इतने दान तो करने ही चाहिए. स्वर्ण दानके अन्तर्गत आज्यविक्षण आ जाता है (स्वर्ण पात्रमें घी भरकर उसमें मुख देखकर दान देना). ''सत्पात्रको तिल दान देनेसे विष्णु प्रसन्न होते हैं, गायका दान देनेसे महादेवजी प्रसन्न होते हैं, पृथ्वीका दान देनेसे ब्रह्मा प्रसन्न होते हैं''. दान देनेके बाद ब्राह्मणोंको नमस्कार किया है. बादमें प्रतिदिनकी तरह घरके बडे–बूढोंको नमस्कार करनेकेलिये युधिष्ठिरने प्रवेश किया. राजा होनेसे महलका प्रयोग किया. रथके घोडे नष्ट हो गये हों तो ''दूसरे अश्व हों वे रथके अश्व कहलाते हैं'' इस न्यायसे धृतराष्ट्रका पितापना तथा युधिष्ठिरका पुत्रपना हुआ. सब गुरुजनोंमें माताका मुख्य स्थान होनेसे कुंतीजीको नमस्कार करके धृतराष्ट्र व विदुरजीको नमस्कार करनेकेलिये वे वहां आये हैं. वहां उनने गान्धारीको नहीं देखा अतः उद्वेग हो गया।।३०।।

युधिष्ठिरने संजयसे पूछा कि तुम बवल्गणके पुत्र हो इसलिए क्रमसे तुम पिता आदिके सेवक हो, फिर असावधान कैसे रह गये. वे हमारे पिता होनेसे परम पूज्य हैं. वे वृद्ध होनेसे उनकी संभाल रखना तुम्हारा धर्म हैं. उनके नेत्र भी नहीं हैं, यह कहकर दया बताई गई है. नेत्रोंसे हीन हैं, ऐसा कहनेके स्थान पर मूलमें 'नेत्र' शब्दमें षष्ठी विभक्तिका प्रयोग किया है, इससे नेत्रके साथ उनका सम्बन्ध मात्र था. धृतराष्ट्र स्त्री सहित गये हैं, अतः जहां भी होंगे सुखी होंगे, ऐसी शंका होने पर कहा जा रहा है कि गान्धारी पुत्रशोकसे तथा पतिव्रतके धर्म आचरणसे बडी दुःखी है, अतः उनके जानेकी कोई संभावना नहीं. काका विदुरजी शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, अतः वे कोई छलावा करें यह भी नहीं माना जा सकता. तब फिर वे सबके सब कहां चले गये हैं।।३१।।

धृतराष्ट्र आदि कहीं जा भी नहीं सकते और दिखाई भी नहीं दे रहे हैं, अतः गंगाजीके ऊपर घर होनेसे उसमें डुबनेकी सम्भावना करते हुए कहते हैं:

अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स्वभार्यया।
आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत्।।३२।।

जिनके पुत्र व बन्धु नष्ट हो गये हैं, ऐसे धृतराष्ट्रकी मुझमें पुत्र बुद्धि न होनेसे कहीं वे पापकी शंका करते हुए, दुःखी होकर गंगाजीमें तो नहीं डूब

गये?।।३२।।

धृतराष्ट्रने मुझमें पुत्र बुद्धि न की हो कि मेरे अपने पुत्र तो मर ही गये हैं. दोनों ही प्रकारसे उनके पुत्र न होनेसे धृतराष्ट्रने दुःखकी संभावना की है. यों तो शास्त्रोंकी द्रष्टिसे हममें पुत्रपना है, परन्तु वे हमें पुत्रकी तरह न मानते हों, तो हममें शत्रुपना ही उनको दिखाई दिया हो, क्योंकि हमने उनके पुत्रोंको मारा है. इसलिए धृतराष्ट्रके मनमें यह शंका हुई हो कि जिसने हमारे पुत्रोंको मारा है तो कभी हमें भी मार दे, तो हमारी अपमृत्यु(अकाल मृत्यु) हो जाय, इसलिए गंगामें डूबकर मर जाना ही उत्तम है. इसलिए अपमृत्युसे मरनेकी शंकाके कारण दुःखी होकर धृतराष्ट्रके मनमें ऐसा विचार आया होगा कि दूसरेके हाथोंसे मरनेकी अपेक्षा गंगामें डूब मरना ही अच्छा है, ऐसा विचार कर वे गंगाजीमें तो नहीं पड गये! विदुरजी भी उनके पास ही थे, इसलिए लज्जाके कारण बिना कहे ही कहीं चले गये हों।।३२।।

धृतराष्ट्रका गंगामें गिरना और विदुरजीका बिना कहे चले जाना ये दोनों ही बाते असंभव है, ऐसा मानकर कहते हैं:

पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान्नः सुहृदः शिशून् ।
अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गताविताः।।३३।।

जब हमारे पिता पाण्डु मृत्युको प्राप्त हो गए, तब स्नेह करने योग्य हम बालकोंकी दोनों ही काकाओंने दुःखसे रक्षा की, तब फिर वे यहांसे कहां चले गए?।।३३।।

धृतराष्ट्र तथा विदुरजी दोनोंने ही सत्यरूपसे भली भांति हमारी रक्षा की. लाक्षागृहमें अग्निका उपद्रव हुआ और विराट नगरमें सेवकपना करना पडा, वहां प्राप्त दुःखोसे भी उन्होंने हमारी रक्षा की. और भी अन्य जो-जो दुःख आये उनमें भी उन्होंने हमारी रक्षा की है।।३३।।

संजय तो पहले ही धृतराष्ट्रको वहां न देखकर भयसे मूर्छित हो गए थे, इसलिए उनने उत्तर नहीं दिया, ऐसा सूतजी कहते हैं:

सूत उवाच

कृपया स्नेहवैक्लव्यात् सूतो विरहकर्षितः ।
आत्मेश्वरम् अचक्षाणो न प्रत्याहातिपीडितः।।३४।।
विमृज्य पाणिनाश्रूणि विष्टभ्यात्मानमात्मना ।

अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन्।।३५।।

धृतराष्ट्रके विरहसे दुःखी हुए, अपने स्वामीको न देखकर बहुत ही दुःखी हुए संजय कृपा व स्नेह से विकल भावको प्राप्त होकर कुछ नहीं बोले।।३४।।

हाथसे नेत्रोंके आंसुओंको पोंछकर, अपने मनसे अन्तःकरणको धीरज बंधाकर, अपने स्वामी धृतराष्ट्रके चरणोंका स्मरण करते-करते युधिष्ठिरको उत्तर देने लगे।।३५।।

दीनपना होनेसे कृपा है और स्नेह तो उनकेलिये सहज है ही. कृपाकी अपेक्षा स्नेह अधिक होनेसे विकलता बढी हुई है. अपने स्वामीको न देखकर अत्यधिक पीडा होना स्वाभाविक है, ऐसी नीति भी है. यों तो युधिष्ठिर स्वामी हैं, तदपि संजयके स्वामी तो धृतराष्ट्र ही थे, इसलिए वे कुछ भी बोल नहीं सके. क्योंकि उन्हें अत्यधिक पीडा थी. यद्यपि अपमान करनेवाली कुछ भी स्थिति नहीं थी तो भी स्वामीके पासमें बिना बोले रहना अयोग्य है. ''व्याकुल दशामें बोलना नहीं चाहिए'' ऐसा स्मृतिमें कहा है. अतः निकलते हुए आंसुओंको हाथसे पोंछकर और पुनः आंसु न ढुलक पडे, इस प्रकार अपने आपको संयत किया. वहां उन्हें उपदेश देनेवाला कोई दूसरा गुरु तो था नहीं, तो स्वयं ही स्वयंका गुरु बनकर मनको नियन्त्रित करनेका प्रयास किया. यदि मैं भूलसे कुछ कह भी दूंगा तो भी राजा दण्ड नहीं देगा, यह बतानेकेलिये पहले ही युधिष्ठिरको अजातशत्रुका सम्बोधन दिया है. युधिष्ठिरके साथ बात करनेमें धृष्टता, उदासीनता अथवा उपहास न हो जाय इसलिए अपने स्वामी धृतराष्ट्रके चरणोंका स्मरण करके संजय बोले हैं. अथवा भक्तिसे प्रभुका स्मरण करते हुए कह रहे हैं. दंड देनेवाली स्थितिका ध्यान रखते हुए, युधिष्ठिरके पूछे जाने पर, संजय प्रतिकूल उत्तर देते हैं।।३४-३५।।

सञ्जय उवाच

नाहं वेदात्मवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन।
गान्धार्याश्च महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभिः।।३६।।

हे कुलके आनन्द बढानेवाले महाबाहो युधिष्ठिर, तुम्हारे दोनों पूजनीयों धृतराष्ट्र व विदुरजी के विषयमें तथा उसी प्रकार गान्धारीजीने क्या विचार किया है, यह मैं नहीं जानता. इन दोनों महात्माओंने मुझे छला है।।३६।।

मैं नहीं जानता ऐसा कहनेसे राजाका प्रिय होता है. नहीं जाननेमें कारण है कि उन्होंने स्वयंही कोई निश्चय कर लिया था. उन्होंने किसीके साथ कोई विचार विमर्श नहीं किया, अतः मैं नहीं जानता. उन्होंने तो अपने मनमें ही कोई विचार कर लिया था. विचार बतानेकेलिये मूलमें 'वसित' पद दिया है, वहां 'अवसित' कहा जाना चाहिए था. पर भागुरी ऋषि इसका लोप बताते हैं. उस प्रमाणसे यहां भी 'अवसित'में 'अ'का लोप किया है. आपके बडोंका अभिप्राय आप ही जान सकते हो, उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं. यह बतानेकेलिये आपके गुरुजनोंका विचार मैं नहीं जानता, ऐसा संजय द्वारा कहा है. आप उनके आत्मारूप हो अतः उनके कुलको आनन्द प्रदान करनेवाले हो. इसलिए उनने अपने विषयमें जो करनेका विचार किया हो, सम्भवतः उसकी सूचना आपको दी हो अथवा आप तो कुलके आनन्द बढानेवाले हो, अतः आपके दोषसे धृतराष्ट्र कहीं चले गये हों, ऐसा भी नहीं. यह बतानेकेलिये 'कुलनन्दन' सम्बोधन दिया है. आप बडी भुजाओंवाले हो, इसलिए क्रियाशक्ति आपमें विशेषरूपसे है. इतना होने पर भी धृतराष्ट्र किधर चले गये, जब यह बात आपको ही ज्ञात नहीं है तो मुझे इस बातका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है? यह अभिप्राय बताया है. आपके पिताकी आत्मा विशाल है अथवा उनकी आत्मामें किसी महानताका आवेश है, इसलिए वे स्वयं दूसरोंको भुलावेमें डालनेकी सामर्थ्य रखते हैं अथवा भगवान्‌के भक्त होनेसे किसीको भी उनके जानेका ज्ञान न हो, उस तरह चले गये हों, इस प्रकार मैं तो दोनों ही तरहसे ठगा हूं, यह आशय है।।३६।।

इस प्रकार पहलेकी कथाका निरूपण करके अब जो कथा कहनेकी इच्छा है, उसका प्रारंभ करते हैं. उसमें संजयका वाक्य सुनकर महान् मोहमें पडे हुए राजा युधिष्ठिर आत्महत्या आदि न कर बैठें, ऐसी शंका करके उस प्रसंगका समाधान करनेमें पहलेसे ही नारदजीको जोड दिया है. इसलिए वे यहां युधिष्ठिरके मनका समाधान करने आए हैं, ऐसा कहा जा रहा है:

अथाजगाम भगवान् नारदः सहतुम्बुरुः।
प्रत्युत्थायाभिवाद्याह सानुजोऽभ्यर्चयन्निव।।३७।।

उसी समय तुम्बुरु ऋषिके साथ भगवान् नारद वहां आए. छोटे भाईयों सहित राजा युधिष्ठिरने उठकर नमस्कार किया और पूजा करते हुएसे उनसे बोले।।३७।।

युधिष्ठिरको मोह होनेके बाद उसको दूर करनेकेलिये शीघ्र ही वहां नारदमुनि आये. उन्हींके साथ 'तुम्बुरु' ऋषि भी आये. कारण यह कि शोक दूर करनेमें दूसरेकी सम्मति आवश्यक है. जिस अधिकारकेलिये जिस कार्यका विनियोग किया हो अथात् जिसे जो कार्य सोंपा हो, उसे उस कार्य सम्बन्धी उद्वेग बना रहता है, जिससे हीनताकी स्थिति उत्पन्न होती है. इस स्थितिका निवारण करनेकेलिये ही तुम्बुरु ऋषिके साथ नारदजी आये हैं. राजा युधिष्ठिर आत्महत्या आदि प्रमाद करनेका विचार करते थे, पर नारदजीको देखकर कि ये इस घटना पर निर्णय देंगे, ऐसा विचार करके पहलेवाली मोह अवस्थाको छोडकर खडे हो गये और ऋषिका अभिवादन किया तथा स्वागत विषयक प्रश्न न करके धृतराष्ट्रके विषयमें पूछने लगे।।३७।।

युधिष्ठिर उवाच

नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गतावितः ।

अम्बा च हतपुत्रार्त्ता क्व गता सा तपस्विनी।।३८।।

यहांसे हमारे काका कहां चले गए? हे भगवान्, उस स्थानको मैं नहीं जानता. उसी प्रकार पुत्रोंका नाश होनेसे दुःखी हुई तपस्विनी माता गान्धारी कहां चली गईं इसकी भी मुझे कोई जानकारी नहीं।।३८।।

धृतराष्ट्रका कुछ अमंगल हो है, ऐसी कुछ भावना युधिष्ठिरके मनमें हुई है. परन्तु वह भावना अयोग्य होनेसे नारदजीके सामने प्रकट नहीं की. केवल इतना ही पूछा कि मेरे माता-पिता कहां गये।।३८।।

बातकी वास्तविकताको शीघ्र ही बता देनेकेलिए कहते हैं:

कर्णधार इवापारे भगवान् पारदर्शनः ।

अथाबभाषे भगवान् नारदो मुनिसत्तम।।३९।।

जिस प्रकार नाविक अपार समुद्रको भी पार करा देता है उसी प्रकार हे भगवान् नारदजी, आप भी पारका दर्शन करा देनेवाले हो. हे मुनियोंमें उत्तम ! उस समय भगवान् नारदजी युधिष्ठिरके प्रति कहने लगे।।३९।।

आप प्रवहण (बडी नौका)को चलानेवाले नाविकके समान ही अर्थात् हम तो शोकरूपी समुद्रमें डूब रहे हैं, उसमें आपकी सब कुछ जान लेनेवाली क्षमता नौकारूप है. उसका निर्वाह करनेवाले आप ही हो. आप जहाजको चलानेवाले कर्णधारके समान ही नहीं हो वरन् समुद्रके दूसरे किनारेको भी दिखा

देनेवाले हो. जिस स्थान पर पहुंचना है उस गन्तव्य स्थानको भी दिखा देनेकी सामर्थ्य आपमें हैं. वह स्थल किस प्रकारका है, उसे भी आप दर्शन करा देते हो. उसके अन्तिम परिणामकी स्थिति भी आपसे छिपी नहीं है. इस वाक्यको पूरा न करके युधिष्ठिर बीचमें ही चूप रह गये. उन्हें इस प्रकार मौन देखकर और उस मौनका कारण जानकर नारदजी स्वयं ही कहने लगे. नारदजीको ज्ञान होनेमें कारण बताया जा रहा है कि वे भगवान् हैं. युधिष्ठिरका शोक जिस बातसे दूर हो, ऐसा उपदेश देनेमें नारदजी कुशल हैं, यह बतानेकेलिये ''मुनिओंमें उत्तम नारदजी'' यह कहा है. 'मुनि सत्तम' यह सम्बोधन सूतजीने शौनकऋषिकेलिये दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि शौनकजी कही हुई बातका रहस्य तत्काल समझते हैं. मूलमें पाठान्तर होने पर भी उसके अभिप्रायका जो विचार करना हो, उसे हृदयमें विचार लो. मुनि तो दयालु होते हैं, इसलिए न पूछी गई बातको भी नारदजी दया करके कहते हैं, यह बताया है।।३९।।

नारद उवाच

मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत्।
स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च।।४०।।

हे राजन् किसीका भी शोक न करो. क्योंकि यह जगत् ईश्वरके वशमें है. वे ही प्रभु प्राणियोंको इस जगतमें मिलाते हैं तथा बिछुडा देते हैं।।४०।।

तुम्हें किसी प्रकारका शोक नहीं करना चाहिए. पहले मोहको दूर करो, बादमें पूछी गई बातका उत्तर दूंगा. अपनी हानि समझकर उसमें होनेवाली कमीको सिद्ध करनेवाले जो हानिकारक पदार्थ हैं, उनका मनमें ध्यान करना, यही शोक कहलाता है. जैसे कि किसीने अपना अपमान किया और उससे हमें हीनताका अनुभव हुआ, उस न्यूनताका विशेष ज्ञान ही शोकका स्वरूप समझना चाहिए. अनिष्टकी भावनासे शोक होना संभव है. अतः किसीके अनिष्टकी भावना नहीं करनी चाहिए. ''आप तो बडे परिवारवाले हैं'' यह बतानेकेलिये 'राजन' सम्बोधन दिया है. जहां बडा राज्य हो वहां इष्ट-अनिष्ट चलता ही रहता है. यदि इस प्रकार कष्ट ही करते रहे तब तो राज्यसुख भी नहीं भोगा जा सकता. अतः राजाको कोई शोक नहीं करना चाहिए. यह सारा जगत् ईश्वरके अधीन है. भगवानने सब पदार्थका निर्माण किया है और सबको नियन्त्रणमें रखनेवाले भी वे ही प्रभु हैं. वे भगवान् न किसीके शत्रु हैं न मित्र. भगवान् स्वयंकेलिये अथवा दूसरोंकेलिये इस

जगत्को बनाते हैं. यदि यह माना जाय कि भगवान् दूसरोंकेलिये जगत् बनाते हैं तो वे सबका भला ही करते हैं, यही नियम है. यदि यह माना जावे कि वे जगत्को स्वयंकेलिये बनाते हैं, तो प्रभु अपनी क्रिडा सिद्ध करनेकेलिये ऐसा करते हैं, यह नियम है. भगवान् दूसरोंकेलिये जगत् बनाते हैं, यह पक्ष स्वीकार करने पर वे जीवोंका हित करते हैं. अतः जीव शोक मनावे यह ठीक नहीं. भगवान् जीवका भला करते हुए भी जीव शोक करे तो वे क्रोधित हो जाते हैं. यदि यह पक्ष स्वीकार किया जाय कि भगवान् स्वयंकेलिये क्रीडार्थ इस जगतका निर्माण करते हैं तो भी शोक करने पर भगवान् कुपित होते हैं. अतः भगवान् अपना खेल रचानेकेलिये यदि कोई कार्य करते हैं तो उसमें शोक करना अयोग्य माना जाता है. भगवान् दूसरोंकेलिये जगत् बनाते हैं, इस पक्षके विचार करने पर 'अपने पुत्रका नाश हो जाय' तो यह कैसे माना जाय कि भगवानने भला किया है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए. क्योंकि अपनी ममताके स्थानरूप जो पुत्रादिक हैं, उन्हें दूर करके भगवान् जीवकी ममता दूर करते हैं, इस प्रकार वह जीवका भला ही विचारते हैं. इसलिए यह जगत् भगवान्के अधीन होनेसे, अपना अथवा दूसरेका शोक नहीं करना चाहिए. अग्निके संयोग और वियोगसे दुःखादिक होते हैं, उससे शोक होता है ऐसा कोई कहे वहां उत्तर देते हैं कि भगवान् ही सबका संयोग और वियोग करते हैं, अतः भगवान्के कार्योंमें अपनेको शोक नहीं करना चाहिए. जब किसीका संयोग और वियोग हो, तो ऊपरके तर्कको ध्यानमें रखना चाहिए अर्थात् दूसरेकेलिये ही भगवान् किसीका संयोग और वियोग कराते हैं उसमें हित ही होता है. अतः दोनों प्रकारोंसे भगवान् सबका सब प्रकारसे हित करते हैं, यह समझना चाहिए।।४०।।

उपर्युक्त विषयमें शंका हो कि भगवान् अपने खेलकेलिए जगत् बनाते हैं, इस पक्षके अनुसार शोकको किस प्रकार छोडा जा सकता है? क्योंकि भगवान् तो अपनी क्रीडाकेलिए करते हैं, पर जीवोंको अनुचित कामोंके साथ जोड देनेसे उनकेलिए शोक और दुःख पैदा करते हैं. बात यह है कि भगवानकी लीला तो लम्बे समय तक चलती रहती है. और जीव पर तो दुःखोंकी परम्परा निरन्तर आती रहती है, इसलिए शोक होना तो स्वाभाविक है ही. ऐसी शंका करके अब आगे कहते हैं:

यथा गावो नसि प्रोताः तन्त्यां बद्धाः स्वदामभिः।
वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिम् ईशितुः।।४१।।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ।।४२।।

जिस प्रकार नाथे हुए बैल रस्सीसे बंधे हुए होते हैं, और हांकनेवाला जहां ले जाना चाहता है वहां ले जाता है, उसी प्रकार वेदवाणीरूप डोरीमें बंधे हुए सब जीव अपने नियन्ता स्वामीको सेवा या बलि प्रदान करते हैं।।४१।।

जिस प्रकार क्रीडाके साधनोंका संयोग-वियोग क्रीडा दिखानेवालेके अधीन रहता है (जिधर चाहे कठपुतली आदिको घुमाए या अन्य पुतलियोंसे मिलाए व बिछुडा दे), उसी प्रकार भगवानकी इच्छासे मनुष्योंका संयोग-वियोग होता है।।४२।।

पांच मनुष्योंके साथ दुःख होता है तो वह दुःख नहीं माना जाता अतः अपनी क्रीडा सिद्ध करनेकेलिये ही ईश्वरने हम सबको बनाया है. स्वामीकी कार्य सिद्धिमें बाधा स्वामीद्रोह कहलाता है, ऐसा समझकर हमें वह दुःख सहन करना चाहिए. आगे मैं कृतार्थ होउंगा यह भाव रखकर स्वामीकी क्रीडानुसार रहना चाहिए. यदि हम क्रीडामें दोष निकालेंगे तो भगवानको बहुत दुःख होगा. स्वामी द्वारा काममें लगाये जाने पर यदि बैल उसका विरोध करे तो उसे पीटना पडता है. इसी तरह विषयरूप नासिकामें अहंता-ममतारूप रस्सी पिरोई हुई है और यह इन्द्रिययुक्त जीव भगवान्के अधीन है. इस द्रष्टांतके द्वारा सामान्य बन्धनकी बात बताकर अब विशेष बन्धनकी बात कही जा रही है. वेदरूप लम्बी रस्सीसे भगवानने सबको बांध रखा है. उसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय तो परिपक्व भातके समान भगवान्के आरोगने योग्य हैं, अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय तो भगवानमें मिलकर संसारसे छूट जाते हैं. उनकी लौकिक क्रियाएं तो चावलोंके तुषके समान हैं. जैसे उन छिलकोंको दूर करने पर चावल उपयोगमें आते हैं वैसे ही ब्राह्मण और क्षत्रिय भगवान्के उपयोगमें आते हैं. अन्य योनिओंका सम्बन्ध बीज और योनिका सम्बन्ध जैसा है जिस प्रकार चावल और उससे संलग्न तृणका सम्बन्ध है. इन्द्रियां बैल हैं, वेद बैलोंके बांधनेकी डोरी है, भगवानकी इच्छा ही स्तम्भ है. जब तक इन्द्रियोंका अध्यास है, तब तक बैल समान हैं. इन्द्रियोंके अध्याससे रहित होकर क्रिया करें तो जीव चावलोंके छिलकोंके समान है. आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक पापोंसे छुटकारेका यह फल है. इन्द्रियोंमें उनके अधिष्ठाता देवता निवास करते हैं, जिससे वे वेदिक कर्मोमें लगती हैं. उन कर्मोसे

दोष मिटते हैं. इसके बाद निरन्तर समाधिमें लगे रहने पर लौकिक क्रियारूप छिलके पृथक हो जाते हैं. जिस प्रकार अग्निमें परिपक्व चावल सभीकेलिये भोजन योग्य बन जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्निसे परिपक्व जीव भगवानमें सायुज्य मुक्ति पाने योग्य हो जाता है. ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी और गृहस्थ इन नामोंसे सब बंधा हुआ है. जिसको जहां जोड दिया है, वह वहां ही घूम रहा है और प्रभुका कार्य कर रहा है. प्रेरणा देनेवाले वेद कार्य नहीं करते क्योंकि वे तो सबको कार्य बताते हैं, पर वह कार्य प्रभुका है. सब इन्द्रीयां भगवान्के लिये ही बनी हुई होनेसे उनके कार्यमें भ्रम नहीं करना चाहिए अर्थात् शोक नहीं करना चाहिए. मैं खाता हूं, सुनता हूं आदि इन्द्रियोंके आवेशसे मिथ्या ज्ञान होता है, वही इन्द्रियाध्यास कहा जाता है. भगवानने तो अपनी क्रीडाकेलिये हमें बनाया है. जिस प्रकार बालक खिलोनोंसे खेलता है, सुखपूर्वक उन्हें स्थापित करता है, कभी मिलाता है, कभी पृथक कर देता है, उसी प्रकारसे सब पुरुष भगवान्के खेलनेके खिलोनें हैं. वे इस संसारमें जिसे चाहते हैं मिला देते हैं, जब चाहते हैं बिछुडा देते हैं. इस बातको समझकर सम्बन्धियोंमें ममता नहीं रखना चाहिए और न ही हर्ष शोक आदि करना चाहिए. इसे समुदायगत विवेक कहते हैं. पहले भिन्न भिन्न तत्त्वोंके वर्गीकरण द्वारा विवेकका स्वरूप स्पष्ट किया था।।४१-४२।।

इस प्रकार ईश्वर अपनी क्रीडा सिद्ध करनेकेलिए इस जगतकी रचना करते हैं, इस पक्षके प्रमाणसे भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए, ऐसा कहा है, निरीश्वर वादी मत तथा अन्य बाहरके भी जो मत हैं, उनके शास्त्रोंके अभिप्राय भी शोक न करनेवाली ही बातें कहते हैं:

यन् मन्यसे ध्रुवं लोकम् अध्रुवं वा न चोभयम्।
सर्वथा न हि शोच्यास्ते स्नेहाद् अन्यत्र मोहजात्।।४३।।

यह लोक नित्य है अथवा अनित्य है अथवा दोनों ही प्रकारका नहीं है, ऐसा मानने पर भी मोहसे उत्पन्न होनेवाले स्नेह आदि सब विधिसे शोक करने योग्य नहीं है. केवल स्नेहसे ही शोक होता है।।४३।।

वाद करनेवाले चार प्रकारके हैं. सांख्य मतवाले सबको नित्य मानते हैं. वे उत्पत्तिको आविर्भाव मानते हैं और प्रलयको तिरोभाव मानते हैं. बाह्य मतवाले (बौद्ध मतानुयायी) कार्यरूप होनेसे जगत्को अनित्य मानते हैं. बाह्यमतके अन्तर्गत कितने ही माध्यमिक आदि तो यह मानते हैं कि यह जगत्

था ही नहीं, है ही नहीं और होगा भी नहीं, अतः जगत् नित्य भी नहीं है, अनित्य भी नहीं, परन्तु मिथ्या है ऐसा मानते हैं. न्यायशास्त्रवाले(कणाद-अक्षपाद) जगतको नित्य मानते हैं. और अनित्य भी मानते हैं. उसमें पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार, परमाणु, आकाशादिक नित्य हैं, इसके अतिरिक्त अनित्य है, ऐसा मानते हैं. इन चारों ही पक्षोंमें शोक करना योग्य नहीं. क्योंकि नित्य होने पर शोक करना योग्य नहीं, पानीके बुलबुलेकी तरह अनित्य भी शोकयोग्य नहीं. खरगोशके सींगकी तरह जगतको माना जाय तो भी कतई शोक करने योग्य नहीं है. पर नैयायिकोंके पक्षमें शोक सम्भव है, क्योंकि वे नित्य और अनित्य दोनों मानते हैं. इसका उत्तर कहते हैं कि शत्रुकी मृत्यु पर शोक क्यों नहीं करते? मित्रकी मृत्यु पर शोक क्यों करते हो? वह शोक किस लिये करते हो? यह उनसे पूछना चाहिए. मित्रके साथ स्नेह होनेसे शोक करना चाहिए तो स्नेह शोकका कारण हुआ, अतः स्नेहका त्याग कर देना चाहिए. स्नेहसे सुख भी होता है, उसका त्याग कैसे हो? तो कहते हैं कि मोहसे उत्पन्न स्नेहमें शोक नहीं होता, क्योंकि अज्ञानसे उत्पन्न स्नेह सुख कैसे दे सकता है. सन्निपात रोगसे उत्पन्न शीतलता ताप दूर नहीं कर सकती. मूर्छा आने पर बहुत दुःख होता है, परन्तु ज्ञान न होनेसे उसे सुखरूप मानते हैं. परन्तु मूर्छा सुखरूप नहीं है. यदि वह सुखरूप हो तो उसे हटानेका यत्न ही नहीं किया जाय. जैसे मूर्छाको सुखरूप मान लिया जाने पर मोहसे उत्पन्न स्नेहको सुख कह दिया जाय. अतः ऐसे स्नेहको छोड देना चाहिए।।४३।।

अब नारदजी युधिष्ठिरको फलरूप वाक्य कहते हैं:

तस्माद् जह्यङ्ग वैक्लव्यम् अज्ञानकृतम् आत्मनः।
कथं त्वनाथाः कृपणा वर्त्तेरन् वनयाश्रिताः।।४४।।
कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः।
कथम् अन्यांस्तु गोपायेत् सर्पग्रस्तो यथा परम्।।४५।।

हे अंगरूप युधिष्ठिर, स्नेहसे ही शोक होता है, ऐसा ऊपर कहा है. अतः अज्ञानसे उत्पन्न अन्तःकरणकी व्याकुलताका त्याग करो. यदि यह शंका हो कि अनाथ और दीन वनमें गए हुए अपना निर्वाह किस प्रकार चलाते होंगे?।।४४।।

जैसे सर्पसे पकडा हुआ पुरुष बिना सर्प पकडे पुरुषकी रक्षा नहीं कर

सकता है वैसे ही काल, कर्म व गुणोंके अधीन यह पंचमहाभूतका देह अन्य देहकी रक्षा किस प्रकार कर सकता है?।।४५।।

तुम मेरे अंग हो, इसलिए तुम्हें वास्तविकता बता रहा हूं. इन्द्रियों और अन्तःकरणकी विकलता केवल पदार्थोंके अज्ञानसे होती है, तुम्हें तो पदार्थोंका ज्ञान है, अतः तुम इस विकलताका नाश करो. यदि एक भागमें भी विकलता रह गई तो दूसरे समय दुःख देगी. बीचमें राजा शंका करते हैं कि वनमें रक्षाकी आवश्यकता होती है और उनकी रक्षा करनेवाला कोई नहीं. पदार्थ न मिलनेकी स्थितिमें वे दीन हो जायेंगे. उन्होंने वनका आश्रय किया है जो अचेतन और नपुंसक है. वह वन उनकी रक्षा कैसे करेगा? इसका उत्तर देते हैं कि तुम उनकी रक्षा करनेकेलिये वहां रहे नहीं, इसका शोक है. तुम वहां नहीं रहे, इसलिए शोक है, वह योग्य नहीं. क्योंकि तुम उनकी रक्षा करनेवाले हो, यह पक्ष ठीक नहीं. तुम राजा हो, अतः रक्षापनेका अभिमान रखते हो. राजा तो देहकेलिये प्रयुक्त हुआ है. एक घरसे दूसरे घरकी रक्षा नहीं हो सकती, तो फिर एक देहसे दूसरे घरकी रक्षा किस प्रकार हो सकती? व्यवहारका अनुसरण करके तुम अपना रक्षकपना मानते हो पर जो स्वयं दूसरेके अधीन हो, वह रक्षा किस प्रकार कर सकता है. तुम्हारा यह देह कालके अधीन है. उस कालकी प्रेरणाके बिना तुम कैसे रक्षा कर सकते हो? जब काल ही रक्षा नहीं कर सकता, वह भी रक्षा करनेमें निमित्त मात्र है. इस पक्षको स्वीकारा जाय तो देह कर्मके अधीन है. इसलिए कालकी प्रेरणासे जो कर्म किया है, उसके फलका भोग अवश्य करना पडता है. कर्म भी देखे हुए कारणकी अपेक्षा रखता है, वह भी निमित्त ही है, ऐसा कहें, तो उस पक्षमें भी देखे गये कारणको कर्म ही सिद्ध कर सकता है. इसलिए पहला दोष उसीमें आता है. तो फिर काल व कर्म के अतिरिक्त ओर कोई कारणरूप हो तो वह स्वभावरूप सत्त्वादिक गुण हैं. इसलिए काल, कर्म और गुण इन तीनों दोषोंसे यह देह भरा हुआ है, अर्थात् त्रिदोषसे घिरा हुआ है. और यह देह तो पंच महाभूतोंका विकार है. जिसका भक्षण करनेवाले ये पंच महाभूत ही हैं. जब पंचमहाभूत इस शरीरका भक्षण किये हुए हैं तो विकारवाला यह देह दूसरेकी रक्षा किस प्रकार कर सकता है? देहाध्याससे रहितकी रक्षा देहाध्यासवाला नहीं कर सकता. मूलमें 'तु' अव्यय दिया है, जिसका अभिप्राय है कि ये भगवान्के सम्बन्धवाले हो गये हैं, वे तो कालके भी अधीन नहीं. जो

भक्त कालके भी अधीन नहीं, उनकी रक्षा कालके अधीन रहनेवाले किस प्रकार कर सकते हैं? सर्पसे पकडा हुआ पुरुष बाहरवाले पुरुषकी रक्षा नहीं कर सकता. इसलिए अब धृतराष्ट्र काल व कर्मकी आज्ञासे बाहर चले गये हैं और तुम अभी काल व कर्म की आज्ञाके अधीनस्थ हो. अतः धृतराष्ट्र तुम्हारा शोक करें यह तो ठीक है, पर तुम उनका शोक करो यह उचित नहीं।।४४-४५।।

वनमें धृतराष्ट्रको खानेका नहीं मिलेगा ऐसी शंका तुम्हें नहीं करना चाहिए, क्योंकि भगवानने सब स्थान पर खानेके पदार्थ बनाए हैं. यह अभिप्राय बतानेके बाद, उनका कोई रक्षक नहीं इस पक्षमें दोष बताते हैं:

अहस्तानि सहस्तानाम् अपदानि चतुष्पदाम्।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्।।४६।।

जो हाथवाले जीव हैं उनका जीवन बिना हाथवाले हैं. चार पैरवाले जीवोंका जीवन बिना पैरवाले जीव हैं. बडे जन्तुओंका जीवन छोटे जीव हैं. इस प्रकार एक जीव दूसरे जीवका जीवन हैं।।४६।।

पहले उत्पन्न करने योग्य जीवोंको बनाया, उनकी सृष्टि हुई. देहका निर्माण करके उसमें जीवका प्रवेश कराया, जिससे सृष्टि आगे बढे, इसलिए खानेकेलिये अन्न उत्पन्न करना चाहिए. उस समय जीवके अतिरिक्त अन्य कुछ न मिलनेसे सारा जगत् ही अन्नसे भक्षण करने योग्य और भक्षकके रूपमें उत्पन्न किया. उसमें सामान्य और विशेष ये दो प्रकार रखे हैं. अन्न और उसे खानेवाले यह सामान्य प्रकार लौकिक हैं और विशेष प्रकार वैदिक है. उसमें सामान्य प्रकारकी व्यवस्था कहते हैं. बिना हाथवाला जीव हाथवाले प्राणीओंका भोजन है. उसे एक उदाहरणके रूपमें कहा है. पर उसका अभिप्राय यह है कि बलवानका भक्ष्य दुर्बल बनता है. वह बल क्रियासे होता है. समस्त प्रकारकी क्रियाओंको करनेमें हाथ और पैर ही साधनरूप हैं, इसलिए यहां दोनोंको हाथ-पैरवाला बताया है. बिना हाथवाले अजगर आदि हाथवाले मनुष्यादिका भक्षण करते हैं, उसी प्रकार अन्य स्थान पर हाथवाले मनुष्य भी बिना हाथवाले प्राणीओंका भक्षण करते हैं. अथात् बडे भी छोटे प्राणीओंके भक्षण हो जाते हैं. इसी प्रकार चींटियां सांपको खा जाती हैं. इसलिए बलके अभिप्रायसे कहा है कि बलवान निर्बलको खाता है. अथवा साधारण रीतिसे यह नियम है, इस अभिप्रायसे कहा है. मछली आदि बिना हाथवाले हैं, वे हाथवाले मनुष्योंका

भक्ष्य हो जाते हैं और बिना पैरवाले तृण घास आदि हैं वे चार पैरवाले पशुओंका भोजन बन जाते हैं. कोई भी पदार्थ बिना जीवका नहीं. घर आदि बिना जीवके हैं, उन्हें कोई नहीं खाता अर्थात् जो खाये जाते हैं, वे जीव युक्त हैं. इसलिए भगवान् द्वारा सब स्थल पर भक्षण करने योग्य वस्तु बनाई हुई होनेसे, धृतराष्ट्र वनमें क्या खायेंगे ऐसी चिन्ता तुम्हें नहीं करनी चाहिए. क्योंकि वनमें भी नीवार, सामा आदि धान्य तथा फल बहुतसे खाने योग्य पदार्थ होते हैं।।४६।।

ऊपरके प्रसंगसे शंका होती है कि अपने ही बनाए हुए जीवोंको दूसरे जीवका भोजन बना देनेकी यह क्रिया भगवान् किस लिए करते हैं? अब खाने योग्य और खानेवालेका निर्णय बताते हैं:

तद् इदं भगवान् राजन्! एक आत्मात्मनां स्वदृक्।
अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा ।।४७।।

हे राजन्, सब जीवोंके आत्मारूप, स्वयंसे ही प्रकाशमान यह जगद्रूप भगवान् एक ही हैं. वे अन्दर और बाहर प्रकाशित हैं और मायासे बहुत रूपवाले बने हैं, उन्हें तुम देखो।।४७।।

भगवानमें विषमता या निर्दयता नहीं है. अपनी आत्माको ही जगद्रूप बनाते हैं यह बतानेकेलिये कहते हैं कि यह जगत् भगवान् हैं. इसमें कारण बताते हैं कि सबका भक्ष्य सब है, अथवा सबका भक्ष्य सब है इसलिए दूसरा दूसरेको खा नहीं सकता. स्वयं ही स्वयंको खाता है. विश्वास बतानेकेलिये 'राजन्' यह सम्बोधन दिया है. जो अन्याय करता है, राजाकी ओरसे उसे दण्ड मिलता है, यह बतानेकेलिये 'राजन्' कहा है. यदि दूसरा दूसरेको खाय तो अन्याय माना जाता है. जिससे राजा उसे दण्ड-शिक्षा आदि देता है, उसी प्रकार भगवान् भी शिक्षा देते हैं. भगवान् स्वयंको उत्पन्न करके स्वयंका ही भक्षण करता है, यह तो योग्य नहीं, ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि प्रभु तो एक ही हैं, अर्थात् यह बनाया है और यह बनानेवाला है, एसे भेद नहीं है. इसलिए उत्पन्न किये गये पदार्थोंमें कोई भेद नहीं. तब तो भगवान् स्वयंकी आत्माका ही भक्षण करते हैं, ऐसा है तो भी योग्य नहीं. इस शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं कि वे प्रभु तो आत्मा हैं. सब स्थान पर व्याप्त होकर रहते हैं वे आत्मा कहलाते हैं. इस प्रकार भगवान् सर्वत्र व्याप्त होकर रहते हैं, जिससे बाहर रहनेवाले जीवको अन्दर प्रवेश कराते हैं और अन्दर रहनेवालेको बाहर प्रकट करते हैं अर्थात् अपने ही

स्वरूपमें अन्दर और बाहर रहते हैं. यह स्थिति सभी वस्तुओंकी है. उनमें भक्ष्य और भक्षण का व्यवहार लौकिक दृष्टिसे है. जिस प्रकार कछुआ अपने पैर आदि अंगोंको बाहर निकालता है और फिर अन्दर ले लेता है, इसमें उसको किसी प्रकारका विचार नहीं, उसी प्रकार भगवानको भी सब वस्तु बाहर प्रकट करनेमें और अन्दर खींच लेनेमें कोई दोष प्राप्त नहीं होता. अथवा 'आत्मा' शब्दमें 'आत्' और 'मा' ये दो पद हैं, उसका अर्थ यह है कि 'आत्' अर्थात् भक्षण करना और वैसे ही 'मा' याने ''नेति नेति'' आदि श्रुतिओंमें कहे गये प्रमाणसे केवल निषेधात्मक (मना करनेवाले) ब्रह्म रहते हैं. इसलिए यदि बनाए हुए जीवका भक्षण न करे तो आत्मा ही न रहे, अर्थात् 'आत्मा' शब्द ही सिद्ध न हो. अर्थात् अन्तमें जो आत्मा रहती है, वह न रहे.

दूसरे जीवोंने जिनका अधिष्ठान किया है, आश्रय लिया है, उनका भक्षण भगवान् किसलिए करते हैं? ऐसी शंका हो तो उसका उत्तर देते हैं कि समस्त आत्माओंके आत्मा भगवान् ही हैं, इसलिए भक्षण करनेवाले सबका उपसंहार करनेवाले भी भगवान् हैं, अथवा सब जड पदार्थका उपसंहार करते हैं. परन्तु जीव तो सब हैं और भगवान् एक ही हैं, यह कैसे कहा जाता है? ऐसी शंका करके कहते हैं कि सब आत्माका स्वरूप भगवान् हैं. इसलिए तो भगवानको सब जीव पर दया आनेसे उस प्रकारसे भक्षण नहीं करते, ऐसा कोई कहे तो वहां कहते हैं कि भगवानकी द्रष्टि स्वयंमें ही रहती है अर्थात् दूसरोंको अपनी आत्माके समान ही समझते हैं. अथवा स्वयंके भोगकेलिये दूसरोंको नहीं देखते. वे भगवान् है कहां? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि वे प्रभु अन्दर और बाहर हैं. अतः अन्दरके भावसे और बाहरके भावसे भगवान् ही प्रकाशित हो रहे हैं. वे सबके भक्षकके रूपमें रहते हैं. इस प्रकारसे उपदेश किया है कि ऐसे भगवान्के कई भेद हैं. इस प्रकार युधिष्ठिरके मनको समझाया है. अब यह मानकर कहते हैं कि तुम उन्हें देखो अर्थात् वे सब स्थान पर प्रकाशित है. और सभीके रूप बने हुए हैं. ये सब भगवान् हैं, उन्हें तुम देखो. जब वे एक ही हैं तो अनेक प्रकारके कैसे हो जाते हैं? वहां कहते हैं कि भगवान् मायासे बहुत प्रकारके हो जाते हैं. क्योंकि माया उनका प्रतिबिम्ब रूप बताती हैं. इसलिए उसके साथ सम्बन्ध होनेसे अनेक परछाईयां दिखाई देती हैं. जलके बहुतसे पात्रोंमें एक ही चन्द्रमा बहुतसे दिखाई देते हैं. एक ही अग्निका अनेक

लकडियोंके साथ सम्बन्ध होने पर वह अनेक प्रकारसे प्रकाशित होती है, ठीक उसी प्रकार भगवान् भी एक होते हुए अनेक प्रकारसे प्रकाशित हैं।।४७।।

इस प्रकार धृतराष्ट्रकी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है, ऐसी आशंका करके सर्वरूप द्वारा भगवान् ही रक्षक हैं यह निरूपण किया. वे भगवान् हाल ही में संहारलीला करनेमें तत्पर हुए हैं, यह निरूपण किया जा रहा है:

सोऽयम् अद्य महाराज! भगवान् भूतभावनः।
कालरूपोऽवतीर्णोऽस्याम् अभावाय सुरद्विषाम्।।४८।।

हे महाराज युधिष्ठिर, सब भूत प्राणीमात्रको उत्पन्न करनेवाले वे भगवान् इस समय देवताओंके द्वेषियोंको नाश करनेकेलिए कालरूपसे इस पृथ्वी पर अवतरे हैं।।४८।।

'महाराज' सम्बोधन इसलिए दिया है कि तुम्हें किसी प्रकारका भय नहीं करना चाहिए. अभी तुम्हारा जितना राज्य है प्रभु उससे भी अधिक राज्य तुम्हें देंगे. अब ज्ञान द्रष्टिसे जैसे भगवानको बता रहेहों, इस प्रकार कहते हैं. यह जो कुछ दिखाई दे रहा है, वे भगवान् हैं. तो भगवान् यहां किसलिए पधारे हैं? उसका प्रयोजन बताते हैं कि प्रभु सबका पालन करनेवाले होनेसे, पालन करनेकेलिये ही पधारे हैं. वे जिसका संहार करते हैं, उसके दोषोंको दूर करके उसे शुद्ध करते हैं. इससे वे प्रभु सबका रक्षण करनेवाले हैं. यह भावना दूर नहीं होती, उसी प्रकार वे स्वतन्त्ररूपसे सबका संहार करनेवाले हैं तो भी संहाररूप लीला करनेका विशेष अधिकार कालको दिया है. वे स्वयं तो सबका पालन करते हैं. यह बतानेकेलिये और जीवोंको भक्ति सिद्ध करानेकेलिये भगवान् काल जैसा रूप धारण करते हैं. यही नहीं, वे देवताओंसे द्वेष रखनेवाले असुरोंका नाश करनेकेलिये अवतार धारण करके पधारे हैं. वामन भगवानने भी उसी रीतिसे अवतार लिया था, परन्तु इस रीतिसे कार्य नहीं किया था, इसे बतानेकेलिये कहते हैं कि इस पृथ्वी पर श्रीकृष्ण भगवान् प्रकट हुए हैं।।४८।।

इस रीतिसे श्रीकृष्णके चरित्रका निरूपण करके उसका उपसंहार करते समय नारदजी युधिष्ठिर राजाको उपदेश करते हैंः

निष्पादितं देवकार्यम् अवशेषं प्रतीक्षते।
तावद् यूयम् अवेक्षध्वं भवेद् यावद् इहेश्वरः।।४९।।

भगवान् कृष्णने देवताओंका कार्य पूरा कर दिया है और अवशेष कार्य

पूरा करनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं. जब तक प्रभु पृथ्वी पर विराज रहे हैं, तब तक आप उनकी प्रतीक्षा करो।।४९।।

एकादश स्कन्धमें भगवानने उद्धवजीसे कहा है कि ''यहां पृथ्वी पर मैंने देवताओंका सारा कार्य कर दिया है''. अब पृथ्वीका भार उतारनेवालोंका भार दूर करना है, यही कार्य बाकी बचा है, उसीकी राह भगवान् देख रहे हैं. प्रभासमें यादवस्थलीकी लीला हो जानेके बादकी यह घटना है, पर यादवस्थलीका प्रसंग कहनेसे युधिष्ठिरके मनमें अत्यधिक मोह हो जावे, उसे छिपानेकेलिये भगवान् प्रतीक्षा कर रहे हैं, यह कहा है. जबकि सच बात तो यह थी कि जब नारदजी व युधिष्ठिरका यह संवाद चल रहा था, तब भगवान् भूतल परसे पधार चुके थे. इसलिए ''वहां तक तुम प्रतीक्षा करो'' यह कहनेमें नारदजीका अभिप्राय यह है कि इस ''जब तक तुम्हें श्रवण हो तब तक तुम भी राह देखो''. अब उस यादवस्थलीका वृत्तान्त वे आवश्यक रूपसे सुनेंगे ही, बस उस समय तक प्रतीक्षा करना शेष रह है. भगवानकी इच्छा पृथ्वी पर जिन्हें रखनेकी है, उन्हें मृत्युसे दूर करनेकेलिये अथवा मोहको दूर करनेकेलिये जब तक भगवान् यहां आवें तब तकके समयकी आप प्रतीक्षा करो. भगवान् तो हमें यहां रखकर द्वारका पधारे हैं, वे हमारे मोहका निवारण कैसे करेंगे? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि प्रभु तो ईश्वर हैं, अतः सब कुछ करनेमें समर्थ हैं।।४९।।

इस प्रकार भगवानकी वास्तविकता बतानेसे युधिष्ठिरके मोहका अभाव तथा भय भी उत्पन्न करके अब धृतराष्ट्रके सम्बन्धमें जो प्रश्न पूछा था, उसका उत्तर नारदजी देते हैं:

धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया।
दक्षिणेन हिमवत ऋषीणाम् आश्रमं गतः।।५०।।

धृतराष्ट्र भाई विदुरजी तथा अपनी पत्नी गान्धारीके साथ हिमालय पर्वतके दक्षिणकी ओर जहां ऋषियोंके आश्रम है, वहां गए हैं।।५०।।

हिमालयके दक्षिण दिशाकी ओर ऋषिओंके आश्रम पहलेसे ही सिद्ध हैं, वहां धृतराष्ट्र गये हैं. गंगाजीके दक्षिण दिशाकी ओर स्वयंके रहनेका राजगृह तथा, उस स्थलसे हिमालयके दक्षिणकी ओर ऋषिओंके आश्रममें धृतराष्ट्र गये हैं, ऐसा कहकर उस स्थलकी अधिकताको बताया है. ''ऐरावत हाथीकी सूंडमेंसे निकलता हुआ तथा वायुके द्वारा तरंगित किया या पल्लवित किया

गंगाजीका जल पवित्र देशोंमें गिरता है. हे रामचन्द्रजी, उस स्थानको आप हिमालय जानो'' ऐसा वाक्य है. इसलिए हिमके सामने रहनेमें शीतलता अधिक लगती है. उस ठंडसे पीडित होकर धृतराष्ट्र वहां रहे हैं।।५०।।

वहांके ऋषियोंके प्रभावको तथा गंगाजीके स्वरूपको निरूपित किया जा रहा हैं:

स्रोतोभिः सप्तभिर्यत्र स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात् ।
सप्तानां प्रीतये नाम्ना सप्तस्रोतः प्रचक्षते।।५१।।

सात ऋषियोंकी प्रीतिकेलिए सात प्रवाहसे जहां स्वर्गंगा सात प्रकारकी हो गई है. वह स्थल सप्तस्रोतः नामसे जाना जाता है।।५१।।

उस आश्रमका नाम 'सप्तस्रोत' है, यह यथार्थ है. क्योंकि जिस आश्रममें ऋषिओंकी श्रेष्ठता प्रसिद्ध करनेकेलिये सब ऋषिके समीपमें गंगाजी प्रवाहरूपसे आई है. तिरछेपनसे जानेमें तो उंचाई और नीचाई हो जाय, इसलिए सब ऋषिके पास समान प्रवाह न आनेसे किसीके मनमें उदासी आ सकती है. इसलिए वहां सात प्रवाहसे गंगाजी सब ऋषिके आश्रममें पधारे हैं. अथवा गंगाजीने अपने स्वरूपके सात भाग किये हैं. 'स्त्रोतोभिः' व्याकरण शास्त्रके प्रमाणसे कर्मके अर्थमें तृतीय विभक्ति है, इसलिए सात प्रवाह किये, यह अर्थ निकलता है. स्वर्गकी गंगा सात प्रवाहसे वहां आई है, ऐसा कहनेसे अन्य जलोंसे मिश्रित न होकर आकाशगंगा स्वतन्त्ररूपसे वहां आई है, यह जनाया है. अतः वह जल बहुत पवित्र है, ऐसा सूचित हुआ. सात प्रवाहोंके कारण 'सप्तस्रोत' यह नाम पडा. मूलमें 'नाम्ना' के स्थान पर 'नाना' ऐसा पाठ हो तो यह अर्थ होता है कि सात ऋषिओंकी प्रीतिकेलिये, उनकी इच्छाके अनुकूल गंगाजी भिन्न-भिन्न प्रवाहरूप बन गये।।५१।।

वहां धृतराष्ट्र शून्य होकर नहीं बैठे रहे, यह बतानेकेलिए उनका काम बताया जा रहा है:

स्नात्वानुसवनं तस्मिन् हुत्वा चाग्नीन् यथाविधि ।
अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषणः ।।५२।।

उस आश्रममें सब समयका स्नान करके, विधि अनुसार अग्निमें होम करके, केवल जलका पान करके, शान्त चित्त होकर, तीनों प्रकारकी इच्छाओंसे निवृत्त होकर धृतराष्ट्र रहे हैं।।५२।।

स्नान आदि नियम कहलाते हैं, और उपशांति आदि यम कहलाते हैं. इन दोनोंको धृतराष्ट्रने किया है. वे तीनों काल स्नान करते हैं. अथवा वे तीनों कालकी क्रियाओंके रूपमें जल स्नान करते हैं. गृहस्थाश्रममें होनेसे अग्निमें होम किया है. नेत्ररहित मनुष्यको अग्निमें होम नहीं करना चाहिए तो भी जिस प्रकार गृहस्थाश्रम लिया है, तदनुसार अग्निमें होम भी किया है. होम करनेसे केवल अग्निका संस्कार ही किया है किसी फलकी आशासे नहीं किया इसलिए यह कर्म केवल संस्कारकी पूर्ति करता है. ये सब धृतराष्ट्रने किया है. अर्थात् अग्निकी स्थापना करके, अग्निहोत्रका होम करके विधि अनुसार जैसा अग्निहोत्रका विधान है, उसका उल्लंघन न करते हुए केवल जलका पान करते हुए रहे. वे स्त्रीके साथ वहां गये हैं इसलिए वानप्रस्थ धर्मके अनुसार वर्तना चाहिए. वानप्रस्थ आश्रममें बिना पका अन्न खानेसे प्रारंभ करके फिर वायुका भक्षण करने पर्यंत आहार किया है. उसमें अन्तिम भक्षण वायुका है. वायु भक्षणसे पूर्व अवस्था जल पीकर रहनेकी है. भगवान्के समीपमें जिनका अन्तःकरण शांत हो है अर्थात् ज्ञानकेलिये अथवा भगवानका साक्षात्कार करनेकेलिये उनमें अन्तःकरणकी स्थिति शेष है. उन्होंने सब इच्छाओंका त्याग कर दिया है, अतः धृतराष्ट्रको मुक्तिकी योग्यता प्राप्त हो गई है. स्वयंकी विद्यमानताके अतिरिक्त उनमें अन्य कोई धर्म शेष नहीं रह है, ऐसा 'आस्ते' क्रियापदसे सिद्ध होता है. तीन प्रकारकी इच्छाओंमें लोकेषणा (लोककी इच्छा) मुख्य है उसका त्याग भी धृतराष्ट्रने कर दिया है।।५२।।

इस रीतिसे यम-नियम कहकर अब अष्टांग योगको कहनेकेलिए आसन आदिका निरूपण कर रहे हैं:

जितासनो जित श्वासः प्रत्याहृतषडिन्द्रियः ।
हरिभावनया ध्वस्त-रजः सत्त्वतमोमलः ।।५३।।

(धृतराष्ट्रने) आसन और प्राणोंको जीत लिया है, छह इन्द्रियोंका जिन्होंने प्रत्याहार कर लिया है. भगवानकी भावनासे जिनने रज, सत्त्व व तमो गुणके मलको नष्ट कर दिया है।।५३।।

अष्टांग योगमें यम और नियमको पहले बता दिया है, उसके बाद धृतराष्ट्रने आसन और प्राणोंको जीत लिया है, तत् पश्चात् प्रत्याहार किया है. आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन्हें क्रमसे कह दिया है. छह इन्द्रियोंका प्रत्याहार

मूलमें लिखा है. अर्थात् इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे खींचकर आत्माकी ओर अभिमुख कर दिया है. उसमें कर्म इन्द्रियोंका प्रत्याहार हो है. अब पांच ज्ञान इन्द्रियां और एक मन ये छः इन्द्रियां रही इन्हें आत्मासे जोड दिया है. इसके बाद हरि भगवानकी धारणा की है. उस ध्यान और धारणा दोनोंको एक करके नारदजीने युधिष्ठिरके प्रति कहा है. क्योंकि ध्यान एक भागमें रहता है और धारणा समुदायमें रहती है. इस प्रकार ध्यान और धारणा में भेद है. सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके मलरूप रागादिक हैं, वे धृतराष्ट्रके हृदयमें नाशको प्राप्त हो गये हैं. इस प्रकार धृतराष्ट्रने धारणा तक सात अंग पूर्ण कर लिये हैं।।५३।।

अब निर्विकल्प समाधिके विषयमें कहते हैं:

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम्।
ब्रह्मण्यात्मानम् आधारे घटाम्बरम् इवाम्बरे।।५४।।

विज्ञानात्मामें जीवात्माको जोडकर विज्ञानात्माका क्षेत्रमें लय करके, घटाकाशको महाकाशमें लय करते हुए, उस क्षेत्रको आत्मारूप अक्षर ब्रह्ममें लीन करते हुए धृतराष्ट्र रहे।।५४।।

धृतराष्ट्रने विज्ञानमय आत्मामें जीवात्माको जोड दिया है. अन्तमें निर्विकल्प समाधि करनी चाहिए. आत्माके विचारमें उत्तरोत्तर पांच आत्माएं हैं: १.उसमें उत्क्रान्ति गतिसे गमन करनेवाला जीव प्रथम है. वह देह सम्बन्धी भेदसे पृथक् होता हुआ भी एक २.व्यष्टिरूप है. इन सबसे ऊपर ३.प्रकृतिका अधिष्ठाता पुरुष है. इन सबसे बडा ४.अक्षरब्रह्मरूप है. पांचवा सबसे श्रेष्ठतम ५.पुरुषोत्तम है. इस प्रकारसे पांच प्रकारकी आत्मा है. उसमें स्वयंकी आत्माको प्रथम क्रमसे उत्तरोत्तर एक-दूसरेमें लय करके धृतराष्ट्र ब्रह्म तक चले गये. अपनी आत्माको विज्ञानात्मामें जोडकर, विज्ञानात्माको क्षेत्रज्ञमें जोड दिया है. अथवा विज्ञानात्मा अर्थात् महत्तत्त्वरूप चित्तमें प्रकट हुए चैतन्यको क्षेत्रज्ञ पुरुषमें जोड दिया है और उस क्षेत्रज्ञ पुरुषको अक्षरमें जोडा है. अक्षरब्रह्मका स्वयंका आत्मा न होनेसे उसमें क्षेत्रज्ञका लय करना निरर्थक है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि वह अक्षरब्रह्म तो आत्मारूप है, क्योंकि मूलमें भी 'आत्मा' रूप ही कहा है. प्रकृतिके अधिष्ठाता पुरुष और अक्षरब्रह्ममें परस्पर विलक्षणता न होनेसे पुरुषका लय अक्षरब्रह्ममें करनेका क्या फल है? ऐसी कोई शंका करे वहां कहते हैं कि मिट्टीके घडेको भंग कर देने पर उसके अन्दर रहनेवाला आकाश

महाआकाशमें मिल जाता है उसी प्रकार प्रकृतिका अधिष्ठातापन धृतराष्ट्रने दूर कर दिया है. अर्थात् पांच आत्माएं गिनाई गई है, उसमेंसे चोथे आत्मामें धृतराष्ट्रका जीवात्मा लीन हो है।।५४।।

उनमें अक्षरब्रह्मके धर्मका आविर्भाव होनेसे दोषोंकी समाप्ति हो गई है:

ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशयः।
निवर्त्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाचलः।।५५।।

मायाके गुणोंके परिणामसे उत्पन्न फल नष्ट हो गए हैं जिनके और इन्द्रिय तथा अन्तःकरणके आशय निरुद्ध हो गए, ऐसे धृतराष्ट्रने आहार करना छोड दिया तथा स्तम्भके समान अचल हो गए।।५५।।

प्रकृतिमें विशेष मोह होनेसे जो सम्बन्ध होता है, वह मायाके गुणोंका परिणाम है. वह मोहयुक्त सम्बन्ध धृतराष्ट्रमेंसे निकल है. इन्द्रिय और अन्तःकरण जो साधनोंका आशय है वह रुक है और समस्त प्रकारके आहारको छोड दिया. इससे प्राणोंकी वृत्तिओंका निवारण कर दिया. इस प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण बीजरूप हैं और मायाके गुणोंके साथ हैं, जब इन चारोंका सम्बन्ध हो तो धृतराष्ट्र अक्षरब्रह्मके रूपको प्राप्त हो गए. उनकी आत्माका स्वयंसे कोई व्यापार न होनेसे स्तम्भकी तरह वे अचल हो गये. बाहर रहनेवाले वायुसे भी वे चलायमान नहीं हुए. ''वृक्षकी तरह स्तब्ध होकर स्वर्गमें एक पुरुष रहता है, उससे यह सारा जगत् पूर्ण है'' यह श्रुतिमें कहा है. धृतराष्ट्र उसी समताको प्राप्त हो गये हैं, यह अभिप्राय है।।५५।।

तब तो धृतराष्ट्र अभी बहुत समय तक रहेंगे, तब तो समाधि निवृत्त होने पर उन्हें पुनः यहीं ले आना चाहिए, ऐसी शंका यदि युधिष्ठिरको हो तो उसकी निवृत्तिकेलिए आगे कहते हैं:

तस्यान्तरायो मैवाभूः संन्यस्ताखिलकर्मणः।
स वा अद्यतनाद् राजन्! परतः पञ्चमेऽहनि।
कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति।।५६।।
दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्युः पत्नी सहोटजे।
बहिः स्थिता पतिं साध्वी तम् अग्निम् अनु वेक्ष्यति।।५७।।

अब सब कर्मका जिन्होंने त्याग कर दिया है, ऐसे धृतराष्ट्रकेलिए तुम विघ्नरूप मत बनो. हे राजा युधिष्ठिर, वे आजसे पांचवें दिन अपने शरीरका

त्याग करेंगे और वह शरीर भस्म हो जाएगा. अग्निसे पर्णशालाके साथ ही पतिका देह जलने लगेगा, तब बाहर स्थित उनकी साध्वी पत्नी गांधारी अपने पतिके पीछे उस अग्निमें प्रवेश कर जाएगी।।५६-५७।।

धृतराष्ट्रकेलिये तुम विघ्नरूप मत बनो अर्थात् वे पुरुषार्थकी सिद्धि होनेवाली अवस्थामें गये हैं. अतः अब तुम उसमें विघ्न मत करो. यदि आप वहां जाओगे तो तुम्हें देखकर उन्हें मोह होगा और उनका सर्वनाश हो जायेगा. तुम्हारे जाने पर वे पुनः विषयोंका सम्पादन करेंगे जो कि सन्यासियोंकेलिये वर्जित है. इसे स्पष्ट करनेकेलिये कहते हैं कि उन्होंने सब कर्मका त्याग कर दिया है. इसलिए कुछ कर्म करनेकेलिये धृतराष्ट्रको पदार्थ तैयार करके देनेका निवारण किया है. तो भी रक्षाकेलिये प्रयत्न तो करना ही चाहिए, ऐसी शंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं कि पहली बात तो वे बहुत समय तक रहेंगे नहीं, जो तुम वहां जाकर रक्षा कर सको. उनका क्या विनियोग होना है वह तो स्वयंसे ही सिद्ध हो है, क्योंकि आजसे पांचवे दिन उनका शरीर नष्ट हो जायेगा. मूलमें 'राजन्' सम्बोधन दिया है, जिसका अभिप्राय यह है कि राजाको अपने स्वरूपके अनुसार वहां जानेकी तैयारी करनेमें पांच दिन तो लग ही जायेंगे, इसलिए उनकी रक्षाकेलिये वहां जावें तब तक तो देह ही नहीं रहेगा. आजका दिन छोडकर पांचवे दिन धृतराष्ट्र प्राणोंका त्याग कर देंगे. मूलमें 'दिवसे' प्राण त्यागकी सूचना देता है. जिससे शुक्ल गतिके अनुसार शुक्लपक्ष भी सूचित हो रहा है. शरीर छोडनेमें कारण कहते हैं कि वह स्वयंका शरीर है, वह जले हुए वस्त्रकी तरह अभिमान शेष रह जानेसे दिखाई देता है. इसलिए वेदमें कहा है कि 'अन्तमें यह शरीर भस्म हो जाता है' तदनुसार धृतराष्ट्रका शरीर भस्म हो जायेगा. यद्यपि वे अक्षरब्रह्ममें स्थित हैं, थोडासा प्रयत्न और शेष रहनेसे प्राणोंने देहको धारण कर रखा है. उसके त्याग करनेका समय आ है, इसलिए अग्नि सम्बन्धी धारणा करके देहका त्याग करेंगे, जिससे उनका देह भस्म हो जायेगा. 'अग्निका आधान करनेके बाद यजमान अग्निरूप हो जाता है'' ऐसा वेदोंमें कहा है. इसलिए अग्नि और स्वयं भिन्न-भिन्न न होनेसे, उसकी धारणा करनेकी आवश्यकता नहीं है, अतः वे अन्दर रहनेवाली अग्निको बाहर प्रकट करेंगे. तब बाहरवाले पदार्थोंको भी अग्निका सम्बन्ध होनेसे स्वयंकी पर्णकुटी भी जलने लगेगी. शास्त्रोंमें पतिके पीछे पत्नीका अग्नि प्रवेश कहा है. इससे धृतराष्ट्रकी पत्नी गान्धारी भी जो बाहर

होगी, पतिव्रत धर्मसे अग्निमें प्रवेश कर जायेगी. यज्ञ कार्य करनेमें जो स्त्री उपयोगमें आती है वह पत्नी कहलाती है. उस रीतिसे गान्धारी पत्नी होनेके कारण साध्वी और पतिव्रता होनेसे पतिके पीछे अग्निमें प्रवेश कर जायेगी. पत्नीके बाहर होनेके कारण भी अग्नि ठंडा नहीं पडा था (मानो उसे उस साध्वी पतिव्रताको अपनेमें प्रवेश होनेकी प्रतीक्षा थी)।।५६-५७।।

इस प्रकार धृतराष्ट्र व गान्धारी दम्पतिका विनियोग कहकर, उनमें कारणभूत विदुरजीका भी विनियोग कहा जा रहा है:

विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन!।
हर्षशोकयुतस्तस्माद् गन्ता तीर्थनिषेवकः।।५८।।

हे कुरुनन्दन, उस आश्चर्यको सुनकर हर्ष और शोकसे युक्त हुए विदुरजी वहांसे तीर्थोंका सेवन करनेकेलिए जाएंगे।।५८।।

धृतराष्ट्र व गान्धारी की जो अवस्था हुई है, वह अवस्था विदुरजीकी नहीं हुई यह बतानेकेलिये मूलमें 'तु' अव्यय दिया है. तीनों साथ आये थे, उनमें से दो की ही गति क्यों हुई? तीसरे विदुरजीकी गति क्यों नहीं हुई? इस शंकाका समाधान करते हैं कि पहले तो विदुरजीका चित्त धृतराष्ट्रका क्या होगा? इसीमें आसक्त था. अब उस कार्यके सिद्ध होनेके बाद आश्चर्यसे उनको स्फूर्ति हुई कि धृतराष्ट्रने देह त्याग किया है वह किसी कर्तव्य भावनासे नहीं किया है. क्योंकि ऐसा अद्भुत कार्य सबकेलिये सम्भव नहीं होता. तो फिर विदुरने क्या किया? उसे कहा जा रहा है कि वे तो तीर्थयात्रा करने चले जायेंगे. 'कुरुनन्दन' सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि आप सबको आनन्दित करनेवाले हैं अतः आप ऐसा न कर बैठना. धृतराष्ट्रके सम्बन्धमें परलोक सम्बन्धी विचार हुआ है, इसलिए उन्हें हर्ष हुआ है और लौकिक विचारसे अपना भाई होनेसे शोक हुआ है. जिस किसी भी देशमें यह देह गिर जाय तब तक घूमते रहनेका निश्चय विदुरजीने किया है. इसलिए उसी निश्चयानुसार वे तीर्थभ्रमणमें प्रवृत्त हो गये. महाभारतका युद्ध होनेसे पहले भी तो वे तीर्थ सेवनको निकलते थे परन्तु बीचमें इस प्रसंगको लेकर, अपने भाई धृतराष्ट्रको बोध कराकर, वैराग्य उत्पन्न करके उनका मोक्ष करानेका कार्य पूर्ण किया है. इसलिए अब पहले प्रारम्भ किया हुआ तीर्थयात्रा करनेका कार्य फिरसे विदुरजीने प्रारम्भ किया है।।५८।।

नारदजी द्वारा युधिष्ठिरसे ऐसा कहने पर युधिष्ठिरका शोक दूर हो गया,

तब नारदजीके वहांसे जानेके बाद पहले प्रसंगकी समाप्ति की जा रही है:

इत्युक्त्वाथारुहत् स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः ।
युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाजहात् शुचः।।५९।।

इस प्रकार कहकर, तुम्बुरुके साथ नारदजी स्वर्गमें गए और उनके वचनोंको हृदयमें धारण करके युधिष्ठिरने शोकका त्याग कर दिया।।५९।।

मूलमें 'अथ' अव्यय दिया भिन्न प्रसंग बतानेवाला है. इसलिए युधिष्ठिरने नारदजीका पूजन किया और उनका हृदय सन्तुष्ट हुआ. इसके बाद पृथ्वीके ऊपर नारदजीका कार्य शेष नहीं रहा, यह बताया है. तब नारदजी स्वर्गकी और गए. यदि वे तुम्बुरुको पीछे ही छोड जायें तो सम्भव है कि वे भगवानकी प्रभासलीलाकी घटनाका, यादव स्थलीकी घटनाका किसीसे प्रसंग उद्घाटित कर दें ऐसी शंका लाकर नारदजी तुम्बुरु ऋषिको साथ ले गए. नारदजीने युधिष्ठिरजीसे जो कहा उसका फल बताया जा रहा है कि उनके वचनोंकी धारणा करके युधिष्ठिरने शोकका त्याग किया, क्योंकि नारदजीके वाक्य शोकको दूर करनेवाले होनेसे युधिष्ठिरके हृदयमें वे वाक्य स्थिर हो गये, इस प्रकार अनेक प्रकारोंसे उनका शोक जाता रहा।।५९।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथम स्कन्धके १३वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण'का सप्तम् अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

अध्याय १४

अपशकुन देखकर युधिष्ठिरका शंका करना तथा अर्जुनका द्वारकासे आना

एवं हि धृतराष्ट्रस्य मुक्तिम उक्त्वा त्रयोदशे ।
पाण्डवानाम् अतो द्वाभ्यां हेतुपूर्वम् उदीर्यते ।।का.१।।
तेषां नेष्टो ब्रह्मभावः सायुज्यं परम् ईप्सितम् ।
तन्न स्याद् भूतले कृष्णे सखिभावेन बाधनात् ।।का.२।।
अतश्चतुर्दशे हेतुं भगवद्गमनं महत् ।
यो वदेत् तस्य सन्दर्शः प्रश्नश्च विनिरूप्यते ।।का.३।।
सम्भावनाया हेतुत्वं निश्चये किमुतेति च ।
भगवद्गमनं तस्माद् उभयत्रोच्यते द्विधा ।।का.४।।

कारिकार्थ: इस रीतिसे तेरहवें अध्यायमें धृतराष्ट्रकी मुक्तिका निरूपण करके अब दो अध्यायों द्वारा पाण्डवोंकी मुक्तिका निरूपण किया जाता है. ।।१।।

पाण्डवोंको अक्षरब्रह्ममें लीन होना इच्छित नहीं, पर भगवान्के साथ उन्हें सायुज्य(साथ रहनेवाला मोक्ष) मुक्ति चाहिए. जब तक श्रीकृष्ण भूतल पर विराजें तब तक उनमें सख्यभाव होनेसे बन्धन हो जावे, जिससे सायुज्य मुक्ति नहीं मिल सके।।२।।

अतः चौदहवें अध्यायमें पाण्डवोंकी मुक्तिमें भगवानका भूतल परसे पधारना ही कारणरूप हुआ. इस प्रसंगमें उनके दर्शन और प्रश्नोंका निरूपण करनेमें आया है।।३।।

भूतल परसे भगवान्के पधारनेकी सम्भावना ही कारणरूप है, इसलिए इसका निश्चय होनेके बाद पाण्डवोंमें वैराग्य होना और उनके उत्तर दिशामें जानेके कारणके विषयमें कहना ही क्या? अतः दोनों अध्यायोंमें दो प्रकारोंसे भगवान्के पधारनेका निरूपण किया जा रहा है।।४।।

इस रीतिसे तेरहवें अध्यायमें नारदजीने युधिष्ठिरसे कहा है कि जब तक भगवान् भूतल पर विराजें वहां तक आप प्रतीक्षा करो. इससे भगवानका भूतल परसे पधारना तो आवश्यक रूपसे सूचित हो ही गया. इसे ही सुनकर धृतराष्ट्र

गए, उनका क्लेश करना छोडकर अब स्वयंके जानेमें कारणरूप भगवान्के पधारनेकी चिन्ता हो गई. इसलिए उस चिन्तासे व्याकुल होकर युधिष्ठिर उसी विषयका विचार करने लगे. इसका वर्णन करनेकेलिए श्रीसूतजी भूमिका प्रारम्भ करते हैं:

सूत उवाच

सम्प्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया ।
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ।।१।।
व्यतीताः कतिचिन् मासाः तदा पाण्डुसुतो नृपः ।
ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः ।।२।।
कालस्य च गतिं रौद्रां विपर्यस्तर्तुधर्मिणः ।
पापीयसीं नृणां वार्त्तां क्रोधलोभावृतात्मनाम्।।३।।
जिह्मप्रायं व्यवसितं शाठ्यमिश्रं च सौहृदम् ।
पितृमातृसुद्भ्रातृ–दम्पतीनां च कल्कनम् ।।४।।
निमित्तान्यत्यरिष्टानि काले त्वनुगते नृणाम् ।
लोभाद्यधर्मप्रकृतिं दृष्ट्वोवाचानुजं नृपः।।५।।

अपने बन्धुओंको देखनेकी इच्छाके भावसे तथा पुण्यश्लोक भगवान् श्रीकृष्णकी विशेष प्रकारकी चेष्टाओंको जाननेकी जिज्ञासासे युधिष्ठिरने अर्जुनको द्वारका भेजा था।।१।।

कितने ही महीनोंके बीत जाने पर भी जब अर्जुन लौटकर नहीं आए तब तो युधिष्ठिर अमंगल सूचक घोर रूपोंवाले अपशकुनोंको देखने लगे।।२।।

युधिष्ठिरने कालकी गतिको भयानक, उल्टे होते हुए धर्म, मनुष्योंमें पापवृत्ति, जिनसे उनकी क्रोध व लोभसे घिरी हुई आजीविका एवं व्यवहार आदिको देखा।।३।।

समस्त व्यवहारोंमें कुटिलता आ गई, मित्रतामें दुष्टताका मिश्रण हो गया. माता–पिता, भाई–बन्धुओं में तथा पति–पत्नी तकमें लडाई–झगडा होने लगा।।४।।

मनुष्योंकी प्रकृतिको कालका अनुसरण करते देखकर, लोभ आदि अधर्मके प्रसारित हो जाने पर तथा अन्यान्य विपत्ति सूचक अपशकुनोंको देखकर राज्य युधिष्ठिर अपने लघुभ्राता भीमसेनसे इस प्रकार विचार–विमर्श

करने लगे।।५।।

यादवोंको शाप होनेसे पहले भगवान् द्वारकामें क्या कर रहे हैं, यह जाननेकेलिये युधिष्ठिरने अर्जुनको द्वारका भेजा था. उनको गये बहुतसे महीने व्यतीत हो गये. उस काममें उनके रुकनेका कोई विशेष प्रयोजन नहीं था, तदपि अर्जुनको द्वारकासे आनेमें इतना अधिक विलम्ब हुआ है. अपशकुनोंको देखकर तो युधिष्ठिरको और भी अधिक चिन्ता होने लगी. अर्जुनके आनेमें विलम्ब होनेकी चिन्ता दो श्लोकोंसे बताई जा रही है. अर्जुन द्वारकामें जायें तब किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं. क्योंकि वहां वे सब प्रकारसे गये हुए थे. अर्जुनका ससुराल होनेसे भी तथा बुलाये जाने पर गये हुए होनेके कारण चिन्ताका विषय वैसे भी नहीं रह जाता है. तिस पर भी 'ये जिष्णु हैं' ऐसा जानकर जप करनेवाले हैं. इतना ही नहीं, वे तो द्वारकामें सम्बन्धीओंसे मिलने गये हैं किसी कलहके प्रसंगसे नहीं गये. उसमें भी समस्त अनिष्टोंको निवृत्त करनेवाले श्रीकृष्णके विशेष चरित्रोंको देखनेकेलिये गये हैं, इन सभी बातोंसे चिन्ताका कोई कारण उपस्थित नहीं होता. पर उन्हें गये सात महीने व्यतीत हो गये, अब तक द्वारकासे नहीं लौटे, यह चिन्ताका कारण बन गया. युधिष्ठिर पाण्डु राजाके पुत्र होनेसे उन्हें विचार करना आवश्यक भी है. इसी बीच उन्हें अपशकुन दिखाई देने लगे. वे अपशकुन बुरे फलोंको देंगे, इतना ही नहीं, पर वे तो देखने मात्रसे भय उत्पन्न करने लगे. उनका अनिष्ट फल उतना ही नहीं था, परन्तु शकुन शास्त्रोंमें उनका प्रतिपादन होनेसे वे बार-बार अनिष्ट होनेकी सूचना दे रहे थे. राजा युधिष्ठिर कुरु वंशके वहन करनेवाले होनेसे महापुरुषके वंशमें उत्पन्न हुए थे अतः उनमें स्वयं-स्फूर्त ज्ञान होनेकी संभावना निश्चित है. अब युधिष्ठिरने किन-किन अपशकुनोंको देखा? उनका वर्णन किया जा रहा है.

दुष्ट कलिकालके प्रवेश कर लेने पर कालकी गति क्रुर हो गई है ऐसा ज्योतिषशास्त्रसे जाना है. इसमें ऋतुके धर्म भी उल्टे हो गये हैं.तिस पर भी कालकी गति दोषवाली हो गई है. बिना विपत्ति पडे भी, सत्पुरुष जिसकी निन्दा करते हैं, ऐसी आजीविका प्राणी लोग करने लगे हैं. कार्य करनेवाले लोगोंमें क्रोध और लोभ प्रकटरूपसे दिखाई देने लगे हैं. इसलिए सब कार्यमें क्रोध और लोभके द्वारा धरा हुआ रूप ही मनुष्योंमें दिखाई देने लगा है. ये दोष कालके तथा कालके अन्तर्गत बर्तनेवाले लोगोमें एवं प्राणिओंमें देखे जानेवाले कहे गये

हैं. अब व्यवहारमें बुद्धिका दोष बताते हैं. निश्चयात्मक बुद्धि तथा सब प्राणिओंमें स्नेह उत्पन्न करनेवाली बुद्धि, ऐसे दो प्रकारकी बुद्धि गिनाई गई है. इन दोनों प्रकारकी बुद्धिमें कुटिलता और वंचकता आ बसी है. बाहरकी चेष्टाओंसे बुद्धिका अनुमान लगाया जाता है, परन्तु कुटिल बुद्धिका अनुमान नहीं लगाया जा सकता. इसी प्रकार छलनेवाले मनुष्यके स्नेहका भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता. युधिष्ठिर इन दोनों ही बातोंको लोकमें देखने लगे. अब लौकिक धर्ममें भी दोष दिखाई देने लगे, उस प्रसंगमें कहते हैं कि पिता-माता सम्बन्धी, भाई और स्त्री-पुरुषोंमें भी कलिके दोष दिखाई देने लगे. अर्थात् जिनका परस्पर स्नेह होना चाहिए वहां सहज ही में कलह होता दिखाई देने लगा. इस प्रकार पिता आदि सम्बन्धीओंके साथ कलह होने लगा. स्त्री और पतिमें परस्पर क्लेश होने लगा. ऐसे कई दोष और अनिष्टोंको सूचित करनेवाले अपशकुन होने लगे. इस युगमें कलिकालकी प्रधानता व अनुकुलता होनेसे उन दोषोंका मूल दृढ हो गया. पहले युगमें ब्राह्मण आदिकोंको जिस प्रकार ज्ञानादिक धर्म स्वाभाविक थे उसी प्रकार अब सब प्राणिओंमें लोभादिक अधर्म स्वाभाविक रूपसे दिखाई देने लगे. अर्थात् स्वभावसे ही निन्दा करने योग्य कुछ भी नहीं बचा. इस प्रकार राजा युधिष्ठिर अपशकुनोंको देखकर अपने छोटे भाई भीमसेनके साथ विचार करने लगे।।१-५।।

भीमसेन आसन्य प्राणवायुके अवतार होनेसे पापरहित हैं, अतः उनमें कालादिक दोषोंके होनेकी संभावना नहीं है. इसलिए भीमके साथ विचार करना योग्य है. अब वे विचार करते हैं:

युधिष्ठिर उवाच

सम्प्रेषितो द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया।
ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम्।।६।।
गताः सप्ताधुना मासा भीमसेन तवानुजः।
नायाति कस्य वा हेतोः नाहं वेदेदम् अञ्जसा।।७।।

बन्धुओंकी कुशल-क्षेम जाननेकी इच्छासे तथा श्रीकृष्णकी विशेष प्रकारकी गतिविधियोंका अवलोकन करनेकी दृष्टिसे भेजे गए अर्जुन लौटकर नहीं आए?।।६।।

हे भीमसेन ! तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन जिन्हें गए सात महीने व्यतीत हो

गए किस कारण लौटकर नहीं आए? इसे मैं समझ नहीं पा रहा हूं।।७।।

मूलमें 'च' कहा है, वह श्रीकृष्णका अभिप्राय जाननेकेलिये है और दूसरे 'च'का प्रयोग काल आदिके किये जानेवाले कार्योंको जाननेकेलिये अर्जुनको भेजा है, इसकी सूचना देता है. अर्जुनको स्वयंके विषयमें कोई अनिष्ट नहीं है, यह बतानेकेलिये कहा जा रहा है कि तुम भयंकर सेनावाले अर्जुनके भाई हो. तुम्हारे पीछे अर्जुनका जन्म होनेसे वह भी ऐसा ही है. तुम्हें जो जान लेना चाहिए, उस जानने योग्यमें यदि कुछ संदेह रह हो तो भी उसके यहां न आनेमें कोई कारण नहीं, तो फिर वह क्यों नहीं आया? यह मैं नहीं समझ पाया।।६-७।।

शुद्ध अन्तःकरणवाले होनेसे युधिष्ठिरको स्वयंमें जिन-जिन निमित्तोंकी स्फूर्ति हुई है, उनकी संभावनाएं करके कहा जा रहा है:

अपि देवर्षिणादिष्टः स कालोऽयम् उपस्थितः।
यदात्मनोऽङ्गम् आक्रीडं भगवान् उत्सिसृक्षति ।।८।।

कहीं ऐसा तो नहीं? कि जैसा देवर्षि नारदजीने आदेश किया था कि भगवान् क्रीडाके साधनरूप अपने श्रीअंगको तिरोभूत करनेकी इच्छा कर रहे हैं, वही समय उपस्थित हो हो?।।८।।

भगवान्के श्रीअंग चारों ओरसे क्रीडाके साधनरूप हैं. अथवा लक्ष्मीजीकी क्रीडाके साधनरूप हैं. क्या भगवान् उन्हें छोड देनेकी इच्छा करते हैं? इसके अतिरिक्त तो कुछ और कारण नहीं हो सकता।।८।।

उस प्रसंगमें कारण बताया जा रहा है:

यस्माद् नः सम्पदो राष्ट्रं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः।
आसन् सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात् ।।९।।
पश्योत्पातान् नरव्याघ्र दिव्यान् भौमांश्च दैहिकान्।
दारुणान् शंसतोऽदूराद् भयं नो बुद्धिमोहनम् ।।१०।।

जिनकी कृपासे हमें सम्पदा, राष्ट्र, पत्नियां, प्राण, परिवार और प्रजा प्राप्त हुए हैं. शत्रुओं पर विजय दिलवानेवाले तथा दिव्य स्वर्गादिक लोकोंका अनुभव करानेवाले भी वे ही हैं।।९।।

हे नरव्याघ्र! आप आकाशमें, भूमिमें तथा शरीरमें उत्पन्न होनेवाले भयंकर उत्पातोंको देखिए. ये उत्पात भयको उत्पन्न करनेवाले हैं. इनसे बुद्धि

मोहको प्राप्त हो रही है।।१०।।

जिन प्रभु श्रीकृष्णसे हमें समृद्धि, राज्य, स्त्रियां, प्राण, कुल, प्रजा और उसी प्रकार शत्रुओं पर विजय प्राप्त हुई है और जिन प्रभुके उत्तम अनुग्रहसे हमें श्रेष्ठ लोक प्राप्त हुए हैं. जिन भगवानकी सहायतासे हमने राजसूयादिक यज्ञ सम्पन्न किये हैं तथा स्वर्ग आदि लोकोंके उपयोगका अवसर मिला है, ऐसे उन भगवान्के भूतल परसे पधारनेका समय समीप आ है.

''है मनुष्योंमें व्याघ्र(बाघ)के समान श्रेष्ठ'', ऐसा सम्बोधन भीमसेन केलिये देनेका यह अभिप्राय है कि जो तथ्य उत्पातके विषयमें कहे जा रहे हैं, वे उत्पात देखने मात्रसे ही भय उत्पन्न करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु वे अनिष्ट फलोंको भी देनेवाले हैं. अनिष्टको सूचित करनेवाले अपशकुन उत्पात कहलाते हैं. ये अपशकुन आकाश, पृथ्वी तथा शरीर सम्बन्धी तीन प्रकारके हैं. वे अपशकुन स्वयंमें बडे क्रूर हैं, इसलिए थोडे समयमें ही भयको बतानेवाले हैं. बुद्धिके भयको दूर किया जा सकता है, पर यह भय तो बुद्धिको भी मोहित करनेवाला है।।९-१०।।

इस प्रसंगमें अब आध्यात्मिक अपशकुन कहे जा रहे हैं:

ऊर्वक्षिबाहवो वामाः स्फुरन्त्यङ्ग पुनः पुनः।
वेपथुश्चापि हृदये आराद् दास्यन्ति विप्रियम्।।११।।

मेरा वाम हृदय, बांया नेत्र और वाम भुजा बार-बार फडकती है तथा हृदय बार-बार कांपता है. इन लक्षणोंसे जाना जाता है कि कुछ अप्रिय शीघ्र ही होनेवाला है।।११।।

व्याकरणशास्त्रके नियमसे 'उर्वक्षिबाहवः' बहुवचनान्त पद है. प्राणीका अंग होनेसे उसे एकवचनमें होना चाहिए, उसके बजाय बहुवचनमें लिखनेका यह अभिप्राय है कि भिन्न-भिन्न स्वभावसे पृथक-पृथक दोषोंको बताया है. हृदय कांप रहा है. मूलमें 'च' अव्यय दिया है, जिससे चिन्ता होना सूचित होता है. ये उत्पात थोडे समय बाद ही बहुत बुरा फल देनेवाले सिद्ध होंगे।।११।।

अब आधिभौतिक उत्पातोंके विषयमें कहा जा रहा है:

शिवैषोद्यन्तमादित्यम् अभिरौत्यनलानना।
माम् अङ्ग सारमेयोऽयम् अभिरोदित्यभीतवत्।।१२।।
शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे।

वाहांश्च पुरुषव्याघ्र! लक्षये रुदतो मम ।।१३।।
मृत्युदूतः कपोतोऽयम् उलूकः कम्पयन् मनः ।
प्रत्युलूकश्च कुह्वानैरनिद्रौ शून्यम् इच्छतः।।१४।।

सूर्यके सामने खडी होकर सियारिनें रोती हैं. वे मुखसे आग उगलती हैं. हे अंग(भीम), मेरे सामने बिना डरे कुत्ते खडे होकर रोते हैं।।१२।।

श्रेष्ठ पशु गाय आदि तो मेरे बांई ओरसे निकलते हैं और गधे आदि हीन पशु दाहिनी ओरसे निकलते हैं. हे पुरुषसिंह भीम! मैं जब रथ पर सवार होता हूं तो घोडे भी रोते हुए प्रतीत होते हैं।।१३।।

मृत्युके दूत ये कपोत, काक, उलूक, श्वान रातको बोलते हैं. इनका बोलना विश्वको शून्य करना चाहता है. ऐसे कुलक्षणोंको देखकर मेरा मन कांपता है।।१४।।

अभी दिखाई देती हुई ये सियारिने स्वभावसे ही मुखमेंसे अग्निकी लपटें उगल रही हैं. ये चारों ओरसे चक्कर लगाती हुई रो रही हैं. कुत्ते मेरे सामने आकर घूमते हुए शब्द करते हैं और मेरा थोडासा भी भय नहीं करते. पहले तो कभी इस प्रकार निर्भय होकर ये श्वान शब्द नहीं करते थे. घोडे आदि श्रेष्ठ पशु मेरी दाहिनी ओरसे जाते हैं और गधे आदि हीन पशु मेरी बांयीं ओरसे निकलते हैं. मेरे वाहन तथा गायें आदि भी रुदन करते हुएसे लगते हैं. मूलमें 'च' होनेसे गायों आदिका बोध होता है. मेरे कथन पर तुम्हें शंका नहीं है, यह बतानेकेलिये 'तुम पुरुषोंमें सिंह हो' ऐसा कहा है. मेरे घोडे सब प्रकारसे सुखी हैं, फिर भी जैसे रो रहे हों ऐसे दिखाई देते हैं. दक्षिण दिशाकी ओरसे आकर कबूतर पक्षी शब्द करते हैं. कपोत मृत्युका दूत है, यह मृत्युके पास ले जाता है. ऐसा लगता है मानो यह मौतका बुलावा देने आया हो. उल्लू और कव्वा ये दोनों परस्पर विरोधी हैं अथवा उल्लूका विरोधी कोई 'प्रत्युलूक' नामवाला जातिविशेष एक पक्षी, ये दोनों अमंगलकारी शब्द करते हैं. इन पक्षीओंको नींद नहीं आती, इसलिए रात-दिन शब्द ही किया करते हैं, इससे यह जाना जाता है कि ये जगतको शून्य बना देनेकी इच्छा करते हैं।।१२-१४।।

अब आधिदैविक अपशुकनोंका वर्णन कहा जा रहा है:

धूम्रा दिशः परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः ।
निर्घातश्च महांस्तात! साकं च स्तनयित्नुभिः।।१५।।

वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः ।
असृग्वर्षन्ति जलदा बीभत्समिव सर्वतः ।।१६।।
सूर्यं हतप्रभं पश्य ग्रहम् अर्द्दं मिथो दिवि ।
सुसंकुलैर्भूतगणैः ज्वलिते इव रोदसी ।।१७।।
नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च ।
न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति।।१८।।

सब दिशाओंमें धुआं छा रहा है, मानो वह धुआं ही पृथ्वीकी परिधि बन गई है. पर्वतों सहित भूचाल हो रहा है. बिना बादलोंके आकाशसे गर्जनेका शब्द आता है।।१५।।

पवन धूलि लेकर आकाशको चढता है. सारे नभो मण्डलमें रेतसे अन्धकार छा रहा है. सब ओरसे भयानक मेघ रुधिर बरसाते हैं।।१६।।

स्वर्गमें सब ग्रह परस्पर लडते हैं. सूर्य कान्ति हीन दृष्टि दीखता है. यह देखो भूतगणोंसे व्याकुल होकर सारी पृथ्वी मानो आगके समान जल रही है ।।१७।।

नदी और नद, ताल और सरोवर क्षोभको प्राप्त हैं. घी डालने पर भी आग नहीं जलती. न जाने यह बुरा समय क्या कर दिखाएगा ।।१८।।

धुएंसे दिशाएं गोलाकार सीमा जैसी लग रही है अर्थात् मध्यभागमें लोकोंको जलाता हुआ अग्नि दिखाई देता है. बिना बादलोंके ही बिजलियां गिर रही हैं. यद्यपि मेघ नहीं हैं तो भी गर्जना हो रही है. जिसका स्पर्श भी सहन नहीं किया जा सकता ऐसा तीव्र पवन चल रहा है. धूलकी वृष्टिसे वायु अंधकारको उत्पन्न कर रहा है. घृणा उत्पन्न करनेवाले विष्ठाके समान खूनकी वृष्टि हो रही है. इस तेजसे रहित सूर्यको तो देखो, जो ढका हुए सा दिखाई दे रहा है. आकाशमें शुक्र आदि ग्रहोंका युद्ध हो रहा है. इसे भी तुम देखो. यह केवल शास्त्रोंमें पढनेवाली बात नहीं है, इस समय ये बाते आकाशमें स्पष्ट दिखाई दे रही है. अथवा घात करनेवाले रुद्रके गण मध्यभागमें रहते हैं वे ऊपरके और नीचेके भागको जला रहे हैं. अधिक पवन चलने पर नदी, तालाब आदिका जल जिस प्रकार उछलने लगता है उसी प्रकार पवनके न चलने पर भी मिट्टीयुक्त अर्थात् कम पानीवाली नदियां तथा जलवाली नदियां, तालाब तथा झरने उछलने लगे हैं अर्थात् क्षोभको प्राप्त हो गये हैं. इन प्रकृतिमें हो रही घटनाओंके

समान ही अपने मनोंमें भी खलबली मच रही हैं. जलसे अग्नि कभी नहीं जलती, यह तो उचित सिद्धांत है, परन्तु घीके डालने पर भी अग्नि प्रज्वलित नहीं हो रही, यह उल्टी बात है. इस प्रकार सब कार्य तथा पदार्थोंकी स्थितियों व गुणधर्मोमें कालने सब कुछ उलट कर रख दिया है. अब यह काल आगे क्या क्या करेगा यह मेरी समझमें नहीं आता।।१५-१८।।

अब उन अपशुकनोंके अवान्तर फल (इनके अतिरिक्त फल) कहे जा रहे हैं:

न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः ।
रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे ।।१९।।
दैवतानि रुदन्तीव स्विद्यन्ति ह्युच्चलन्ति च ।
इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः ।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किम् अघं दर्शयन्ति नः।।२०।।

बछडे गायोंका दूध प्रसन्न होकर नहीं पीते. माता स्तनोंसे दूध नहीं छोडती. गायें सूर्यके सामने खडी होकर रोती हैं. खिरकोंमें वृषभ प्रसन्नतासे शब्द नहीं करते।।१९।।

मन्दिरोंमें देवताओंकी प्रतिमाएं रो रही है. उन्हें पसीना आ रहा है और वे कांप रही हैं. देश, गांव, शहर, पुर, कुए, बाग-बगीचे, आश्रम इन सबकी शोभा मलीन हो गई है. आनन्द रह ही नहीं है. न जाने ये सारी स्थितियां हमें किन पापोंका परिणाम भुगवाएंगी।।२०।।

भूख लगी होने पर भी बछडे स्तनपान नहीं कर रहे. गायोंका दूध तो सबका जीवन है, परन्तु गायें दूध नहीं दे रहीं. गायोंके मुखपर्यंत आंसुओंकी धाराएं झर रही हैं. वृषभ अपने व्रजोमें(सांढोंके रहनेके स्थल) प्रफुल्लित नहीं दिखाई देते. देवताओंकी प्रतिमाएं पसीनेसे युक्त हैं. अथवा दूसरे देशमें आती जाती रहती हैं. दूसरे देशमें चली जाती हैं. इन सब श्रेष्ठ स्थानोंकी शोभा सम्पदाएं महिलाएं अपना स्वत्व नष्ट कर चुकी हैं. आनन्दका भाव हृदयोंको छोड चला है. दुःखोंको उत्पन्न करनेमें कारणभूत पाप अब हमें क्या-क्या पीडाएं अनुभव कराएगा।।१९-२०।।

इन सब अपशकुनों, उत्पातोंकी घटनाओंके पीछे मूल कारण क्या हो सकता है? इसकी सम्भावनाओंको व्यक्त करते हैं:

मन्य एतैर्महोत्पातैः नूनं भगवतः पदैः ।
अनन्यपुरुषश्रीभिः हीना भूर्हतसौभगा ।।२१।।

इस भूमिकी सुन्दरता इसलिए जाती रही है कि यह श्रीकृष्णकी छबिसे तथा उनके चरणकमलोंसे रहित हो गई हैं, अतः सौभाग्यहीना हो गई है. इन सब अपशकुनोंको देखकर यही निश्चय होता है।।२१।।

इन महान उत्पातोंके पीछे जो कारण है, वह निश्चय ही श्रीकृष्णके चरणोंसे इस भूमिका रहित हो जाना है. श्रीकृष्णके अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषके चरणोंमें भगवान् होनेके चिन्ह स्वरूप श्री, ध्वजा, पताका आदि नहीं होते. भगवान्के पधारनेके साथ ही इस भूमिका ध्वजा–पताकादि चरणचिन्होंसे अंकित होना समाप्त हो गया, जिससे भूमि सौभाग्यहीना हो गई है ऐसा मेरी समझमें आया है. अन्वय अर्थात् कारणोंकी सत्यता सिद्ध करना. भगवान्के विराजमान रहने तक सारी सौभाग्यमयी स्थितिओंका बना रहना और उनके पधारनेके साथ ही साथ लुप्त हो जाना यह अन्वयकी स्थिति हुई. और व्यतिरेक, कारणके अभावसे कार्यके अभावकी स्थिति सिद्ध करनेका नाम है. पृथ्वीके सारभूत तत्त्व कृष्ण जो कारणरूप है उनका अभाव हो गया. जिससे भगवान्के गुणधर्मरूपी सौभाग्यादि कार्योंका भी अभाव हो गया, यह व्यतिरेक हुआ. अतः यह सब अनिष्ट प्रभुके विराजमान न होनेके कारण ही है. यह निरूपित हुआ।।२१।।

अनिष्ट फलोंको सूचित करनेवाले अपशकुनोंका परिणाम शीघ्र ही देखनेमें आ गया, जिसे सूतजी कहते हैं:

सूत उवाच
इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा ।।
राज्ञः प्रत्यागमद् ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः।।२२।।
तं पादयोर्निपतितम् अयथापूर्वम् आतुरम् ।
अधोवदनम् अब् बिन्दून् मुञ्चन्तं नयनाब्जयोः।।२३।।
विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायम् अनुजं नृपः।
पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये संस्मरन् नारदेरितम् ।।२४।।

हे ब्रह्मन्, जिस समय युधिष्ठिर यह चिन्ता कर रहे थे कि ये बुरे लक्षण क्या करेंगे? उसी समय उनके पास यदुपुरीसे अर्जुन आए।।२२।।

वे आते ही नीचेकी ओर मुख किए धर्मराजके चरणोंमें आंसू झरते नेत्र कमलोंसे व्याकुल हुए गिर पडे।।२३।।

राजा युधिष्ठिरने जब यह देखा कि उनका छोटा भाई अर्जुन कान्तिहीन हो है तथा हृदय अशान्त है, तब नारदके पहले कहे हुए वचनोंका स्मरण करके अपने भाई-बन्धुओंके बीचमें पूछने लगे।।२४।।

युधिष्ठिरने अपनी ज्ञानदृष्टिसे होनेवाले बुरे फलोंको जान लिया है. इस विषयमें जब राजा अपने चित्तमें यह चिन्ता कर ही रहे थे कि उसी समय द्वारकासे अर्जुन आ गए. अर्जुनकी ध्वजामें वानर(हनुमान) होनेसे वे शीघ्रतासे आये हैं, यह सुचित हुआ. वे विपरीत परिस्थितिसे आये हैं अतः बिना कुछ बोले युधिष्ठिरके पैरोंमें गिर गये. अर्जुनके इस बार आनेमें वैसा व्यवहार व भाव नहीं थे जैसा कि पहले बाहर जाकर वापस लौटने पर दिखाई देता था. अर्जुन आतुर तथा दुर्बल दिखाई दे रहे हैं. यद्यपि उन्होंने अपने दुःखको प्रकट नहीं किया है, तदपि बहुत समयसे हृदयमें दुःख भरा होनेसे वह नेत्रकमलोंमें अश्रुधारा बन बह चला. कमल जलके आवरणरूप है, उसी प्रकार नेत्ररूपी कमलोंने अश्रुजलको रोके रखा था, वह प्रवाहित हो गया. यह बतानेकेलिये 'नेत्रकमल' शब्दका प्रयोग हुआ है. अर्जुनकी चमक नष्ट हो गई है अतः कान्तिहीन व्यक्तिसे वार्तालाप करना उचित नहीं है. परन्तु छोटा भाई होनेसे राजा युधिष्ठिर अर्जुनसे बात करते हैं. राजा होनेसे उन्हें कई कारणोंका ज्ञान है. फिर भी केवल देखनेसे भविष्यके अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए पूछते हैं. ये बातें वे सम्बन्धिओंके बीचमें पूछी जा रही है, इसका अभिप्राय यह है कि वह स्थान लगभग एकान्त जैसा ही है. देखनेके कारण अथवा सुननेसे, युधिष्ठिरके मनमें किसी बुरा होनेकी शंका हो गई है, इसीसे अर्जुनके साथ ही युधिष्ठिर भी तेज रहित हो गए, यह तात्पर्य हुआ. यह सब मनुष्यके बीच प्रसिद्ध है कि युधिष्ठिर भगवानमें निरन्तर पूर्ण भावनासे संलग्न रहते हैं, यह स्पष्ट करनेकेलिये मूलमें 'स्म' अव्ययका प्रयोग किया है।।२२-२४।।

युधिष्ठिर उवाच

कच्चिद् आनर्त्तपुर्यां नः स्वजनाः सुखम् आसते।
मधु-भोज-दशार्हार्ह-सात्त्वतान्धक-वृष्णयः।।२५।।

हे भाई(अर्जुन), द्वारकापुरीमें हमारे परिवारके व्यक्ति सुख पूर्वक रहते

हैं न? मधु, भोज, दशार्हार्ह, सात्त्वत, अन्धक, वृष्णि, यादव समुह सभी प्रसन्न मन हैं न?।।२५।।

जिन छह प्रकारके यादवोंका वर्णन ग्यारहवें अध्यायमें द्वारकाकी रक्षा करनेवालोंके रूपमें वर्णन किया जा चुका है वे छह प्रकारके यादवकुल कुशल तो हैं न? यदि वे सुखी होंगे तो द्वारकामें रहनेवाले अन्य यादवोंकी कुशलता अपने आप जाननेमें आ जायेगी, ऐसा विचार कर युधिष्ठिर प्रश्न करने लगे।।२५।।

इस प्रकार सामान्य यादवोंकी कुशलता पूछनेके बाद अब विशेष प्रकारके सम्बन्धियोंकी कुशलता पूछते हैं:

शूरो मातामहः कच्चित् स्वस्त्यास्ते वाथ मारिष।
मातुलः सानुजः कच्चित् कुशल्यानकदुन्दुभिः।।२६।।
सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः।
आसते सस्नुषाः क्षेमं देवकीप्रमुखाश्च ताः।।२७।।
कच्चिद् राजाऽऽहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चानुजः।
हृदीकः ससुतोऽक्रूरो जयन्तगदसारणाः।।२८।।
आसते कुशलं कच्चिद् ये च शत्रुजिदादयः।
कच्चिद् आस्ते सुखं रामो भगवान् सात्त्वतां प्रभुः।।२९।।
प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखम् आस्ते महारथः।
गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्द्धते भगवान् उत।।३०।।
सुषेणश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः।
अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः।।३१।।
तथैवानुचराः शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः।
सुनन्दनन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्त्वतर्षभाः।।३२।।
अपि स्वस्त्यासते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः।
अपि स्मरन्ति कुशलम् अस्माकं बद्धसौहृदाः।।३३।।

आदरणीयोंमें श्रेष्ठ शूर नाना, वसुदेव तो प्रसन्न हैं? भाईयों सहित मामा कुशल हैं न?।।२६।।

सातों बहनें तथा उनकी बहुएं, हमारी मामी, पुत्रवधु सहित देवकी आनन्दमें तो हैं न?।।२७।।

राजा आहुक, देवक भाई सहित जिसका पुत्र असद् है, वे अभी जीते हैं न? हृदीक, पुत्र सहित अक्रूर, जयन्त, गद, सारण मंगलका अनुभव करते हैं न?।।२८।।

शत्रुजित् आदि मुदित होंगे? भगवान् सात्त्वतोंके प्रभु श्रीबलदेवजी भली प्रकारसे तो हैं न?।।२९।।

सब वृष्णियोंमें महारथी प्रद्युम्न तो सुखी हैं? भगवान्के समान ही महा गम्भीर वेगवाले अनिरुद्धजी कुछ बडे हुए हैं या अभी छोटे ही हैं।।३०।।

सुषेण, चारुदेष्ण, जाम्बवती, पुत्र साम्ब और सब श्रीकृष्ण सुत, पुत्रों सहित ऋषिभादिक आनन्दित तो हैं न?।।३१।।

श्रीकृष्णके अनुचर श्रुतदेव, उद्धव आदि, सुनन्द, नन्द जो यादवोंमें श्रेष्ठ हैं।।३२।।

श्रीरामकृष्णकी भुजासे पालित वे सब प्रसन्न हैं? जिन्होंने हमसे आत्मीयता की है, वे सब कुशलता पूर्वक हैं न?।।३३।।

अपने नाना शूर कुशल तो हैं? शूरकी कुशलता पूछनेमें 'वा' अव्यय दिया है, जिसका अभिप्राय यह है कि वे बूढे हो चले हैं, यदि वे कुशल न भी हों तो विशेष चिन्ताकी बात नहीं है, इसलिए सर्व प्रथम उनकी कुशलता पूछी गई है. विलक्षणपना बतानेकेलिये मूलमें 'अथ' अव्यय दिया है. अतः अब जिन-जिनके विषयमें प्रश्न किये जायेंगे, उनकी कुशलता होना आवश्यक है. वसुदेवजीको 'आनकदुन्दुभि' कहा है, इसका तात्पर्य उनके जन्मके समय 'आनक और दुन्दुभि'की ध्वनियां अपनेआप होने लगी थी. इससे वे भाग्यशाली थे यह सूचित किया है. 'सहात्मजाः' यह समस्त पद है, परन्तु यहां 'सह' अव्ययका 'स' ऐसा आदेश नहीं हुआ है. उग्रसेनके पिताका नाम 'आहुक' है. उग्रसेनका पुत्र दुष्ट था अथवा पुत्र रहित हो था, इसलिए उसकी दुःख निवृत्तिकेलिये भगवानने उग्रसेनको राज्यका अधिकार दिया है. यादव हृदिक और अक्रूर भी अपने पुत्रोंके साथ आनन्दमें होंगे? उनके भ्राता जयन्त आदि प्रसन्न हैं न? ये सारे यादव नवम् स्कन्धमें विस्तारसे कहे जायेंगे. राम अर्थात् बलभद्रजीकी कुशलता पूछनेका यह कारण है कि बलदेवजी, अनिरुद्धजी और प्रद्युम्नजी, इन तीनोंके कारण ही सबको सुख उत्पन्न होता है, इसलिए तीनोंको ही भिन्न अथवा स्वतन्त्र प्रकारसे निरूपित किया है. इसमें भी बलदेवजी तथा

अनिरुद्धजीको 'भगवान्' विशेषणसे विभूषित किया है. प्रद्युम्नजीको महारथी कहा है, वे सब यादवको सुखी बनानेमें कारणरूप हैं. श्रीकृष्ण भगवान्के पुत्र जिनमें मुख्य हैं, ऐसे प्रद्युम्नजीके मित्र सुषेण, ऋषभ आदिकी कुशलता कैसी है? भगवान्के अनुचरोंमें, जिनमें सुनन्द और नन्द श्रेष्ठ हैं, ऐसे भगवदीयोंकी कुशलताके विषयमें पृथक्से पूछा है. इन सभीको बलदेवजी तथा श्रीकृष्णकी भुजाओंके आश्रित बताया है. बलदेवजीमें भगवानका आवेश है अथवा जिससे सबको इस बातकी प्रतीति (विश्वास) हो, उस प्रकार रहते हैं. जिस प्रकार हम उनकी कुशलताके विषयमें स्मरण कर रहे हैं, वे भी हमारी कुशलताके विषयमें उसी प्रकार स्मृति बनाये हुए हैं न? ऐसी संभावना की गई है. जो अत्यधिक कुशलतासे होते हैं वे दूसरोंकी कुशलता, स्मरण अवश्य करते हैं. ऐसे कथनसे उनकी कुशलता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है।।२६-३३।।

भगवानकी कुशलता पूछना उचित नहीं है. क्योंकि यह भी हो सकता है कि भगवान् दूसरे बहुतसे देशोंकी रक्षा करनेवाले होनेसे, उनसे आराधना किये जाने योग्य ब्राह्मणोंके कलियुगसे प्रभावित हो जाने पर तथा पाखण्ड मार्गका अनुसरण करनेवालोंकी रक्षा करनेमें व्यग्र हो गए हों ऐसी संभावनाके साथ भक्तोंके भी कामके वशीभूत हो जाने पर, उनके कामनिवारणार्थ व्यग्र होकर शत्रुओंका वध करनेकेलिए कहीं अन्यत्र पधार गए हों, यह संभावना की गई है. बहिर्मुख यादवोंमें परस्पर कलह हो जानेकी सम्भावनाको लेकर भगवानकी कुशलताको अब विशेष प्रकारसे पूछा जा रहा है:

भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः।
कच्चित् पुरे सुधर्मायां सुखम् आस्ते सुहृद्वृतः।।३४।।

ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाले भगवान्, भक्तोंका पालन करनेवाले गोविन्द भी द्वारकापुरीमें सम्बन्धियोंसे घिरे हुए सुधर्मा सभामें सुख पूर्वक विराजते हैं न?।।३४।।

भगवान् गोविन्द होनेसे हम सबके इन्द्र हैं, वे ब्रह्मण्य होनेसे ब्राह्मणोंका हित करनेवाले हैं. इसलिए उनके बाहर पधार जानेकी सम्भावनासे यह पूछा है कि वे द्वारकापुरीमें ही विराजमान् हैं न? सुधर्मा सभामें विराजे होनेका प्रश्न भी इसीलिए किया है कि जो यादव बहिर्मुख हैं, उनका हित करनेकेलिये वे सम्बन्धिओंसे घिरे हुए सुखपुर्वक विराजमान् हैं न? सम्बन्धीरूप भक्तोंको

जिससे सुख हो, इस रीतिसे भगवान्के विराजनेके अभिप्रायको सूचित किया है. क्योंकि स्यमन्तक मणिके प्रसंगमें भगवानको श्रम हुआ है, इसलिए भक्तोंको उससे कष्ट हुआ है, ऐसी सम्भावनासे यह प्रश्न पूछा है।।३४।।

इस प्रकारका प्रश्न करनेका क्या प्रयोजन है? अर्जुन यदि ऐसी शंका करें तो युधिष्ठिर कहते हैं:

मङ्गलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय च।
आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान्।।३५।।

लोकोंके मंगलरूप, कल्याण करनेवाले, लोकोंकी उत्पत्ति करनेवाले, अनन्तके सखारूप, आद्यपुरुष भगवान् यदुकुलरूपी समुद्रमें विराजते हैं।।३५।।

भगवानका द्वारकापुरीमें निवास सभी प्राणिओंके मंगलकेलिये है, विशेष करके द्वारकावासिओंके मंगलके लिये है. मिले हुए पदकी रक्षा और उसे विकसित बनानेकेलिये है. यदि द्वारकावासिओंके भाग्यमें मंगल हो ही नहीं तो भगवान्के विराजनेकी स्थितिसे भी क्या? तो इस प्रसंगमें कहा है कि वे 'आद्य' हैं अर्थात् सारी सृष्टिके मूल कारण हैं. 'कालकर्मस्वभावं च' इस वाक्यसे सृष्टिके समयमें भगवानने कार्य करनेकेलिये काल आदिको अंगीकार किया तदनन्तर जीवोंको उत्पन्न करके उन्हें न दिखाई देनेवाले कर्मका विभाग किया. इसलिए वे उसी रूपवाले हो गए अथवा दिखाई देने लगे. अथवा पहले जगत् रचना कालमें जीवोंका और पदार्थोंका विभाग किया था, इस समय अवतार दशामें भी स्वेच्छापूर्वक विभाग कर रहे हैं. क्योंकि उनमें विभाजकत्व शक्ति है. जब कि स्थिति यह है कि कालके द्वारा यथास्थान स्थिति सभीको बलपूर्वक खींच लिया जाता है या हटा दिया जाता है तो भगवान् द्वारा मंगल करनेवाली बात कैसे सिद्ध हुई? इस प्रसंगमें कहते हैं कि वे 'अनन्त सख' अर्थात् अनन्तके मित्र हैं. अतः भगवान्के इच्छित स्थानका काल अपकर्षण नहीं कर सकता. इस प्रकार तो प्राकृतका ही उत्पन्न होना पहले सिद्ध हुआ और उसी प्रकार प्रकृतिके परिणामोंका भी होना सूचित हुआ. फिर अब दुबारा प्रकृतिके विपरीत परिणामोंका उत्पन्न होना कैसे संभव हुआ? इस प्रसंगमें स्पष्ट किया जा रहा है कि उन्हें 'पुमान' कहा हैं. पुरुषका अधिष्ठान होनेसे ही प्रकृति नित्यताके परिणामको प्राप्त है. पुरुषसे रहित तो वह अनित्या है. इसलिए इस अवतार दशामें भी प्रभुके विद्यमानपनेसे पुरुषकी इच्छानुसार ही परिणामको प्राप्त होगी.

इसलिए भगवानकी स्थिति इन मंगल, रक्षण, भाग्योदयादि कार्योंको करते हुए विराजमान रहनेकी है अथवा नहीं? यह प्रश्न हुआ. 'न ह्यस्यकर्हिचिद्' इस वाक्यसे दूसरे पक्ष मंगलकी स्थितिका होना तथा क्लेशोंके प्रभावोंका होना सूचित हुआ. जिस प्रकार क्षीरसागरमें भगवान् शेषजी पर स्थित हैं, 'अनन्त सख' हैं, उसी प्रकार यादवकुलरूपी समुद्रमें भगवान् कृष्णके विराजनेकी स्थितिको वर्णित किया है।।३५।।

यद् बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽर्च्चिताः।
क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव।।३६।।

जिन भगवान् कृष्णके भुजादण्डसे रक्षित द्वारकापुरीमें यादव पूजित होकर वैकुण्ठनाथके पार्षदोंकी भांति परम आनन्दमें क्रीडा करते हैं।।३६।।

इस प्रसंगमें पुरुषों तथा स्त्रिओं केलिये क्रमशः दो श्लोकोंमें स्पष्टीकरण दिया है. द्वारकापुरीमें सब यादव पूजित हैं. चोरोंकी द्रष्टि तथा शत्रुओंका डर न होनेसे वे सब भांति सम्मानित तथा प्रतिष्ठित हैं. भगवान्के भुजदण्डसे रक्षित होनेके कारण उन्हें देश पर आक्रमण आदिका भी भय नहीं हैं, अतः वे 'पुजित' हैं. कोई भी कार्य उनके पास न होनेसे वे क्रीडाएं करते हैं. यहां तक कि भोजन, शयन आदि कार्य भी वे क्रीडाभावसे करते हैं. उनकी ये क्रीडाएं परमानन्दकी प्राप्तिकेलिये है. जिस प्रकार क्रीडा करनेवाले अपने रूपको खेलमें ही लगा देते हैं उसी प्रकार वे परस्पर परमानन्दरूप ही बन गये हैं. भगवानमें आत्मीयता दृढ होनेसे उनके द्वारा किये गये कार्यको अपने ही द्वारा किया हुआ मानते हुए, महापौरुषसे युक्त हुए निर्भय होकर क्रीडा करते हैं।।३६।।

अब स्त्रिओंका दृष्टान्त दिया जा रहा है:

यत्पाद–शुश्रूषण–मुख्य–कर्मणा सत्यादयो द्व्यष्ट–सहस्र–योषितः।
निर्जित्य सङ्ख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो हरन्ति वज्रायुध–वल्लभोचिताः।।३७।।

जिन भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा करना ही सत्यभामा आदि रानियोंका मुख्य कर्म बन है; ऐसे भगवान् सोलह सहस्त्र स्त्रियोंको युद्धमें जीतकर लाए. वज्र आयुधवाले इन्द्रकी पत्नीके द्वारा ही भोग्य पारिजातको देवताओं सहित इन्द्रसे युद्धमें जीतकर ले आए।।३७।।

जिन सत्यभामा आदि रानिओंका श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा करना ही मुख्य कर्म है, अन्य तो सब लौकिक हैं. लौकिककी अपेक्षा

आत्माकेलिये निश्चय किया हुआ धर्म करनेसे ही स्वर्गादि भोगे जाते हैं. धर्म परित्याग करने पर स्वर्गके भोग नहीं होते. अतः परमधर्म श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंकी सेवाके प्रमेयबलसे स्वर्गको ही अपने महलके प्रांगणमें ले आई हैं. सत्यभामाजीका श्रीकृष्णकी अतिव प्रिया होना प्रसिद्ध हैं. हम सब रानियां भी सत्यभामाजीके समान ही श्रीकृष्णकी प्रिय बन जावें, ऐसी प्रेरणा उन्हें मिलती है. अतः 'सत्यादयः' कहा है. क्योंकि उनके आठ-आठ हजारके दो समूह अर्थात् सोलह हजार रानियां अन्य भी तो हैं. स्त्रीत्व शब्दकी व्याख्याके अभावमें यहां ङीप् प्रत्ययका प्रयोग नहीं हुआ है. सत्यभामाजी पर विशेष प्रीतिको इसलिए भी माना जाता है कि उनके प्रेमसे वे गरुडजीको प्रेरीत करते हुए अपनी इच्छासे देवताओं सहित इन्द्रको स्वयं जीतकर पारिजातादि वृक्षको द्वारका ले आए. स्त्रिओंकेलिये प्राप्य भोग स्वर्ग आदि ही हैं. 'व्रजायुध वल्लभोचिता' ऐसा जो कहा है, वह इसलिए कि व्रजको धारण करनेवाले इन्द्रकी वल्लभा अर्थात् उसकी रानी शची इन्द्राणीके ही भोग योग्य जो पारिजातादि हैं तथा अन्योंसे जो कभी नहीं भोगे जा सकते, ऐसे स्वर्गिक भोगोंको श्रीकृष्णने सत्यभामाको प्रदान किये. इस प्रकार इस लोक व परलोकके सुखोंको श्रीकृष्णकी पत्नियां सत्यभामादि भोग रही हैं।।३७।।

सत्यभामा आदि स्त्रियोंको इस लोक तथा परलोकका सुख साथ-साथ ही मिल रहा है, ऐसा कहा है. उस प्रकारसे पुरुषको परलोक मिलनेकी स्थितिका वर्णन पहले नहीं किया गया, क्योंकि सत्यभामा आदिकोंके समान उन्हें उस प्रकारके भोग मिलना सम्भव नहीं है. अतः पुरुषोंके प्रसंगमें परलोकके सुख भोगकी स्थितिका वर्णन पृथक् प्रकारसे कहा जा रहा है:

यद्बाहु-दण्डाभ्युदयानुजीविनो यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः ।
अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहृतां बलात् सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचिताम्।।३८।।

जिन यादवोंका जीवन भगवान्के बहुदण्डोंके प्रतापसे ही है, उनको किसी भी प्रकारका भय नहीं है. स्वर्गसे लाई गई इन्द्रादिके ही योग्य सुधर्मा सभामें यादवगण बैठकर अपने चरणोंसे बार-बार बलात् अधिक्रमित करते हैं (पांवोंसे ठोकरें मारते हैं)।।३८।।

यादवोंकेलिये अन्य स्वर्ग तुल्य विषय स्वतः सिद्ध हैं. सभाका भोग तो उनकेलिये बहुत न्यून है. बाहुदण्डका अभ्युदय सबकी उन्नति करनेवाला है, उस

पर ही सबका जीवन अवलम्बित है. यादव श्रेष्ठ हैं, इसलिए निर्भय नहीं हैं किन्तु भगवान्के सेवक हैं इसलिए निर्भय हैं. स्वर्गमें देवता भी केवल एक बार स्नान करके ही उस सुधर्मा सभामें चरणोंसे स्पर्श न करते हुए ही बैठते थे, ऐसी उस सभामें यादवगण बार-बार बैठते हुए पैरोंसे आक्रमण करते हैं. उस सुधर्मा सभाको श्रीकृष्ण द्वारा बलपूर्वक स्वर्गसे द्वारका लाया है. वह सभा लौकिक प्रयत्नोंसे प्राप्त नहीं हुई है, वह तो सो अश्वमेध यज्ञोंसे प्राप्त होने योग्य है. जिस सभाको देवताओंमें उत्तम इन्द्रादि देवता ही भोगा करते थे, श्रीकृष्णके प्रतापसे यादवगण उसे भोगने लगे।।३८।।

इस प्रकार सब पूछ चुकने पर अब अर्जुनकी व्याकुलताके कारणोंको पूछते हैं:

कच्चित् तेऽनामयं तात! भ्रष्टतेजा विभासि मे।
अलब्धमानोऽवज्ञातः किं वा तात चिरोषितः।।३९।।

हे भाई, तुम स्वस्थ तो हो न? तुम मुझे तेज रहित लगते हो. कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम वहां बहुत समय तक रुके रहे हो, इसलिए तुम्हारे सम्मानमें कोई कमी आ गई हो, इस अपमानसे क्षुब्ध हो गए हो।।३९।।

हे अर्जुन! क्या तुम्हें कोई रोग लग है? रोगसे भी कान्तिहीन होना सम्भव है. तुम्हारा तेज चला है. इस विषयमें मेरी दृष्टि ही प्रमाण है, क्योंकि मुझे इस बातका विशेष आभास हो रहा है. अन्दरकी पीडासे अथवा पापके कारण ही तेज नष्ट होता है. इस प्रसंगमें पहले आन्तरीक पीडाके कारणोंको गिनाते हैं कि ससुरालमें सम्मानका न मिलना मनकी पीडाका कारण हो सकता है, और उस पर भी अपमान किया जाना तो और भी पीडाका कारण बन जाता है. इस अवज्ञाके कारण बहुत लम्बे समय तक ससुरालमें रहना हो सकता है. श्वसुरगृहमें बहुत समय तक रहनेसे तिरस्कार होता है. अवज्ञासे बहुत समय तक निवास करना ही शोकका कारण हो सकता है।।३९।।

इस प्रकार अन्तःकरण और शरीर सम्बन्धी दोष व ताप बताए. अब इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंके सम्बन्धमें बताया जा रहा है:

कच्चिद् नाभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः।
न दत्तं युक्तम् अर्थिभ्य आशया यत् प्रतिश्रुतम्।।४०।।

हे अर्जुन, कहीं ऐसा तो नहीं कि तुमने किसीसे कटुवचन कह दिए हों

या अमंगलकारी शब्दोंका प्रहार किसी पर कर दिया हो? किसीको यह आशा देकर कि तुम्हें अमुक वस्तु दूंगा और फिर वह वस्तु न दी हो?।।४०।।

भावनाहीन, स्नेह रहित, रूखे शब्दोंके प्रयोगसे अथवा अमंगलकारी शब्द(गाली) कहनेसे व्यक्ति तेज खो देता है. यहां 'आदि' शब्दके द्वारा भावना हीनता, कटुवचन, प्रतिज्ञा भंग, अशरणको शरण देना तथा अगम्या स्त्रीसे गमन करना, इन पांचो स्थितिओंको ग्रहण किया है. अब अधर्मकी सम्भावना बताते हुए कहते हैं कि किसी व्यक्तिको किसी पदार्थकी आशा दिलाकर फिर उसे वह पदार्थ न दिया जावे तो ऐसा व्यक्ति अपना तेज खो देता है. चतुर्थीके अर्थमें 'दानकी आशावालेकेलिये' यह अर्थ हुआ. ऐसे उस आशावानसे दानकी प्रतिज्ञा करके, फिर उसे तोड देना अर्थात् उसे इच्छित वस्तु प्रदान न करना भी तेजहीनताका कारण बनता है. 'इच्छित वस्तु देनेवाला भोगता है' यह श्रुतिका वचन है, जो इसका पालन नहीं करता, वह तेज रहित हो जाता है।।४०।।

दान देना तथा शरणमें आए हुएकी रक्षा करना क्षत्रियका मुख्य धर्म है. शरणमें आनेवालोंके अन्तर्गत भी क्या तुमने इनका परिपालन नहीं किया? इस प्रकार पूछा जा रहा है:

कच्चित् त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम्।
शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरणप्रदः।।४१।।

कहीं ऐसा हुआ हो कि कोई ब्राह्मण, बालक, गाय, वृद्ध, रोगी, स्त्री और भी कोई दूसरा प्राणी तुम्हारी शरणमें आया हो और तुमने शरण देनेकी योग्यता होते हुए भी शरण प्रदान न की हो, इसीलिए तुम्हारा मुखप्रकाश बुझ हो।।४१।।

ब्राह्मण तथा स्त्रियां सभी परिस्थितिओंमें पालन करने योग्य हैं. अन्य जन, जैसे बालक बूढे रोगी भी रक्षा करने योग्य हैं. वन्य प्राणी हरिण आदि शरणमें चले आवें तो उनकी रक्षा की जानी चाहिए. ये सभी शरणमें आये हुए त्यागने योग्य नहीं होते. दूसरोंके द्वारा भी पीडित अवस्थाओंको प्राप्त जनोंका त्याग नहीं किया जाना चाहिए।।४१।।

अब धर्मकी सूक्ष्मताके अभाव सम्बन्धी प्रश्न भी पूछे जा रहे हैं:

कच्चित् त्वं नागमोऽगम्यां गम्यां वासत्कृतां स्त्रियम्।
पराजितो वाथ भवान् नोत्तमैर्नासमैः पथि।।४२।।

हे भाई अर्जुन, तुमने कहीं परस्त्रीसे तो गमन नहीं कर लिया है, और गमन करने योग्यकी उपेक्षा तो नहीं कर दी है? अथवा मार्गमें हीन जनोंसे हार कर आए हो, जो बल तथा पौरुष में तुम्हारे समान नहीं हैं और न ही जातिमें तुम्हारे समान हैं. तुम्हारी तेजहीनताका कहीं यही तो कारण नहीं?।।४२।।

धर्मकी सूक्ष्मताके अभावमें कहा है कि तुम पुरुष होकर अगम्यासे गमन तो नहीं कर बैठे. कामके वशीभूत होकर अगम्यासे गमन किया हो? गम्या अर्थात् गमन करने योग्य पत्नीका अपमान करके, अगम्या अर्थात् परस्त्रीके साथ गमन कर बैठे हो? कान्तिहीनताका कारण शत्रुसे हार जाना भी हो सकता है, यह बात विचारकर अर्जुनसे कहा है कि तुम शत्रुसे परास्त होकर तो नहीं आये हो? जो शत्रु तुमसे बल-पौरुषमें कमजोर थे तथा नीची जातिके थे, कहीं ऐसे जनोंसे हार जानेके क्षोभने तुम्हें बुझा दिया हो? इससे पूर्व जो कथन किया है वह प्रस्तुत तथ्यसे भिन्न है, इसलिए यहां 'अथ' अव्ययका प्रयोग किया है. जो उत्तम नहीं हैं अर्थात् समान हैं और जो समान नहीं हैं अर्थात् अधम हैं. इन दोनों ही प्रकारके व्यक्तिओंसे कहीं हार तो नहीं आये हो? ।।४२।।

मीठे पदार्थ तथा अन्न आदि याचकों तथा बालकोंको दिये बिना स्वयं खा लेनेसे भी तेज हानि होती है. ऐसे लौकिक व्यवहारकी नीति सम्बन्धी आशंकाओंको करते हुए पूछा जा रहा है:

अपिस्वित् पर्यभुङ्क्थास्त्वं सम्भोज्यान् वृद्धबालकान्।
जुगुप्सितं कर्म किञ्चित् कृतवांश्च यदक्षमम्।।४३।।

सब प्रकारसे भोजन कराने योग्य वृद्ध व बालकों को छोडकर तो कहीं पहले तुमने भोजन नहीं कर लिया? ऐसा कोई निन्दनीय कर्म तो तुमसे नहीं बन कि जिसकी बादमें चर्चाएं चले?।।४३।।

यहां 'परि' शब्दका प्रयोग निषेध अर्थमें हुआ है. पहले भोजन कराने योग्य वृद्ध तथा बालकों को भोजन न कराकर तुम स्वयंने भोजन कर लिया हो? कहीं ऐसा तो नहीं? क्योंकि वे पूरी तरह भोजन कराने योग्य हैं. 'भोज्या वृद्धबालकान्' ऐसा पाठ होने पर 'भोज्या'का अर्थ स्त्री होगा. अथवा 'सम्भोज्य' शब्द ही रह सकता है. 'अथवादावुत्तरे विभाग' इस सूत्रसे ह्रस्व उच्चारण भी हो सकता है. ऐसी स्थितिमें ह्रस्वको दीर्घ बोला जाता है. अथवा बालकसे वृद्ध पर्यन्त पहले भोजन कराने योग्य हैं. अन्य भी कोई दूसरा निन्दनीय

कार्य, जो लोगोंको पता लगने पर अपयशका कारण बने और वह अपयश भी ऐसा जिसे बादमें सहन नहीं किया जा सके, इन सब कारणोंसे तेज नष्ट होता है।।४३।।

अब मुख्य कारणको बताया जा रहा है:

कच्चित् प्रेष्ठतमेनाऽथ हृदयेनात्मबन्धुना।
शून्योऽसि रहितोऽनित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक्।।४४।।

हे अर्जुन, कहीं ऐसा तो नहीं हो गया? कि हमारे प्राणोंसे भी प्रिय नाथ, नित्य हृदयमें विराजमान् आत्माके बन्धु रूप(भगवान् श्रीकृष्ण)से तुम शून्य हो गए हो, अर्थात् अब वे नहीं रहे हों. जिससे अब इस जगतकी अनित्यताका विचार तुम्हें हो रहा है! मैं तो निश्चितरूपसे यही मानता हूं कि इसके अतिरिक्त तुम्हें और कोई दूसरा रोग नहीं है, जिससे तुम तेजहीन दिखाई दे रहे हो।।४४।।

हृदयमें विराजमान होनेके कारण भगवान् अन्तर्यामी हैं. 'अथ' अव्ययका प्रयोग पहले कहे गये सब कथनोंको नकार कर मुख्य बात कहनेके अर्थमें किया है. भगवान् आत्मारूपसे बन्धु हैं. ऐसे भगवान्से रहित होने पर अथवा उनका विरह हो जाने पर, हे अर्जुन, तुममें रह ही क्या जाता है. अतः तुम शून्य हो गये हो. अब इस जगतकी अनित्यताका विचार तुम्हें हो रहा है. आत्मामें स्थित देह आदिकी स्थिति नित्य होती है, पर आत्माके तिरोहित हो जानेके बाद जैसे देह आदिकी स्थितिका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता वैसे ही आनन्दकन्द श्रीकृष्णके तिरोधानलीला करने पर अर्जुन मात्र एक शरीर रह है. अतिशोकका यही एकमात्र कारण है. अन्य तुम्हें कोई रोग नहीं है. अन्य अविवेकियोंको जिस किसी प्रकारकी भी सांसारिक चिन्ता होती रहे, परन्तु तुम्हारी चिन्ताका तो यही एक मात्र कारण है।।४४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथम स्कन्धके १४वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण'का अष्टम् अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

अध्याय १५

अर्जुनके मुखसे भगवान्‌के स्वधाम सिधारनेके समाचार पाकर पाण्डवोंका हिमालयकी ओर जाना

एवं चतुर्दशे हेतुं सम्भाव्याथ विनिश्चयात् ।
कृतकार्यः शास्त्ररीत्या मुक्तोऽभूद् इति वर्ण्यते ।।१।।
भार्याभ्रातृभिरत्रैव सहितो मुक्तिमेयिवान् ।
पञ्चदशे महाराजः कृष्णभक्त्येति रूप्यते ।।२।।
प्रेमोपकारज्ञानानि जिष्णौ राजार्थम् आह हि ।
एनं दृष्ट्वैव राजापि तथैवाभूद् यतः परः ।।३।।

इस प्रकार चौदहवें अध्यायमें कारणोंकी संभावना करके, निश्चय हो जानेके बाद राजा श्रीयुधिष्ठिर कृतकार्य हो चुके हैं तथा शास्त्रकी रीतिसे मुक्त हो चुके हैं, आगे वर्णन करते हैं।।१।।

स्त्री और भाईयों सहित युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिसे यहां ही मुक्तिको प्राप्त कर लिया, यह पन्द्रहवें अध्यायका वर्ण्य विषय है।।२।।

अर्जुनके अन्दर प्रेम, उपकार तथा ज्ञानका निरूपण किया है. इस प्रकारके अर्जुनको देखकर युधिष्ठिर भी वैसी ही दशाको प्राप्त हो गए।।३।।

अब पहले अर्जुनके अतिशय प्रेमको बताया जा रहा है:

सूत उवाच

एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञा विकल्पितः ।
नानाशंकास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः ।।१।।
शोकेन शुष्यद्वदन–हृत्सरोजो हतप्रभः ।
विभुं तमेवानुध्यायन् नाशन्कोत् प्रतिभाषितुम् ।।२।।

श्रीसूतजी शौनक आदि ऋषियोंसे कहते हैं कि कृष्णके वियोगमें दुःखी हुए, कृष्णके मित्र अर्जुनसे राजा तथा भ्राता युधिष्ठिरने अपने शंका भरे प्रश्न पूछे।।१।।

शोकके कारण जिन अर्जुनका मुख निस्तेज हो है, हृदयकमल मुरझा है, ऐसे वे उन्हीं विभु श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए, अपने भाई युधिष्ठिरको उत्तर देनेमें समर्थ न हो सके।।२।।

इस प्रकार कृष्णरूप अर्जुनसे युधिष्ठिरने अनेक प्रकारके शंका भरे प्रश्न पूछे, परन्तु अर्जुन उनका उत्तर देनेमें असमर्थ रहे. अर्जुन कृष्णके मित्र हैं, अतः मित्रका स्मरण करने मात्रसे उनके मनमें व्याकुलता आ जाती है. अर्जुनके माध्यमसे भगवान् ही इन युधिष्ठिरादिका उपसंहार करने आये हैं, अतः 'कृष्ण' पदका प्रयोग हुआ है. इसीलिए अर्जुनको 'कृष्णसखः' अर्थात् कृष्णका मित्र कहा है. अन्यथा कृष्णके तिरोधान होते ही अर्जुनका वनमें चले जाना उचित होता. ''सभी अर्जुनसे अन्वित रहना'' अर्थात् अर्जुनसे सूचना प्राप्त करने पर ही महाप्रस्थान करना, यदि ये वाक्य भगवान् द्वारा नहीं कहे गये होते तो अर्जुनका महाप्रस्थान करना उचित होता. नारदजी द्वारा कहे गये ये वाक्य भी कि ''जब तक भगवान् निजलोकमें न पधारें, आप सब लोग प्रतीक्षा करें'' किस प्रकारसे सत्य होते. यहां जो 'कृष्णौ' शब्द कहा है वह इसलिए कि कृष्ण और अर्जुन दोनों ही यदुकुल तथा कुरुकुल के आधाररूप हैं. 'द्विवचन' होनेसे द्वन्द्व समासके कारण अर्जुन अर्थ निकला. परिस्थिति विशेषको प्रकट करना अर्जुनमें विश्वास उत्पन्न करनेकेलिये ही भगवानकी एक लीला है. अन्यथा भगवानका कुछ कार्य अधूरा रह जाता. अर्जुनका तेज तथा शोक उपयोगिता रहित हो जाते. इसलिए श्रीकृष्ण ही अर्जुनमें प्रवेश करके पधारे हैं. अतः युधिष्ठिरके प्रति यह उक्ति ठीक है. यह बात इससे भी सिद्ध हो रही है कि पहले बताई गई अनेक प्रकारकी शंकाओंके प्रतिरूप अर्जुन ही है. क्योंकि वे उत्तर देनेमें समर्थ न हो सके. उनका कृष्णसे वियोग हो था जिनके प्रति विशेष लगाव था. कृष्णके पधार जानेसे उनका शरीर दुर्बल हो था. अब उत्तर न दे सकनेकी बाहरी स्थितिओंको कहा जा रहा है. शोकके कारण जिन अर्जुनका हृदयकमल तथा मुखकमल सूख है ऐसे वे तेजहीन हो गये हैं. बाहरकी कान्ति नष्ट होनेसे हृदयमें स्थित ताप सूचित हो रहा है. उत्तर देनेकी विवशता तथा कृष्णमें ध्यानकी दोहरी उपस्थितिमें भी, उन्हीं कृष्णमें ध्यान लगे रहनेसे अर्जुन उत्तर देनेमें समर्थ न हो सके उसका मूल कारण है व्यापकत्व, जिसके कारण अर्जुनका ध्यान निरन्तर श्रीकृष्णमें लगा हुआ है. उत्तर देनेकी तुलनामें ध्यानका विषय ही अधिक प्रभावी बना रहा।।१-२।।

यह ध्यान शोकयुक्त था, अतः शोकको दूर करनेकी प्रक्रियाका वर्णन किया जाता है:

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनामृज्य नेत्रयोः।

परोक्षेण समुन्नद्ध–प्रणयौत्कण्ठ्यकातरः।।३।।

बहुत ही कष्टके साथ शोकको रोककर, हाथसे नेत्र पोंछकर, परोक्षरूपसे विराजमान् भगवान्से युक्त स्नेहकी उत्कण्ठासे अर्जुन व्याकुल बने हुए हैं।।३।।

कृष्णकी याद आना ही तो शोकका कारण है, और स्मरणके विद्यमान रहने पर शोकको दूर करना असम्भव है. तो भी उस प्रकारके धर्म विशेषसे युक्त भगवानको उन धर्मोंसे अलग करके पहलेवाले धर्मोंके साथ जोडकर बहुत कठिनाईसे शोकको दूर किया जाना कहा है. अर्जुनने अन्तःकरणकी गहराईयोंसे आनेवाले शोकके आंसुओंको हृदयमें ही रोक लिया है. जो आंसू नेत्रोंमें आ चुके हैं उन्हें पूरी तरहसे हाथसे पोंछ लिया है. ऐसा करते पहले कहे गये बीते हुए समयके साथवाले भगवान्के धर्मोंको जोडकर परोक्ष शब्दसे कहे गये अर्जुनके हृदयमें प्रवेशको प्राप्त हुए भगवानको सूचित किया है. परोक्षका तात्पर्य है, आंखोसे दुर हो जाना. अपनी इच्छासे ही इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई देनेवाले, अब इच्छा न होने पर पराक्ष हो गये हैं. उस परोक्ष स्थितिमें भगवान् अर्जुनके हृदयमें सम्पूर्णतया आविष्ट हो गये हैं. वे अर्जुनके हृदयमें इस प्रकार समा गये हैं, जैसे कि लोहेके गोलेमें आग. इसीसे मनकी बात प्रकट करनेकी शक्ति अर्जुनमें आ पाई है. अर्जुनके हृदयमें पहलेसे ही प्रवेश पाई हुई भक्ति भी अपना कार्य कर रही है, जिससे एक साथ ही प्रणय, उत्कण्ठा, कातरता आदिके भाव दिखाई देने लगे हैं. प्रेमसे उत्कण्ठा हुई और उत्कण्ठासे कण्ठ अटक गया. अब जब तक कण्ठसे वाणी न निकले तब तक हृदयकी कोई भी बात बाहर नहीं आ सकती, इसी कारण अर्जुन कातर हो उठे हैं कि मैं मनकी बात कब बता सकूंगा, यही व्याकुलताका कारण है।।३।।

भगवान् हृदयमें प्रेरणा करते हैं कि कहने योग्यको कह देना चाहिए. भक्ति कहती है कि नहीं कहना चाहिए. ऐसी स्थिति होने पर भगवान्के स्मरणकी प्रबलतासे भक्तिका तेज बढ है. परिणाम स्वरूप कण्ठमें अश्रुप्रवाह रुंध है. इस भक्तिकी व्याख्या पहले कर दी गई है. इसके बाद भक्तिको दूर करके, भगवानकी प्रेरणाको स्वीकार करके, पहलेवाले भगवत् धर्मोंसे जुडकर उनकी लीलाओं तथा कार्योंका स्मरण करते हुए, अब कहते हैं :

सख्यं मैत्रीं सौहृदञ्च सारथ्यादिषु संस्मरन्।

नृपम् अग्रजम् इत्याह बाष्पगद्गदया गिरा ।।४।।

भगवान्के सारथीपने, मित्रता, स्नेह का स्मरण करते हुए, आंसुओंसे गद् गद् कंठवाले अर्जुन, बडे भाई युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहने लगे।।४।।

एकसा स्वभाव तथा एकसी रुचियां 'सख्यता' कहलाती है. छिपाने योग्यको छिपाना, गुणोंको सामने रखना, विपत्तिके समय साथ न छोडना ही मित्रता है. सारथीका कार्य करते समय भगवानने मित्रता तथा सख्यता दोनों ही स्थितिओंका निर्वाह किया है. सज्जनोंके समान सुहृद् भावके कार्य किये अथवा बन्धुओं जैसे कार्य किये. इन सभी कार्योंको भगवानने अर्जुनकेलिये किया. यहां 'च' शब्दका प्रयोग स्वामीत्व व गुरुत्वको बतानेकेलिये किया है. पार्षदपना, सेवाकार्य, दूतकार्य, वीरासन, अनुगमन कार्यों केलिये 'आदि' शब्दका प्रयोग किया है. इन सभी कार्योमें अलग-अलग प्रकारसे भगवान्के गुणधर्मोंको याद रखनेकेलिये शब्दोंका एक साथ समास नहीं किया है. अब यहां बातको बताये जाने योग्य प्रकारको कहा जाता है. अर्जुनके द्वारा मनकी बातको वाणीके माध्यमसे बताया है, अभिनयके द्वारा नहीं. शोकमें अभिनयकी सम्भावना होने पर भी उसे नहीं किया है।।४।।

राजाने दो प्रकारके प्रश्न पूछे हैं : यादवोंके कुशल समाचार तथा अर्जुनके शोकका कारण. उस प्रसंगमें अत्यधिक समीपतावाले भाव अर्थात् शोकके विषयमें ही उत्तर प्रारम्भ किया जा रहा है. भक्तिको तिरोहित करते हुए शोकका कारण ही बताया जा रहा है:

अर्जुन उवाच

वञ्चितोऽहं महाराज! हरिणा बन्धुरूपिणा ।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत् ।।५।।

हे महाराज युधिष्ठिरजी, बन्धुरूप हरिके द्वारा मुझे छला है, जिससे देवोंको भी आश्चर्य चकित कर देनेवाला मेरा महान् तेज छिन गया।।५।।

भगवान् द्वारा छल लिये जानेसे मेरी यह गति हो गई है. छल लिये जानेका प्रकार बताया जा रहा है. निश्चय ही भगवान् परम कृपालु हैं, फिर यह छलावा क्यों? तो कहते हैं कि उनका नाम 'हरि' है. वे सब दुःखोंका हरण करनेवाले हैं. यदि इस समय अर्जुनका तेज हरण नहीं किया जाता, तो यादवोंके समान ही कालके वशीभूत होकर उद्धतपनेको प्राप्त होकर सब प्रकारसे नाष्ट हो

जाते. अर्जुनकी मुक्ति नहीं हो पाती. इसलिए सबकी रक्षा करनेकेलिये तेजका अपहरण कर लिया. अति समीपताका सम्बन्ध बन्धुरूपतासे बताया है. बन्धु होने पर भी इस प्रकारका छल क्यों किया? इस आशंकाके प्रसंगमें 'बन्धुरूप' शब्दका प्रयोग हुआ है. बन्धुरूपता होने पर भी भगवान्‌के द्वारा छला गया. मामाका पुत्र होनेसे भगवानकी बन्धुरूपता सिद्ध हुई. तब लौकिक व्यवहारसे निकट जाने पर तेजका अपहरण किया. यदि तेजकी स्थिति रहती भी तो देवताओंके रक्षक होनेसे अनिष्ट होनेकी सम्भावना ही नहीं. अर्जुनका तेज देवताओंको भी अचम्भित कर देनेवाला था. देवताओंके रक्षक वामन भगवान्‌के विद्यमान होने पर तो एसी आशंका निराधार है, यहां कहते हैं कि अर्जुनका तेज वामनसे भी नहीं दबाया जा सकता था।।५।।

यह ठीक है कि अर्जुन तेज रहित हो था, परन्तु उनके पास शस्त्रोंको चलानेके मन्त्र आदि तो थे ही, यहां यदि युधिष्ठिरके मनमें यह शंका उठे कि तेज चला था तो भी चिन्ता करनेकी क्या बात थी. उसीका निराकरण करते हुए आगे कहा जा रहा है:

यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः।
उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा।।६।।

जिस तेजके क्षणमात्रके वियोगसे भी यह लोक अप्रिय दिखाई देने लगता है. जिस प्रकार अन्य तेजहीन मनुष्य लोकमें मरे हुएके समान समझे जाते हैं, वैसी ही दशा मेरी हो गई है।।६।।

जिस तेजके क्षणिक वियोगसे यह सारा लोक देखनेमें अच्छा नहीं लगता. जिसका देखना मात्र भी अप्रिय है. तेजके चले जाने पर जगतको देखना भी अच्छा नहीं लगता, मन्त्र आदिकी तो बात ही क्या? भूखके अभावमें जिस प्रकार अन्न अच्छा नहीं लगता, कामके अभावमें जैसै कामिनी अच्छी नहीं लगती, और अधिक क्या कहें? तेजसे रहित मेरे जैसे लक्षणोंवाला पुरुष प्राणरहित कहा जाता है. प्राणका कार्य शरीरमें बल उत्पन्न करना है. प्राणके चले जाने पर शरीर किसी कामका नहीं रहता. फिर तो वह वृक्षके समान ठूंठ मात्र रह जाता है. इससे अधिक क्या कहें? लोक प्रतीतिके आधार पर भी मैं वैसा ही हो हूं. इसीलिए यहां 'मृतक' शब्दका प्रयोग हुआ है. जिस प्रकार मरे हुएके विषयमें लोक यह कहता है कि यह देह अब घरमें रखने योग्य नहीं है,

जला देने योग्य है, आज ठीक वही स्थिति मेरी भी हो गई है. तेज छिन जानेसे मैं मरे हुएके समान हो हूं।।६।।

इस छलके ज्ञात हो जाने पर कैसी सख्यता? अथवा शास्त्रोंके आधार पर कैसी भजनीयता? ऐसी आशंका करते हुए कहा जा रहा है कि यह छल अभी ही किया है, इससे पूर्व नहीं. 'यत् संश्रयाद्' आदिसे ''तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना'' इस प्रसंगमें आए हुए अन्तिम श्लोक तक भगवान् द्वारा किये जानेवाले उपकारादि तथा वञ्चनका वर्णन आया है:

गुणस्वभावभेदेन कृष्णेनोपकृता वयम्।
गुणैस्तु नवधा योगात् स्वभावेन त्रिधा पुनः ।।
एवं द्वादशधा कृष्णः कृतार्थीकृत्य साम्प्रतम्।
अवञ्चयद् इति ह्येकं तेनान्यस्य च संक्षयः ।।
एवं चतुर्दश श्लोकैः पाण्डवेषु हरेर्गुणाः।
तावद्भिरेव स्वज्ञातैः चतुर्दशगतिं ययुः ।।

कारिकार्थ: गुण तथा स्वभावके भेदसे कृष्णने हमारा उपकार किया है. नौ प्रकारके गुणों तथा स्वभावके पुनः तीन प्रकारके भेदके योगसे यह संख्या बारह हो जाती है. यों बारह प्रकारोंसे श्रीकृष्णने इस समय कृतार्थ किया है. अन्य सबको छोडकर एक गुणके द्वारा हमें श्रीकृष्णने छला है. इस प्रकार चौदह श्लोकोंके द्वारा पाण्डवोंमें हरिके गुण चौदह प्रकारकी गतियोंको प्राप्त हुए हैं.

गुण एवं स्वभावके भेदों द्वारा श्रीकृष्णने हमारा उपकार किया है. उनमें सत्त्वादिक तीनों गुण एक दूसरेमें मिलकर नौ भेदोंको प्राप्त हुए हैं. जैसे सत-रज, सत-सत, सत-तम, तम-रज, रज-तम, रज-रज, तम-तम आदि भेदोंके मिश्रणसे नौ प्रकार हुए. सात्त्विक, राजस, तामस ये तीन प्रकारके भेद अर्जुनके स्वभावमें हैं. ये तीन प्रकारके भेद नौ प्रकारोमें मिलकर बारह प्रकारके हुए. इस प्रकार बारह गुणोंसे श्रीकृष्णने इस जीवनमें हमें कृतार्थ करके एक गुणसे हमें छला है. एक श्लोकमें तेजक्षयका प्रसंग दिया है. इस प्रकार चौदह श्लोकोंमें अर्जुनने सब वास्तविकता बताई है. चौदह श्लोकोंमें निरूपण करनेका अभिप्राय यह है कि अपना समझकर चौदह भेदोंवाले हरिके गुण पाण्डवोंमें चौदह प्रकारसे प्राप्त हुए. रजोगुण मिश्रित सत्त्वगुणवाले भगवानने जो उपकार किया है, उसमें रजोगुण मिला होनेसे, दूर रहकर श्रीकृष्णने उपकार किया है. उसका फल स्त्रीकी

प्राप्ति है. इसी तथ्यको लेकर आगेके श्लोकमें कहा जा रहा हैः

यत् संश्रयाद् द्रुपदगेहम् उपागतानां राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।
तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः सज्जीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा।।७।।

भगवान् श्रीकृष्णके आश्रयसे मैंने द्रुपदराजके घर पर द्रोपदीके स्वयंवर हेतु आए हुए कामदेवके समान दुर्मद राजाओंका तेज, सज्जित धनुषसे मत्स्य वेधन कर, द्रोपदीको प्राप्त करते हुए, हरण कर लिया था।।७।।

हमने श्रीकृष्णका हर प्रकारसे आश्रय किया है, इसलिए हम श्रीकृष्णके ही कहलाते हैं. जिन भगवान् तक इन्द्रियोंकी पहुंच नहीं है, उनके आश्रयके बिना अतीन्द्रिय अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता. वहां हम एक चक्र नगरको त्यागकर ब्रह्मचारीके रूपमें रहते थे. हमारी प्राप्तिकेलिये ही भगवानने प्रतिज्ञा की थी, इसलिए द्रोपदीके स्वयंवर प्रस्तावमें नहीं दिखाई देते हुए, मत्स्यका वेध करवानेकेलिये सब राजाओंको बुलाया था. यह सारा सम्मेलन श्रीकृष्णने हमारे तेजको जगतमें प्रकाशित करने हेतु ही किया था. भगवानकी कृपासे सब राजाओंका तेज, अदृश्य मत्स्यका ज्ञान, द्रोपदी सी स्त्री –ये तीनों हमें प्राप्त हुवे. द्रोपदीका नाम 'कृष्णा' होनेसे श्रीकृष्णने अपने नामकी समानता मानकर उनके सखारूप हमारे साथ उस कृष्णाका योग बिठाया. अतीन्द्रिय मत्स्यका ज्ञान, उन राजोओंका तथा अपना तेज श्रीकृष्णने हमें प्राप्त कराया. इस प्रकार उनने जो तेज पहले हमें प्रदान किया था उसे ही अन्तमें छिन लिया है. तेजहरणके साथ मेरा सब कुछ हर लिया. तेजके हरण हो जानेसे सर्वनाश हो है. भगवान् परब्रह्मरूप हैं, उनके आश्रयसे प्राणिओंका अनिष्ट किस प्रकार हो सकता है? आश्रय लेनेसे उन्होंने दूसरोंका तेज हर लिया ऐसा क्यों? ऐसी शंका उत्पन्न होने पर कहा जा रहा है कि उन राजाओंमें कामदेवके समान दुष्ट मद था. अतः उनका दोषरूप मद हरनेसे उन राजाओंका उपकार ही किया. इस प्रसंगमें युधिष्ठिरकी भी संमति रखनेकेलिये मूलमें 'खलु' अव्ययका प्रयोग किया है. मत्स्य, जो न दिखाई देनेवाला था, उसे जान लिया और उसका वेध किया गया. ये दोनों बाते उन्हींके आश्रयसे सिद्ध हुई. धनुषको कैसे चढाया जाना चाहिए, यह भी उन्हींके आश्रयसे जाना गया. इसीलिए धनुष सज्जावाली बात मूलमें आई है. इन्द्रप्रस्थका स्थान भी उन्हींके आश्रयसे मिला है, अतः मूलमें 'च' अव्ययका प्रयोग हुआ है।।७।।

अब सत्त्वगुण मिश्रित सत्त्वके द्वारा किये गए उपकारका वर्णन कहा

जा रहा है:

यत् सन्निधावहमु खाण्डवम् अग्नयेऽदाम् इन्द्रञ्च सामरगणं तरसा विजित्य ।
लब्धा सभा मयकृताद्भुत–शिल्पमाया दिग्भ्योऽहरन् नृपतयो बलिमध्वरे ते।।८।।

जिन भगवान् श्रीकृष्णने समीप रहकर युद्ध भूमिमें देवताओं सहित इन्द्रको जीतकर खाण्डव वन अग्निकेलिए दिया. उन्हीं श्रीकृष्णके कृपाप्रसादसे मय दानवकी बनाई हुई अद्भूत शिल्पकारीसे युक्त सभा हमने प्राप्त की, समस्त दिशाओंके राजागण आपके राजसुयादि यज्ञमें भेंटें अर्पण करने आए, यह उन श्रीकृष्णका अनुग्रह था।।८।।

सत्त्वगुणका मिश्रण होनेसे भगवानकी समीपता है. देवतागण सहित इन्द्रको जीतकर खाण्डव वनको जलानेका कार्य किया. इस प्रकारका तर्क आनेसे मूलमें 'उ' अव्यय रखा है. खाण्डव वन समस्त औषधिओंसे युक्त था. उसे अग्निसे मांगा था. वह वन इन्द्रका होनेसे उसे जीतकर अग्निको दिया. खाण्डव वनमें रहनेवाले मय दानवके प्राणोंकी रक्षा करनेसे उस दानवने प्राण बचनेके फलस्वरूप, एक मायामयी सभा, जिसमें अनूठी शिल्पविद्याका चित्रात्मक प्रयोग किया था, भेंटमें दी. विश्वकर्मा भी शिल्पविद्यामें अतुलनीय है, परन्तु मय दानव तो शिल्पविद्याके साथ साथ माया प्रयोग भी जानता था. उस सभामें दुर्योधनको मोह उत्पन्न हो था. इस प्रकार यहां तीन पदार्थोकी प्राप्ति हुई. अग्निको खाण्डव वन देनेकी सामर्थ्यवाला गाण्डीव धनुष, इन्द्रादिका तेज तथा मय दानवकी बनाई हुई सभा. ये सब भगवानकी समीपताका फल है. आपके राजसूय यज्ञमें विभिन्न दिशाओंके राजागण भेंटरूप द्रव्यको लाए. श्रीकृष्णके हम पर ये महान् उपकार रहे।।८।।

नीचेका श्लोक क्षेपक होनेसे अधिक है, वह भी व्याख्या करने योग्य है:

यत् तेजसा नृपशिरोङ्घ्रि–महन्मखार्थम् आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा यन् मोचितास्तदनयन् बलिम् अध्वरे ते।।९।।

दश हजार हाथीयोंके समान बलवाले पराक्रमशील आपके लघु भ्राता भीमसेनसे वह जरासन्ध, जो महादेवकी बलि चढानेकेलिए अनेक राजाओंके सिर पर अपना पांव रखे हुए था, मारा गया. यह श्रीकृष्णके तेजका ही प्रताप था. ऐसे वे मुक्त किये गए राजागण आपके यज्ञमें भेंटें लाए।।९।।

राजाओंके मस्तक पर जिसका पैर था ऐसा जरासन्ध महापराक्रमी था.

उसे आपके यज्ञकेलिये मेरे बडे भ्राता और आपके छोटे भ्राता भीमसेनने श्रीकृष्णके तेजसे मार गिराया. स्वयं भीमसेनमें भी दश हजार हाथिओं जितना बल था परन्तु श्रीकृष्णसे प्राप्त तेज द्वारा ही वह जरासन्धको मार सका. जरासन्धने महाभैरवकी बलि देनेकेलिये राजाओंको एकत्रित कर बन्दी बना रखा था. उन राजाओंको बन्धनसे मुक्त किया. वे बन्धनसे मुक्त हुए राजागण आपके यज्ञमें भेंटें अर्पण करने आये. जिस प्रकार भगवान्के सामीप्यसे मुझे फल प्राप्त हुआ, उसी प्रकार भीमसेनको भी प्राप्त हुआ।।९।।

अब तमोमिश्रित सत्त्व द्वारा किये गए उपकारका वर्णन किया जा रहा है:

पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेक–श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या यस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः।।१०।

आंखोंसे आंसू बहाती श्रीकृष्णके चरणोंमें पडी आपकी द्रोपदीका राजसूय यज्ञमें गुंथा हुआ अभिषेक होनेसे प्रशंसनीय श्रेष्ठ रमणीका जूडा जिन कपटी दूर्योधनादिकोंने सभामें छूकर बिखेरा, उनकी स्त्रियोंको श्रीकृष्णने विधवा बनाकर सदा केलिए खुले केशोंवाली कर दिया।।१०।।

द्रोपदीका प्राप्तिरूप उपकार श्रीकृष्णने रजोगुणसे किया है. इसलिए रजोगुणसे उत्पन्न होनेवालेको तमोगुण द्वारा नाश होना योग्य है, तो भी सतोगुणी कार्यसे द्रोपदीको अनर्थ प्राप्त हुआ है. क्योंकि सभामें उनके केशोंकी प्रशंसा होनेसे दुष्टोंने उनके केशोंका स्पर्श किया है. उनको दिया जानेवाला प्रतिफलरूप अपकार स्पर्श करनेवाली स्त्रियोंको दिया है. इस बातका कारण बताते हैं कि राजसूय यज्ञके मध्यमें महाभिषेकका प्रस्ताव हुआ. वहां यजमान और यजमानकी स्त्री के ऊपर बहुत बडा अभिषेक हुआ. अभिषेककी उस वेलामें सारी सभामें द्रोपदीके केशोंकी प्रशंसा हुई. क्योंकि केश बहुत मनोहर थे. लोक व वेद में भी प्रशंसा करने योग्य थे. ऐसे उन केशोंका स्पर्श दुष्ट दुर्योधनादिने द्यूतमें हरा दिये जानेके बहानेसे सभाके मध्यमें किया. जिस सभामें भीष्म आदि बैठे थे, उनके सामने ही उसने इस पापको प्रकट किया. भगवान् श्रीकृष्णने इनकी स्त्रिओंको विधवा करके मुक्त केशोंवाली बना दिया. भगवानने ऐसा क्यों किया? ऐसी कोई शंका करे तो कहते हैं कि दुष्ट पुरुषोंने केशोंका स्पर्श किया उस दोषके सम्बन्धसे छूटनेकेलिये 'हे नाथ, हे द्वारकावासिन्' इस प्रकार अनन्य भक्तियुक्त हृदयसे प्रार्थना करते हुए द्रोपदीने भगवानका स्मरण किया. उसी समय भगवान् पधारे.

उस सभामें बैठे हुए सभी पापिओंके रहने पर केवल द्रोपदीको ही भगवान्के दर्शन हुए. उस समय दुष्टों द्वारा दूषित किये गए केशोंको भगवान्के चरणारविन्दोंमें फैलाकर द्रोपदीने प्रणाम किया तथा उनके नेत्रोंमेंसे झर झर आंसू बहने लगे. उस समय भगवान् द्वारकामें पधारे ही थे, वहांसे सहसा पधारकर द्रोपदीके आगे उपस्थित हो गए. उनके दर्शन करते ही द्रोपदी चरणोंमें गिरकर रोने लगी. इसी कारणसे उनका काम करनेकेलिये श्रीकृष्ण भगवानने बदला लिया. अतः भक्तोंकी यह प्रार्थना उचित ही है कि 'जैसे आपने द्रोपदीकी रक्षा की वैसे ही हमारी भी रक्षा कीजिए' इस प्रकार गुप्तरूपसे भी भगवान् सब प्रकारसे हित करते आये हैं यह जान लो।।१०।।

रजोगुण व तमोगुण के मिश्रणसे जो उपकार किया उसे बताते हैं:

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद् दुर्वाससोऽरिविहिताद् अयुताग्रभुग् यः ।
शाकान्नमुष्टिम् उपयुज्य यतस्त्रिलोकीं तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः।।११।।

शत्रु दुर्योधन द्वारा भेजे गए दुर्वासासे, जो दश हजार शिष्योंके भोजन कर लेने पर भोजन करते थे. उस विकट कष्टके समय हमारी रक्षा की. जिन भगवानने वनमें आकर, बचे हुए शाकान्नको स्वीकार किया. जिससे जलमें स्नान करते हुए ऋषि समूहने त्रिलोकीको तृप्त मान लिया।।११।।

इस प्रसंगमें एक छोटीसी आख्यायिका है. किसी समय छह मासका उपवास करनेके बाद, पारणाके दिन सब दैत्योंकी प्रार्थनासे दुर्योधनके घर दुर्वासा गए. उसने अतिथिओंका सम्मान किया. उन्हें सन्तुष्ट किया. तब दुर्वासाने दश हजार शिष्यों सहित वर मांगनेको कहा. उस समय भगवान् द्वारा दुर्योधनके अन्तःकरणमें मोह उत्पन्न कर दिये जानेसे वह सहसा ही पाण्डवोंके नाशकी प्रार्थना नहीं कर सका. अब किस बहानेसे प्रार्थना की जाये, ऐसा विचार कर उसने कहा कि जिस प्रकार आप हमारे घर शिष्यों सहित पधारे हो उसी प्रकार हमारे बडे भ्राता युधिष्ठिरजीके घर पर भी पधारिए. परन्तु द्रोपदीके भोजन करनेसे पूर्व यदि आप वहां पधारोगे तो उन्हें अत्यन्त खेद होगा. अतः उनके भोजन कर लेनेके बाद आप वहां पधारियेगा ऐसा वर मांगा. इस प्रकार दुर्वासाने उनकी बातको स्वीकार किया और उसी प्रमाणसे वनमें पाण्डवोंके पास गए. पाण्डवोंको वनमें भोजन उपलब्ध न होनेसे, भगवान्के उपदेशसे सूर्यसे प्रार्थना करने पर सूर्यने उन्हें सर्व अन्नमय एक पूर्ण थाली दी. साथ ही यह भी कहा कि द्रोपदीके भोजन

कर लेनेसे पहले तक इस पात्रमें कभी न घटनेवाला अन्न रहेगा. उस दिनसे ही जब ऋषिओंके आनेका समय निकल जाता था, द्रोपदी भोजन करती थी. इस प्रकार क्रम चलता रहता था. एक प्रहर रात्रि बीतने पर द्रोपदी भोजन करती है, इस बातको योगबल द्वारा जानकर उसी आधार पर दुर्वासा आए. तब तो पाण्डवों तथा द्रोपदीने ''आज तो सर्वनाशका समय आ गया'' ऐसा मानकर श्रीकृष्णका ध्यान किया. श्रीकृष्णने पधारकर द्रोपदीको वहां नहीं देखा. तब दुर्वासासे श्रीकृष्णने कहा कि भोजन तैयार है, आप स्नानादिकसे निबट आइए. तब दुर्वासा श्रीकृष्णके वचनोंको मानकर आवश्यक नित्यकर्म हेतु चले गए. बादमें भगवान् भीतर पधारे, वहां द्रोपदीकी व्याकुलता देखकर थालीमें बचे हुए ग्रासमात्र शाकान्नको आरोगकर सारी त्रिलोकीको तृप्त कर दिया. इसे कहते हैं कि ''भगवानने वनमें पधारकर हमारी रक्षा की है''. जिस कष्टका अन्त नहीं आ सकता था, दुर्वासा उसी कष्टका कारण होने जा रहे थे. क्योंकि शत्रु दुर्योधन द्वारा उन्हें भेजा था. दश हजार ब्राह्मणोंके भोजन कर लेने पर ही दुर्वासा भोजन करते थे. पात्रमें शाक सहित मुष्टि मात्र अन्न था, अथवा पहलेसे ही सदाकी तरह भगवान्‌के लिये नैवेद्य निकालकर फिर द्रोपदीके भोजन करनेका नियम था. उस दिन भी भगवान्‌के लिये रखे हुए भोजनको भगवानने ग्रहण कर हमारी रक्षा की. भगवान्‌के शाकान्न मात्र आरोगनेसे रक्षा किस प्रकार हुई? ऐसा जाननेकी इच्छा होने पर कहते हैं कि भगवान्‌के आरोगनेसे नित्यकर्म करनेकेलिये जलमें मग्न होकर, बाहर आने पर, ऋषिओंने सारी त्रिलोकीको तृप्त मान लिया. जब त्रिलोकीको ही तृप्त अनुभव कर लिया तो स्वयंकी तृप्ति होनेके अनुभवकी बात स्वतः सिद्ध हो गई. वे तृप्त होकर सीधे स्नानस्थलसे ही अन्यत्र चले गए।।११।।

अब सत्त्वगुण मिश्रित तमोगुण द्वारा किये गए उपकारके प्रसंगमें कहते हैं:

यत् तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणिः विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।
अन्येऽपि चाहम् अमुनैव कलेवरेण प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्द्धम् ।।१२।।

जिन भगवान् श्रीकृष्णके तेजसे युद्धमें आश्चर्य चकित हुए पार्वतीजी सहित भगवान् शूलपाणि शिवने अपना अस्त्र मुझे दिया. अन्योंने भी मुझे इसी प्रकार अस्त्र दिए. इसी शरीरसे महेन्द्र भवनमें विशाल सिंहासनके आधे भागको प्राप्त किया।।१२।।

पहले आये हुए दो श्लोकोंमें भगवानको रक्षक कहा. उसमें कारणरूपा

द्रोपदी होनेसे स्वयंके पराक्रमकी कोई बात नहीं. इसलिए इस प्रसंगको न लेकर मात्र अपने पराक्रम विषयक चरित्र प्रस्तुत किये हैं. इसलिए इसे अलग बतानेकेलिये मूलमें 'अथ' शब्द लिखा है. महादेव प्रसन्न होकर वरदान देते हैं, यह बतानेकेलिये 'भगवान्' शब्दका विशेषण दिया है. यदि अप्रसन्न हो जायें तो नाश कर दे; यह बतानेकेलिये उन्हें 'शूलपाणि' कहा. ऐसी सारी शक्तिओंसे भरपूर महादेवजीको भी मैंने आश्चर्य चकित कर दिया, यह सब श्रीकृष्णका ही तेज प्रताप था. महादेवजी ब्रह्मरूप हैं, उन्हें जीवकी सामर्थ्यसे विस्मय क्यों होने लगा? इतना ही नहीं, वे पार्वतीके साथ थे; पार्वती पर्वतकी पुत्री हैं, उन्हें तो पर्वतसे भी बडा पदार्थ देखकर ही आश्चर्य होना चाहिए. इस शब्दका यह गौरव है. इस प्रसंगमें किरात व अर्जुनवाली युद्ध घटना अवलोकनीय है. क्योंकि अर्जुनकी परीक्षाकेलिये महादेवजी यहां आए. सब व्रतोंके उद्यापनरूप अर्जुनके गुण व प्रतीक चिन्ह बतानेकेलिये पार्वतीको भी अपने साथ लाए. वे परस्पर शस्त्र, अस्त्र व मुष्टि से भयावह युद्ध करने लगे. स्वयं पृथ्वीके ऊपर गिर पडे और अपने ऊपर गिरे हुए अर्जुनके पीठके चिन्ह पार्वतीको दिखलाए. इस कार्य कलापसे महादेव तथा पार्वतीजी परस्पर मुस्कराए. उन दोनोंका हास्ययुक्त मुख देखकर अर्जुन भयाक्रान्त हो तथा शिवजीकी प्रशंसामें स्तोत्र बनाया. उससे प्रसन्न हुए महादवने अपना 'पाशुपत' नामका अस्त्र अर्जुनको दिया. उस वेलामें अन्य इन्द्रादिक देवताओंने भी वहां आकर अपने अपने अस्त्र अर्जुनको प्रदान किये. मूलमें 'च' अव्यय शत्रुसे जीतनेका वरदान सूचित करता है. अस्त्र प्रयोगकी सिद्धिकेलिये इन्द्रके द्वारा भेजे गये निज सारथी मातलीसे प्रार्थना किये जाने पर मैं मातलिके साथ इन्द्र भवनमें गया, वहां पांच वर्ष तक इन्द्रके आसनका विशेष भाग बैठनेकेलिये मिला. इन्द्रके बैठनेके भागसे भी अधिक भाग अर्जुनको मिला. वह इन्द्रासन अलौकिक तथा तेजोमय शरीरसे ही प्राप्त होता है; वह मुझे इसी शरीरसे श्रीकृष्णकी कृपासे मिला. इस प्रकार महादेवजीको सन्तोष, अस्त्रकी प्राप्ति और इन्द्रासनकी प्राप्ति, ये तीनों प्राप्त हुए।।१२।।

अब तमोगुण मिश्रित तमोगुणसे किये गए चरित्रका निरूपण करते हैं:

तत्रैव मे विहरतो भुज–दण्डयुग्मं गाण्डीव–लक्षणम् अराति–वधाय देवाः ।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितम् आजमीढ तेनाहम् अद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना।।१३।।

जहां मैं इन्द्र भवनमें विहार करता था. वहां शत्रुके वधकेलिए देवताओं

सहित इन्द्रने मेरे दोनों हाथों तथा गाण्डीव धनुषका आश्रय लिया. ऐसे वे भूमा पुरुष, जिन्होंने मेरा ऐसा प्रभाव बढाया; हे अजमीढके वंशमें उत्पन्न हुए युधिष्ठिरजी, उन्हींने मुझे अपनी मायासे छल लिया।।१३।।

उस स्वर्गमें मैं विहार करता था. वहां देवतागण कोई चार भुजाओंसे युक्त तो कोई उनसे भी अधिक भुजाओंवाले थे. इतना होते हुए भी उन्होंने मेरे दोनों भुजबलका आश्रय लिया. उसमें कारण बताते हैं कि गाण्डिव धनुषके चिन्ह मेरी भुजाओंमें थे. इस बातसे यह जाना जाता है कि अर्जुनकी दोनों भुजाओंमें गाण्डीवके चिन्ह थे. इससे युद्ध करना, धनुषका शब्द करना, धनुषको तैयार करना आदि सब कार्योंमें दोनों हाथोंकी व्यस्तता सूचित होती है. अर्जुन इन्द्रका पुत्र है, बल वायुसे उत्पन्न होता है और गाण्डीव धनुष अग्नि सम्बन्धी है. इन सबके मूलभूत सर्व साधनयुक्त इन्द्रादिक स्वर्गमें रहते हुए भी, उनसे शत्रुनाशरूप कार्य न हो सका. तो फिर कारण क्या था? यह जाननेकी इच्छा होने पर कहते हैं कि मेरे भुजदण्ड भगवान्के प्रभावसे युक्त थे. अतः इन्द्रादिकने उनका आश्रय किया. अजमीढ तीन पुरुषोंके साथ मुक्त हुआ था. उसी प्रकार आपकी मुक्ति होगी, मनमें किसी प्रकारका भेद न रखिए. यह बतानेकेलिये 'आजमीढ' शब्दका सम्बोधन दिया है. तमोगुण मिश्रित तमोगुणसे छलनेका अभिप्राय होनेसे उपकारकी समाप्तिके अन्तर्गत उसके कारणरूप गुणका निरूपण करते हैं कि भगवानने मुझे छला है. छलनेमें कारण बताते हैं कि वे पुरुषरूप हैं. अतः पुरुषका विग्रह ब्रह्माण्ड होनेसे उनने उस स्वरूप द्वारा अत्यन्त ही परोक्षरूपसे मोक्ष देने हेतु छला है. मोक्षका यहां यही कारणपना है. शरीरमें रोग उत्पन्न हो जाये, उसको मिटानेकेलिये औषधिका सेवन कराया जाता है. रोगके नाशके बाद औषधिका त्याग कर दिया जाता है. अतः पृथ्वीके भाररूप राजाओंका नाश करनेकेलिये मुझमें भगवानने तेज स्थापित किया था. राजाओंके नाश होनेके बाद वह तेज हर लिया. भगवानमें व्यापकपना होनेसे वे ज्ञानद्वारा मोक्ष प्रदान करते हैं, अतः दीनता सिद्ध करनेकेलिये तेज हरण कर लिया है. 'भूमा' सर्वत्र व्यापक होनेसे, सभी पदार्थ स्वयंके होनेसे किसी अन्य पदार्थको ग्रहण करने रूपी दोष उनमें नहीं हैं. सत्यरूपसे तो 'यत् तेजसा' इस नवें श्लोकसे लगाकर 'पत्न्यास्तव' और 'यो नो जुगोप' यह दशवां तथा ग्यारहवां श्लोक भी विगीत है, शिष्टों द्वारा स्वीकार्य नहीं. क्योंकि इनमें अर्जुनके विषयमें कुछ नहीं है. अतः रजोगुण, सतोगुण व तमोगुणसे ही तीन

श्लोकोंमें प्रतिपादन किया है. सत्यरूपमें भगवानका चरित्र कहकर चौथे श्लोकमें भगवानको छलनेवाला बताया है. क्योंकि मनुष्य, देवता और दैत्यरूप जो तीन लोक हैं, उनको जीतना ही अर्जुनकेलिये अभीष्ट था. उसमें दैत्योंको जीतनेकेलिये अस्त्रोंकी प्राप्तिको साधनरूपमें निरूपित किया है. भोगकी प्रधानता होनेसे इन्द्रके आसनकी प्राप्तिको भोगरूपसे बताया है और शत्रुवधकेलिये इन्द्रादिक देवताओं द्वारा आश्रय करना बताया है. वहां दैत्योंके वधके अभिप्रायसे निरूपण किया है. तो भी भगवानने छल लिया है. ऐसा प्रासंगिक रूपसे कहनेमें आया है. उसका कारण यह है कि छलना मायाका कार्य है. दैत्योंमें मायाकी प्रधानता होनेसे यह कहा है. वेदोंमें दैत्योंको मायाकी उपासना करनेवाला बताया है. इसलिए यहां छलनेवाली बात बताई गई है. इसके बाद आगे जो भगवानका चरित्र कहा है, वह उनका अवतार कार्य है. उससे अर्जुनके ऊपर बहुत अधिक कृपा सिद्ध नहीं होती. क्योंकि पृथ्वीका भार हरण करना भगवानका इच्छित कार्य है. इसीलिए गीताजीमें भगवानने अर्जुनके प्रति कहा है कि ''मैने पहलेसे ही इन्हें मार रखा है, इसलिए हे अर्जुन, तू तो केवल निमित्त मात्र बन जा'' अतः ऊपर बताये गए तीनों ही गुण भगवान् द्वारा अर्जुनके प्रति किये गए उपकाररूप हैं.

अब तीन प्रकारके दोषोंका अभाव अगले तीन श्लोकोंमें बताया जायेगा. 'सौत्येवृत' इत्यादि तीन श्लोकोंमें निरूपित होगा।।१३।।

कारणं करणञ्चैव, प्रतिबन्धश्च कथ्यते।
स्वकृतत्वज्ञापनाय माहात्म्यज्ञापनाय तत्।।का.।।
दोषाभावेन सहितं दैन्येनापि विमिश्रितम्।
कृष्णमाहात्म्य विज्ञानं सर्वथा मुक्तिदायकम्।।का.।।

कारिकार्थ: (उन तीन श्लोकोमें) अर्जुन द्वारा संहारका कारण, स्वयंका संहार कार्य और अर्जुनके संहारका प्रतिबन्ध, इन तीनोंको भगवानने स्वयं ही किया है. उसमें भगवान् द्वारा जो किया जाना योग्य है, वे उनकी महानता बतानेकेलिए है. दोषके अभाव सहित दीनतासे मिला हुआ, ऐसा श्रीकृष्णके माहात्म्यका ज्ञान है. वह निश्चय ही पूर्णतः मुक्तिका देनेवाला है. इसलिए तीन श्लोकों द्वारा श्रीकृष्णका माहात्म्य बताया जाना है. तीन श्लोक द्वारा दोषके अभावका निरूपण, बाहरी तथा भीतरी साधन हरनेके प्रसंगमें दो श्लोकों द्वारा दीनताका निरूपण है।।१३।।

अब तमोगुण मिश्रित रजोगुणसे होनेवाले चरित्रको कहा जा रहा है:

यद् बान्धवः कुरुबलाब्धिम् अनन्तपारम् एको रथेन ततरेऽहम् अनार्यसत्त्वम् ।
प्रत्याहृतं पुरु धनञ्च मया परेषां तेजस्पदं मणिमयञ्च हृतं शिरोभ्यः।।१४।।

जिन श्रीकृष्णका अकेला बन्धुरूप मैं कौरव सेनारूपी अनन्त समुद्रको एक रथ मात्रसे ही पार कर तथा शत्रुओंके शिरोंसे मणिमय मुकुटों एवं अन्य भी बहुतसे धनोंको जीतकर लाया।।१४।।

कौरवोंकी सेनाको पार करनेमें भगवानको ही कारणरूप बताया है और कहा है कि मैं भगवानका बान्धव था, इसलिए उस बन्धुपनेसे ही कौरवरूपी सेनाको तर गया, जब कि न तो मैंने उनका भजन ही किया और न ही निरन्तर उनके साथ रहा. प्रतिदिन नई सेना आनेसे उसे समुद्र कहा है. उस समुद्रका कोई अन्त नहीं था. अर्थात् इस भागमें ही सेना है या इतने समय तक ही सेना रहेगी, ऐसा कुछ भी नहीं था. उस सेनाके अन्दर जो योद्धा थे, उनका वध होने तक ही सेना रहेगी यह भी नियम नहीं था. उन विकट योद्धाओंको परास्त कर देना भी कोई हंसी-खेल नहीं था अथवा एक निश्चित भाग तक ही सेना रहेगी यह भी स्थिति नहीं थी. ऐसी कौरवरूपी सेनाको बिना किसी सहायताके अकेला तर गया.

विराट नगरकी गायोंको कौरवोंने हर लिया था तब राजकुमार उत्तरके साथ अर्जुन गये थे, वहां उत्तर भयभीत हो गया. वहां भी अर्जुन उसके भयका निवारण करते हुए रथको स्थापित करके रहे. अर्थात् अकेले ही सबसे युद्धरत रहकर उन्हें परास्त किया. तो उस विशाल सेनाको एक उडान जैसी भरकर उलांघ गये होंगे? ऐसी शंकाको दूर करनेकेलिये कहते हैं कि मैं रथ द्वारा उस सेनासमुद्रको पारकर गया. रथमें बैठे हुए होने पर उस समुद्रमें छिपकर नहीं जाया जा सकता. जिस प्रकार समुद्रमें बडे-बडे मगरमच्छ होते हैं उसी प्रकार इस कुरु सेनाके सागरमें कर्ण आदि बडे वीर थे. ऐसे उस समुद्रमें पडा मनुष्य वापस लौटकर नहीं आ सकता. फिर उस सागरको तर गए, यह कैसी बात? इसका अभिप्राय बताते हैं. समुद्रको जैसे ऊपरसे तैरा जाता है, वह बात यहां घटित नहीं होती. इस सेनारूपी समुद्रको अन्दरसे प्रवेश करते हुए मैंने तैरा है. अन्दर प्रविष्ट होकर तैरनेका यह परिणाम हुआ कि वे उस रत्नाकारमें रत्नोंको निकालकर लाये हैं. जैसे समुद्रमेंसे रत्नोंको लानेवाला गहराईमें डुबकी लगाकर ही ला सकता है वैसे ही कौरवसेनामें प्रविष्ट होकर मैंने अपना बहुत सा धन वापस लौटा लिया.

क्योंकि वास्तविकरूपसे अर्जुन राज्यके स्वामी थे और वह धन अर्जुनका ही था परन्तु कौरवोंने उसे हडप रखा था उसे अर्जुनने पुनः प्राप्त कर लिया. यह बतानेकेलिये मूलमें 'प्रति' अव्यय लिखा है. मूलमें 'च'कार होनेसे वस्त्र आदि भी वापस प्राप्त किये, ऐसा भाव प्राप्त हुआ. इतना ही नहीं वरन् उनके तेजको भी रत्नोंके बहाने हर लिया. वह तेज मणिमय था. उनका सारा पुरुषार्थ ही ध्वस्त कर दिया और उनका सर्वस्व ले लिया. मूलमें 'च'कार होनेसे मस्तक पर रहनेवाले रत्न तथा अन्य भी अनेक प्रकारके रत्न ले लेना सिद्ध हुआ. उन रत्नोंको लेनेके बहाने शत्रुओंके मस्तकोंको छिन्न कर दिया. सम्मोहनास्त्र द्वारा उन्हें मोहमें डालकर उनका सब कुछ ले लिया. इन सब पराक्रमोंके पीछे एक ही बात है और वह है भगवानका अर्जुनके प्रति बन्धुत्व भाव।।१४।।

अब भगवानने जो उपकार सत्त्वगुण व रजोगुणको मिलाकर किया, उस प्रसंगमें कहते हैं:

यो भीष्म–कर्ण–गुरु–शल्य–चमूष्वदभ्र–राजन्यवर्य–रथमण्डल–मण्डितासु ।
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपानाम् आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज आच्छ्रत्।।१५।।

हे युधिष्ठिरजी, उत्तम राजकुमारोंके रथसमूहोंके मध्य शोभित भीष्म, कर्ण, द्रोणाचार्य और शल्यकी सेनामें मेरे आगे चलनेवाले श्रीकृष्ण भगवानने रथ और सेना नायकोंको उनकी आयुष्य तथा मन और इन्द्रियोंकी शक्तिके साथ हरण कर लिया।।१५।।

पाण्डव विराट् नगरमें रहते हैं अथवा नहीं इस बातकी खोज–खबर लेनेकेलिये कौरव विराट् नगरमें गये थे. परन्तु वे वहां सावधान नहीं थे. अब कुरुक्षेत्रमें तो युद्धकेलिये ही आये होनेसे अस्त्र–शस्त्रसे युक्त होकर आये थे, इतना ही नहीं वे अभिमन्त्रित कवच आदिको पहनकर आये थे. अतः इस समय काल भी कौरवोंको जीतनेमें असमर्थ सा था. इस प्रकार काल, काम और परशुराम को भी जीतनेवाले होनेसे कौरवगण किसी भी प्रकार नहीं हराये जा सकते थे. ऐसा मानकर ही श्रीकृष्ण भगवान् मेरे आगे रहे और उन्होंने कौरव वीरोंकी आयु, मन तथा उत्साह शक्तिका हरण कर लिया. मूलमें 'च'कार होनेसे कौरवोंका विवेक और धैर्य भी भगवानने केवल देखनेसे ही हर लिया. इन सभीको उनकी इन्द्रियोंकी अथवा अन्तःकरणकी शक्ति सहित हरा है. कौरवोंके चार सेनापति थे. भीष्म, कर्ण, द्रोणाचार्य तथा शल्य. कर्णमें बहुत अधिक सामर्थ्य था, यह बतानेकेलिये

भीष्म व द्रोणाचार्यके बीचमें कर्णको गिनाया है. उस सेनामें और भी श्रेष्ठ राजकुमार थे जिन्हें मार सकनेका कोई अवसर मिलना भी बडा कठिन था. ऐसे श्रेष्ठ राजकुमारोंके मण्डलोंसे वह सेना सजी थी. उनकी सेनामें प्रवेश करने पर उनके वशीभूत हो जाना सूचित हुआ. इस प्रकार चार सेनापतिओंकी सेनाका विनाश श्रीकृष्ण भगवानने ही किया, इसमें मैंने कुछ भी नहीं किया. इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि अपना सब कुछ कार्य भगवानने ही किया।।१५।।

रजोगुणसे मिले हुए रजोगुण द्वारा किये गए उपकारको भी कहा जा रहा है. अथवा शत्रुओंके द्वारा किये गए अपकारका प्रतिबन्ध भी भगवानने ही किया है, अब इस बातका निरूपण किया जा रहा है:

यद्दोःषु मां प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण–द्रौणित्रिगर्तशलसैन्धवबाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि नोपास्पृशन् नृहरिदासम् इवासुराणि।।१६।।

भगवान्के श्रीहस्तसे रक्षित मुझे; द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, अश्वत्थामा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ और बाह्लीक आदि द्वारा मारनेकेलिए फेंके गए तथा सफल महिमावाले अस्त्र उसी प्रकार स्पर्श नहीं कर सके जिस प्रकार असुरोंके अस्त्र प्रह्लादको छू तक न सके थे।।१६।।

मुझ पर भगवानका हाथ था इसलिए कोई अस्त्र मुझे न छू सका. मुझे मारनेकेलिये द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, अश्वत्थामा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ, बाह्लीक आदिने सफल महिमावाले अस्त्र फेंके; पर वे अस्त्र मेरे पास आना तो दूर, बल्कि मेरे रथ आदिका भी स्पर्श न कर सके. मूलमें 'नोपस्पृशुः' ऐसा भी पाठ मिलता है, उनके स्थान पर 'नापास्पृशन्' यह पाठ योग्य है. प्रह्लादजीका द्रष्टान्त प्रसिद्ध है. शास्त्रोंमें प्रह्लादजी द्वारा सिद्ध की गई दास्य भक्ति प्रमाण बलके रूपमें द्रष्टान्त बनी हुई है. यहां इस प्रसंगमें भगवान्के श्रीहस्तकी रक्षामयी छायामें अर्जुनका स्थित होना बताकर प्रमेयबलको दर्शाया है. इस प्रकार प्रमेयके अन्तर्गत प्रमाणबलके द्रष्टान्तको दिया है. असुरोंके द्वारा किये गए त्रिशूल आदिके प्रहार जैसे प्रह्लादजीको नहीं लगे, वैसे ही द्रोणाचार्य आदिके द्वारा फेंके गये अस्त्र मेरे रथको भी न छू सके।।१६।।

सत्त्वादिक गुणों द्वारा किये गए उपकारोंका निरूपण करनेके पश्चात् अब अपने स्वभावसे कहे गए कार्योंमें अर्थात् हीन कोटिके कार्योंमें भगवान् लगाए जाने पर भी उन्होंने उस अपराधको सहन कर लिया. इस प्रसंगमें आगे निरूपण

किया जा रहा है:

सौत्ये वृतः कुमतिनात्मद ईश्वरो मे यत् पादपद्मम् अभवाय भजन्ति भव्याः ।
संश्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः।।१७।।

सत्पुरुष मोक्षकेलिए जिनके चरणोंको भजते हैं, ऐसे उन भगवानको दुष्ट बुद्धिवाले मैने सारथीपनेका काम दिया. जिस समय मेरे रथके घोडे थक गए थे और मैं पृथ्वी पर खडा था, उस समयमें भी प्रभुके प्रभावसे जिनके चित्त नष्ट हो गए हैं, ऐसे मेरे शत्रुगण मुझे मारनेमें समर्थ न हो सके।।१७।।

मैने भगवानको सारथीके काममें रखा, कारण यह कि मैं दुष्ट बुद्धिवाला था. इसलिए आनन्दरूप भगवान् जो फलरूप हैं, उन्हें मैने अपना महत्त्व बतानेकेलिये सारथीपनेका काम सोंपा, यह मेरी दुष्ट बुद्धि ही थी. ऐसा मेरा अपराध भी भगवानने सहन किया. कारण यह कि भगवान् प्रसन्न होने पर अपनी आत्मा तकको दे देते हैं. जीवको भगवत् प्राप्ति हो जाने पर जीव जिस स्थल पर भी उनसे काम लेना चाहे, तब प्रभु उसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डालते. भगवानकी आत्मा तुम्हें प्राप्त हुई और तुमने इच्छानुसार उनका उपयोग किया, इसमें तुम्हारा दोष ही क्या? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि वे तो ईश्वर हैं, इसलिए अपनी आत्माको भी दे सकते हैं; तो भी कर्तुम्(करने), अकर्तुं (नहीं करने) और अन्यथाकर्तुं(अन्य रूपसे करने)की सामर्थ्यवाले भगवान् हैं. इसलिए मैने बडा अपराध किया है और उसके बदलेमें उन प्रभुने मेरा तेज हर लिया है. उस अपराधकी एवजमें तेजका हरणरूपी फल तो कहीं भी नहीं लगता. भगवानको सारथी बनानेमें किसी कार्यसिद्धिकी भावना नहीं थी, मात्र यही कि मेरी प्रतिष्ठा बढे. भगवानको इस सारथीपनेरूपी हीन कार्यमें लगानेकी दुष्ट बुद्धिको इस प्रकार सिद्ध किया है कि सत्पुरुष मोक्षकेलिये जिन प्रभुके चरणकमलोंकी सेवा करते हैं, उन्हें मैंने इतना श्रम दिया. चरणकमलोंकी सेवा करनेमें यह अभिप्राय है कि भक्तिमार्ग द्वारा चरणोंकी सेवा करते हैं. चरणोंको कमल कहनेका यह तात्पर्य है कि सुखपूर्वक उनका सेवन हो सकता है, साथ ही सेवा करनेमें आनन्दकी प्राप्ति होती है. इसी बातको पहले नवें श्लोकमें भी कहा है. ''भगवान्के श्रीहस्तकी रक्षामयी छायाके नीचे मेरी स्थिति थी, अतः शत्रुओंके अस्त्रोंने मेरा स्पर्श भी नहीं किया'' ऐसा कथन होने पर भी लौकिक दृष्टिसे उस रक्षाकी कोई स्पष्ट सम्भावना सिद्ध नहीं होती. इसीलिए इसे अधिक स्पष्टतासे बतानेकेलिये कहा जा रहा है कि

जयद्रथके वधके समय जब रथके घोडे थक गये थे, दोपहरका समय था, मैं भी थकान उतारनेकेलिये भूमि पर खडा था ऐसी स्थितिमें भी शत्रुओंने मुझे नहीं मारा. थके हुए घोडे, साधनोंका अभाव, सामने युद्धकेलिये कटिबद्ध शत्रु यौद्धा हर प्रकारसे मुझे मारनेमें सक्षम थे; क्योंकि वे रथों पर थे, मैं भूमि पर था, उनके पास रथका साधन था, मैं साधनसे रहित था, वे गिनतीमें अधिक थे और मैं अकेला था. 'शत्रुको अवश्य मार देना चाहिए' ऐसे उनके ज्ञानको भगवानकी अलौकिक सामर्थ्यने नष्ट कर डाला. हाय, ऐसे उन भगवानको मुझ दुष्ट बुद्धिने सारथीपने जैसे हीन कार्यमें लगाया तो भी भगवानने मेरे अपराधका विचार न करते हुए शत्रुओंसे मेरी रक्षा की. इस प्रकार मेरे द्वारा अपकार किये जाने पर तेजका हरणरूपी प्रासंगिक फल हुआ, यह सूचित किया है।।१७।।

और अधिक क्या कहूं, ऐसे अपराध करनेके बाद भी श्रीकृष्ण भगवानने मुझसे हंसीके प्रसंगमें भी कभी अपकारभरे वचन नहीं बोले. इसी बातका निरूपण अब इस प्रकार बताया जा रहा है:

नर्माण्युदार–रुचिरस्मित–शोभनानि हे पार्थ! हेऽर्जुन! सखे! कुरु–नन्दनेति ।
सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ।।१८।।

हे नरदेव युधिष्ठिरजी, जब मैं भगवान् द्वारा कहे गए वचनोंको याद करता हूं तो मेरा हृदय फट पडता है. हृदयको छूनेवाले उनके ये वचन, हे पार्थ, हे अर्जुन, हे सखा, हे कुरुनन्दन आदि उन्होनें कितनी उदारतासे मन्द–मन्द मुस्कराते हुए, शोभित मुख द्वारा मुझसे कहे थे, उन्हें स्मरण करते ही मेरा हृदय भिद जाता है।।१८।।

अपराध न होने पर भी जिनके वचन हृदयमें प्रवेश करके हृदयका भेदन कर देते हैं. ये वचन स्वयंका स्मरण करवानेकेलिये भगवानने सब अवस्थामें कहे हैं. मूलमें 'लुठन्ति' शब्द कहा है, पर कहीं 'लुनन्ति' पाठ भी मिलता है. सुख उत्पन्न करनेवाले एवं हास्य वचनोंको 'नर्म' कहा जाता है. उसके अर्थका अनुसंधान न होने पर भी स्वरूपसे ही वे वचन सुख उत्पन्न करनेवाले हैं. मंदहास्य एवं उदारतासे भरे वचन मनका हरण करनेवाले हैं. इसलिए वे विशेष शोभायुक्त हैं. पुरुषार्थमें यदि रस न हो तो उसे पुरुषार्थ नहीं कहा जाता. इसलिए मन्द हास्य थोडा मोह उत्पन्न करनेवाला सूचित हुआ है. स्वभावसे जो सुन्दर होते हैं उनका हास्य विशेष शोभा उत्पन्न करनेवाला होता है और सबको

वशीभूत कर लेता है. भगवान्के मन्द हास्य पर भी जब मैं मोहित नहीं हुआ तब पृथा(कुंती) भगवानकी सम्बन्धिनी होनेसे, उसी सम्बन्धके आधार पर मुझे वशमें करने लगे और 'पार्थ' सम्बोधन देकर पुकारने लगे. उनके ऐसा कहने पर भी जब मैं चुप रहा तो हे 'अर्जुन' ऐसा सम्बोधन देकर मुझे बुलाते थे. (अर्जुन वृक्ष विशेषका भी नाम है, जो झुका हुआ न होकर आकाशकी ओर सीधा बढता है). जिस प्रकार वृक्ष नम्रता रहित स्तब्ध होता है, उसी प्रकार तुम कैसे स्तब्ध हो रहे हो यह सूचित किया. छलको दूर करनेरूपी धर्म मुझमें देखकर 'हे सखा' ऐसे सम्बोधनसे पुकारते थे. मुझे अचतुर देखकर 'कुरुराज' अर्थात् खेत जोतनेवाला कहा करते थे. भगवान्के वचनोंको 'सञ्जल्पित' कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि प्रतिवादी पर विजय पानेवाले शब्द समूह, जिन्हें जल्प कहते हैं. अर्जुनकी चातुर्य रहिततताको लक्ष्य करके बोल जाते शब्द 'जल्प' कहे गये हैं. मूलमें युधिष्ठिरकेलिये 'नरदेव' विशेषण दिया है, जो भगवान्के गूढ अभिप्रायको सिद्ध करनेवाला हैं. भगवान्के वे वचन समर्थ और मर्मका स्पर्श करनेवाले होनेसे मेरे हृदयका भेदन करनेवाले हैं, क्योंकि भगवान् मेरे स्वामी हैं, इसीलिए उनके वचन मेरे हृदयकी गहराईयोंमें पैंठ गए हैं।।१८।।

इस प्रकार अपराधकी निवृत्ति करनेकेलिए उपाय करते हुए तथा उसी प्रकार दूसरे भी जो अपराध मुझसे हुए, भगवानने उन्हें दूर किया यह कहते हैं:

शय्यासनाटन–विकत्थन–भोजनादिष्वैक्याद् वयस्य ऋतवान् इति विप्रलब्धः ।
सख्युः सखेव पितृवत् तनयस्य सर्वं सेहे महान् महितया कुमतेरघं मे।।१९।।

शय्या, आसन, भ्रमण, वार्तालाप और भोजन आदिमें एक साथ रहते हुए भगवान् मुझसे कहा करते थे कि हे मित्र तुम्हारी बाते सत्य हैं; इस प्रकार विनोद भरी बातें भगवानने मुझे छल लिया. जिस प्रकार मित्रकी बातें मित्र सहन करता है, पुत्रकी बातोंको पिता सहन करता है उसी प्रकार अमित महिमावाले भगवानने अपनी महानतासे दुष्ट बुद्धिवाले मेरे सारे पाप सहन किये हैं।।१९।।

शयन सम्बन्धी और आसनादिक सम्बन्धी मेरा अपराध प्रभुने सहन किया है. शय्या, आसन तथा चलना फिरना ये तामसादिक स्थान हैं और उतावलेपनमें स्वयंका बखान करना यह सन्निपातका कार्य है. भोजन आदि तो आवश्यक एवं लौकिक कार्य हैं. इन सब कार्यमें एक जैसा भाव रखना छलनारूपी हास्य विनोद है. क्योंकि एकता रखनेसे वे स्वयं एकरूप ही हो गए. एकता होनेसे फिर शंकाका

कोई स्थान नहीं रह जाता. भगवानने अपने साथ मेरी एकता की, यह उनका बहुत बडा उपकार है. पर उस उपकारसे दुष्टको मद हो जाना सम्भव है. इसलिए मुझे मद हो जानेसे, मैंने भगवानको कठोर वचन कहकर छला है. मैंने उनसे इस प्रकार कहा कि ''हे महाराज आप अवस्थामें मेरे बराबर हो, फिर आपकी अधिकता किस कारण? और यदि है, तो वह अधिकता किस प्रकारकी है? अथवा यदि आप समान हो तो मित्र कैसे हुए? आप सत्ययुक्त हो तो असत्य कैसे कर देते हो?'' मैने कहे असंगत वचनोंको भी प्रभुने सहन किया. रोष उत्पन्न होने पर भी उसे मनमें दबा लेना सहनशीलता कहलाती है, वैसे ही भगवानने मेरे वचनोंको सहन किया है. दोषोंको सहन करनेकी क्षमताके कारण सखाका दृष्टांत दिया, अर्थात् जो दोष सहन करने योग्य हैं, उन्हें सहन करना सखापन है और जो दोष सहन नहीं किये जा सकते उन्हें सहन कर लेनेके प्रसंगमें पिताका दृष्टांत दिया है. जिन दोषोंको पिता भी सहन नहीं कर सकते, उन्हें भगवानने सहन किया है. उन्हें सहन करनेमें स्वयंके स्वरूपमें स्थिति ही मूल कारण है, यह बतानेकेलिए कहा कि प्रभु अपने आपमें महान हैं. जिस प्रकार चींटीका अपराध हाथी नहीं गिनता, उसी प्रकार मेरे अपरोधों पर भगवानने तनिक भी ध्यान नहीं दिया. मैंने किसी भी प्रकारकी स्तुति करके अथवा भेंट अर्पण करके अपराधोंकी क्षमा नहीं मांगी. परन्तु भगवानने अपने बडप्पनसे क्षमा कर दिया. उसमें भी दूसरा कारण देते हैं कि मैं दुष्टबुद्धिवाला था यह मानकर भगवान् उन सब व्यवहारोंको सहन कर गए।।१९।।

इस प्रकार भगवानका सब चरित्र कहकर सबका उपसंहार करनेकेलिए भगवानकी लीलाका स्मरण करते हैं:

सोऽहं नृपेन्द्र! रहितः पुरुषोत्तमेन सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः ।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहम् अङ्ग! रक्षन् गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि।।२०।।

हे नृपेन्द्र, मित्र, प्रिय और सहृद् पुरुषोत्तमसे रहित होनेके कारण मैं हृदय शून्य हो हूं. हे अङ्ग, मार्गमें आते समय भगवानकी स्त्रिओंकी रक्षा करनेवाले मुझे दुष्ट ग्वालों द्वारा अबलाके समान जीत लिया गया।।२०।।

'नृपेन्द्र' सम्बोधन देकर यह समझाया कि इन सब घटनाओंके बाद अब आपके द्वारा क्या किया जाना योग्य है, इसका विचार कीजियेगा. पुरुषसे रहित स्त्रीके समान प्राणी भी भगवान् पुरुषोत्तम रहित हो जाने पर सब कार्योंसे बहिष्कृत हो जाता है. हम भी पुरुषोत्तमसे रहित हो गये हैं, अतः अब हमारा भी

क्या प्रयोजन? इस कार्य द्वारा उत्तम कार्यका उपसंहार जाना है. 'सखा' शब्दसे कार्यसे मध्य भागका उपसंहार किया है. 'प्रिय' शब्द द्वारा इसके बादवाले कार्यका उपसंहार बताया है. प्रियजन अपने प्रियका निकृष्ट (निम्न) कार्य भी करते हैं. इस प्रकार अपनेमें स्थित कार्योंके अभावका कारण बताकर भगवानमें रहनेवाले कार्योंके अभावके विषयमें बताते हैं. वे प्रभु मेरे प्रिय मित्र थे. मैं उनसे रहित हो हूं. ऐसा होनेसे क्या फल हुआ? उसे कहते हैं कि मैं हृदयशून्य हो हूं. हृदयकी शून्यताने एक ओर कार्य उत्पन्न कर दिया, जैसा कि पहले युधिष्ठिरने कहा था कि तुम किसीसे हारकर तो नहीं लौटे हो? और वह सम्भावना सत्य हो गई. इसी प्रसंगमें अर्जुन कहते हैं कि मार्गमें भगवानकी स्त्रिओंकी रक्षा करता हुआ उनको लेकर मैं आ रहा था कि दुष्ट ग्वालोंके द्वारा हरा दिया गया. 'अङ्ग' कहकर कोमल सम्बोधन दिया है, जिससे यह बताया है कि मैं किसी भी गोपका प्रतिकार नहीं कर सका. जिस प्रकार बलरहित स्त्री हर किसीके द्वारा जीत ली जाती है, उसी प्रमाणसे मैं भी जीत लिया हूं।।२०।।

भगवान्के पधार जानेसे यह सब कुछ नष्ट हुआ है, इस विषयमें आगे कहते हैं:

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूद् असदीशरिक्तं भस्मन् हुतं कुहकराद्धम् इवोप्तमूष्याम्।।२१।।

(जिनसे मैंने महाभारतादि युद्ध जीते थे) वही मेरे धनुष-बाण हैं और वही रथ तथा घोडे हैं. उस रथमें बैठनेवाला मैं भी वही हूं, जिसे सब राजागण चौतरफसे नमस्कार करते हुए झुक जाया करते थे. भगवान्के पधार जानेसे सब कुछ क्षण मात्रमें मिथ्या हो गया, जैसे भस्ममें होम, कपटीकी आराधना एवं उसर भूमिमें बीजोंका बोया जाना निष्फल हो जाता है।।२१।।

यह वही उत्तम लक्षणोंवाला प्रशस्त गाण्डीव धनुष है और वे ही बाण हैं. अर्जुनके इन बाणोंने बडे-बडे महारथीओंके छक्के छुडा दिये थे. यह वही रथ है, जिसका कोई बाल भी बांका न कर सका. ये वेही घोडे हैं जो सब जगह जानेमें समर्थ थे. मैं वही रथी हूं, जिसने भीष्म पितामहको बाणोंकी शैया पर सुला दिया था तथा अन्य महावीरोंको भी मौतके घाट उतार दिया था. इस महान् विजेताकी ये सब सामग्रियां, जिसके कारण बडे बडे अतिरथी चारों ओरसे झुककर प्रणाम करते थे, अथवा 'आमनन्ति' पाठ होने पर यशगान किया करते थे, व्यर्थताको

प्राप्त हो गई. जिस प्रकार अंगारोमेंसे अग्निके निकल जाने पर वह कोयला मात्र रह जाता है और तब उसका रूप, प्रकाशत्व(देवत्व) तथा जलानेकी क्षमता जाती रहती है, वही स्थिति मेरी हुई. जब पूर्वमें वर्णन किये गये ईश्वरका उपर्युक्त सामग्रिओंमें प्रवेश रहा तब तक सारे कार्य सफल होते चले गए. उनके पधारते ही सब कुछ नष्ट हो गया. इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे, प्राप्त और अप्राप्तके विवेकसे सब भगवानने ही किया था, यह सिद्ध हुआ. जब तक धनुष आदि सबमें भगवान् विराजते थे तब तक सब कार्य सिद्ध हुआ, इस बातका निश्चय उस समय तक नहीं हुआ था और अब उसमेंसे भगवान् निकल गए तो सबका स्वरूप ही दूसरा हो है, क्योंकि अब धनुषादिसे कुछ भी काम नहीं होता. अब बाणको साधनेकी शक्ति उसमें नहीं रही. अथवा भगवानकी ही उसमें प्रसिद्धि थी. भगवानका अभाव होते ही वे धनुषादिक असत् हो गए. इनके मिथ्या हो जानेमें लोक और वेद सम्बन्धी दृष्टांत दिये गये हैं. लोक सम्बन्धी दृष्टांतमें भी स्वयंकी वृत्ति और सेवा वृत्तिसे दो दृष्टांत दिये गये हैं. वेद सम्बन्धी तो एक ही दृष्टांत दिया है. इस प्रकार कुल तीन दृष्टांत दिये गये हैं. 'भस्ममें होम करना' यह श्रुतिमें कहा है. ''जब पूर्वमें आहूति होमी जाती है, तो यजमान मरता है. जब दक्षिणकी ओर ठंडी भस्ममें आहूति डाली जाय, अथवा भस्मका समूह ले जाया जाय तो वह बुरी मानी जाती है''. इस प्रकार भस्ममें होम लिखा है. जिस प्रकार भस्ममें किया होम बुरे प्रसंगमें होता है, उसी प्रकार दुष्ट ग्वालों पर धनुषका प्रयोग असफल हुआ. वह न तो ईश्वरका आराधन हुआ न धर्म हुआ. लोकमें यदि राजा आदिकी आराधना की जाय तो उससे कार्यकी सिद्धि होती है. यदि वे राजा कपटी हों तो कुल्माषके दानके समान उनका फल भी खोटा होता है. ऐसा कहकर, धनुष आदिमें अधिष्ठित देवताओंको असत् फल देनेवाला बताया है. इस प्रकार फल और साध्य पदार्थकी निष्फलता बताकर अब साधनकी निष्फलता बताते हैं कि जिस प्रकार खारवाली जमीनमें बोए हुए बीज नहीं उगते, कारण यह कि उषर जमीन बीजकी शक्तिका दाह कर देती है, यहां तक कि उस बीजका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है. इस प्रकार वह बीज जैसा पहले था, वैसा बोनेके बाद नहीं रहता, इसी प्रकार मेरा भी लौकिक रथीपना चला है, यह तात्पर्य निकला।।२१।।

जिस प्रकार अर्जुनकी अस्वस्थताकेलिए युधिष्ठिरने पूछा और उसका उत्तर अर्जुनने दिया, उसी प्रकार युधिष्ठिरने यादवोंकी कुशलताके विषयमें भी

पूछा, उसका उत्तर अब इस प्रकार दिया जा रहा है:

राजंस्त्वयानुपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे ।
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ।।२२।।
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम् ।
अजानतामिवान्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः।।२३।।

हे राजा युधिष्ठिर, द्वारकापुरीमें रहनेवाले अपने सम्बन्धियोंके विषयमें आप द्वारा पूछे गए वे सब सम्बन्धी ब्राह्मणके शापसे बहुत ही मूढ बने हुए, वारुणी मदिराका पान किये हुए, मदसे मथित चित्तवाले, परस्पर मुक्का मार लडाई करते हुए, जैसे एक दूसरेको जानते ही न हों, इस प्रकार लडते-लडते मृत्युको प्राप्त होते हुए, चार या पांच बाकी बचे हैं।।२२-२३।।

सम्बन्धीओंकी कुशल युधिष्ठिरने पूछी है, उसका उत्तर यह है कि उन्हें शाप लगा हुआ था. ब्राह्मणके शापसे वे मूढ हुए थे. अतः दूसरे स्थान पर जाकर वे परस्पर युद्ध करने लगे. उसका कारण यह था कि यादवोंने मदिराका पान कर रखा था. अमृतकेलिये जब समुद्र मन्थन किया था तब मदिरा भी निकली थी जो ताड आदिके वृक्षोंमें रहती है. इसलिए ताड आदिमेंसे निकलनेवाली मदिरा 'वारुणी' कहलाती है. उस मदिराके पानसे सब यादवोंका विवेक जाता रहा. उनमेंसे मात्र चार-पांच बचे हैं. चारके साथ पांच होनेसे नौ रहे. अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इस प्रकार नौ द्रव्योंसे शरीरका मिलाजुला आकार बना है. उन यादवोंके शरीरके संघातमें नौ द्रव्य प्रवेश होकर रहते थे, उसमेंसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये परमाणुगत रूपसे पांच द्रव्य रहे हैं. और पृथ्वी आदि चार द्रव्य जो स्थलरूप थे वे नष्ट होकर परमाणुरूप बन गए हैं. इस प्रकार आकाश आदि पांच द्रव्य रहे हैं. यादवोंमें परस्पर स्नेह था, अतः वह मारण कार्यसे बाधक था, तो परस्पर नष्ट क्यों करने लगे? ऐसी शंका किये जाने पर कहते हैं कि जैसे एकदूसरेको जानते ही नहीं. परस्पर न जाननेका अभिप्राय यह है कि उन्हें मार देनेका ज्ञान तो था, पर किसे मारना चाहिए यह ज्ञान नहीं था. यह बतानेकेलिये मूलमें 'इव' अव्यय दिया है।।२२-२३।।

इस प्रकार यादवोंका नाश करवानेमें कर्ता कौन है? उसकी सम्भावना करते हुए कहते हैं:

प्रायेणैतद् भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम् ।
मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन् मिथः।।२४।।

प्रायः यह भगवानकी विशेष चेष्टा है कि वे एक- दूसरेको उत्पन्न करते हैं तथा प्राणीमात्रको एक-दूसरेसे नष्ट करवा देते हैं।।२४।।

सब कुछ भगवान् ही करनेवाले हैं, वे सबके रक्षक हैं, इसलिए यह कार्य भी भगवानने ही किया, यह निश्चय हुआ. कालसे भी यह कार्य होना सम्भव है, अतः विशेष करके यह भगवानकी चेष्टा है. ऐसा मूलमें कहा है. विचार करने पर कालमें भगवानका निवास होनेसे, उन्होंने ही सब कुछ किया यह मानना उत्तम प्रकार है. लोकमें जो कार्य मनुष्य द्वारा किया हुआ देखा जाता है, वस्तुतः वह मनुष्य द्वारा किया हुआ नहीं वरन् भगवान् द्वारा ही सब किया जाता है. वे प्राणी मात्रको उत्पन्न करते हैं तथा मारते हैं, यह सारी चेष्टाएं भगवानकी हैं. पारस्परिक समानता होने पर उन्हें मारना अथवा रक्षा करना प्रयोजक कार्य है. रक्षा करनेका कार्य तो तब हो जब दूसरा उसे प्रेरित करनेवाला हो, क्योंकि उनमें स्वतः कोई छोटा अथवा बडा नहीं है. मूलमें 'च'कार होनेसे प्रभु उत्पन्न करते हैं और दूसरोंको उत्पन्न कराते हैं, यह अभिप्राय है. पिता अपने ही पुत्रके घरमें जन्म लेता है और पुत्रपनेको प्राप्त होता है, इसलिए वेद आदिमें यह लिखा हुआ है कि ''अपनी स्त्रीमें स्वयं ही उत्पन्न होता है, ऐसी स्त्रीको जाया कहा जाता है'' उसमें अपना ही पुत्र बनकर फिरसे उसका भी पुत्ररूप बनता है. इस क्रमसे पिता ही पौत्ररूप हो जाता है. बहुतसे स्थानों पर तो पितामह और पौत्रके नाम एक जैसे मिल जाते हैं।।२४।।

यह तो किसी भी स्थान पर नहीं लिखा कि भगवानने यादवोंका संहार किया. तो फिर भगवानने संहार किया, यह क्यों कहा गया? ऐसी शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं:

जलौकसां जले यद्वन् महान्तोऽदन्त्यणीयसः ।
दुर्बलान् बलिनो राजन् महान्तो बलिनो मिथः।।२५।।
एवं बलिष्ठैर्यदुभिः महद्भिरितरान् विभुः ।
यदून् यदुभिरन्योन्यं भूभारान् सञ्जहार ह ।।२६।।

जिस प्रकार जलमें रहनेवाले बडे मत्स्य छोटी मछलियोंको खा जाते हैं, हे युधिष्ठिरजी, उसी प्रकार बलवान् यादवोंने दुर्बल यादवोंको मारा है. वे

अतिशय बलवान् होनेके कारण एक-दूसरेसे मारे जाने पर ही मृत्युको प्राप्त हुए हैं. इस प्रकार बलवान् यादवों द्वारा निर्बल यादवोंको मरवाया. पृथ्वीके भाररूप यादवों द्वारा यादवोंका ही उपसंहार किया है।।२५-२६।।

अग्निके शापसे मूढ हुए मछले जैसे एक दूसरेको मारते हैं, उसी 'मत्स्य न्याय'के अनुसार यादवोंके प्रसंगमें भी घटित हुआ है. जिस प्रकार बडे मत्स्य छोटें मत्स्योंको निगल जाते हैं, उसी प्रकार बलहीन यादवोंको बलवान् यादवोंने नष्ट किया है. युधिष्ठिरका 'हे राजन' सम्बोधन राजा लोग इस बातको जानते हैं यह बताता है. बडे एक-दूसरेको मारकर ही मृत्युको प्राप्त हुए. अब उपसंहार करते हुए कहते हैं कि जो बलवान और विशाल थे उनके द्वारा निर्बल और छोटोंको मारा है. इस प्रकार पृथ्वीके भाररूप यादवोंको यादवोंके द्वारा ही भगवानने उपसंहार कराया है. भगवान् द्वारा ही सब मारे जाने चाहिए थे, वे यादव परस्पर लडकर क्यों मरे? इस शंकाका निवारण करते हैं कि भगवान् विभु हैं. अतः सब कुछ करनेमें समर्थ थे, इसलिए यादवोंके द्वारा ही यादवोंको मारा है. जो बहुत बडे होते हैं वे केवल आज्ञासे काम करवा लेते हैं, जो बडे होते हैं, वे साधनो द्वारा कार्य सम्पन्न कर लेते हैं, परन्तु जो 'विभु' हैं, वो तो सब कुछ करनेमें समर्थ होनेके कारण इच्छा मात्रसे ही कार्य सम्पादन कर लेते हैं. इस प्रकार भगवानकी इच्छा मात्रसे यादवोंने परस्पर मारण कार्य किया. जिस प्रकार विवाह अथवा उत्सव इत्यादिमें परस्पर भोजन परोसते हैं उसी प्रकार यहां एकने दूसरेको मारा ।।२५-२६।।

इस तरह सामान्यतया संक्षेपमें कथा कह चुकनेके बाद अब इस कथाको विस्तारसे कहना चाहिए, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा है कि पुनः धर्मयुक्त भगवानका त्याग कर देनेसे अर्जुनकी स्मृति पूर्ववत् हो गई और अन्तःकरणमें पहले जैसी ही व्याकुलता छा गई. इसलिए अर्जुन कुछ भी कहनेमें समर्थ न हो सके, यह कहा जा रहा है:

देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च।
हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे ।।२७।।

देश और काल के अर्थसे युक्त तथा हृदयके तापको शान्त करनेवाले गोविन्द भगवान्के वचन स्मरण आने पर चित्तका हरण कर लेते हैं।।२७।।

देश और कालके अनुसार जो-जो अर्थ विशेष होते हैं, उन अर्थोंके

साथ नीतिके वाक्य हृदयके तापको शान्त करनेवाले हैं. भगवान्‌के माहात्म्यको बतानेवाले वाक्य, जो पहलेसे ही उनके द्वारा मेरे प्रति कहे गए थे कि देश और कालके अनुसार सब कार्य करना चाहिए, नीतिसे युक्त हैं. आत्मामें निष्ठा रखते हुए बाहरी धर्मोंका त्याग करना चाहिए और भगवान्‌के माहात्म्यको जानकर सम्बन्धिओंका मोह छोडना चाहिए. ये तीन प्रकारके वचन भगवानने पहलेसे ही मुझसे कह दिये थे. जब उन वाक्योंका स्मरण होता है, तो मेरे चित्तका हरण हो जाता है. जैसे भगवान् कोई दूसरा कार्य करते हों और उसमेंसे दूसरा फल उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही शोक दूर करनेकेलिये मैं भगवान्‌के वचनोंको याद करता हूं, परन्तु उनके अर्थका अनुसन्धान करने पर, वह और भी प्रबल हो जाता है. अतः अब मुझे चुप ही होना उचित है।।२७।।

इस प्रकार धर्मयुक्त भगवानका स्मरण करनेसे भक्ति उत्पन्न हुई, भक्ति पूर्वक चरण कमलोंका स्मरण करनेसे प्रेमकी दृढता, और उससे जीव तथा भगवानकी समीपता हो जानेसे सत्त्वगुणके आवेशसे परमानन्द उत्पन्न हुआ. इससे रजोगुण एवं तमोगुण के दोष दूर हो गए. इस कारण बुद्धि निर्मल तथा शान्त हो गई. सत्त्वगुणसे बुद्धि शान्त हुई है तथा रजोगुण व तमोगुणके दोष नष्ट हो जानेसे वह निर्मल हो गई. बुद्धि विज्ञानरूपा है, जिसे आगे कहा जाएगा. इसलिए बुद्धि स्वभावसे ही ज्ञानवाली है. यह ज्ञानरूपा बुद्धि किस प्रकार हुई? इस प्रसंगमें सूतजी आगे वर्णन करते हैं:

सूत उवाच

एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम्।
सौहार्देनातिगाढेन शान्तासीद् विमला मतिः।।२८।।

इस प्रकार अत्यन्त दृढ स्नेहपूर्वक भगवान्‌के चरणकमलोंका चिन्तन करनेसे अर्जुनकी बुद्धि शान्त एवं निर्मल हो गई।।२८।।

इस रीतिसे धर्मयुक्त भगवानका स्मरण करनेसे भक्ति हुई, और उसके द्वारा प्रभुके चरणकमलोंका स्मरण करनेसे दृढ प्रेमकी उत्पत्ति हुई; जिससे जीव और भगवान की समीपता बढी, और सत्त्वगुणका आवेश हुआ. इसके कारण परमानन्दका आविर्भाव हो जानेसे रजोगुण व तमोगुणके दोष दूर हो गए. तब बुद्धि शान्त और निर्मल बनी. ''बुद्धिर्विज्ञान रूपिणी'' ऐसा वाक्य होनेसे स्वभावसे ही उसका ज्ञानरूपिणी होना सिद्ध हुआ. सुषुप्ति अवस्थामें जो शोक

शान्त हुआ लगता है, वस्तुतः वह नष्ट नहीं होता, पर ऊपरसे वह हुआ लगता है. अर्जुनका शोक ऊपरसे चला हो और मूलमें बना हुआ हो तो फिरसे उत्पन्न हो जानेका सन्देह बना रहे; इसलिए ज्ञानका प्रकाश हुआ है. उसका निरूपण इस प्रकार है. इस प्रसंगमें आत्मस्वरूपका ज्ञान और भगवान्के स्वरूपका ज्ञान प्रमाण और पदार्थके आधीन होनेसे उपदेशकी आवश्यकतावाला नहीं है. परन्तु प्रमाण और वस्तुके आवरणको दूर करना चाहिए. इसमेंसे रजोगुण व तमोगुणके निकल जानेसे सत्त्वगुण प्रकट हुआ है. इस प्रमाणसे जो आवरण है वह दूर हो जाने जैसा हो है. माया ही जीवात्माका आवरण है और वह भक्तियुक्त ज्ञानसे दूर होता है. भगवानका आवरण उनकी स्वयंकी इच्छा है, वह आवरण उनके माहात्म्यको जानकर, उनमें उत्तम प्रेम तथा सेवा करनेसे जाता रहता है. तब जैसे निर्मल दृष्टिवालेको सूर्यके प्रकाशका साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार मनसे जीव और परमात्माका साक्षात्कार होता है।।२८।।

तदनुसार अर्जुनकी दोनों प्रकारकी स्थितियां सिद्ध हुई हैं, जिन्हें दो श्लोकोंमें कहा जा रहा है:

वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यान–परिबृंहणरंहसा।
भक्त्या निर्मथिताशेष–कषायधिषणोऽर्जुनः।।२९।।

भगवान्के चरणकमलोंके आलिंगन तथा ध्यानसे एवं भक्तिके प्रबल वेगसे अर्जुनकी बुद्धिके सारे मैल पूरी तरह जाते रहे ।।२९।।

यद्यपि बुद्धि शान्त हो गई थी, फिर भी वासनाके बचे रह जानेसे पुनः अशान्त भी हो सकता है. वैसा फिरसे न हो जाय इसलिए भगवान्के चरण कमलोंका आलिंगन किया है. वैसी वेगवाली भक्तिसे अर्जुनने बुद्धिके सारे दोष स्वरूपसे ही नष्ट कर दिये हैं. अर्जुनका अर्थ श्वेत भी होता है, जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वस्त्रमेंसे मैल निकल जाने पर वस्त्र स्वच्छ और धवल हो जाता है, वैसे ही अर्जुन श्वेत हो गये हैं अर्थात् बुद्धिकी वासना चली गई है. अब जीवका आवरण दूर करनेकेलिये कहते हैं कि जब तक अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब तक प्रमाणसे उत्पन्न किया ज्ञान आत्माके आवरणको दूर करता है।।२९।।

पहले गीतासे जो ज्ञान उत्पन्न हुआ था, बादमें वह काल, कर्म व तमोगुणसे ढंक था, वह बुद्धिका आवरण नष्ट हो गया. जीवके आवरणको दूर

करनेका उपाय कहा जा रहा है:

गीतं भगवता ज्ञानं यत् तत्सङ्ग्राममूर्द्धनि।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमद् विभुः।।३०।।

ऐसे समर्थ अर्जुनको संग्रामके समय भगवानने जो गीतारूपी ज्ञान कहा था, उसे पुनः जागृत किया है. क्योंकि वह ज्ञान काल, कर्म व तमोगुणसे अवरुद्ध हो था, उसे पुनः प्रवाहित किया।।३०।।

गीताजीमें भगवानने जो ज्ञान कहा था, वह ज्ञान पुनः अर्जुनको प्राप्त हुआ है. वृत्तिरूप ज्ञान एक क्षणमें ही उत्पन्न हो जाता है, दूसरे क्षणमें उस ज्ञानकी स्थिति बनती है और तीसरे ही क्षण वह नष्ट हो जाता है. इस तरह ज्ञान केवल तीन क्षण ही रहता है. इस कारण वह ज्ञान स्वयंमें ही तिरोहित हो जाता है. वह ज्ञान अर्जुनको फिरसे कैसे मिला? ऐसी शंका करने पर कहते हैं कि अर्जुन समर्थ थे, अतः ज्ञानके तिरोभावको दूर किया, इस तरह वह पुनः प्रकट हुआ।।३०।।

ज्ञानका अनुसन्धान होनेके बाद जिस रीतिसे आत्माका आवरण किया उसे क्रमवार कहते हैं:

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या सञ्छिन्नद्वैतसंशयः।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्याद् अलिङ्गत्वाद् असम्भवः।।३१।।

अर्जुन ब्रह्मकी सम्पत्तिसे शोक रहित हो और उसके द्वैतपनेका संशय सब प्रकारसे नष्ट हो गया. प्रकृत्तिके लीन हो जानेसे निर्गुण अवस्था हो गई. लिंग शरीर जाता रहा. अब फिरसे संशय उत्पन्न होनेकी कोई संभावना नहीं रही।।३१।।

ज्ञान ब्रह्मकी सम्पत्तिसे युक्त हो जिससे ''ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है'' श्रुतिके इस कथनके अनुसार अर्जुन ब्रह्मरूप हो गये. विषयकी प्राप्ति हुई, जिससे शोकका अभाव हो है. सब विषयकी प्राप्ति हुई है, उसे कहते हैं कि ''यह मैं हूं और यह दूसरा है'' ऐसे द्वैतरूप देह आदिके प्रपंचमें अर्जुनका सब सन्देह दूर हो गया. इसलिए स्वयं ब्रह्मरूप हो जानेसे अर्जुन सर्वरूप हो गये हैं, तब उन्हें किसी भी बातका सन्देह नहीं रहा है. अथवा द्वैतरूप प्रपंचमें सब स्थान पर अपनी आत्माका प्रवेश हो जानेसे पहले तो परिच्छिन्न भावसे आत्माके स्वरूपका नाश करनेवाला संशय सब स्थल पर रहता था परन्तु अब आत्मका

ब्रह्मभाव हो जानेसे सबके भीतर प्रवेश हो है. ऐसी स्थिति हो जानेसे अर्जुनने बाहरके सम्बन्धोंके सन्देहोंको दूर कर दिया है. बाहरके नियमोंसे यदि पुनः सम्बन्ध हो जाय तो पिछले सन्देह फिरसे उत्पन्न हो जायें? ऐसी शंका करके कहते हैं कि प्रकृति मायामें लीन हो गई है. माया दूर होनेसे निर्गुण अवस्था हो गई है, उस निर्गुण अवस्थासे लिंग शरीर चला है, जिससे मूल दोष भी नष्ट हो गए, इसलिए अर्जुनको फिरसे संशयोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रही. उन संशयोंकी उत्पत्ति न होनेसे और लिंग शरीरके छूट जानेसे बाहरी विषयोंके साथ उनका सम्बन्ध नहीं रहा है. सब दोषकी निवृत्ति हो जानेसे अर्जुनको ब्रह्मभाव सिद्ध हो और उनके सभी दोष दूर हो गए।।३१।।

इस प्रकार अर्जुनकी कृतार्थताका निरूपण करके, अब युधिष्ठिरकी कृतार्थता कहनेकेलिए, उसका निश्चय कहा जाता है:

निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च।
स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः।।३२।।

भगवान्के मार्ग और यदुकुलके नाशको सुनकर दृढ अन्तःकरणवाले युधिष्ठिरने देव मार्गमें जानेका विचार किया।।३२।।

युधिष्ठिरने भगवानका मार्ग जान लिया है इसलिए भगवान् वैकुण्ठमें पधार गए, यह जान गए. यदुकुलकी संस्थाको जान लिया, इससे यदुकुलके नाश हो जानेको जान लिया है. तब दृढ अन्तःकरणवाले युधिष्ठिरने देवमार्गमें जानेका विचार किया।।३२।।

क्रम पूर्वक सबकी मुक्ति कहनेकेलिए कुंतीजीकी मुक्तिको कहते हैं:

पृथाप्युपश्रुत्य धनञ्जयोदितं नाशं यदूनां भगवद्गतिञ्च ताम्।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे निवेशितात्मोपरराम संसृतेः।।३३।।

अर्जुन द्वारा कहे हुए यादवोंके नाशको सुनकर तथा भगवान्के पधार जानेके वृत्तान्तको जानकर, कुंतीजीने भगवान् अधोक्षजमें एकान्त भक्ति द्वारा आत्माका प्रवेश करा दिया जिससे उनके सांसारिक बन्धन छूट गए।।३३।।

अर्जुन द्वारा कहे गए समस्त घटनाचक्रको जानकर कुंतीजीने अपना चित्त भगवानमें जोड दिया. अतिशय श्रेष्ठ प्रेमसे प्रकट हुए प्रभुमें सायुज्य मुक्तिको प्राप्त कर लिया तथा शरीरका परित्याग कर दिया।।३३।।

भगवानने ऐसा किस लिए किया? ऐसी शंका होने पर कहते हैं:

ययाहरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयञ्चापीशितुः समम्।।३४।।

जिस प्रकार कांटेसे कांटेको निकाल कर कांटेका त्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार अजन्मा भगवानने जिस शरीरको धारण करके पृथ्वीका भार दूर किया था, उस देहको छोड दिया. क्योंकि भाररूप शरीर तथा यादवरूप शरीर, ये दोनों कार्य भगवानकी दृष्टिमें एक जैसे ही हैं।।३४।।

भगवानने यादवोंका संहार किया, इससे भगवानका आत्मापना होनेसे दोष नहीं. इसे स्पष्टतया कहते हैं कि सहायताकेलिये लाये गये यादवोंके शरीरों द्वारा भगवानने पृथ्वीका भार उतारा था, उस शरीरका त्याग कर दिया. क्योंकि पृथ्वीका भार हरनेरूपी कार्य हुआ. इसके बाद यादवरूपी शरीरको रखनेका कोई प्रयोजन नहीं था. ऐसा करनेमें भगवानको 'अजः' अजन्मा कहा है. यादवोंका शरीर उत्पन्न हुआ इससे यह कदापि सिद्ध नहीं हुआ कि भगवान् उत्पन्न हुए हों. इस विषयमें द्रष्टान्त कहते हैं कि जिस प्रकार शरीरमें लगे हुए कांटेको फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार यादवोंके शरीर द्वारा पृथ्वीका भार उतारकर उस शरीरका त्याग कर दिया. इस तरह उसमें उनका आत्मीयपना नहीं था, यह सूचित हुआ. तो भी यादव शरीरमें रहनेवाले अभिमानी जीवकी इस प्रक्रियासे कष्ट हुआ है, ऐसा भगवानने क्यों किया? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं, पृथ्वीका भाररूप शरीर और उस भारको दूर करनेरूप शरीर, ये दो शरीर हैं. इन दोनों ही शरीरोंको नियन्त्रणमें रखनेवाले भगवान्के लिये तो यह सब कार्य एक है. यहां कांटेका द्रष्टान्त देकर दोनों प्रकारके शरीरोंकी समानता बताई है. इसलिए पृथ्वीके भाररूप शरीर तथा यादवोंके शरीरका सत्यपना सिद्ध है. परन्तु वे शरीर सदैव एक ही स्थान पर रहनेवाले नहीं है, अतः उनका अनित्यपना भी बताया है।।३४।।

अब भगवानमें उक्त वास्तविकताको कुछ विशेषतासे बताया जा रहा है:

यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्।।३५।।

जिस प्रकार कोई नट स्त्री आदिका रूप धारण करता है और फिर उसे छोड देता है, उसी प्रकार भगवान् मत्स्यादि रूप लेते हैं और त्याग देते हैं. इस प्रकार जिस शरीर द्वारा पृथ्वीका भार उतारा उस शरीरका परित्याग कर दिया ।।३५।।

जिस प्रकार विभिन्न प्रकारसे मनोरंजन करनेकेलिये नट (अभिनेता अथवा जादूगर) अपने स्वरूपको ही स्त्री आदिके रूपमें प्रदर्शित करता है और कार्य पूर्ण होने पर उसका परित्याग कर देता है, उसी प्रकार पृथ्वीका भार उतारनेकेलिये भगवानने मनुष्यका वेश धारण किया और छोड दिया. यहां जो वेश धारण किया है, वह वास्तविक नहीं है, इसलिए स्त्री आदिके वेशको छोडनेवाले नटका द्रष्टान्त दिया है. इसी प्रसंगको, ब्रह्माण्ड पुराणमें कहा है कि 'श्रीकृष्णने देहको नहीं छोडा' तो भी देहको छोडनेवाले जीवके देहके समान, उसके स्वरूप और आत्माकी समानतावाले लोकको अपना ही आत्मा बताया है. यहां यही अभिप्राय लिया जाना चाहिए।।३५।।

ऊपर वर्णित सत्यता कहनेका अभिप्राय भगवान्के पधारनेके प्रसंगमें उपयोगी बना है, उसे कहते हैं:

यदा मुकुन्दो भगवान् इमां महीं जहौ स्वतन्वा श्रवणीय–सत्कथः।
तदाहरेवाप्रतिबुद्ध–चेतसाम् अभद्रहेतुः कलिरन्ववर्त्तत।।३६।।

जिन भगवानकी श्रेष्ठ कथा सुनने योग्य है, ऐसे भगवान् मुकुन्दने जब अपने शरीर द्वारा इस पृथ्वीको छोडा, उस दिनसे ही, जिनका चित्त जागृत नहीं है, उनके अमंगलका कारणरूप कलियुग प्रवृत्त हो गया।।३६।।

सबको मोक्ष प्रदान करनेकेलिये भगवानने अवतार धारण किया है. वे मोक्ष प्रदान करके पधार जाते हैं. मोक्षमें बाधा डालनेवाले कलियुगके धर्मोंका निरूपण किया है. जब तक कलियुगके धर्म होते हैं तब तक मोक्ष नहीं होती अतः यहांसे बाहर निकलना ही शरण है. जहां कलियुगका प्रभाव न पडा हो ऐसे स्थान पर चलना चाहिए. इसके अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें तो भगवत्स्वरूप अथवा ज्ञानका अभाव होनेसे, वहां रहना अच्छा नहीं अतः युधिष्ठिरने भगवान्के साथ ही जानेका निश्चय किया है, उसे कहते हैं. यह सारा जगत् कालरूप है, और कलियुग कालका मलरूप है. कालके स्वामी माधव हैं. जिस स्थानमेंसे भगवान् तिरोहित हो जाते हैं, वह स्थान हीन माना जाता है. इस विषयमें द्रष्टान्त दिया जा रहा है कि जिस प्रकार अग्नि बुझते ही, लकडी राख हो जाती है, और वह हीन कहलाती है, उसी प्रमाणसे जिस स्थानमेंसे भगवान् पधार जाते हैं, वह देश भी हीन हो जाता है. काष्ठमें अग्नि होने पर उसे राखके समान हीन नहीं माना जाता, उसी रीतिसे जिस देशमेंसे भगवान् तिरोहित न हुए हों, वह देश हीन नहीं गिना

जाता. युधिष्ठिरजीको दूसरे स्थानमें जानेकी इच्छा इसलिए हुई, क्योंकि वे भक्त हैं उनके हृदयमें भगवान् विराजते हैं. जिस प्रकार 'अरणी'में अग्नि रहती है और अरणीसे जब अन्य लकडीका मथन किया जाता है तो उसमें आग उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार युधिष्ठिरमें भगवान् विराजते हैं, अतः अन्य स्थानमें जानेसे भगवानका प्रकाश होगा, यह सोचकर युधिष्ठिरने जानेका निश्चय किया''. भगवान् मुकुन्द हैं और वे मुक्तिकेलिये ही अवतार लेते हैं, ऐसा होनेसे भगवानने मुक्तिका उपसंहार किया है. यों तो भगवानका सब स्थलमें नित्य सम्बन्ध होनेसे उन्होंने किसी भी स्थलका त्याग नहीं किया है, तो भी प्रकट हुए परमानन्द स्वरूप ढके हुए रूपमें बताये गए थे और उसी स्वरूपसे उन्होंने पृथ्वीका त्याग किया है, ऐसा कहा है, वैसे अपरिच्छिन्न स्थितिमें तो वे सब स्थल पर विराजमान हैं ही. यह बतानेकेलिये ही तो मूलमें 'तन्वा जहौ' शरीर द्वारा छोडना कहा है. सशरीर पृथ्वीका त्याग किया है कितने ही ऐसा भी अर्थ करते हैं जो कि उचित नहीं. पृथ्वीको छोडनेकी बात पहले तो कही नहीं गई और पश्चात् नटके समान देह त्यागकी बात कही गई है. इसलिए छोडे हुए शरीरका वस्तुपना न होनेसे अपूर्व विधि(अत्यन्त अप्राप्तिको अपूर्व कहते हैं) अथवा अनुवादकी स्थितिमें सह (साथ) अर्थकेलिये तृतीया विभक्तिकी सम्भावना नहीं है. भगवानने जब पृथ्वीको छोड दिया तो बादमें उत्पन्न होनेवाले भक्तोंका उद्धार कैसे होगा? ऐसी शंकाका उत्तर देते हैं कि जिनकी सारी कथा सुनने योग्य है. भगवान्के भूतल परसे पधार जाने पर उन भक्तोंका उद्धार करनेकेलिये भगवानकी कथा ही एक मात्र साधन है, यह सूचित किया है. जिस समय भगवान् भूतल परसे पधारे, वह समय प्रातःकाल था, ऐसा सम्प्रदायको जाननेवाले कहते हैं. उसी दिन प्रातःकालसे कलियुग प्रवृत्त हो गया. जिनके ऊपर भगवानका कृपाकटाक्ष है तथा इसी कोटीके भगवान्के मार्गमें रहनेवाले भक्त विद्यमान हैं, तो फिर कलियुगकी प्रवृत्ति कैसे हो गई? उस प्रसंगमें कहते हैं कि जिनका चित्त जागता हुआ नहीं है, कलियुग उनका ही अकल्याण करता है, अतः कलियुगका आगमन सबकेलिये नहीं है. जो भूले पडे हैं, असावधान हैं, कलिका आना उन्हींकेलिये है. जो सदैव खिले कमलके समान रहते हैं, जिन्हें संकुचित होनेका (बन्द होनेका) भय नहीं है, उनकेलिये सूर्य अस्त हो जानेका कोई भय नहीं है. इसके अतिरिक्त जो कमल है, उनमें तो सूर्यास्तके बाद अन्धकार होने पर कीडे आदिका निवास हो जाता है, परन्तु ज्ञान

द्वारा जिनका चित्त खिला हुआ है और प्रभुकी भक्ति होनेसे जो कभी संकुचित नहीं होते, कलियुग उनका अनिष्ट नहीं कर सकता।।३६।।

तो युधिष्ठिरको अपने विषयमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं है ऐसी आशंका करके कहा जा रहा है:

युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथात्मनि ।
विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसनाद्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात् ।।३७।।

देशमें और पुरमें घर तथा आत्मामें कलियुग फैल है तथा लोभ, झूठ, कुटिलता एवं हिंसा करने आदि अधर्मके चक्रको देखकर तथा कलियुगके प्रसारको देखकर, बुद्धिमान राजा युधिष्ठिरने उस स्थानसे चले जानेका विचार किया।।३७।।

व्याकुलता आदि न होने पर भी दृढ स्थिति रहनेसे भी, काल ज्ञानका विकास नहीं मानता. वह कलिकाल युधिष्ठिर आदिको भी अप्रकाशित ज्ञानवाला ही मानता है. इसलिए उनके देशमें भी बडे और छोटेके भेदसे पृथक् होकर कलिकालने देश, नगर, घर और शरीरमें प्रवेश किया है. परन्तु युधिष्ठिर बुद्धिमान होनेसे कुछ अधिकताके साथ सच्चाईको जान गए हैं. कलियुग यहां स्थायी रूपसे रहनेकेलिये आ रहा है, ऐसा युधिष्ठिरने निश्चयात्मक विचार कर लिया है. कलियुग अपनी सामग्री सहित आया है, अतः रहने ही आया है, अब यहां से जानेवाला नहीं. कलियुगकी सामग्रीओंमें सबसे पहले सभी दोषोंका घर लोभ है, यह अन्तःकरणका धर्म है. झूठ बोलना, यह वाणीका दोष है. सबसे अधिक तो यह स्वरूपका नाश करनेवाला है. क्योंकि अपने शरीरको निभानेवाला तो प्रामाणिकपना ही है, वह असत्य बोलनेसे जाता रहता है. इस प्रकार स्वरूपका नाश होता है. कुटिलता बुद्धिका दोष है और हिंसा शरीरका दोष है. इसी क्रममें बाकी बचे दोषोंकों स्वयंमें समझ लेना चाहिए. मूलमें 'आदि' शब्दसे रोग आदि अन्य दोष भी देखनेमें आते हैं, यह सूचित हुआ. इस प्रकार अहिंसादिक अधर्मका चक्र जानकर पहले कहे विचारके अनुसार युधिष्ठिरने जानेका निर्णय किया।।३७।।

शक्तिरहित मनुष्यको त्यागवृत्ति उचित नहीं. क्योंकि त्याग किया हुआ पदार्थ वासनाको उत्पन्न करता है. इसलिए कलियुगके डरसे राजा युधिष्ठिरका बाहर जाना उचित नहीं, ऐसी शंका करके कहते हैं:

स स्वपौत्रं विनयिनम् आत्मनोऽनवमं गुणैः।
तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद् गजाह्वये ।।३८।।
मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः ।
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिम् अग्नीनपिबद् ईश्वरः।।३९।।

युधिष्ठिरने अपने ही समान गुणवाले, विनयवाले अपने पौत्र परीक्षितको जलरूप वस्त्रके आवरणवाली पृथ्वीके पतिरूपमें हस्तिनापुरीमें राज्याभिषेक किया. जिस प्रकार मथुरामें शूरसेन देशके पतिके रूपमें वज्रनाभका अभिषेक किया था. इसके बाद प्रजापति सम्बन्धी यज्ञ करके समर्थ राजा युधिष्ठिरने अग्निका पान किया।।३८-३९।।

युधिष्ठिर कलियुगका निराकरण करनेमें असमर्थ थे इसी कारण वे घरसे निकल गए ऐसी बात नहीं थी. क्योंकि कलियुगका निराकरण करने अपने पौत्र परीक्षितको राज्यमें स्थापित किया है. परन्तु शास्त्रोंमें त्याग करनेकी बात कही है, इसलिए युधिष्ठिरने घर छोडा है. इसी अभिप्रायसे अपने पौत्र परीक्षितका अभिषेक करना कहा है. मनुने कहा है कि ''एकसे उत्पन्न हुए भाईओंमें यदि एक पुत्रवाला हो तो सभी भाई पुत्रवाले कहलाते हैं'' इस न्यायसे परीक्षितको राज्य देकर युधिष्ठिर कलियुगके भयसे नहीं गए. यद्यपि परीक्षित वस्तुतः अर्जुनके पौत्र थे, परन्तु यहां मनुके न्यायसे उसे युधिष्ठिरने अपना पौत्र कहा है. पुत्र नामका स्थापन करनेकेलिये पौत्र शब्दको ग्रहण किया है. पौत्र परीक्षित भगवदीयत्वादि गुणोंमें युधिष्ठिरसे कम नहीं हैं. इसीलिए परीक्षितमें दोषोंका अभाव कहा है. राज्यासन पर हीन व्यक्तिका स्थापन करनेसे प्रजाका शाप लगता है. पृथ्वीके चारों ओर समुद्रके जलका आवरण है, इसलिए समुद्ररूपी वस्त्र सहित पृथ्वीका पति स्थापित किया है. ओर राजा तो वस्त्ररहित स्त्रीसे चरण दबवाते हैं उतने मात्रसे अपना पतिपना मानते हैं. मूलमें 'नीवी' शब्द इस अभिप्रायसे दिया है. भगवानने ही परीक्षितको पृथ्वीका राज्य करनेकेलिये अभिषेक किया है अतः मूलमें युधिष्ठिरने पतित्व निभाया है, ऐसा कहा है. यह मात्र अनुवाद है. जो अनुवादकेलिये 'पति' शब्द न दिया होता तो पतिपनेकेलिये अपने पौत्रका अभिषेक किया, यह अर्थ होता. अतः युधिष्ठिरने मात्र अभिषेक ही किया है. वस्तुतः पृथ्वीके वास्तविक पति तो भगवान् ही हैं. इसी प्रकार वज्रनाभका भी अभिषेक किया है. अनिरुद्धका पुत्र वज्रनाभ था. उसका अभिषेक शूरसेन देशके

पतिके रूपमें किया था. इस मर्यादाके अनुसार जितना देश था, उतना देश उनको दिया है. तत् पश्चात् उन दोनों द्वारा राज्य स्वीकार कर लिये जाने पर प्रजापति सम्बन्धी दृष्टि करनेकी बात शास्त्रमें कही गई है. इसीसे युधिष्ठिरने प्रजापति सम्बन्धी दृष्टि बनाकर स्वयंमें अग्निका आरोपण किया है, क्योंकि ऐसा करनेमें वे समर्थ थे।।३८-३९।।

शास्त्रमें कहे अनुसार युधिष्ठिरने राज्यका त्याग किया है. इसलिए घरमें ही सब कुछ त्यागा हुआ होनेसे वे वासना रहित थे. क्योंकि मनसे वासनाओंका त्याग किये विना केवल ऊपरसे त्याग करना एक तरफा त्याग कहलाता है. ऐसे त्यागको अशास्त्रीय कहा है. अतः युधिष्ठिरने तो सबका त्याग कर दिया है, यह निरूपण करनेकेलिए कहा जा रहा है:

विसृज्य तत्र तत् सर्वं दुकूलवलयादिकम्।
निर्ममो निरहंकारः सञ्छिन्नाशेषबन्धनः ।।४०।।

युधिष्ठिरने रेशमी वस्त्र, कंकण आदि सब कुछ वहां ही छोड दिए. उन्होंने ममतारहित होकर, अहंकार छोडकर, सम्पूर्ण बन्धनोंको काट दिया ।।४०।।

देहके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंका परित्याग करना सरल है. इस विषयमें कहा है कि युधिष्ठिरके पास रेशमी वस्त्र तथा कंकण आदि सदैव विद्यमान रहते थे. शास्त्रमें कहे गए विधि वाक्यके अन्तर्गत कोई वस्तु त्याग करना बाकी रह गई हो, इसलिए नहीं कहा है. आगे 'चीरवासा' शब्द कहा है, वह तो त्याग करनेके समान ही होनेसे, शास्त्र सम्मत कहा है. 'निर्मम' शब्द छोडे हुए पदार्थोंके प्रति अपनापन न होनेकी स्थितिको स्पष्ट करता है. छोडनेमें उन्हें किसी प्रकारका अभिमान नहीं हुआ, इसलिए भी इस शब्दका प्रयोग हुआ है. अथवा उनका यह सब त्याग आन्तरिक था. दोनों ही स्थितियां करने योग्य होनेके कारण एक दूसरेका कारणरूप बन गई, इस भावसे भी 'निर्मम' शब्द प्रयोगित हुआ है. 'निरहंकार' शब्द इसलिए कहा है अपने परिकर सहित देहके त्यागकी बात इससे जानी गई है. शरीरमें मेरेपनेकी भावना युधिष्ठिरमें नहीं थी. ममताके अन्तर्गत ही देह आदिकी स्थिति है जो स्वरूपतः नष्ट हो गई थी. उनके त्यागका प्रकार कहा जा रहा है कि उन्होंने सब प्रकारके बन्धनोंको त्याग दिया है. बाहरी आवरणोंको पूरी तरहसे काट डाला है. यह मेरा पुत्र मेरा उपकार

करेगा, ऐसी बुद्धि भी उनमें नहीं रही. अतएव प्रतिबन्धता(बाधा देनेवाली स्थिति) नामकी कोई स्थिति युधिष्ठिरके पास नहीं रही।।४०।।

अब केवल शरीर ही बाकी रहा है, उसका ज्ञान-कर्मसे लय कहने केलिए प्रथमतः उसे ही स्पष्ट किया जा रहा है. देहका जन्म अज्ञानसे होता है. अज्ञान दूर करनेकेलिए तत्त्वका चिन्तन ही ज्ञानको सिद्ध करता है. तत्त्वविचार ही अज्ञानकी निवृत्ति है. गीतामें भगवानने कहा है ''स्मरण, ज्ञान और अज्ञान, ये मुझसे ही होते हैं''. अतः देह आदिमें अहंता-ममताका अध्यास भगवान् द्वारा ही किया हुआ है. एकादश स्कन्धमें भगवानने उद्धवजीसे कहा है कि ''वाणी, मन, प्राण तथा इन्द्रियों को नियमोंमें रखो, अन्तःकरणको आत्मा द्वारा नियंत्रणमें रखो, ऐसा करनेसे तुम फिर संसाररूपी मार्गमें नहीं आओगे''. इस आज्ञाके अनुसार त्याग करना चाहिए. गीताजीमें ऐसी बहुतसी बातें कही गई हैं कि ''कान इत्यादि इन्द्रियोंकी संयमरूपी अग्निमें हवन कर देना चाहिए''. जिस क्रमसे भगवानने युधिष्ठिरकेलिए सबका लय करनेका सम्पादन किया है, उस क्रमका कथन चित्तमें ज्ञान करनेकेलिए योग्य है, इसलिए कहा जा रहा है:

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम्।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तत्पञ्चत्वे ह्यजोहवीत्।।४१।।
त्रित्वे हुत्वा च पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोद् मुनिः।
सर्वम् आत्मन्यजुहवीद् ब्रह्मण्यात्मानम् अव्यये।।४२।।

युधिष्ठिरने वाणीको मनमें होम दिया, मनको प्राणोंमें होम दिया, प्राणोंको अपान वायुमें, अपानको ऊपरकी ओर उठाते हुए मृत्युमें और मृत्युको पंचमहाभूतरूप भगवान्के स्वरूपमें होम दिया. उन पांचोंको त्रिगुणात्मक रूपमें होम दिया. उस त्रिगुणात्मक रूपको पुरुषमें होम दिया और उस पुरुषको कभी नष्ट न होनेवाले अक्षर ब्रह्ममें होम दिया।।४१-४२।।

वाणीके सम्बन्धसे शरीरका सम्बन्ध है, यह पुरंजनके आख्यानमें कहा है. मनकी स्त्री वाणी है, वह प्रकृतिके सम्बन्धवाली है. आत्माकी वाणी देवतारूप है. इसलिए देवतारूप और प्रकृतिरूप दोनों ही वाणीओंका स्वरूप यहां भिन्न-भिन्न रूपोंमें नहीं बताया है. प्रकृति सम्बन्धी वाणीके दूर होने पर देवतारूप वाणी स्वतः ही निवृत हो जाती है. उसका निर्बंध(आग्रह) 'युधिष्ठिरने वाणीका बन्धन किया' आगे कहा जायेगा. गीतामें कहे अनुसार अध्यास भी

भगवान् ही करते हैं. इस पक्षमें सबसे अधिक स्वामी है उसमें लय होना ही मुख्य पक्ष है. वाणी मनकी कृति है, अतः वाणी मनके अधीन है. वाक् नामकी सब वाणीकी कोई अधिष्ठात्री देवता है वह अभिमानवाली है, जो उसका हीनपना मानती है. उससे वे प्रजापतिके समान निवृत्त हुई है. उसी रीतिसे यह वाणी युधिष्ठिरसे भी निवृत्ति पावेगी, ऐसा अभिप्राय बताया है. वह मनसे प्राणके अधीन है. उसे छान्दोग्य उपनिषद्के छठे प्रपाठकमें पिता उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुको इस प्रकार कहा है कि ''जैसे सूतसे बंधा हुआ तीतर पक्षी आकाशमें सब दिशाओंमें घूमकर, कोई स्थान न मिलने पर वापस अपने बन्धनके स्थलका ही आश्रय करता है, उसी प्रकार मन सब दिशाओंमें घूमकर दूसरे स्थान पर आश्रय न मिलनेके कारण प्राणोंका ही आश्रय करता है, क्योंकि प्राणोंके साथ मन बंधा हुआ है''. इसलिए मन जाने-आनेके विषयमें प्राणके अधीन है, ऐसा कहा है. जब कि प्राणोंका निरोध करनेमें मन ही साधन है. तदपि प्राणोंका निरोध होने पर मन भी निरुद्ध हो जाता है. इसलिए मनके निरोधमें भी मनको प्राणोंके अधीन रहना पडता है, यह सिद्ध हुआ. क्योंकि प्राणोंके निरोधसे मनका निरोध हो जाता है, तब देहका प्रतिबन्ध मिटता है. अर्थात् देहका सम्बन्ध निवृत्त हो जाता है. इसीसे योगशास्त्रमें मनका मूल देह है, ऐसा कहा है. ऐसे प्राणको युधिष्ठिरने अपानवायुमें समाहित कर दिया. मूलमें अपान कहनेवाले इतर शब्दमें सर्वनामके रूपमें शब्दका प्रयोग नहीं हुआ, जिसका अभिप्राय यह है कि मलपनेके रूपमें आगे उसे छोड देनेकी बात कही जाएगी. इसलिए सब प्रकारसे उसमें भगवानपना रहनेकी योग्यता नहीं है. इसलिए अपानसे प्राणको नियन्त्रणमें रखनेवाली है, तो भी उसमें प्रभु सम्बन्धी दृष्टि करने योग्य नहीं है, ऐसा सूचित किया है. यदि अपानमें भगवद् दृष्टि नहीं की जाती तो होम करनेके विषयमें विरोध होता है, ऐसी शंकाका उत्तर देते हैं कि पञ्चाग्नि विद्या द्वारा जिस शरीरको उत्पन्न किया है, उसका ब्रह्मविद्याके अधिकारमें उपयोग है. यद्यपि युधिष्ठिरके शरीरकी पञ्चाग्नि विद्यासे उत्पन्न करनेवाली स्थिति नहीं है, तो भी भावना द्वारा वैसा शरीर सम्पादन करनेकेलिये पूजामें देवमय शरीर किया जाता है, उसी रीतिसे शरीरको करनेकेलिये होम करनेवाली बात कही गई है. प्रयत्नपूर्वक वायुके साथ प्राणोंको ऊंचा लाकर वहांसे अपान प्राणोंको वापस नीचे ले जाता है ऐसा सिद्ध होता है. उस वायुके साथ प्राणको खींचा जाता है.

वह वायु सांसर्गिक है. वह वायु श्वासके द्वारा अन्दर जाता है तथा बाहर निकलता है. उसके साथ प्राणोंकी एकता नहीं है. यदि प्राणादिकके साथ श्वास आदिकी एकता हो तो श्वासके बाहर निकलनेके साथ ही प्राण भी बाहर निकल जाने चाहिए. वह नहीं निकलता इससे सिद्ध होता है कि प्राण अपान वायुके अधीन है. जिससे युधिष्ठिरने प्राणोंको अपानमें होमा है. अपानकी गति प्रयत्नके अधीन है. मृत्यु अपानको नियमित रखती है. इससे उस अपानका होम मृत्युमें किया है. उसे कहते हैं कि युधिष्ठिरने अपानका होम मृत्युमें किया है. प्राण खेंचनेकेलिये मृत्यु अपानको ऊपरकी ओर उठाता है. अपानका निवास गुदामें है और प्राण हृदयमें रहते हैं. जिससे कितने ही योगी योग द्वारा प्राणको बलवान करके अपान द्वारा प्राणोंको खेंचते हैं तब प्राणोंका बल बढ जानेसे प्राणोंको खेंचते समय अपानके साथ प्राणको ऊंचा चढाते हैं. तब दोनों बलवान हो जानेसे परस्पर खेंचते बहार न निकल जाएं इसलिए दोनोंकी गतिको योगी रोक लेते हैं. इस प्रकार फलकी इच्छावालेको करना पडता है. परन्तु युधिष्ठिरको फलकी इच्छा नहीं है, इसलिए वैसा निरूपण नहीं किया. इसलिए सहज ही आसुरभावमें रहनेवाले अपानमें युधिष्ठिरने प्राणोंका होम कर दिया और अपानको मृत्युमें होम दिया. ऊपर लिखे प्रकारसे मृत्युने अपानको ग्रहण किया. शास्त्रोंमें लिखा है कि अपानमें मृत्युके जानेसे दुर्गति होती है फिर युधिष्ठिरने ऐसा क्यों किया? इस जिज्ञासाका उत्तर देते हैं कि उत्सर्गके साथ अपानका मृत्युमें होम किया, इसलिए अपानके मार्गसे उनकी मृत्यु नहीं हुई. अतः बुरी गति होनेका प्रश्न नहीं. क्योंकि मृत्युको भी वशमें रखनेवाले स्थानमें उसका लय किया. वेदमें कहा है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दोनों भोजनकेलिये परिपक्व किये गये भातके समान हैं और मृत्यु उनका सहायक है, ऐसे ईश्वरको कौन जान सकता है? देह ही भात माना है और मृत्यु घीके समान है, ये दोनों ही भगवानमें विलीन होते हैं, यह सिद्ध हुआ. मृत्युका मिलन भी ब्रह्ममें ही होता है. 'अशनया, मृत्यु ही है' ऐसा वेदमें कहा है. वह सब प्राणीमें है. उसका पोषण करनेवाले प्राण और अपान हैं. वे प्राण आहार देकर उसका पोषण करते हैं और अपान मलको दूर करके पोषण करता है. उस प्राण और अपानका जो देहमें विरोध होता है, वह बादमें पोषण न मिलनेसे देहमें रहता हुआ उसके अधीन हो जाता है, तब वह मृत्यु देहका भक्षण करना प्रारम्भ कर देता है, तब देहको वशमें

रखनेवाले पंचमहाभूत उसका बन्धन करते हैं. जिससे प्राण तथा अपान को अपने नियन्त्रणमें रखनेवाले योगीका देह न तो घटता और न ही नष्ट होता. क्योंकि मृत्यु उस देहका भक्षण नहीं कर सकता. इस प्रकार पंचमहाभूतोंके अधीन मृत्यु भगवानका कार्यरूप है. क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही परिपक्व भातके स्थानीय हैं, ऐसा श्रुतिमें कहा है. मृत्यु घीका स्थानीय है और भगवान् मृत्युके नियामक हैं, अतः पंचभूत उसे वशमें रखनेवाले नहीं हैं. पंचमहाभूतोंमें भूतात्मक अंशको छोडकर, उसमें प्रवेश पाये हुए भगवान् ही पांच रूपोंमें हैं ऐसा निश्चय करके पंच महाभूतरूप भगवानमें मृत्युका होम किया है. इसे 'हि' अव्ययसे सूचित किया है. इस रीतिसे पांचपनेमें भी स्वयंमें भगवानका पांचपना न होनेसे और उसमें भी गरुडजी और काल दोनोंका अतिक्रम होनेसे, स्वयं काल और लक्ष्मी मिलाकर तीन स्वरूप हुए. तब कालरूप गरुडजीको उलांघकर ब्रह्मानन्दरूप पृथ्वीमें गए, इस प्रकार तीनपनेको प्राप्त हुए अथवा कालका उल्लंघन करके प्रकृतिमें गए. उस मृत्युको भक्षण करनेवाले महाभूतरूप भगवानको, जो कि त्रिगुणात्मक रूपवाले हैं, होम दिया. क्योंकि पंचमहाभूत तीन गुणोंके अधीन हैं. उन प्रकृतिके स्वरूपमें तीन गुणसे रहनेवाले भगवानको होमा है. इस प्रकार वह प्रकृति परंपरासे सर्व कार्यरूपवाली हुई है. उस प्रकृतिमें सब कार्यका प्रवाह प्रवेश करता है. इसलिए 'सर्व' शब्दसे जितना कहा है, उसमें एक रूप भगवानको पुरुषरूप आत्मामें होमा है. उस पुरुषको काल आदिके नियामक अक्षरब्रह्ममें होमा है. क्योंकि अक्षरब्रह्म पुरुषका नियामक है. मूलमें 'ब्रह्म' शब्द लिखा है, जिससे वेद, ब्राह्मण अथवा ब्रह्मा आदिका बोध होता है. वैसा बोध न होनेकेलिये मूलमें 'अव्यय' शब्द लिखा है, अथवा अक्षरब्रह्मको भी प्रकृति और पुरुषपना होनेसे नाशकी सम्भावना है. इसलिए नाश रहित भगवानमें अक्षरब्रह्मका लय किया. इस प्रकार एकत्वका आत्मामें(अक्षरब्रह्ममें) लय किया और अक्षरब्रह्मका भी भगवानमें लय कर दिया।।४१-४२।।

इस प्रकार दोनों पक्षोंमें नौ आहुतियां जिसमें हों ऐसे नौ प्रकारके अग्नि भगवान्के मार्गमें है. उनमें क्रमपूर्वक युधिष्ठिरने होम किया है, सब वस्तु भगवानमें अर्पण की है. उनमेंसे मलके अंशका त्याग किया. अब देहको जंगलमें छोडनेकेलिए उनकी बाहरी स्थितिको कहते हैं:

चीरवासा निराहारो बद्धवाङ् मुक्तमूर्द्धजः।

दर्शयन् आत्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत् ।।४३।।
अनवेक्षमाणो निरगाद् अशृण्वन् बधिरो यथा ।
उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः ।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन् आवर्त्तेत यतो गतः।।४४।।

महाराज श्रीयुधिष्ठिरजी घर त्यागकर पधार रहे हैं. फटे पुराने वस्त्र धारण किये हुए, निराहार, चुप-चाप, बिखरे केश, शरीर जडवत्, उन्मत्त और पिशाच जैसी आकृति बने हुए, सब ओरसे हटी हुई दृष्टिवाले, कुछ भी न सुनते हुए बहरेके समान, प्रतिपल ब्रह्मके ध्यानमें लवलीन; युधिष्ठिरजी उस दिशाकी ओर बढते जा रहे हैं जिस उत्तर दिशामें पहलेसे ही महात्मा पधारते रहे हैं और जहां जानेके बाद वे कभी लौटकर नहीं आते।।४३-४४।।

अब जो देह युधिष्ठिरका उत्पन्न होगा, वह भगवान्के पार्षदके समान, भगवानकी सेवाकेलिये ब्रह्ममय अथवा चिन्मय (चेतना मात्र) देह होगा. वह देह पंचाग्निमें ब्रह्मविद्याकेलिये उपयोगी देहके समान होगा. यदि मनुष्य ऐसा करनेमें असमर्थ हो, तो उसका परित्याग करने पर, परित्यागोंका सर्वनाश होगा. मार्गमें पडे रहनेवाले वस्त्रोंको चीरवस्त्र कहा जाता है. ऐसे वस्त्रोंको युधिष्ठिरजी धारण किये हुए हैं. ऐसी स्थितिवाले देहकी भी रक्षा करनी चाहिए, यह बताया है. उन्होंने अपने देहको तीन प्रकारसे दण्ड दिया है. 'आहारको छोड दिया', यह प्राणोंको दण्ड देना हुआ. 'मौन हो गए', यह वाणीको सजा दी. 'बाल बिखेर लिये', यह शरीरको दण्डित किया, अथवा अपना भ्रान्तपना बतानेकेलिये चित्तको दण्ड दिया. दण्ड देनेका यह अभिप्राय है कि जो संसारके बीजरूप प्राणोंका आदर करे तो वे प्राण अपने अंकुर उत्पन्न कर दें, जिससे पुनः संसार हो जाय, यह सूचित किया. संसारके बीजका आश्रय न किये हुए, सब प्रकारके साधन-साध्यसे युक्त देहका त्याग न करने पर, उस देहमें फिरसे वे सब दोष घर कर जाते हैं. इसलिए प्रवाहमेंसे किनारेकी ओर खेंची जाती नौकामेंसे उतरनेके समान देहमेंसे उतरना चाहिए. नौकाके त्यागके समान देहका त्याग करना चाहिए. देह त्यागके प्रकार इस प्रकार है कि अपने शरीरको लोगोंके बीचमें जडकी तरह दिखा रहे हैं, उन्मत्त और पिशाचके समान नजर आते हैं. अन्तःकरणके विवेकसे शून्य जडभरतजीकी तरह जड कहलाते हैं. मदिरामें मस्त हुएके समान विकल इन्द्रियोंवाला उन्मत्त कहलाता है. भूत आदिसे प्रभावित विकल देहवाला पिशाच

माना जाता है. देह इन्द्रियां और अन्तःकरण फिर आक्रमण न कर बैंठे ऐसी युक्ति करनी चाहिए. यदि ऐसा नहीं किया जाता तो देह आदिक बीजके स्वतन्त्र हो जानेसे पुनः संसारके बीजभावको प्राप्त हो जाना पडे. युधिष्ठिरजी न इधर देख रहे हैं न उधर. चित्तको स्वयंमें केन्द्रित कर आत्मलीन हो चुके हैं. यह इन बातोंसे मालूम हो रहा है कि वे कुछ भी न सुननेवाले बहरे मनुष्यके समान दिखाई दे रहे हैं. तात्पर्य यह है कि युधिष्ठिरजीको देह आदिका भय नहीं रहा है. एक जले वस्त्रके बचे रहनेके समान ही हो है. युधिष्ठिरजीका देह भी उस देहके संस्काररूप गुणसे(यन्त्र–चालितसे) वे घरसे निकल गए. शुकदेवजीके समान बाहरकी इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण न करे तो युधिष्ठिरके समान ब्रह्मज्ञानिओंकी भी स्थिति हो जाती है, यह कहा है. युधिष्ठिर घरसे निकलकर कहां गए हैं? इसे कहा जा रहा है. पहले महात्मा पुरूष उत्तर दिशामें गए थे उसी ओर वे गए. इस कारण नहीं कि अन्य दिशाओंमें जाने पर युधिष्ठिरका नाश हो जायेगा, वरन् इसलिए कि उत्तर दिशामें जानेकी परम्परा होनेसे वे वहां जा रहे हैं. युधिष्ठिरके बहुत पहलेसे ही अनेकानेक महात्मा उत्तर दिशामें ही गए हैं, अतः युधिष्ठिर द्वारा उनका अनुकरण किया जाना योग्य है. वे हृदयमें खालीपन लिये हुए नहीं जा रहे अपितु ब्रह्मके ध्यानमें निमग्न हैं. ब्रह्मके प्रकट हो जाने पर ध्यानकी स्थिति नहीं रहती, क्योंकि स्वयंमें ब्रह्म स्फुरित हो जाते हैं. ब्रह्मके प्रकट न होने तक ध्यान करते रहना चाहिए, भावकेलिये ध्यानहीन अवस्था ठीक नहीं है. इसलिए युधिष्ठिर ब्रह्ममें ध्यानस्थ हैं. युधिष्ठिर कहां तक गए होंगे? तो कहते हैं कि जहां जानेके बाद फिर वापस लौटकर कोई भी नहीं आता. वे इतनी दूर तक चले गए कि बर्फीला जल उनके गले तक आ गया।।४३–४४।।

अब युधिष्ठिरके दूसरे भाईयोंका भी जाना बताया जा रहा है:

सर्वे तमनु निर्जग्मुः भ्रातरः कृतनिश्चयाः।
कलिनाऽधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि ।।४५।।
ते साधु कृतसर्वार्था ज्ञात्वात्यन्तिकम् आत्मनः।
मनसा धारयामासुः वैकुण्ठचरणाम्बुजम्।।४६।।

पृथ्वीके ऊपर अधर्मके मित्र कलियुग द्वारा स्पर्श की हुई प्रजाको देखकर, सब भाईयोंने निश्चय कर लिया और युधिष्ठिरजीके पीछे चल दिए।।४५।। सब प्रकारसे जिन्होंने सब पुरुषार्थको कर लिया है, ऐसे वे सब भाई

आत्माके सच्चे स्वरूपको जानकर मनसे वैकुण्ठनाथके चरणकमलोंका ध्यान करने लगे।।४६।।

जिस प्रकार युधिष्ठिरजी निकले हैं, उसी प्रकार सब भाई निकले. उसे कहते हैं, उसमें लोकके संवादवाली और शास्त्रके सम्बन्धवाली संमति कहते हैं कि सब भाईने निश्चय किया. भाईयोंमें जिसे एक करता है, उसे दूसरा भी करता है, ऐसी लौकिक रीति है. अतः जो कुछ करना, निश्चयपूर्वक करना, यह शास्त्रकी रीति है. उसमें, 'जो मुख्य होता है उसे शास्त्रीय रीतिसे करना सम्भव है' इस न्यायसे सब भाईयोंमें शास्त्रकी रीति अनुसार करना सम्भव हो जाय तो सब मुख्य हो जाय. लोकमें युधिष्ठिर मुख्य हैं और दूसरे भाई गौण हैं, वैसे ही वेदमें भी दूसरे भाई गौण हैं. ऐसा होने पर सब भाईने बडे भाई युधिष्ठिरजीके समान क्यों किया? ऐसी शंकाका उत्तर देते हैं कि शास्त्रोंमें वे गौण हैं, ऐसा निश्चय है. तो भी मोटे तोरसे उनका जो निश्चय है, उसे कहते हैं. अधर्मके मित्र कलियुगने सब प्रजाका स्पर्श कर लिया है, यह देखकर सब भाईने जानेका निश्चय किया है. भगवान्के भक्तोंको विषय बाधा नहीं देते, क्योंकि भगवान्के भक्त विषयोंमें आसक्त नहीं होते फिर भी दुःसंगके कारण विषयबाधा उपस्थित कर देते हैं. इस कलियुगमें दुःसंगके दोष लगनेका भय है. अधर्मका मित्र कलियुग पृथ्वीकी प्रजाको प्रभावित कर चुका है, इसे देखकर सभी भाईयोंने वहांसे निकल जानेका निश्चिय कर लिया. यह सब भाईयोंकी वैराग्य अवस्था बताई गई है।।४५।।

अब उस वैराग्यका साधन कहते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिस रीतिसे सम्पन्न होते हैं, उस प्रमाणसे सब भाइयोंने उसे कर लिया है. उन्हें कहा जा रहा है ''ये चारों पुरुषार्थ अपने साधनसे सिद्ध होते हैं. कर्म द्वारा, तप द्वारा, ज्ञान और वैराग्य द्वारा जो सिद्धि प्राप्त होती है उनको मेरा भक्त भक्तियोगसे बिना परिश्रम किये ही प्राप्त कर लेता है'' यह एकादश स्कन्धमें भगवानने उद्धवजीसे कहा है. इस प्रमाणसे प्रभुकी सेवा भी सिद्ध होती है. भगवानकी सेवासे सिद्ध किये हुए पुरुषार्थोंमें विघ्न नहीं आता, अतः इनकी प्राप्ति उत्तमतापूर्वक होती है. इसलिए सब भाईने इन पुरुषार्थोंको सिद्ध कर लिया है अथवा साधुपुरुषोंके संगसे उन्हें सब पुरुषार्थ सिद्ध हो गये हैं. अब संसारमें रहने पर उन्हें असत्संग हो जाय और ऐसा संग साधुपुरुषोंका विरोधी है, इसलिए उन्होंने ऐसे स्थानका त्याग कर दिया है. अथवा भक्ति पांचवां पुरुषार्थ है. युधिष्ठिरजीके भाईयोंने चार

पुरुषार्थोंका तो अनुभव कर लिया है और अब पांचवां पुरुषार्थ भक्तिका अनुभव कर रहे हैं. तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करने पर भक्ति ही अत्यन्त सुखका कारण और सुखरूपा है इस बातका उन्हें अनुभव हो है, अतः सच्चे सुखके कारणरूप श्रीकृष्णके चरणकमल ही हैं, ऐसा जानकर मनसे उन चरणोंको धारण किया है, अन्य किसी भी प्रकारकी वासनाको मनमें नहीं रखा है।।४५-४६।।

इसके बाद क्या हुआ उसे कहते हैं:

तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे।
तस्मिन् नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम् ।।४७।।
अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः।
विधूतकल्मषाः स्थानं विरजेनात्मनैव हि।।४८।।

उन भगवान्के चरणकमलोंके ध्यानसे बढी हुई भक्ति द्वारा जिनकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, ऐसे उन सब भाईयोंने, ब्रह्माण्डरूप नारायणके पदको प्राप्त करते हुए, पुरुषोत्तममें जिनकी एकान्तिक बुद्धि हो गई है, सारे पाप जिनके धुल चुके हैं, विषयमें आत्मावाले पुरुषोंको जो गति कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती, ऐसी उत्तमोत्तम गतिको निर्मल आत्मासे प्राप्त कर लिया।।४७-४८।।

श्रीकृष्णके ध्यानसे भक्ति उछलने लगी है और वह सब अंगमें पूर्ण होती हुई बाहर छलकने लगी है. जिस भक्तिने अन्दर रहनेवाले दोषोंकों बहार निकाल दिया है. अतः बुद्धि शुद्ध हो गई है. जिससे जो ब्रह्माण्डरूप नारायणका पद है, ऐसे प्रसिद्ध पुरुषोत्तममें पाण्डव दृढ मतिवाले हो गए. सांसारिक दोषोंसे ही व्यभिचार (विपरीत) बुद्धि होती है. संसारसे बाहर निकलनेकी सामर्थ्य उनमें उत्पन्न हो गई अथवा वे उस मार्ग पर चल पडे हैं. युधिष्ठिरजीके प्रति पहले शास्त्रोंके साधन कहे गए हैं किन्तु फल नहीं कहे गए. इन भाईयोंकेलिये तो फल भी कहे गए हैं. अथवा युधिष्ठिरकी गति ज्ञानमार्गसे हुई है तथा अन्य भाईयोंकी गति भक्तिमार्गसे हुई है. अथवा, लोकदृष्टिसे उनके तिरोभाव पर्यन्त गमनको असाधारणपनेसे कहकर बादमें सभीका गमन, साधन और फल को साधारणपनेसे बताया है. विषयोंमें फंसे लोगोंको जो गति प्राप्त नहीं होती, शास्त्रीयमार्गसे ही जो गति प्राप्त होती है, ऐसी उस भगवत् प्राप्तिरूप फलवाली गतिको उन भाईयोंने प्राप्त किया. असत् पुरुषोंको वह फल प्राप्त नहीं होता. क्योंकि असत् पुरुषोंमें शुद्ध आचरण नहीं होता. असद् पुरुषोंको ज्ञानकी सिद्धि हो भी जाय तो भी अभिमान रहनेसे

और आचरण हीनतासे उत्पन्न होनेवाले दोष प्राप्त हो जाते हैं. उनमें विषयोंके प्रति इच्छा होनेसे अन्तःकरण सम्बन्धी दोष भी रहता है. इसलिए आचार रहित होनेसे उत्पन्न दोष तथा अन्तःकरण सम्बन्धी दोषोंसे युक्त असत् पुरुषोंको वह गति प्राप्त नहीं होती. ये ही वे दोष हैं, जो व्यक्तिको संसारमेंसे नहीं निकलने देते. ऐसे पाखण्डी विषयोंको दूर करनेकेलिये, उस स्थानसे निकलकर भगवान्के समीपमें जाते-जाते क्रमशः सब तत्त्वके अंशको पाण्डवोंने उलांघ लिया, जिससे उनके सब पाप धुल गए. आत्माके अलावा जो कुछ भी है, वह सब पापरूप है. पाण्डवोंमेंसे वे सारे पाप निकल गए. इसके बाद, जिस परम ध्यानकी उन्हें प्राप्ति हुई है, उससे उनके आत्माकी एकरूपता स्थापित हो गई. कहा जा रहा है कि पाण्डवोंने उस स्थानको निर्मल आत्मा द्वारा प्राप्त किया है. अर्थके औचित्यमें 'हि' अव्ययका प्रयोग किया है. क्योंकि जो अशुद्ध होता है वह शुद्धमें जाने योग्य नहीं होता. जो शुद्ध होता है उसका स्थान अशुद्ध नहीं होता. इसलिए पाण्डव यथायोग्य स्थानको प्राप्त हुए हैं, यह अभिप्राय हुआ।।४७-४८।।

अधिकार पूर्वक रहनेवाले भक्तको भी ''जहां तक उसका अधिकार होता है, उस अधिकारवाले स्थानमें ही उसे रहना चाहिए''. ऐसा व्याससूत्रमें कहा हैं. इस न्यायसे उन अधिकारियोंको भगवानकी प्राप्ति नहीं होती परन्तु अपने स्थानकी ही प्राप्ति हो पाती है. अतएव विदुरजीको अपने स्थानकी प्राप्ति हुई है. उसे कहा जा रहा है:

विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहम् आत्मवान् ।
कृष्णादेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ।।४९।।

विदुरजी भी प्रभासमें देहको छोडकर, इन्द्रियोंके साथ प्रभुकी आज्ञासे उनमें चित्त स्थापित करके, पितृगणके साथ अपने स्थान वैवस्वत (यम) पुरमें गए।।४९।।

विदुरजी यमराजके अवतार थे. उनके अधिकारके स्थानका मार्ग प्रभास है. इसलिए उन्होंने प्रभासमें देह छोडा है. विदुरजी इन्द्रियोंके साथ गए हैं. अथवा, विदुरजीके रहने तक जो देह था उस देहको छोडकर पहले जो धर्मराजके रूपमें थे, उस देहके साथमें गये हैं. भक्त होने पर भी मोक्षका आग्रह न रखनेमें कारण कहते हैं कि विदुरजीको श्रीकृष्णकी आज्ञा थी. जिससे प्रभुमें चित्त रखकर भगवानकी आज्ञासे मेरा अधिकार करता हूं, ऐसा अनुसन्धान रखते हुए विदुरजी गए हैं. उन्हें

सामने लिवानेके लिये पितरोंके समुह आये. उनके साथ वे वैवस्वतपुरीमें गए. यहां मूलमें स्वयंके स्थानको कहनेवाला 'क्षय' शब्द प्रयोगित हुआ है. जिसका अभिप्राय यह है कि जो वैवस्वतपुरमें गये हुए हों, उनके पापादिक कर्मोंका क्षय हो जाता है।।४९।।

द्रोपदीजीकी भिन्न प्रकारकी गति हुई, अब उसे कहते हैं:

द्रौपदी च तदाज्ञाय पतीनाम् अनपेक्षताम् ।
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिरापतत् ।।५०।।

अपनेमें स्वामियोंकी इच्छा न देखकर द्रोपदीने भी वासुदेव भगवानमें एकान्तिक मति करते हुए, उन्हें प्राप्त कर लिया।।५०।।

द्रौपदी तो पहलेसे ही भगवदीय थीं, प्रभुके चरणकमलोंमें प्रवेश करनेको तत्पर ही थी. परन्तु भगवानने उन्हें अपने पतिओंको सोंपा था, अस्तु उनका हित करनेकेलिये रहती थी. उन पतिओंको अब द्रौपदीजीकी इच्छा नहीं थी. इसे जानकर उन्होंने अपने हृदयमें ही प्रकट हुए भगवानमें एकान्तिक गतिको प्राप्त किया. वे इन्द्रियोंके समूहमेंसे निकलकर भगवान्के चरणकमलोंको प्राप्त हुई ।।५०।।

इस प्रकार तीनों (१३, १४, १५) अध्यायोंकी प्रासंगिकता बतानेकेलिए इन सबके चरित्रको सुननेका फल कहा जा रहा है:

यः श्रद्धयैतद्–भगवत्प्रियाणां पाण्डोः सुतानाम् अभिसम्प्रयाणम् ।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं लब्ध्वा हरौ भक्तिम् उपैति सिद्धिम् ।।५१।।

जो पुरुष श्रद्धासे भगवान्के प्रिय पाण्डुराजाके पुत्रोंका अत्यन्त कल्याणरूप और पवित्र प्रयाण पूरी तरहसे सुनता है, वह भगवानमें भक्तिको प्राप्त करता हुआ, सिद्ध हो जाता है।।५१।।

भगवानको सारे अंशो सहित सुननेसे सारा फल मिलता है और अंशको सुननेसे थोडा फल मिलता है. कहीं पर थोडा अंश सुननेसे भी सारा फल मिल जाता है. इस प्रकार थोडा सुननेका फल बतानेमें, दूसरे श्रवणका फल व्यर्थ नहीं जाता. पाण्डव वैष्णव थे, अतः उनमें श्रद्धा रखना चाहिए. वे स्वयंमें भी स्वतन्त्र गुणोंवाले थे, यह बतानेकेलिये पाण्डुका पुत्र कहा है. ऐसे उन पाण्डवोंके चरित्रोंको सुननेमें इच्छित फलोंकी प्रेप्ति होती है और अनिष्टकी निवृत्ति होकर इस लोक सम्बन्धी फल भी मिलता है. यह बतानेकेलिये उनके चरित्रको

अत्यन्त कल्याणरूप और पवित्र कहा है. उसका पारलौकिक फल भक्तिकी प्राप्ति है. भक्ति साधन है और भगवानकी प्राप्ति उसका फल है. यह एक अलभ्य लाभ है इसे बतानेकेलिये ही 'सिद्धिको प्राप्त होता है' ऐसा कहा है।।५१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथमस्कन्धके १५वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण'का नवम् अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

अध्याय १६

महाराजा परीक्षितका दिग्विजय करते समय पृथ्वी और धर्म का संवाद सुनना

मुक्तिर्निरूपिता पूर्वम् अधिकारनिरूपणे ।
पारलौकिकबन्धस्य निवृत्त्यै पितृहेतुतः ।।का.१।।
ऐहिकस्यापि बन्धस्य निवृत्तिर् अधुनोच्यते ।
अधिकारस्य सम्प्राप्त्या लोकतो बन्धसम्भवः ।।का.२।।
कलिदोषाच्च तेनात्र क्रमेणैव निवार्यते ।
प्रथमं षोडशाध्याये स्वाधिकारेण यद् भवेत् ।।का.३।।
भूधर्मरक्षा सर्वाऽपि सामान्येन विशेषतः ।
निरूप्यतेऽन्यथा स्वस्य दोषः स्याद् द्विविधोऽपि हि ।।का.४।।
अतः पुत्रान् समुत्पाद्य धर्मरक्षा निरूप्येत ।
आधिदैविकरक्षार्थं कलिनिग्रह ईर्यते ।।का.५।।
स्वभावतः स्थापितोऽपि मूलदोषाद् न वर्द्धते ।
मूलनिर्हरणं तस्मात् कर्त्तव्यम् इति निश्चयः ।।का.६।।
आधिदैविकरूपाणां साक्षात्कारो यदा न हि ।
भगवच्चरितस्यापि दैविकत्वात् स नैव हि ।।का.७।।
अतोऽधिकारसिद्ध्यर्थं दैविकानां निरूपणम् ।
अनुग्रहो निग्रहश्च वरदानं तथैव च ।।का.८।।

कारिकार्थः श्रीभागवतके श्रोताका निरूपण करनेमें पिता और पितामह आदिके कारण परीक्षितको परलोक सम्बन्धी बन्धन हो, उसकी निवृत्तिकेलिए पहले ही उनकी मुक्तिका वर्णन पहले अध्यायमें कर दिया है।।१।।

अब इस लोककी बन्धनात्मक स्थितिसे छुटकारा पानेका निरूपण करते हैं. राज्यका अधिकार होनेसे परीक्षितको लोक सम्बन्धी बन्धन होनेकी सम्भावना है।।२।।

कलियुगका समय आ जानेसे काल द्वारा उत्पन्न दोषोंसे बन्धन प्राप्त होनेकी सम्भावना है. उन दोनों बन्धनोंकी निवृत्ति दो अध्यायों द्वारा की जा रही है. पहले सोलहवें अध्यायमें अपने राज्यका अधिकार मिलनेसे पृथ्वीकी रक्षा

और धर्मकी रक्षा करने आदिका निरूपण सामान्य रूपसे और अश्वमेध आदिका निरूपण विशेष रूपसे किया जा रहा है. यदि इन तथ्योंको प्रकाशमें न लाया जाय तो परीक्षितको वैदिक और लौकिक दोनों प्रकारके दोष प्राप्त हो जाएं।।३-४।।

इसलिए पुत्रोंको उत्पन्न करके उन्होंने धर्मकी रक्षा की, इसका निरूपण करते हैं. धर्मकी आधिदैविक रक्षा(मूल तत्त्वों व सिद्धान्तोंकी रक्षा)केलिए परीक्षितने कलियुगका निग्रह किया।।५।।

स्वभावसे धर्मकी रक्षा की है तो भी धर्मका मूल तो काल है. कालके दोष होने तक धर्मकी वृद्धि नहीं हो सकती. अतः दोषकी जडको ही जला देना चाहिए, यह निश्चय किया है।।६।।

पृथ्वी, धर्म और काल के आधिदैविक रूपका प्रत्यक्ष ज्ञान जब तक परीक्षितको नहीं हो जाता तब तक भगवान्के आधिदैविक चरित्रका ज्ञान उन्हें कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है।।७।।

अतः आधिदैविक भगवत् चरित्र आंखोंके सामने आ जानेके अधिकारकी सफलताकेलिए परीक्षितको पृथ्वी व धर्म पर अनुग्रह तथा कलियुग पर नियन्त्रणके वरदान देनेका निरूपण किया जा रहा है।।८।।

इस रीतिसे परीक्षितको इस लोकका राज्य करने और परलोककी प्राप्ति होनेमें पाण्डवोंकी ओरसे कोई बाधा नहीं हुई, यह बतानेकेलिए ही पन्द्रहवें अध्यायमें पाण्डवोंकी मुक्ति बताई गई है. गीताजीमें कहा है कि ''इस आत्माको कोई आश्चर्यके समान देखता है, दूसरे आश्चर्यके समान कहते हैं और तीसरे आश्चर्यके समान सुनते हैं; परन्तु सुनने मात्रसे इसे कोई नहीं जान सकता''. अतः परीक्षितको पहले पृथ्वी, धर्म और कलियुग के आधिदैविक रूपका साक्षात्कार हुआ है. परीक्षितके जन्मसमय ही ब्राह्मणोंने उनके गुणोंका बखान कर दिया था; अब उसीका अनुवाद सूतजी इस प्रकार कर रहे हैं:

सूत उवाच

ततः परीक्षिद्-द्विजवर्य-शिक्षया महीं महाभागवतः शशास ह ।
यथा हि सूत्याम् अभिजातकोविदाः समादिशन् विप्रम् अचद्गुणस्तथा ।।१।।

परीक्षितको राज्य देकर युधिष्ठिर चले गए. परीक्षितके जन्म समय ज्योतिषी ब्राह्मणोंने जिन गुणोंका वर्णन किया था, उसीके अनुसार ब्राह्मणोंके महान् गुणोंमें निष्ठा रखनेवाले तथा भगवद्भक्त परीक्षितने पृथ्वीका पालन

किया।।१।।

सप्तम स्कन्धमें कहा है कि ''जो धर्म इच्छा द्वारा किया जाता है वह अधर्मकी शाखारूप आभास धर्म कहलाता है''. राजा परीक्षितने राज्यकी रक्षा भी अपनी इच्छासे नहीं की, यह बतानेकेलिये कहते हैं कि भगवान्के भक्त ब्राह्मण उत्तम कहलाते हैं, ''नारायणमें परायण ब्राह्मण धर्मके उत्तम तत्त्वको जानते हैं''. धर्मके सूक्ष्म तत्त्वको जाननेवाले उत्तम ब्राह्मणोंके आदेशानुसार परीक्षितने राज्यकी रक्षा की. ब्राह्मणोंका उपदेश हृदयमें उतरता चला जाता है, इसीलिए कहा जा रहा है कि परीक्षित महाभागवत थे, वे भगवान्के भक्तोंमें श्रेष्ठ थे. यह बात तीन प्रकारसे सूचित हो रही है. वे सब स्थलमें भगवान्के भजनमें प्रवृत्त हैं, भगवानकी स्त्रीरूप पृथ्वीका कोई दूसरा किसी कारण पालन करनेवाला बन बैठे, तो उसका निराकरण करके वे भगवान्के धर्मकी प्रवृत्तिमें परायण हुए हैं, धर्मके भगवदीय होनेसे परीक्षितने चारों ओरसे उसकी रक्षा की है. आश्चर्यके भावको प्रकट करनेवाला 'ह' अव्यय मूलमें लिखा हुआ है, जिससे भगवान्के भक्तोंको कार्यमें आवेश लाना उचित नहीं है. भागवतका यह वाक्य है कि राजाको पृथ्वीकी रक्षा करनी चाहिए. परीक्षित आदि भक्त तो भगवान्के स्वरूपमें ही आवेशयुक्त रहते हैं, ऐसी स्थितिमें राज्यकार्यमें, आवेशवाले हो जायें तो भगवान्के उत्तम भक्त नहीं कहला सकते. परन्तु परीक्षितमें तो ये दोनों स्थितियां एक साथ हैं. वे राज्यकार्य और भगवद् भक्ति दोनोंमें ही आवेशयुक्त हैं, यही तो आश्चर्य है. उस आश्चर्यको सिद्ध करनेकेलिये कहते हैं कि जन्मके समय ज्योतिषशास्त्रमें निपुण ब्राह्मणोंने जिस रीतिसे कहा था और ब्राह्मणोंमें निष्ठा रखना जिसका महान गुण है, ऐसे ब्रह्मण्य परीक्षितको काल द्वारा किये हुए सारे फलोंकी सिद्धि हो गई।।१।।

अब परीक्षितने पृथ्वीकी रक्षा की है और अपनी परम्पराके व्यवहारको निरन्तर बनाए रखनेकेलिए पुत्रोंको उत्पन्न किया है, इसे कहा जा रहा है:

स उत्तरस्य तनयाम् उपयेम इरावतीम्।
जनमेजयादींश्चतुरः तस्याम् उत्पादयत् सुतान् ।।२।।

उन परीक्षितने राजा उत्तरकी कन्या इरावतीसे विवाह किया. उसमें उन्होंने जनमेजय आदि चार पुत्रोंको उत्पन्न किया।।२।।

लोकमें राजाओंको मामाकी पुत्रीके साथ विवाह कर लेनेकी प्रथा रही

है. पर स्मृतिशास्त्रोंने इसका निषेध किया है. लौकिक धर्ममें इसकी संगति बिठानेकेलिये यह कह दिया कि मामाकी पुत्री तो अपने ही भागकी स्त्री है. वहीं दूसरी ओर स्मृति कहती है कि ''मामाकी पुत्री अथवा माताके गोत्रवाली कन्याको विवाह लिया हो, तो उस स्त्रीका त्याग कर देना चाहिए और विवाह करनेवालेको चान्द्रायण व्रत करना चाहिए'' केवल धर्मकेलिये ही वैसा विवाह किया जाना चाहिए जिससे अपने समान बल सिद्ध हो सके. अतएव परीक्षितने अपने मामाकी कन्या इरावतीसे विवाह किया.

श्रीभागवत् दशम स्कन्धके ३९वें अध्यायमें भगवानने अक्रूरजीको जलमें दर्शन कराये हैं. वहां श्री, पुष्टि, वाणी, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, उर्जा, विद्या, अविद्या, शक्ति और माया यह भगवानकी मुख्य बारह शक्तियां बताई गई है. उसमें इलाको भी शक्ति माना है. संस्कृतमें 'र' और 'ल' इन दोनों अक्षरोंकी समानता मानी गई है, इसलिए 'इरावती' इला शक्तिवाली है, यह कहकर उसकी वैष्णवताको सूचित किया है. पृथ्वीका नाम भी इला है, अतः इरावती पृथ्वी सम्बन्धी सब रसोंसे युक्त है. उसमें उत्पन्न होनेवालेको बलकी प्राप्ति होती है. उसका उपभोग करनेवालेको बल और अलौकिक सुख मिलता है. इस प्रकार इरावतीसे परीक्षितको बल और अलौकिक सुखकी प्राप्ति हुई है. श्रुतिमें भी इरावतीको द्यावा व पृथ्वी रूपा कहा है, जिससे भगवान् द्वारा उसका पालन किया जाना बताया है. इस इरावती रानीमें परीक्षितके चार पुत्र हुए. वे पुत्र किसी अन्य विधिसे उत्पन्न क्षत्रज कहलानेवाले नहीं हुए, प्रत्युत् स्वयं परीक्षितसेही उत्पन्न हुए हैं. मूलमें आये हुए 'सुत' शब्दसे यह प्रमाणित होता है. चारों दिशाओंकी रक्षाका कार्य तथा चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिकेलिये चार पुत्रोंकी ही उत्पत्ति की, अधिककी नहीं।।२।।

ज्योतिषमें कहे हुए कालके गुणसे परीक्षितने आधिदैविक प्रकारसे अश्वमेध यज्ञ किया, उसे कहते हैं:

आजहाराश्वमेधान् त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान्।
शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचराः।।३।।

राजा परीक्षितने कृपाचार्यको गुरु बनाकर गंगामें (गंगाके मध्यमें उभरा हुआ भूमि स्थल अथवा गंगाका किनारा) बहुत दक्षिणावाला अश्वमेध यज्ञ किया, जहां देवता आंखोंके सामने दिखाई दिए।।३।।

तीन प्रकारके यज्ञ करनेसे तीन प्रकारके दोष दूर हुए, इसलिए विशेष (अधिक) यज्ञ नहीं किए. वे यज्ञ गंगाजीकी गर्भ भूमिमें किये हैं. वे यज्ञ बहुत दक्षिणावाले थे. यज्ञकी स्त्रीका नाम दक्षिणा है, ऐसा चतुर्थ स्कन्धमें कहा है. तदनुसार स्त्रीके साथ यज्ञ सम्पन्न किया यह बतानेकेलिये ''दक्षिणावाला यज्ञ किया'' कहा है. धौम्यऋषि केवल पाण्डवोंमें ही निष्ठावाले होनेसे परीक्षितके कुलगुरु कृपाचार्य हैं. इसलिए परीक्षितने कृपाचार्यको गुरुरूपमें माना. इसे बतानेकेलिये कहते हैं कि 'शर' अर्थात् बाणके समूहमेंसे उत्पन्न हुए कृपाचार्यको गुरु बनाया. इस प्रकार बहुत दक्षिणासे ब्राह्मणका धन बढा. राजाका वह यज्ञ आधिदैविक हुआ. कहते हैं कि उस यज्ञमें देवता प्रत्यक्ष हुए. हविष्यका भाग लेनेवाले देवता भगवान्के अंशरूप आधिदैविक हैं और वेद मन्त्रोंमें उन्हींका प्रतिपादन होता है. जैमिनीय सूत्रमें देवताओंको मन्त्रमय लिखा है. इस प्रकार मन्त्रको मुख्य माननेसे उस पक्षके देवता आध्यात्मिक हैं. यदि उस यज्ञको ज्ञान रहित पुरुषसे कराया जावे तो वह कर्मका शेषभूत आधिभौतिक यज्ञ कहा जाता है. वह केवल पंच महाभूतोंको संस्कारित करनेवाला ही यज्ञ है. भगवान् जिस प्रकार प्रत्यक्ष हो जाते हैं वैसे ही भगवान्के अंशभूत उत्तम देवता प्रत्यक्ष हो जाते हैं।।३।।

इस रीतिसे सामान्य और विशेष धर्म कहकर उनका आधिदैविकपना प्रसिद्ध करनेकेलिए धर्मके शत्रुओंका निग्रह किया जाना कहा जा रहा है:

निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित्।
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा ।।४।।

किसी स्थल पर गायके जोडेको पांवसे मारता हुआ, राजाके चिह्नोंको धारण किये हुए शूद्र रूप कलियुगको वीर राजा परीक्षितने दिग्विजयमें उत्साह शक्ति द्वारा पकड लिया।।४।।

यदि परीक्षित धर्मकी रक्षा न करें तो पाण्डवोंकी तरह उन्हें भी निकल जाना पडे. कालके पुत्रसे डरकर, कलियुगका निग्रह करनेकेलिये पौत्रको राज्य सौंपकर पाण्डव निकल गये थे; परन्तु परीक्षितने तो कलियुगका भी निग्रह कर लिया. इससे पाण्डवोंकी तुलनामें परीक्षितको विशेष बताया है. परीक्षितने कुरुक्षेत्रमें कलियुगको वशमें किया है. उस कलियुगकी अवस्थाका रूप कहते हैं कि उसने राजाका रूप कर रखा था. कलियुगके तीन रूप हैं, पाप, शूद्र और पापिओंका प्रतिनिधित्व करनेवाला शूद्र राजा. उसमें पाप और शूद्ररूप में राजा

होनेवाला रूप आधिदैविक है. इसलिए कहा है कि वह कलियुग राजाके चिह्नोंको धारण करनेवाला शूद्र था. स्त्री और पुरुषके साथको जोडा कहते हैं. परन्तु बैल तो मातासे भी गमन करता है वेदमें ऐसा कहा है. जिससे, पशुओंमें पुत्रके साथ गाय हो उसे भी जोडा ही कहा जाता है. इसलिए उनका रूप कलियुगके द्वारा स्पर्श करने योग्य है. कलियुग गाडेमें बैठकर, एक ओर गाय तथा दूसरी ओर बैलको जोतकर, एक पांव लम्बा करके उन्हें मार रहा है, अथवा गायके जोडेको जोतकर वह राजा होनेसे अपने देशमें ले जा रहा था. कलियुग पापका अधिष्ठाता होनेसे धर्म व पृथ्वीके वाक्योंको अनसुनी कर गया. राजा परीक्षितने उनके वाक्योंको सुना तथा उनकी ओर देखा भी. इससे राजामें कलियुगको नियन्त्रणमें लेनेका सामर्थ्य सिद्ध होता है. इस समय हमारे राजाओंको भले ही पशुओंकी भाषाका ज्ञान न हो, तो भी उन्हें देखकर तो उसे नियममें रख सकते हैं. उसी रीतिसे परीक्षित भी कर सके, इतना ही नहीं उन्हें तो वाक्य सुनने व समझनेका ज्ञान भी है।।४।।

सूतजीके वाक्योंमें शौनकजीको सन्देह हुआ है कि कलियुग अलग है, और शूद्र अलग है, अथवा शूद्रमें कलियुगका आवेश है, अथवा अन्याय करनेवालेको मारता है. मूलमें कलियुग तथा शूद्रको भिन्न रूपसे बतानेका कोई भी प्रकार नहीं कहा है. परन्तु निग्रह करनेकी क्रियामें शूद्र और कलियुग दोनोंकी प्रतीति शौनकजीको एक साथ हुई. इसलिए शौनकजी प्रश्न करते हैं:

शौनक उवाच

कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः।
नृदेवचिह्नधृक् शूद्रः कोऽसौ गां यः पदाहनत्।।५।।

राजा परीक्षितने दिग्विजयमें कलियुगका निग्रह किस लिए किया? और पैरसे गायको मारनेवाला तथा राजाका चिह्न धारण करनेवाला शूद्र कौन था?।।५।।

दिग्विजयमें राजाओंको जीतना चाहिए, पर कालका विजय तो नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह अपना आधाररूप है. इसलिए कलियुगका विजय करना निरर्थक है. कलि तो साधारण काल है और इसी रीतिसे कालका निर्णय है. कलियुगकेलिये ही स्वयंको राज्य मिला है. इसलिए कलियुगके निग्रह करनेमें कोई कारण नहीं दिखाई देता. वैसे तो कलिका निग्रह हो नहीं सकता, क्योंकि शरीरका निग्रह करनेसे कालका निग्रह नहीं हो सकता, इसीलिए प्रश्न किया है.

कालमें रहनेवाले मनुष्योंका पालन करनेवाले राजा परीक्षित हैं, तो फिर उन्होंने कालका निग्रह किस लिए किया? यह एक प्रश्न है. वह शूद्र, कलियुग था. उसे न जान सकने पर पूछा है कि राजाके चिह्न धारण किये हुए वह शूद्र कौन था? शूद्रने राजाका वेश किस प्रकार लिया, उसे वह वेश कहांसे प्राप्त हुआ? उस शूद्रने गायको पैरसे क्यों मारा? ये दूसरा प्रश्न हैं।।५।।

इसलिए सन्देह दूर करनेकेलिए, उनका उत्तर दिजिए, ऐसा कहा है:

तत् कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्।
अथवास्य पदाम्भोज–मकरन्दलिहां सताम्।
किमन्यैरसदालापैः आयुषो यदपव्ययः।।६।।
क्षुद्रायुषां नृणाम् अङ्ग मर्त्यानामृतमिच्छताम्।
इहोपहूतो भगवान् मृत्युः शामित्रकर्मणि।।७।।

हे महान् भाग्यशाली पौराणिक सूतजी, जो कृष्णकी कथाका आश्रयवाला हो अथवा इनके चरणकमलके मकरन्दका आस्वाद लेनेवाले सत्पुरुषकी कथाका आश्रय करनेवाला हो, तो उसे कहो. इसके अतिरिक्त अन्य बातोंसे क्या लेना देना, जिससे आयुका एक बहुत बडा भाग व्यर्थ ही चला जाता है।।६।।

हे अंग, थोडी आयुवाले मनुष्य जो इस मरनेवाले शरीरसे अमृतकी इच्छा करनेवाला हैं उसकेलिए इस यज्ञपशुके हिंसारूप कर्ममें भगवान् ऐसे मृत्युको बुला लेता है।।७।।

अन्य कथाओंका निषेध करनेकेलिये महाभाग्यशालीका सम्बोधन दिया है कि भगवानकी कथामें आपको नियुक्त किया है, अतः आप भगवानकी कथाओंको जाननेवाले हो, इसलिए बडे भाग्यशाली हो. अतएव हमारे स्वार्थसे विरोध रखनेवाला चरित्र न हो तो कहिए. शौनकजी इसे कहते हैं कि श्रीकृष्ण भगवानकी कथाका आश्रय, और इसके अन्तर्गत जो भगवानकी कथा आती हो वही कहना चाहिए. यदि भगवानकी कथाका आधार न भी हो तो जो वास्तविक रीतिसे भगवदीय हों, उनसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा ही कहिए. यह बतानेकेलिये कहा है कि भगवानकी कथा न हो तो भगवान्के भक्तकी चरित्रकी कथा कहिए. जिन्हें भक्तिरसका स्वाद आ है, उन्हींकी कथा कहिए, जिसे इसका स्पर्श भी नहीं है, उसे नहीं, यह सूचित किया है. सत्पुरुषोंकी कथा कहो, ऐसा कहनेसे मोह

करनेवाली अन्य कथाओंका निषेध किया है. ''मकरंदका स्वाद लेनेवालेकी कथा कहो''. जिसका अभिप्राय यह है कि जो पुरुषसुख, ब्रह्मसुख और अर्थसुख है उसे मकरंद कहते हैं. वह तो केवल एक भगवान्के चरणकमलोंमें ही रहता है. प्रेमसे भगवानकी सेवा करे, उसमें उसका स्वरूप आविर्भूत होता है. केवल भक्त द्वारा ही वह भोगने योग्य है. किसी विशेष प्रकारसे उसका लक्षण नहीं कहा जा सकता. जिस मकरंदके स्वादकेलिये सारे भक्तिमार्ग तथा शास्त्र हैं, उस प्रकारके स्वादको लेनेवाले भक्तोंकी कथा द्वारा शास्त्रोंके अर्थका ज्ञान होता है, इसलिए प्रमाणकी कथा और प्रमेयकी कथा जो उनके भक्तोंके आश्रयवाली हो तो कहिए, अन्यथा नहीं. क्योंकि सन्देह उत्पन्न करनेवाली कथा व्यर्थकी बातें होती हैं. असद् पुरुषोंकी बातें भगवत्कथाकी विरोधी होती हैं, इसलिए उन कथाओंका क्या प्रयोजन? इच्छित आलाप शरीरकी पुष्टि करता है, उसी आलापसे समय व्यतित हो, यह प्रयोजन है. ऐसा कोई कहे तो उसका उत्तर देते हैं कि असद् वार्तालापसे आयुका अन्यायपूर्वक नाश होता है. सोनेकी करोडों महोरें देने पर भी क्षणमात्रकी आयु नहीं मिलती. इसलिए अन्यायपूर्वक जीवन व्यर्थ चला जाय यह उचित नहीं. भगवत्कथाके अतिरिक्त अन्य लौकिक बातोंमें व्यर्थ समयका नाश, आयुका क्षय करता है. क्योंकि यह यज्ञका प्रारम्भ है, इसलिए आयुकी वृद्धिकेलिये कहा जा रहा है. प्राणी, अल्प आयुवाले होते हैं उनकी मृत्यु अवश्य ही होती है. प्राणिओंका मृत्युरूप क्लेश दूर होवे इसलिए वे अमृतकी इच्छा करते हैं. उनकेलिये मृत्युको यहीं बुला लिया है ऐसा श्लोकके साथ सम्बन्ध है. जिन प्राणिओंकी आयु थोडी है उनका व्यर्थकी बातोंके करनेका क्या लाभ? उसका कोई फल नहीं, ऐसा पहलेके श्लोकके साथ सम्बन्ध है. हजार वर्षके यज्ञमें अमृत प्रकट होता है, ऐसा ''विश्वसृज प्रथमाः'' इस श्रुतिमें हिरण्यमय पक्षीरूप ब्रह्मका प्रादुर्भाव सुना है. इससे निश्चय होता है कि हजार वर्ष तक यज्ञमें रहनेवाले प्राणिओंको जो मृत्यु बाधा देती है, उसका रूप आधिदैविक है. इसलिए यज्ञका भाग भोगनेकेलिये यहीं बुला लिया है. सब हविष्यके देवता अलग-अलग हैं, उसमें यज्ञका भाग कैसे होगा? इस जिज्ञासाका उत्तर देते हैं कि यज्ञमें पशु ले जाया जाता है, उस पशुकी अवस्था मृत्युका भागरूप है. ऐसा ''मृत्युवे वा एष नीयते यत् पशु' (यह ले जाया जानेवाला पशु मृत्युकेलिये है) श्रुतिमें कहा है. इसी प्रकार सब यज्ञमें घी होता है, वह रुद्र कहलाता है, वेदोंमें रुद्र मृत्युरूप कहा है. घृत

गायमें रहनेवाला होनेसे गायके समस्त पदार्थ अर्थात् पंचगव्यका (दूध, दही, घी, मूत्र, गोबर) यज्ञमें उपयोग होता है. इसलिए रुद्ररूप मृत्युकी अवस्थामें भी यज्ञमें उसका भाग आता है. पशुकी हिंसा करनेरूप 'शामित्र कर्म'में देवताओंकी आवश्यक रूपसे अपेक्षा रहती है. वह देवतारूप मृत्यु है, इसलिए अधर्मकी श्रेणीमें नहीं है. इसे बतानेकेलिये मूलमें 'भगवान्' शब्दका विशेषण दिया है।।७।।

यदि ऐसा है भी (जहां तक यहां मृत्यु है, वहां तक कोई नहीं मरेगा) तो क्या हुआ? ऐसा जाननेकी इच्छा होने पर कहते हैं:

न कश्चिद् म्रियते तावद् यावद् आस्त इहान्तकः।
एतदर्थं हि भगवान् आहूतः परमर्षिभिः।
अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः।।८।।

जहां तक यहां मृत्युका निवास है, तब तक कोई न मरे, इसलिए उत्तम कोटिके ऋषियोंने भगवान् रूप मृत्युका आह्वान किया है. जिसे आश्चर्यसे कहा है कि 'अहो' जिसमें हरि भगवानका लीलामृत भरा हुआ है, ऐसे वचन मनुष्यलोकमें पिलाए जाते हैं।।८।।

इसलिए भगवानको बुलाया है कि लोकमें कोई मरे नहीं. हमारे यज्ञसे प्रकट हुए अमृतके पानसे सब अमर हो जावें, बीचमें कोई न मरे. ऐसे विचारसे इस यज्ञमें अमृत प्रकट किया जाता है. ऐसा निश्चय करके किसीका मरण न होने देनेकेलिये भगवानका आह्वान करनेमें समर्थ ऋषिओंने भगवानको बुलाया है. प्रभु अदृश्य होनेसे यहां कथारूपसे पधारे हैं. इसीसे आश्चर्य होता है कि लोकमें हरि भगवान्के लीलारूप अमृतवाले वचनोंका पान कराते हैं. यहां यह अभिप्राय है कि हमने यज्ञका प्रारम्भ किया है उसमें अपने लिये सब देवताओंको बुलानेमें अपकीर्ति होती है अथवा ''सब प्रकारके प्राणसे यज्ञ किया है'' ऐसा श्रुतिमें कहा है, उस प्रमाणसे अपकीर्ति होने पर उसे दूर करना चाहिए. जब यज्ञका प्रारम्भ किया जाने लगा तो वहां सब मरने लगे, यह अपकीर्ति होनेमें कारण बना. ''जिस यज्ञकेलिये देवताओंको बुलाया है, उन्हें यज्ञ करनेवाला कैसे माना? और जो प्रजाके प्राणसे यज्ञ करनेवाले हैं, उन्हें यज्ञ करनेवाला क्यों नहीं माना? ऐसा वेदमें कहा है. जिससे यज्ञ मरनेवालेकी अपकीर्ति होती है, उस दोषकी निवृत्ति करनेकेलिये ऋ षिओंने ऐसा निश्चय किया है कि यहां यज्ञमें ही भगवानका आह्वान किया जाना चाहिए, और भगवानको यज्ञ अर्पण करना चाहिए. अतः

पशुकी हिंसारूप कर्ममें मृत्युको बुलाना अपकीर्ति दूर करनेकेलिये ही है. भगवानने भी उसे सिद्ध किया है. भगवान् स्वयं ही पधारे हैं. आप द्वारा की जानेवाली कथामें कथारूपसे पधारे हैं, यही आश्चर्य है. इसलिए देखते हुए ही प्राणिओंकेलिये अमृत सिद्ध होगा. कारण, यदि अमृत सिद्ध न करना हो तो अवतार आदिके द्वारा किसीको न दिखाई दें, उसी रीतिसे उसे सिद्ध कर दे. परन्तु यहां तो प्रभु प्रत्यक्ष पधारे हैं इसलिए आश्चर्य हुआ है. अतः आप तो भगवानका ही चरित्र कहिए, अन्य किसीका नहीं।।८।।

अब यहां शंका उठती है कि वे प्राणी स्वयं ही अपनी मृत्युका निवारण कर लेंगे. उस कार्यमें तुम्हारे प्रयत्नसे क्या फल होगा? इसका समाधान कहा जा रहे है:

मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै।
निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः।।९।।

मन्द बुद्धिवाले तथा मन्द आयुवाले मन्द पुरुषकी आयु रात्रिमें नींदसे तथा दिनमें व्यर्थ कार्योंसे नष्ट हो जाती है।।९।।

आलस्यके कारण जो कुछ भी कार्य नहीं कर सकते हैं उनकी आयु व्यर्थ चली जाती है. बुद्धि मन्द होनेसे वे ज्ञान रहित हैं. ऐसे पुरुषकी रात्रि सम्बन्धी आयु निद्राके द्वारा हर ली जाती है और दिन सम्बन्धी आयु निरर्थक काम करनेमें नष्ट हो जाती है. इस प्रकार सारी आयुको अन्य स्थानमें लगा देनेसे उनमें मौतको टालनेकी सामर्थ्य नहीं रहती।।९।।

शौनक ऋषिके ऐसा कह चुकनेके ऊपरान्त, परीक्षितने कलियुगका निग्रह किया, यह भगवान्के आश्रयसे सफल हुवा ऐसा मानकर सूतजी उसकी प्रस्तावना करते हैं:

सूत उवाच

यदा परीक्षित् कुरुजाङ्गलेऽवसत् कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते।
निशम्य वार्त्ताम् अनतिप्रियां ततः शरासनं संयुगशौण्डिराददे।।१०।।
स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं रथं मृगेन्द्रध्वजम् आस्थितः पुमान्।
वृतो रथाश्वद्विपपत्तियुक्तया स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः।।११।।
भद्राश्वं केतुमालं च भारतं चोत्तरान् कुरून्।
किम्पुरुषादीनि सर्वाणि विजित्य जगृहे बलिम्।।१२।।

जिस कुरु जांगल देशमें राजा परीक्षित निवास करते थे, और जहां उनका आदेश चलता था वहां भी कलियुग प्रवृत्त हो गया. इस अप्रिय बातको सुनकर युद्धमें शूरवीर परीक्षितने धनुष उठा लिया।।१०।।

जिस रथमें काले घोडे जोते गए हैं, ऊपर सिंह अंकित ध्वजा फहरा रही है; ऐसे उस सजे हुए रथमें परीक्षित विराजे. वे शूरवीर थे, अतः उन्हें किसीके सहयोगकी अपेक्षा नहीं थी; फिर भी रथ, घोडे, हाथी तथा पैदल सेनासे घिरे हुए परीक्षित दिग्विजय करनेकेलिए बाहर निकल पडे।।११।।

उन्होंने भद्राश्व, केतुमाल, भारत और कुरुदेश के उत्तरी भाग तथा किम्पुरुषादिक खण्डको जीतकर कर ग्रहण किया।।१२।।

हस्तिनापुर, कुरुजांगल देशके अन्तर्गत आता है, जिसमें राजा परीक्षित निवास करते थे. उनसे शासित देशमें कलियुगने प्रवेश किया, यह सुनते ही राजाने धनुष-बाण पकड लिये. यह श्लोकसे अर्थगत सम्बन्ध हुआ. पाण्डवोंसे सिद्ध शत्रु रहित राज्यमें परीक्षित सिंहासन पर बैठे थे. अभी वे नाम मात्रके राजा थे. उनका पराक्रम अभी प्रकट नहीं हुआ था. इसी बातको लेकर परीक्षित दुःखी थे. पर ज्यों ही कलियुगका प्रवेश हुआ और राजाने इसे सुना तो उन्हें युद्धका शिक्षण प्राप्त हुआ होनेसे उत्साहसे भर उठे. उन्हें यह बात बहुत ही बुरी खली कि राज्यमें अधर्म पसर रहा है. यद्यपि ऐसी कोई स्थिति नहीं थी कि राजाकी आज्ञाके अनुसार प्रजा कोई कार्य करे और कलियुग उसमें रोडा अटका सके, परन्तु कलियुग राजाकी आज्ञा प्रमाण न चले तो उसे मारना ही चाहिए. प्रजाको दैत्यका पक्षपात न हो तो अन्तःकरणपूर्वक राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करनेका सामर्थ्य उन्हें नहीं हो सकता, इसलिए जिस दैत्यके पक्षपातसे प्रजामें वैसा सामर्थ्य होनेकी सम्भावना हो, उसे मार देनेमें दोष नहीं, यह विचार कर युद्धमें शूरवीर परीक्षितने धनुष ग्रहण किया. राजा परीक्षितने यह निर्धारित कर लिया कि 'धनुषमें बाण रखकर दूरसे ही उसे मार दूंगा'. श्वेत रंग सात्त्विकताका प्रतीक है तथा देवताओंसे सम्बन्धित है. देवताओंके घोडे दैत्योंके सामने टिके रहे, यह सम्भव नहीं है. इसलिए परीक्षितने रथमें काले घोडे जोते हैं, और इस प्रकार वे उस रथमें बैठे हैं. उनके राजापनेको प्रदर्शित करनेकेलिये रथमें रत्न जडे हुए हैं. रथके ऊपरवाली ध्वजामें सिंहका चित्र बना हुआ है, जो उनके असाधारण वीरत्वका चिन्ह है. कलियुग हाथीका अथवा गधेका रूप है, इसलिए ध्वजामें शेरका निशान अंकित

किया. अथवा जिस प्रकार नृसिंहरूपसे भगवानने हिरण्यकशिपुको मारा था उसी प्रकार कलियुग रूप दैत्यको मारनेकेलिये ध्वजामें सिंहका चित्र रखा है. परीक्षित पुरुष हैं, अतः किसीकी सहायता न चाहनेवाला शूर-वीरत्व उनमें स्वतःसिद्ध है. यदि मूलमें 'पुमान्'के स्थान पर 'पुरात्' पाठ हो तो 'राजा पुरसे बाहर निकले' ऐसा अर्थ करना चाहिए. वे केवल युद्धके लक्ष्यसे निकले हैं, इसके अतिरिक्त उनका और कोई दूसरा विचार नहीं है. ''मैं दिग्विजय करूंगा अतः कलियुगको जीतने आदिका कार्य तो स्वतः सिद्ध हो जायेगा'' ऐसा निश्चय करके महाराज परीक्षित दिग्विजय करनेकेलिये प्रस्थान कर गए. परीक्षित ही जम्बू द्वीपके स्वामी है. उस जम्बू द्वीपके नौ खण्ड हैं. सबसे पहले वे सब ओर घूमे. जम्बू द्वीपके पश्चिमी भागमें भद्राश्व नामका खण्ड है, पुर्वी भागमें केतुमाल, दक्षिण भागमें भारत और उत्तर भागमें उत्तर कुरु नामका खण्ड है, इस प्रकार चारों ओर परिभ्रमण करके उन्होंने इन सब खण्डोंको जीत लिया. तत् पश्चात् मध्य भागमें किंपुरुष आदि खण्ड हैं, वे भी जीत लिये. इस प्रकार इन समस्त नौ खण्डोंको अधीनस्थ करके परीक्षितने अपनी आज्ञा प्रतिष्ठापित कर दी. इसका प्रमाण यह है कि इन सभी जीते गये देशोंसे उन्होंने कर ग्रहण किया ।।१०-१२।।

कलिकाल तो बादमें आया है, इससे पूर्व तो वहां भगवानकी भक्ति ही स्थित थी, यह बतानेकेलिए अब इस प्रकार निरूपण किया जा रहा:

तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम् ।
प्रगीयमानञ्च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम् ।।१३।।
आत्मानञ्च परित्रातम् अश्वत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः ।
स्नेहञ्च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिञ्च केशवे ।।१४।।
तेभ्यः परमसन्तुष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः ।
महाधनानि वासांसि ददौ हारान् महामनाः ।।१५।।

महाराज परीक्षित जहां-जहां पधार रहे हैं, वहां-वहां श्रीकृष्णके माहात्म्यको सूचित करनेवाला, महात्माओं तथा अपने पूर्वजोंका गाया जाता यश, अश्वत्थामाके अस्त्रसे स्वयंकी रक्षा, यादवों तथा पाण्डवोंकी श्रीकृष्णमें भक्ति सुन रहे हैं. प्रीतिसे प्रफुल्लित नेत्रोंवाले, बडे मनवाले राजा परीक्षितने अत्यधिक सन्तोषको प्राप्त करके, उन यश गान करनेवालोंको महान् धन, उत्तम वस्त्र तथा हार प्रदान किये।।१३-१५।।

महाराज परीक्षित जहां-जहां जाते हैं, वहां-वहां ही उन्हें अर्जुनके रथकी गति सुनाई देती थी. उन-उन स्थानोंके लोगोंने कृष्णके दर्शन किये थे इसलिए वे उनके माहात्म्यका गान करते थे. वे लोग पाण्डवोंके साथ श्रीकृष्णका सम्बन्ध जानते थे, वे ये भी जानते थे कि भगवानने ब्रह्मास्त्रके तेजसे परीक्षितकी रक्षा की थी, पाण्डवोंके साथ श्रीकृष्णका स्नेह और श्रीकृष्णमें पाण्डवोंकी भक्ति उन्हें ज्ञात थी, अतः उन सभी सम्बन्धों व प्रसंगोंका यशोगान समस्त लोग करने लगे. इसे सुनकर परीक्षित बहुत ही हर्षित हुए और यशोगान करनेवालोंको वस्त्रादिक देने लगे, यह अर्थगत सम्बन्ध हुआ. दिग्विजयके प्रसंगमें मिले हुए धनका उपयोग उन सभी स्थानोंके लोगोंमें कर दिया. उनमें मात्सर्य(ईर्ष्या)की भावना नहीं थी (इसलिए जहां धन जीता उन्हींके बीचमें लुटा दिया). (पृथ्वी पर) जैसा धर्म पहलेसे चला आ रहा था, उसी सनातन धर्मकी स्थापना फिरसे कर दी. (हृदयमें उत्पन्न) प्रेमसे परीक्षितके नेत्र बहुत ही खिले हुए थे, इस कथनसे लोगोंके अपराधीको सहन करनेकी सूचना भी दी गई है. राजा उदार मनके हैं, यह कहकर उनकी कृतार्थताको समझाया. इस प्रमाणसे सम्राट परीक्षित लोकमें व्यवहार करते थे।।१३-१५।।

सारथ्य-पारषदसेवन-सख्य-दौत्य-वीरासनानुगमनस्तवन-प्रणामम् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च विष्णोः भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे।।१६।।

भगवान् द्वारा पाण्डवोंका सारथीपना, पार्षदपना (सभासद्), सेवकपना, मित्रता, दूतपना आदि कार्य तथा वीरासनसे बैठना, पीछे चलना, प्रशंसा करना, प्रणाम करने आदिको सुनकर एवं उसी प्रकार स्नेहयुक्त होकर पाण्डवोंके प्रति जगत् द्वारा किये जाते नमस्कारोंको सुनकर राजा परीक्षित भगवान् विष्णुके चरणकमलोंमें भक्ति युक्त हो गए।।१६।।

परीक्षितके इस प्रकार व्यवहार करते हुए समीपमें जिस परिस्थितिका उदय हुआ उसे कहा जायेगा. परन्तु बीचमें ही 'सारथ्य' यह श्लोक क्षेपकरूपमें आ है (बादमें किसीने बनाकर मिला दिया है). उन्हें उस प्रकारका सुनकर परीक्षितने भगवानकी भक्ति की, इस प्रकार 'करोति'के स्थान पर 'कृतवान्' मानकर कितने ही इस श्लोककी व्याख्या करते हैं. उन भगवानमें जगत् द्वारा किये गये प्रणामोंको सुनकर अथवा जगत् जिनके सामने झुकता है, ऐसे भगवान्के चरणकमलोंमें भक्ति करते हैं. इसी अर्थको देता हुआ 'जगत् प्रणतस्य' पाठ भी है।।१६।।

इस प्रकार कलियुगके कर्मको दूर करके, जगतमें धर्म तथा प्रभु भक्तिकी स्थापना करके कलियुगका बन्धन करनेकेलिए आधिदैविक धर्मके अन्तर्गत राजाने जो उपकार किया, उसे कहा जा रहा है:

तस्यैवं वर्त्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तम् अन्वहम् ।
नातिदूरे किलाश्चर्यं यदासीत् तन्निबोध मे ।।१७।।

जो परीक्षित सदैव अपने पूर्वजोंके आचरणोंका सेवन करते थे, उनके समीप ही जो आश्चर्य घटित हुआ, उसे आप मुझसे सुनिए।।१७।।

इस प्रकार परीक्षितके कार्य करते हुए समीपमें जो कुछ हुआ उसे आप सुनिए. इस प्रकार सूतजी शौनकादिक ऋषिओंसे कहते हैं, यह सम्बन्ध हुआ. जहां राजा स्वयं कार्यस्थ है, उनसे बताई जानेवाली घटना दूर नहीं है. क्रियाकी अपेक्षा उन स्थानकी निकटताको बताया है, कलिकालकी समीपताको तो पहले ही बता दिया है।।१७।।

धर्म तथा पृथ्वी राजाको बोध करानेकेलिए ही उन रूपोंसे वहां आए हैं. वे एक दूसरेके सुखसे अपनी-अपनी व्यवस्थाका निरूपण करते हैं. परीक्षितने स्वतन्त्र धर्म और भक्तिकी स्थापना की है, इसलिए कलियुगमें आध्यात्मिक रूपका निराकरण हुआ. उनसे स्थानकी प्रार्थना करनेकेलिए वे उस रूपसे प्रकट हुए हैं. राजा पृथ्वीको तथा धर्म परीक्षितको शोधनेकेलिए प्रवृत्त हुए हैं. वे परस्पर मार्गमें मिले हैं, उसे कहते हैं:

धर्मः पदैकेन चरन् विच्छायाम् उपलभ्य गाम् ।
पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम् ।।१८।।

छायारहित, एक पैरसे चलता हुआ धर्म, जिसके नेत्रोंसे आंसुओंकी धाराएं मुख तक बह चली है, तथा उसी स्थितिको प्राप्त बछडेसे रहित रोती हुई माताके समान गायसे वह पूछने लगा।।१८।।

धर्म सत्यरूपी एक पैरसे ही चलता है. एक अंश(भाग)से ही चलता है, ऐसी व्याख्या करना वैदिक नहीं है. अर्थात् वेदमें कहा है कि लोकमें बछडा एक पैरसे नहीं चल सकता, परन्तु धर्म तो देवतारूप होनेसे एक पैरसे गतिशील हो सकता है, उसमें कुछ अनुचित नहीं कहा गया. युग और कल्प के भेदसे धर्मके चरण भिन्न-भिन्न हैं और उनके स्वरूप भी पृथक्-पृथक् हैं यह व्यवस्था करनी चाहिए. किसी कालमें तप, शौच, दया और सत्य ये धर्मके चार पैर थे. इस प्रकार

कल्पके भेदसे नाम और स्वरूपका भेद है. गाय वर्ण रहित हो गई है (उदासी छाई हुई है). ऐसी गायसे धर्म पूछने लगा. मूलमें 'छाया रहित गाय' लिखा हुआ है अर्थात् जहां ताप न हो उसे छाया कहते हैं. इस अभिप्रायसे यहां यह अर्थ हुआ कि जैसे पुरुषके नीचे पैर रहता है वह छायाके साथ रहता है, यदि ऐसा न हो तो वह छाया रहित कहा जाता है. इस रीतिसे गाय छाया रहित थी. उस गायका रूप धारण करनेवाली पृथ्वी थी. 'खेती आदिका अभाव होनेसे छाया नहीं थी' ऐसा अर्थ कई विद्वान करते हैं, अथवा कालके कारण वह म्लान(उदास) हो गई थी, ऐसा भी कहते हैं. उस गायके मुंह पर आंसू आ रहे थे अर्थात् उसके अन्दरका ताप ही अश्रु जलके रूपमें पृथ्वी पर था, वर्षा न होनेसे कहीं पर भी जल नहीं था. गायका हविष (पंचगव्य) ही देवताओंके उपयोगमें आता है, जिससे वत्स रहित वह गाय केवल पितरोंकेलिये ही उपयोगमें आनेवाली थी अर्थात् मृत्युके ही उपयोगकी रह गई थी, अब उससे जीवन धारण नहीं किया जा सकता था, यह सूचित करनेकेलिये मूलमें 'माता' शब्दका प्रयोग किया है।।१८।।

धर्म पृथ्वीकी रोगात्मक पीडा जान है तदपि व्यवहार दृष्टिसे पूछ रहा है:

कच्चिद् भद्रेऽनामयम् आत्मनस्ते विच्छायासि म्लायतेषन्मुखेन ।
आलक्षये भवतीम् अन्तराधिं दूरे बन्धुं शोचसि कञ्चनाम्ब ।।१९।।
पादैर्न्यूनं शोचसि मैकपादम् उतात्मानं वृषलैर्भोक्ष्यमाणम् ।
अहो सुरादीन् हृतयज्ञभागान् प्रजा उतस्विन् मघवत्यवर्षति ।।२०।।
अरक्ष्यमाणाः स्त्रिय उर्वि बालान् शोचस्यथो पुरुषादैरिवार्त्तान् ।
वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्मण्यब्रह्मण्ये राजकुले कुलाग्रयान् ।।२१।।
किं क्षत्रबन्धून् कलिनोपसृष्टान् राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि ।
इतस्ततो वाशनपानवास–स्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम्।।२२।।

हे भद्रे, तुम्हारा आत्मा रोग रहित तो है न? कुम्हलाए हुए मुखसे तुम छाया रहित दिखाई देती हो, जिससे मुझे यह अनुमान होता है कि तुम्हारे अन्दर कोई गहरी मानसिक पीडा है अथवा कोई बन्धु दूर चला है, जिसका तुम्हें शोक हो रहा है या फिर तुम्हें शूद्र राजा भोग रहे हैं, जिसकी तुम्हें वेदना हो रही है, या जिन देवताओंका यज्ञभाग हर लिया है, उसका तुम्हें शोक हो रहा हो? अथवा वर्षा न बरसनेके कारण प्रजाके विषयमें चिन्तित हो? हे पृथ्वी, कहीं तुम राक्षसोंसे पीडित रक्षा रहित बालकों और स्त्रीयोंका तो शोक नहीं कर रही हो?

अथवा दुष्ट कर्म करनेवाले ब्राह्मणके कुलमें वेदवाणीके निवासको देखकर तुम खिन्न हो गई हो? किंवा ब्राह्मणोंको अहित करनेवाले राजाके कुलमें ब्राह्मणोंकी दयनीय स्थिति देखकर उदास हो गई हो? या फिर कलिकालके व्याप्त होनेसे क्षत्रियोंमें अकर्मण्यताकी स्थितिसे पीली पड गई हो? या ऐसे हीन क्षत्रियोंसे निर्मित देशोंका कष्ट मना रही हो? अथवा ऐसे जीव लोक पर आंसू बहा रही हो जहां केवल खाना-पीना-रहना-स्नान करना-स्त्रीका संग आदि करना ही जीवनकी परिभाषा बन गई है?।।१९-२२।।

यहां पर 'हे भद्रे' सम्बोधन दिया है, जिसका यह तात्पर्य है कि राजा परीक्षित तुम्हारा पालन करनेवाले हैं, इसलिए तुम कल्याणरूपिणी हो. वैसे तो तुम वैकुण्ठमें भगवानकी स्त्रीके समान सुखसे रहती हो, फिर भी पृथ्वीरूपा होनेसे तुम्हारी आत्माको कोई रोग तो नहीं लग है? तुममें रोग तो नहीं दिखाई दे रहा, पर अन्दर पीडा होनेकी सम्भावना लगती है. कुछ कुम्हलाए हुए मुखके कारण तुम छाया रहित दिखाई देती हो, इसीसे अनुमान होता है कि तुम अन्दर ही अन्दर किसी चिन्तामें घुली जा रही हो. दश इन्द्रियां और चार अन्तःकरण मिलाकर चौदह होते हैं. ये चौदह शोकके कारणरूप होते हैं. इन सब शोकोंकी उपेक्षा की जा रही है. हे भूमि, क्या इसलिए शोक कर रही हो कि तुम्हारे स्वामी वराह दूर पधार गए हैं? अथवा मूलमें 'अम्ब' सम्बोधन दिया है, जो माताका अर्थ देनेवाला होनेसे धर्मके पुत्रत्वको सूचित करता है. अर्थात् मैं जो तुम्हारा पुत्ररूप हूं, क्या तुम मेरा शोक कर रही हो? क्योंकि मेरे तीन पैर नष्ट हो गये हैं. किंवा तुम्हारे पृथ्वीरूप हुए शरीरको शूद्र भोग रहे हैं, इसलिए तुम अपनी आत्माका शोक मना रही हो? तुम्हें इसलिए भी कष्ट हो सकता है कि तुम्हारे बाहुरूप हुए देवताओंका यज्ञभाग हरण कर लिया हो? यों भी हो सकता है कि वर्षा न होनेके कारण तुम्हारी चरणरूपा प्रजा अन्न रहित हो गई और इस कारण तुम पीडासे म्लान हो गई हो? अथवा हे पृथ्वी, बालकों और स्त्रियोंकी रक्षा न होनेसे तुम्हारा मन अवसादसे भर उठा हो? क्योंकि सन्तोषके अभावमें हृदय व्याकुल हो ही जाता है. अथवा मल छोडनेका स्वरूप बताया है. हे पृथ्वी, कहीं ऐसा तो नहीं कि राक्षस लोग बालकोंको पीडा पहुंचाते हों और तुम खिन्न हो उठी हो? तुम्हारी वेदनाका कारण यह भी हो सकता है कि वेद नेत्ररूप हैं और वह वेदवाणी कुकर्म करनेवाले ब्राह्मणोंमें रहने लगी है. ब्राह्मण कर्ण इन्द्रियरूप हैं और वे ब्राह्मणोंका

बुरा चाहनेवाले राजकुलोंके अधीनस्थ हो गए हैं, हो न हो तुम्हारी मनः स्थिति इसलिए अशान्त हो गई है. अथवा चारों ओर कलियुगका बोलबाला हो जानेसे क्षत्रियगण अनेक प्रकारके दोषोंसे भरे हुए अधम स्थितिको प्राप्त हो गए हैं, जो कि नासिका इन्द्रीरूप हैं, क्या तुम उनका कष्ट मना रही हो? या फिर उस प्रकारके अधम क्षत्रियोंसे बसाये गये देशोंका तुम्हें क्लेश हो रहा है, जो कि वाणीरूप हैं. तुम्हारी आधि का सम्भवतः यही कारण हो कि यह जीवलोक जो बुद्धिरूपवाला है, वह बहिर्मुख बना हुआ केवल खाने, पीने, रहने, स्नान करने और स्त्रीसुख भोगनेमें ही जीवनका महापुरुषार्थ मान बैठा हो?।।१९-२२।।

ऊपर बताए गए सभी कारण वस्तुस्थितिके पूर्वपक्षके रूपमें भी आ सकते हैं. ऐसी सम्भावनाके अभिप्रायसे कहा जा रहा है:

यद्वाम्ब! ते भूरिभरावतार-कृतावतारस्य हरेर्धरित्रि।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि।।२३।।
इदं ममाचक्ष्व तवाधिमूलं वसुन्धरे येन विकर्षितासि।
कालेन वा ते बलिनां बलीयसा सुरार्चितं किं हृतम् अद्य सौभगम्।।२४।।

अथवा हे मातारूप पृथ्वी, तुम पर बहुत अधिक बढे हुए भारको उतारनेकेलिए जिन हरि भगवानने अवतार धारण किया था उनके पधार जानेसे उनके चरित्र भी मोक्ष प्रदान करनेमें विलम्ब करनेवाले हो गए, उन प्रभुका स्मरण करती हो अथवा हरि भगवान् द्वारा छोड दिए जाने पर शोक कर रही हो? तुम्हारी इस चिन्ताका कारण कहो. हे वसुन्धरे दुर्बल हो गई हो, अथवा बलवानोंमें बलवान् काल द्वारा देवता भी जिनका पूजन करते हैं, ऐसा तुम्हारा सौभाग्य क्या आज हरण कर लिया है?।।२३-२४।।

तुम्हारा अतिशय भार उतारनेकेलिये सबके दुःखका हरण करनेवाले भगवानने वासुदेव रूपसे अवतार लिया है, हे पृथ्वी, वे प्रभु इस समय अन्तर्हित हो गये हैं, उन्होंने अभी ही तुम्हारा त्याग किया है. उन प्रभुके चरित्र उदार हैं. परन्तु योग्यता रहित मनुष्योंमें रहनेके कारण वे चरित्र मोक्ष प्रदान करनेमें देर लगाते हैं. अतः मोक्षके विषयमें वे चुप्पी साध लेते हैं. वे चरित्र चित्ररूप हैं, इसलिए क्या उनका स्मरण करके शोक कर रही हो? समस्त रत्नोंका श्रृंगार तुम्हें प्रिय है, इसलिए उन भगवान्से रहित होकर तुम दुबली हो गई हो. धर्म स्वयं ही इस बातको कह रहा है कि जिस बलवान कलियुगने तुम्हारा सौभाग्य हरण कर लिया

है, ऐसा भगवानका तुम पर विराजना रूप सौभाग्य, जिसका देवतागण पूजन करते थे, उन्हींका तुम विरहशोक कर रही हो क्या? कालके द्वारा प्रभुके चरणचिन्होंको भी मिटा दिया है।।२३-२४।।

उस प्रसंगमें धर्मके द्वारा कहे हुए सब हेतुको धरणीने स्वीकार किया और सभी कारणोंका मूल कारण भगवानका स्वधाममें पधार जाना ही है, इसलिए जो भगवान्‌से रहित हैं उन सबका मैं शोक करती हूं, इस प्रकार धरणी कह रही है:

धरण्युवाच

भवान् हि वेद तत् सर्वं यन् मां धर्माऽनुपृच्छसि।
चतुर्भिर्वर्त्तसे येन पादैर्लोकसुखावहैः ।।२५।।

हे धर्म, जो आप मुझसे पूछ रहे हैं, उसे आप पूरी तरहसे जानते हैं, क्योंकि भगवान् द्वारा सब लोकको सुख देनेकेलिए आप चार पैरोंसे रहते हो ।।२५।।

युक्ति तो कहनी ही है, धर्मका ज्ञान भी प्रमाण रूपसे है. वह स्वयं आत्मामें प्रमाणरूप होनेसे उत्प्रेक्षा (एक ही वस्तुमें विभिन्न सम्भावनाएं) करने पर प्रमाणरूप हो जाता है. भगवानकी विद्यमानतामें आप भी तो चार पैरोंसे चलते थे. वे चारों पैर सब लोकको सुख देनेमें कारणरूप हैं. उन पैरोंके न होने पर जैसे आप भी शोक करने योग्य हो उसी प्रकार सब शोक करने योग्य हैं ।।२५।।

भगवानमें रहनेवाले गुण ही शोक और हर्ष करनेमें कारणरूप हैं. अतः पहले जब मुझमें गुण थे तब मुझे हर्ष था, जब गुण जाते रहे तो शोक हो गया. वे गुण सदैव भगवानमें ही रहते हैं और उनके सम्बन्धसे ही अन्य स्थलोंमें रहते हैं. उन गुणोंके पात्ररूप भगवानका वियोग होनेसे मुझे ये सब शोक हुए हैं. इसे स्पष्ट करनेकेलिए पृथ्वी भगवानमें स्थित गुणोंकी गणना करती है:

सत्यं शौचं दया क्षान्तिः त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ।।२६।।
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्य्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिः धैर्यं मार्दवमेव च ।।२७।।
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यम् आस्तिक्यं कीर्त्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः ।।२८।।

इमे चान्ये च भगवन् नित्या यत्र महागुणाः ।
प्रार्थ्या महत्त्वम् इच्छद्भिः न वियन्ति स्म कर्हिचित् ।।२९।।

सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, दान, सन्तोष, सरलता, शांति, इन्द्रियोंका निग्रह, तप, समता, सहनशक्ति, उपरति(विराम), शास्त्रोंका अभ्यास, ज्ञान, वैराग्य, ईश्वरपना, शूरवीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कुशलता, कान्ति, धैर्य, मृदुता, चतुराई, विनय, सुस्वभाव, मनकी शक्ति, इन्द्रियोंकी शक्ति, शरीरकी शक्ति, भोगनेकी योग्यता, गंभीरपना, स्थिरता, आस्तिकपना किर्ति, मान और अहंकार रहित होना आदि अन्य गुण जो महान् बननेकी इच्छावाले पुरुषों द्वारा प्रार्थना करने योग्य हैं, वे भगवानमें सदैव विद्यमान रहते हैं उनसे कभी भी भिन्न नहीं होते।।२६-२९।।

यथार्थ भाषणको सत्य कहते हैं. शुद्धतामें रहना शौच कहलाता है. दूसरेका दुःख सहन न होना ही दया है. क्रोध आने पर मनको वशमें रखना ही शान्ति कहलाती है. मांगनेवालोंको खुले हाथ देना त्याग कहलाता है. जो वस्तु मिल जाय उसमें पूर्णपनेकी बुद्धिको ही सन्तोष कहा जाता है. वक्रता (टेढापन-कुटिलता) न रखनेको आर्जव कहते हैं. मनको चलायमान न करना शम कहा जाता है. बहारकी इन्द्रियोंको चंचल न होने देना दम कहलाता है. अपने धर्मका अनुसार चलना ही तप है. शत्रु और मित्र में समान दृष्टि ही साम्य है. किसीके द्वारा अपने प्रति किये गए अपराधको सहन करना तितिक्षा कही जाती है. किसी भी प्रकारके लाभमें उदासीनता रखना उपरती कहलाती है. शास्त्रके विचार करनेको श्रुत कहते हैं. आत्माके स्वरूपको जानना ज्ञान कहलाता है. तृष्णा न रखनेको ही विरक्ति कहते हैं. दूसरोंको अपनी आज्ञाके अन्तर्गत रखना ऐश्वर्य कहा जाता है. संग्राम करनेका उत्साह ही शौर्य है. प्रभावको तेज कहते हैं. चतुराईको बल कहते हैं. जो कार्य करना है उसके अनुसंधानको स्मृतिके नामसे पुकारा जाता है. किसीके अधीन न होना ही स्वातन्त्र्य है. क्रियामें निपुणताको कौशल कहते हैं. सुन्दरता ही कान्ति है. व्याकुलपना न रहनेको धैर्य कहा जाता है. चित्तमें कठोरता न रहनेको मार्दव कहते हैं. अतिशय प्रतिभाका ही दूसरा नाम प्रागल्भ्य है. विनय रखना प्रश्रय कहा जाता है. अच्छे स्वभावको शील, मनकी शक्ति रहनेको सह, इन्द्रियोंमें शक्ति रहनेको ओजस और शरीरकी शक्तिको बलके नामसे कहा जाता है. भोगका स्थान ही भग कहलाता है. किसीसे भी

क्षोभको प्राप्त न हुआ जाय इसे ही गाम्भीर्य कहते हैं. चंचलता न होनेको स्थैर्य कहते हैं. श्रद्धा रहनेकी स्थितिको आस्तिक्य कहते हैं. यशको ही कीर्ति, पूज्य भावको मान तथा गर्व न होनेको अनहंकृतिके नामसे पुकारा जाता है. ये सभी गुण तथा अन्य भी जैसे ब्रह्मण्यत्व, भक्तवत्सलता आदि भगवानमें नित्य और सहजपनेसे विराजते हैं. उन गुणोंमें प्रभुके संसर्गसे किसी भी प्रकारका दोष नहीं आता यह बतानेकेलिये मूलमें चकार दिया है. प्रभुमें वे सारे गुण परमकाष्ठाको प्राप्त हैं (पूर्णताको प्राप्त). अपेक्षाकृत अन्य गुणोंके ज्ञान तो सबसे अधिक है और बल भी सबसे अधिक उन्हींमें स्थित है. इस प्रकार सब गुणके विषयमें समझ लेना चाहिए. इन गिनाए गए गुणोंमेसे एक भी गुण यदि जीवमें आ जाता है तो वह जगत्में महानताको प्राप्त हो जाता है. गुणके अभावमें किसी भी प्रकारसे महत्त्वशील नहीं बन सकता. भक्ति द्वारा महानता मिलती है. वह भक्ति तो भगवद्रूप ही है, इसलिए उससे महत्त्व मिलनेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है. परन्तु इसके अतिरिक्त ऊपर बताये गये गुणोंमेसे एक भी गुण आ जाता है तो वह महान हो जाता है. अतः ये गुण सबके द्वारा प्रार्थना करने योग्य हैं. भगवानमेंसे ये गुण कभी नष्ट नहीं होते और न इनमें कभी कुछ कमी ही आती है।।२६–२९।।

इस प्रकारसे अब गुणोंके निरूपणका प्रयोजन कहा जा रहा है:

तेनाहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम्।
शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम्।।३०।।

इस समय यह लोक गुणके पात्ररूप और लक्ष्मीके निवासरूप भगवान्से रहित हो है और पापी कलियुगने इस पर दृष्टि डाल दी है, मुझे इसी बातकी चिन्ता हो रही है।।३०।।

एक ओर सारे गुण हैं और एक ओर लक्ष्मीजी हैं. अतः लक्ष्मीजीका अलगसे निरूपण करते हैं कि भगवान्के पधारते ही उन्हींके साथ उनके सारे गुण भी प्रस्थान कर गए. चूंकि भगवान् श्रीनिवास हैं, अतः उन्हींके साथ लक्ष्मीजी भी अपने गुणों सहित पधार गए. मेरे शोकका यही कारण है. और अधिक क्या कहूं, गुण गए सो तो गए परन्तु उन गुणोंसे प्रतियोगिता रखनेवाले दोष चले आये. समस्त पापोंके हेतुभूत कलिकालने इस जगत् पर दृष्टि डाल दी और इसे अपने रंगमें रंग दिया।।३०।।

उस कलिकालने किन गुणों पर दृष्टि डाली है, ऐसी धर्मकी जिज्ञासा

होने पर कहते हैं कि जो तुमने पूर्वमें बताए उन सभी गुणों पर उसने दृष्टि डाली है, उन सभीकी सामूहिक रूपसे पृथ्वी गणना करती है:

आत्मानञ्चानुशोचामि भवन्तञ्चामरोत्तम ।
देवान् ऋषीन् पितॄन् साधून् सर्वान् वर्णांस्तथाश्रमान् ।।३१।।

मैं स्वयंका शोक कर रही हूं और हे देवताओंमें उत्तम धर्म! मुझे तुम्हारा शोक है. देवताओं, पितरों, ऋषिओं, साधुओं, वर्णों तथा आश्रमों का शोक कर रही हूं।।३१।।

हे देवताओंमें श्रेष्ठ धर्म! मैं तुम्हारा देव शोक करती हूं. यहां द्वितीयान्त 'अमरोत्तमम्' पाठ भी मिलता है. द्विज पर देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण ये तीन प्रकारके कर्ज होते हैं. इस कलिकालमें उन ऋणोंको चुकानेकी किसीको लेशमात्र भी चिन्ता नहीं है. इसलिए मैं देवताओं, ऋषिओं और पितरोंकेलिये चिन्तित हूं. देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र और कर्म ये छह धर्मके आधारभूत कारण हैं, ये सब अशुद्ध हो जानेसे धर्मका पालन यथार्थ रीतिसे नहीं हो पाता, इसका मुझे कष्ट है. सदाचारके नष्ट हो जानेसे साधुओंके प्रति शोकयुक्त हूं. न वर्णोंका धर्म रहा, न आश्रमोंकी व्यवस्था रही, ये सभी बातें मेरी चिन्ताका विषय बन गई।।३१।।

शोकके इन सभी कारणोंका पर्याप्तरूपसे निरूपण हो चुका, परन्तु मुख्यरूपसे तो मैं स्वयंके विषयमें ही चिन्तित हूं. इसका निरूपण दो श्लोकोसे किया जा रहा है:

ब्रह्मादयो बहुतिथं यद् अपाङ्गमोक्ष–कामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः ।
सा श्रीः स्ववासम् अरविन्दवनं विहाय यत् पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता।।३२।।

ब्रह्मादिक देवताओंने भगवानकी शरणमें जाकर बहुत समय तक इसलिए तप किया कि लक्ष्मीजीके कृपाकटाक्ष हमारे ऊपर हो जावें; ऐसे वे लक्ष्मीजी अपने निवासरूप कमलको छोडकर भगवान्के चरणकमलोंमें अनुरक्त हुईं, प्रभुके चरणरूप सौभाग्यको ही, अतिशय रूपसे भजती रहती हैं।।३२।।

सत्त्वादिक गुण भगवानमें सहजरूपसे रहते हैं, ऐसा पूर्वमें कहा है. पर मायावादी कहते हैं कि वे गुण तो मायाके हैं, सम्बन्धके कारण वे गुण भगवानमें आते हैं उन्हें सहज नहीं कहा जा सकता. उन मायावादियोंको पूछना चाहिए कि वे

गुण सत्त्वादि गुणोंके हैं अथवा आत्माके हैं? यदि वे गुण सत्त्वादि गुणोंके हैं, तो स्वातन्त्र्यादि गुणोंमें गुणपना ही न रहे. क्योंकि तमोगुण प्रलय करता है, और स्वतन्त्रता तमोगुणका कार्य है. इसी प्रकार कुशलता आदि रजोगुणका कार्य है, जब कि तमोगुण व रजोगुण तो त्याग करने योग्य हैं. जो त्याज्य हैं, वे गुण कैसे कहे जा सकते हैं? यदि यह मानते हो कि ईश्वरका शरीर सात्त्विक है, तो सात्त्विक शरीरमें रजोगुण व तमोगुण के कार्योंका प्रवेश हो नहीं सकता, जिससे स्वतन्त्रता व कुशलताका गुणपना टिक नहीं सकता. अथवा उन गुणोंको बाहरी ही कहा जा जाना चाहिए. इस प्रकार सत्त्वादिक गुणोंका प्रसत्पना(?) होनेसे स्वतन्त्रता आदि भी असत्य सिद्ध हो जाते हैं. इन गुणोंका ईश्वरमें न होना उनका निर्गुणत्व सिद्ध करता है, पर तुम जिसे सगुण ईश्वर मानते हो, वह घटित नहीं हो सकता. अथवा सत् और असत् से भिन्न भगवानमें गुणोंका आरोपण किया है ऐसा मानते हो तो गीताजीमें ''वह ब्रह्म न सत् है न असत्'' कहा है. तब तो गुण भी सत् अथवा असत् नहीं कह सकते. ऐसी अवस्थामें उन गुणोंको भी ब्रह्मपना प्राप्त हो गया. वस्तुतः ये गुण भगवानमें आरोपित किये हुए नहीं हैं, प्रत्युत् आगन्तुक हैं. अतः निर्गुण स्थिति ब्रह्म नहीं कहने(?) जा सकती, ईश्वर भले ही उसे कहो, यदि आप ऐसा कहें तो जिस प्रकार श्वेत वस्त्रमें लाल रंग आता है, पर वह वस्त्रका रंग नहीं है, इसी प्रकार वे गुण भगवान्के नहीं हैं यह सिद्ध होता है. क्योंकि गुणोंका ही सम्बन्ध उन्हें प्राप्त हो तो वे गुण ईश्वरके कहलाएं और वे सम्बन्ध जब प्राप्त हों तब वे गुण ईश्वरके नहीं कहलाएं, ऐसी स्थितिमें तो सगुण ईश्वर सिद्ध ही नहीं हो पायेगा. अग्निके सम्बन्धसे ही घीमें द्रवत्व रहता है, ऐसे ही वे गुण ईश्वरमें उत्पन्न होते हैं. यदि ऐसा मानते हो तो गुणोंका नाश भी मानना पडेगा. वह पक्ष तो विनाशकी प्रक्रियाको स्वीकार नहीं करता, अतः घटित भी नहीं हो सकता. अन्यथा ऊपरके श्लोकमें गुणोंकी नित्यताका विरोध होता है. उस श्लोकमें तो गुणोंको नित्य कहा है! उसका अभिप्राय जब तक अवतार रहता है तब तक गुण रहते हैं, यदि ऐसा मानते हो तो उसी श्लोकके चौथे पदमें ''वे गुण कभी कम नहीं होते'' ऐसा कहना ही व्यर्थ हो जायेगा और ऐसी स्थितिमें विरोध नहीं मिट पायेगा! ईश्वरमें गुणोंका सम्बन्ध सदैव है, यदि ऐसा कहते हो तो सगुण भगवान् माननेका पक्ष दूसरे अध्यायमें ''स एवेदं ससर्जाग्रे'' और दशवें अध्यायमें ''स वै किलायं पुरुषः पुरातनः'' इन श्लोकोमें निराकरण कर दिया है. वैसे ही आगे भी

उसका निराकरण किया जायेगा. उन भगवानमें जो नहीं घटनेवाली स्थिति है, उसे दूर करनेकेलिये उन्होंने सत्त्वादिक गुणोंकी कल्पना की है. उसमें भी यह विचार करना चाहिए कि सत्त्वादिक गुणोंकी शक्ति क्या है कि जिस शक्तिसे भगवानमें न घटनेवाले गुणोंको दूर किया जा सके. सम्भवतः इसीलिए उन्हें सगुण ईश्वर मानते हो तो ईश्वरमें घटित न होनेवाली ऐसी कोई युक्ति है क्या? जिससे आपको सत्त्वादिक गुणोंकी कल्पना करनी पडती है? निर्गुण ब्रह्ममें जगत् रचना आदि धर्म हो नहीं सकते और श्रुतिओंमें वे धर्म कहे गये हैं, जिसकी सम्भावना सत्त्वादिक गुणोंके अतिरिक्त हो नहीं सकती, इसलिए सत्त्वादिक गुणोंकी कल्पना करनी पडी है, यदि ऐसा कहते हो तो वहां तक तो ठीक है. उन सत्त्वादिक गुणोंका सामर्थ्य कितना है? अब यह विचार करना है. भगवानमें जो बातें नहीं हो सकती, उन्हें दूर करनेकेलिये सत्त्वादिक गुण समर्थ हैं अथवा नहीं? यदि यह कहते हो कि समर्थ हैं, तो पहलेवाला मत घटित नहीं होता, कारण यह कि सत्त्वादिक गुण जड हैं. वे गुण अपने आप ब्रह्मसे जुड जाते हैं, अथवा किसी कारणसे संलग्न होते हैं? यदि स्वयं ही वे गुण ब्रह्मसे लगते हैं, तो सत्त्वादिक गुण परस्पर इकट्ठे हो जाते हैं ऐसी स्थितिमें उन तीनों गुणोंमें से किस गुणका सम्बन्ध पहले हो? इसका नियम न होनेसे एक ही समयमें तीनों गुणोंका कार्य प्रारम्भ हो जायेगा और तब उत्पत्ति, स्थिति और लय की व्यवस्था मिट जायेगी. रजोगुण चलायमान होनेसे सृष्टि करता है, पश्चात् सतोगुण पालन करता है और अन्तमें तमोगुण प्रलय करता है. इस प्रकार गुणोंका स्वभाव ही उनमें सबका नियमन करेगा, यदि ऐसा कहो तो प्रलयमें तमोगुण बलवान है, तो प्रलय कार्य करनेमें वह चुप्पी कैसे साधे रहेगा? जब पूर्वमें कोई वस्तु थी ही नहीं तो प्रलय भी कौन करे? ऐसा कहो तो जो उत्पन्न होता है, उसका दूसरे ही क्षण प्रलय हो जाना चाहिए. सत्त्वगुण तमोगुणको रोकता है, इसीलिए प्रलय नहीं होता, यदि ऐसा कहते हो तो सत्त्वगुण बलवान हुआ, तब तो हमेशा ही सब वस्तु बनी ही रहनी चाहिए, प्रलय होना ही नहीं चाहिए. सत्त्वादि गुणोंका ऐसा स्वभाव है कि एक दूसरेको दबाते हुए अपना कार्य करते हैं. इस प्रमाणसे सत्त्वगुणका उपमर्दन करते हुए तमोगुण प्रलय कर सकता है. ऐसा कथन करने पर विनाशकी प्रक्रिया स्वीकार नहीं होती. इसलिए जिस समयमें प्रलय हुआ है, उसके दूसरे ही क्षणमें रजोगुणसे उत्पत्ति हो जाना चाहिए, क्योंकि स्वभाव जाता नहीं, और रजोगुणका स्वभाव उत्पत्ति करनेका है. वह तमोगुणका

उपमर्दन करता नहीं. इसके अतिरिक्त कोई दूसरा कारण बनता नहीं कि किसी समय विशेष तक प्रलय करे. ऐसा नियम संग हो जानेसे स्वभाववादकी कोई संगति ही नहीं रह जाती. क्योंकि गुणोंके स्वभावसे ही उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं. ऐसा मानने पर तो ईश्वरकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती. जब ईश्वरका कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता तो ''यतो वा इमानि'' (जिनसे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं) आदि श्रुतिओंमें ईश्वर ही उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है, इस कथनका विरोध हो जाता है. यदि किसी कारणसे ईश्वरमें सत्त्वादि गुण आते हैं, यों कहो तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब तक गुणोंका सम्बन्ध नहीं हुआ था तब तक ईश्वर भी नहीं था. क्योंकि आप लोग तो गुणके सम्बन्धवालेको ही ईश्वर कहते हो. जब गुणोंका सम्बन्ध ब्रह्मसे हुआ तब तो ईश्वर भी एक कार्य हुआ. यह मत तो सांख्य शास्त्रका हुआ. तब किस कारणसे ये गुण ब्रह्ममें आये? इस पर भी विचार कर लेना चालिए. यदि कालको पदार्थ मानते हो तो ब्रह्म और काल ये दो पदार्थ भिन्न-भिन्न हुए, इसमें अद्वैतपना नहीं रहा. अब इसमें इच्छाको ही कारण मानोगे तो भी अद्वैतकी हानि होगी. इच्छाको भी पहले रजोगुण, बादमें सत्त्वगुण और अन्तमें तमोगुण, इस प्रकार तीनों गुणोंको ब्रह्मसे सम्बन्धित माननेमें क्रमका ध्यान न भी रखो, तो भी कारण तो आवश्यक रूपसे बताना ही पडेगा. यदि पुनः गुणोंके स्वभाववाली बात करोगे, तो वही स्वभाववाद फिर आ जायेगा. ऐसी स्थितिमें ऊपर बताये गये प्रमाणसे उनके वे दोष यथा स्थिति (जैसेके तैसे) बने रहेंगे. वे सत्त्वादिक गुण कोई वस्तु नहीं है, इसे तो आप भी स्वीकारते हो. अब यदि यह माना जाये कि सत्त्वादिकसे कुछ भी कार्य नहीं हो सकता तो शून्यवाद आ जायेगा. अतः गुणोंके सामर्थ्यका विचार करना चाहिए. भगवानमें उनके सम्बन्धकी कल्पना करना असगत है. इस पर वादी शंका करते हैं कि भेदवाद माननेके समान ही सत्त्वादिक गुणोंका चैतन्यपना है, उसको स्वीकार कर लेने पर उनका भी सम्बन्ध नित्य है. इसे स्वीकार कर लेने पर ऊपर बताये गये स्वतन्त्रता आदि गुणोंके धर्म भगवानमें नित्य हैं. इसे हमें मान लेना चाहिए. ऐसा कहने पर सिद्धान्तवादी कहते हैं कि जितना अर्थ हमने ब्रह्ममें निरूपण किया है, उतना अर्थ गुणोंमें अथवा मायामें माननेवाले ''मायेत्यासुरा'' (असुर मायाको ब्रह्म मानते हैं) कहते हैं और ये कथन आसुर पक्षसे पृथक् नहीं है, अतः अब अधिक विस्तार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है. इस प्रकार श्लोकके अन्तर्गत

आये शास्त्रार्थका प्रसंगानुसार निरूपण किया है.

ब्रह्मादिक देवताओंने बहुत समय तक तपस्या की. भगवानने पृथ्वीका त्याग कर दिया है, यह बहुत बुरा हुआ, यह इसका अभिप्राय है. वह त्याग भी भगवानने अपने स्वभावसे ही किया है अथवा किसी अन्य कारणसे किया है? यदि भगवानने अपने लिये ही त्याग किया है, तो वह त्याग भगवान्‌के अधीन है अतः वह कारण कोई विशेष कारण नहीं है. यदि प्रभुने अपने दोषोंको देखते हुए त्याग किया है तो अवश्य ही कारणकी अधिकता है. अतः प्रभुके द्वारा किये गये त्यागका विचार करना चाहिए. जो भगवदीय होते हैं, भगवान् उन्हें स्वीकार करते हैं, परन्तु भगवान् जिसका त्याग कर देते हैं तो वह सभीके अनर्थकेलिये ही है. क्योंकि भगवानकी अपेक्षा सब हीन है. जब एक छोड देता है तो दूसरा उसकी इच्छा करता है और जब दूसरा उसे ग्रहण कर लेता है तो सब अनर्थ हो जाता है. भगवान्‌से भिन्न होनेके बाद जब तक मैं और मेराके संघातमें प्रवेश नहीं होता, तब तक भगवान् त्याग नहीं करते. जब संघातवाले अपनी इच्छा करते हैं, तो वह इच्छा अनर्थका मूल हो जाती है. जिससे भगवदीयमें जो दीनताकी अपेक्षा होती है, उसके स्वरूपका ही नाश हो जाय. यही अनर्थ है. क्योंकि हीन मनुष्यको अपनी इच्छा बतानेसे वह भगवानका न रहकर हीनका ही हो जाता है, अतः अपने भगवदीय स्वरूपका नाश हो जाता है. इसलिए भगवदीयोंको दूसरोंकी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए. इसे बतानेकेलिये आगे कहते हैं कि लक्ष्मीजी सभी भगवदीयोंमें मुख्य हैं. वे दूसरोंकी हीनता दूर करनेमें समर्थ हैं, फिर उनका वह सामर्थ्य और भगवदीयपना निभ सके तदर्थ कार्य और कारण में उदासीन हुई वे भगवानको ही भजती हैं, इसी प्रकार भक्तजन भी सब ओरसे उदासीन हुए भगवानको ही भजते हैं. अन्य भी ब्रह्मा आदि भगवान्‌के सेवक हैं. पृथ्वी कहती है कि मैं भी भगवानकी पत्नी हूं, लक्ष्मीकी सपत्नी हूं, और वैसी ही वैभवशाली हूं, अतः भगवान् द्वारा मेरा त्याग कर दिया जाना बहुत बडा अनर्थ है. इसे स्पष्ट करनेकेलिये लक्ष्मीजीका कार्य कहा जा रहा है. ब्रह्मादिक देवता लक्ष्मीजीके कटाक्षपातकी कामना रखते हैं. भगवानमें रखनेवाले स्नेहके साथ उनमें भगवान्‌के विषयवाला कामभाव है. उस कामभावके साथ समर्पणभावको बतानेवाली उठी हुई आधी दृष्टिको अपने ऊपर पात करवानेकी भावना ब्रह्मादिककी है. उन भावोंसे युक्त वह आधी दृष्टि ही कटाक्ष कही गई है. उस

कटाक्षमें भगवान्, भगवान्के विषयवाला काम, भगवानका स्नेह, लक्ष्मीजी और लक्ष्मीजीकी दृष्टि ये पांच पदार्थ रहते हैं. वे सभी एक स्थान पर आना दुर्लभ है. वे तो लक्ष्मीजीकी दृष्टिसे ही सिद्ध होते हैं, अतः लक्ष्मीजीकी दृष्टि हम पर हो, इसलिए ब्रह्मादिक भगवानकी शरणमें गए हैं. वे भगवानको हृदयमें स्थापित करके, लक्ष्मीजीके कटाक्षकी इच्छावाले ब्रह्मादिक देवता तप करते हैं. लक्ष्मीजीके वे कटाक्ष क्षण-क्षणमें हजारों हो जाते हैं. ऐसे माहात्म्यवाले लक्ष्मीजी भी जिनके चरणकमलोंकी सेवा करते हैं, वे भगवान् कभी भी उनका त्याग नहीं करते. इसमें कारण बताते हैं कि भगवान्के चरणकमल बडे दुर्लभ हैं और सेवाकेलिये उनकी प्राप्ति होना तो और भी कठिन है. इस प्रकार लक्ष्मीजीका कार्य कहकर अब उनके द्वारा कारणका भी त्याग किया जाना बताया जा रहा है. लक्ष्मीजी अपने निवासरूप कमलवनको छोडकर भी प्रभुके चरणोंकी सेवा करते हैं. किसी दूसरे स्थानमें यदि सौवें भागके बराबर भी आसक्ति हो जाय तो भगवान्के चरणोंकी सेवा मिलना दुर्लभ है. इसलिए अपने जन्मस्थानरूपी कमलके वनको त्यागकर भगवान्के चरणोंकी सेवा करते हैं. कमलको वन कहकर सेवा न करने योग्य बताया है. वे लक्ष्मीजी प्रभुके चरण सौभाग्यको ही भजते हैं, अतएव भक्तिमें निष्ठावाले हुए हैं ऐसा कहकर पृथ्वीने यह सूचित किया है कि मैं भगवानकी चरणरूपा हूं, अतः लक्ष्मीजी भी मेरा सेवन करते हैं. इस कारण मैं भगवदीयोंमें उत्तम हूं. वे लक्ष्मीजी भी चरणोंकी प्राप्तिरूप सौभाग्यवाले हैं. भगवान्के चरणोंमें लक्ष्मीका इतना अनुराग उनके अति अभीष्ट भावको प्रकाशित करता है।।३२।।

वे भगवान्के चरण मुझमें सभी स्थलों पर स्थित (अंकित) थे, इस विषय पर कहा जा रहा है:

यस्याहम् अब्जकुलिशाङ्कुश-केतुकेतैः श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी ।
त्रीन् अत्यरोचम् उपलभ्य ततो विभूतिं लोकान् समां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते।।३३

उन भगवान्के चरणोंमें कमल, वज्र, अंकुश तथा लक्ष्मीजीके चिह्न अंकित हैं, ऐसे उन चरणोंसे मैं अलंकृत रही हूं. उन चरणोंको धारण करनेसे मैं विभूतिको प्राप्त हुई, त्रिलोकीके ऊपर शोभित थी. मेरे अभिमानको दूर करनेकेलिए ही भगवानने मेरा त्याग कर दिया।।३३।।

उन प्रभुके चरणकमलोंसे मैं शृंगारित थी. चरणोंका माहात्म्य बतानेके

उपरान्त भी 'भगवत्' शब्दका प्रयोग इसलिए ग्रहण किया है कि ऐसे उन चरणोंसे युक्त भगवान् द्वारा मैं शोभित थी. अब स्वरूप द्वारा चरणोंके उत्कर्षको कहा जा रहा है कि वे चरण, कमल वज्र अंकुश ध्वजा के चिह्नोंसे युक्त थे. भगवान्के चरणोंमें कमलके आकारवाली रेखा उस चरणके एक भागमें कमलपनेको सम्पादित करती है. जिससे (भक्तोंकेलिये) मकरंदरूपी अमृतका फल नियत होना सूचित होता है और उस मकरंदको प्राप्त करनेवाले पूरी तरहसे दोष रहित अधिकारिओंका होना कठिन है. शरीरके संघातमें प्रविष्ट (मैं और मेरे भावनासे युक्त) लोगोंकेलिये वह मकरंदफल मिलना असम्भव है. भक्तों पर कृपा करनेकेलिये भगवान्के चरणकमलमें वज्रके आकारवाली रेखा है, जो पापके पर्वतोंका छेदन कर देती है. अतः उन चरणोंकी सेवासे सबसे पहले समस्त पापोंका नाश होता है. अधिक क्या कहूं मनकी चंचलताका विनाश इन चरणोंके सेवनसे ही संभव है. योग इत्यादिके साधनोंसे उन्हें प्राप्त करनेके प्रयत्नमें बहिर्मुखता ही हाथ लगती है. इसीलिए सेवकोंके मनोंको वशमें करनेकेलिये भगवान्के चरणारविन्दमें अंकुशके आकारवाली रेखा है. भगवान्के चरणकमलोंके प्रतापसे ही उनके सेवकोंका मन भटकता नहीं और न ही सेवामार्गमें किसी भी प्रकारकी बाधा आती है. परन्तु यह सब भगवान्के भजन करनेके बाद ही होता है. भजनमें प्रवृत्ति हो जाना ही बडा कठिन है. यह सब सम्भावना काल, कर्म और स्वभावके भयसे है. जीव हमेशा ही इनसे डरा हुआ रहनेके कारण कहीं भी स्वास्थ्य लाभ नहीं कर सकता इसी आशंकासे भगवान्के चरणकमलमें ही अभय पताकाके लक्षणवाली रेखा है कि निर्भय होकर इस चरणध्वजाके नीचे चले आओ, यहां तुम्हें किसीका भी भय नहीं रहेगा, वह यह सूचित करती है. ऐसे उपर्युक्त चिह्नोंसे विभूषित भगवान्के चरणकमल जिनमें लक्ष्मीजी भी निवास करते हैं, अतएव उन चरणोंके संगवाली लक्ष्मीजीके कटाक्षकी कामना ब्रह्मादिक करते हैं. इसीलिए तो 'लक्ष्मीजीसे युक्त चरण' कहे हैं. इस चरणारविन्दकी शरणमें आये हुए जीवको अन्यथाभाव नहीं होता, इसीलिए कहा है कि उन प्रभुके चरणारविन्द द्वारा मेरा शृंगार हुआ था अर्थात् मेरे सब अंग पर भगवान्के चरणकमल समस्त चिह्नों सहित अंकित हो गये थे. वैष्णव शंख-चक्रादि चिह्नोंको धारण करके ही योग्य होते हैं, वैसे ही भगवान्के सात्त्विक भाव युक्त चरणोंके स्पर्शसे उनकी रेखाओंके चित्र मुझ पृथ्वी मंडल पर

मंडित हुए थे. मैं ऐसी शोभित हुई थी कि तीनों लोक अथवा तीनकी संख्यावाले पदार्थ मेरी तुलनामें कहीं नहीं ठहरते थे, शोभाकी अतिशयतामें उन तीनों लोकोकी शोभाको उलांघकर अति उत्तम कान्तिसे दैदीप्यमान हुई थी. उस पर भी विशेषता यह थी कि मैं भगवानकी विभूतिसे युक्त थी. मैं अपने सब प्रकारके सौभाग्यको कहां तक प्रशंसा करूं कि भगवान् मुझ पर पौढते थे, विराजते थे, भोजन पाते थे, क्रीडा करते थे और ऐश्वर्यमय बनाते थे. ओह, मुझे इन सभी बातोंका अभिमान हो और हमें हमारे भगवान् छोडकर पधार गए. पृथ्वी पर रहनेवाले यादवोंमें पृथ्वीसे उत्पन्न अन्नका भोजन करनेसे अभिमानकी उत्पत्ति देखनेमें आई. जिससे यादवोंकी कारणरूपा पृथ्वीको भी अभिमान होनेका अनुमान हुआ; क्योंकि सब प्रकारके भाव अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं, अतः प्रभुने मेरे अभिमानको नष्ट करनेकेलिये मुझे त्याग दिया।।३३।।

इस प्रकार मूलभुता उपपत्तिको कहकर अर्थात् भगवान् द्वारा पृथ्वीको त्याग किये जानेके कारणको दो श्लोकोंमें बताकर अब दो श्लोकों द्वारा लौकिक युक्तिको कहा जा रहा है:

यो वै ममातिभरम् आसुरवंशराज्ञाम् अक्षौहिणी–शतम् अपानुदद् आत्मतन्त्रः ।
त्वां दुःस्थमूनपदम् आत्मनि पौरुषेण सम्पादयन् यदुषु रम्यम् अबिभ्रद् अङ्गम्।।३४

हे धर्म, भगवानने यादवोंमें मनोहर स्वरूपको धारण कर, तुम्हें पैर रहित होने व दुःखपूर्वक खडे रह सकनेवालेको अपने पराक्रम द्वारा पूर्ण पैरोवाला बनाया तथा असुर वंशमें उत्पन्न होनेवाले मेरे ऊपर अत्यधिक बोझरूप राजाओं सहित सैकडों अक्षौहिणी सेनाओंका नाश किया।।३४।।

मुझ पर अति भाररूप सैंकडों अक्षौहिणी सेनाओंको श्रीकृष्णने नष्ट किया. भूमि पर उत्पन्न होनेसे वे भाररूप थे, क्योंकि वे असुर वंशके थे. यहां वंश पदसे यह बताया है कि उन असुरोंके गोत्र हैं. भगवानको किसी भी साधनकी अपेक्षा नहीं है, अतः उन्हें आत्मतन्त्र कहा है. भगवान् स्वतन्त्र हैं, इससे यादवरूपी भारका हरण भी किया, यह सूचित किया है. अब धर्मरूप वत्स (बछडा)के उपकारको बताया जा रहा है. राग आदिकी व्याप्तिके समान अधर्म द्वारा प्रवेश कर लिये जानेसे जो धर्म दुःखपूर्ण स्थितिको प्राप्त हो था, और कालके प्रभावसे जिसके पैर न्यून हो गये थे, ऐसे उस धर्ममें स्वयं आत्मपौरुषसे अन्तःकरणमें प्रवेश होकर कलिकालके प्रविष्ट अंशोंको पूरी तरह निकाल बाहर

किया. अर्थात् हे धर्म, तुम्हें भगवानने पुनः पूर्ण पदवाला बनाया, उपर्युक्त भावसे यह सम्बन्ध हुआ. इसलिए हे धर्म, पहले तुम्हें पूर्ण बनाया अतः तुम्हारे लिये और मेरे लिये भगवानने यादवकुलमें अपना श्रीविग्रह धारण किया. ऐसा भगवानका वह परम मनोहर स्वरूप हम दोनोंकेलिये रमण करने योग्य हुआ. क्योंकि जो भगवदीय और धर्मात्मा होते हैं, वे भगवान्के स्वरूपमें रमण करते हैं।।३४।।

भगवत् तत्त्वमें रमण करनेके फलस्वरूप उसका क्या परिणाम हुआ? उस फलितको बताया जा रहा हैः

का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य प्रेमावलोक–रुचिरास्मित–वल्गुजल्पैः ।
स्थैर्य्यं समानमहरन् मधुमानिनीनां रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविटंकितायाः।।३५।।

जिन भगवान् पुरुषोत्तमने प्रेमयुक्त अवलोकन, सुन्दर व मन्द हंसी तथा मनको हरण करनेवाले मीठे बोल बोलकर मथुरा निवासिनी मानिनी स्त्रियोंकी स्थिरताका हरण कर लिया और जिनके चरणके चिह्नोंसे मेरा रोम–रोम उत्सव मनाया करता था अर्थात् मैं रोमांचित हो जाती थी ऐसे उन पुरुषोत्तमके विरहको भला कौन स्त्री सहन कर सकती है?।।३५।।

वा अव्ययका प्रयोग अनादर अर्थमें भी होता है. भगवान्के विरहको सहन कर जाय ऐसी कोई भी स्त्री नहीं है. जबकि स्त्रियां पुरुषके विरहको ही नहीं सह सकती तो फिर जो पुरुषोंमें उत्तम हैं उन पुरुषोत्तमके विरहको वे कैसे सहन कर सकती हैं. भगवानने स्त्रियोंका उपकार किया है, इसलिए वे विरह सहन नहीं कर सकती, इस उपकार पक्षको दूर ही रहने दें तो भी वे कामभावसे भी भगवानका विरह सहन नहीं कर सकीं. क्यों सहन नहीं कर सकीं? इस पर कहते हैं कि प्रेम आदि तीन साधनोंसे सात्त्विक, तामस और राजस स्त्रियोंको भगवानने वशीभूत कर लिया था. प्रेम भरी चितवनसे देखकर सात्त्विक स्त्रियोंको वशमें किया. मनको चुरा लेनेवाली मुस्कानसे तामस स्त्रीयोंको मोह लिया और रसमें सगवगे मीठे–मीठे वाक्य बोलकर राजस स्त्रियोंको वशमें ले लिया. सात्त्विकीओंको भक्तिका ज्ञान देकर वशमें किया. तामसीओंमेंसे मोहको निकालकर वैराग्य प्रदान किया और राजस स्त्रियोंको युक्ति व प्रमाण देकर वशीभूत किया. इस प्रकार मथुरामें रहनेवाली मधुमानिनिओंका मानके साथ–साथ स्थैर्य भी हर लिया. जिस मानके द्वारा वे काममें अथवा मार्गमें स्थिरताको प्राप्त हो गई थी अथवा वेदके द्वारा या ज्ञानके द्वारा जिनके आत्माकी स्थितिमें

ठहराव उत्पन्न हो था उसे प्रवाहमय बना दिया. यदि 'मधु' शब्दको भिन्न करके अर्थ किया जाय तो रस अर्थ होता है. मानवतिओंके रस और स्थैर्य का भगवानने हरण कर लिया. इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है, उनके चरणकमलोंके मुझ पर भी जो चिह्न अंकित होते थे उससे मेरे रोम-रोम सदैव पुलकायमान रहा करते थे।।३५।।

इस प्रकार भगवान्के विरहमें क्लेश पाते हुए पृथ्वी और धर्मके संवाद होते रहने पर, उसे पासमें ही सुनकर, देवता व धर्मके सान्निध्यको जानते हुए विश्वामित्रकी पूर्व दिशामें कुरुक्षेत्रके अन्तर्गत स्थित सरस्वती नदीमें ऋषि होनेसे आवश्यक कार्य करनेकेलिए महाराज परीक्षित पधारे:

तयोरेवं कथयतोः पृथिवीधर्मयोस्तदा।
परीक्षिन् नाम राजर्षिः प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीम्।।३६।।

पृथ्वी और धर्म इन दोनोंका संवाद जिस समय चल ही रहा था कि उसी समय राजर्षि परीक्षित पूर्व दिशामें स्थित सरस्वती नदीकी ओर आए।।३६।।

जब पृथ्वी व धर्मका वार्तालाप हो रहा था उसी समयमें राजा परीक्षित वहां आए. उन्हें देखकर भी पृथ्वी और धर्मका तिरोभाव नहीं हुआ. राजा परीक्षितके सामने उन दोनोंकी उपस्थिति पूरी तरह बनी रही. यह बात युक्तियुक्त तथा औचित्यपूर्ण है।।३६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथम स्कन्धके १६वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण'का दशम् अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

अध्याय १७

महाराजा परीक्षित द्वारा कलियुगका दमन

ततः सप्तदशे धर्मपृथिवीसान्त्वनं विदः ।
भीतस्य स्थानदानञ्च कलेः शिक्षा च रूप्यते ।।का.१।।
प्रथमं मारणे भीतिः तयोः स्वास्थ्यस्य च क्षयः ।
अतः सान्त्वनम् अग्रे च स्थानदानं विचारतः ।।का.२।।
विवेकस्थापनायैव धर्मवाक्यं ततोऽस्य हि ।
सर्वसामर्थ्यसम्बोधो वैराग्यं वक्तुम् अद्भुतम् ।।का.३।।
मूर्तीभूतास्त्रयो राज्ञे स्वखेदख्यापनाय तौ ।
वेषान्तरेऽपि तत्पीडाख्यापनाय स मारकः ।।का.४।।
सन्धानं वस्तुभूतस्य कृतं तेनास्य च स्वयम् ।
कृतं भूमेस्तु हेतुनां शोकस्य विनिवारणात् ।।का.५।।

कारिकार्थः अब इसके पश्चात् इस सत्रहवें अध्यायमें उनके स्वरूपको जाननेवाले राजा परीक्षितके द्वारा पृथ्वी और धर्म को सान्त्वना देनेका निरूपण किया जा रहा है और साथ ही भय पाए हुए कलियुगको स्थान देने व शिक्षा दिए जानेका विवरण भी प्रस्तुत किया जा रहा है।।१।।

पहले ही यदि परीक्षित कलियुगको मारते तो पृथ्वी और धर्म भयभीत हो जाते, जिससे उनके स्वास्थ्यका भी क्षय हो जाता, अतः पृथ्वी और धर्मको सान्त्वना दी गई और इसके बाद कलियुगको स्थान देनेका विचार किया है।।२।।

सुख और दुःख साथ हुए हैं, इस सन्देहमें भिन्न-भिन्न अभिप्रायके वाक्य हैं. उनके रहते मोहको दूर करनेवाले विवेकका स्थापन करनेकेलिए ही धर्मने वचन कहे हैं. जिससे परीक्षितको आधिदैविक व्यवहार जाननेका सामर्थ्य प्राप्त हुआ, जिसे आगे उन्नीसवें अध्यायमें उनके अद्भुत वैराग्यको बताया जायेगा. इस प्रकार परीक्षितको सब प्रकारके सामर्थ्यका सम्बन्ध कराया है।।३।।

परीक्षितमें इतना अलौकिक सामर्थ्य है कि उसे बतानेकेलिए पृथ्वी, धर्म और कलियुग प्रत्यक्ष मूर्तिमान् होकर स्थित हैं. उसमें अपना भेद प्रसिद्ध करनेकेलिए पृथ्वी तथा धर्म आए हैं और इन दोनोंको मारनेवाला कलियुग है जो राजाका वेश धारण किये हुए उन्हें पीडा दे रहा है. इस प्रकार परीक्षितको

जानकारी करानेकेलिए कलियुग राजाके वेशमें आया है।।४।।

परीक्षितमें अलौकिक सामर्थ्य है, इसे जान लेनेके बाद धर्म अपने पैरोंको साध लेता है और आगेका वृत्तान्त कहने लगता है. उसमें धर्मके सत्यरूपी पैरको ग्रहण करके, कलियुग असत्यसे उसे काट रहा था, उस सत्यको फिरसे स्थापित किया. जिससे परीक्षितने धर्मको स्वयं ही आश्वस्त किया है. परीक्षितने पृथ्वीको आश्वासन देने हेतु परम्परागत रूपसे शोकके कारणोंको दूर किया है तथा धर्मके अन्य पैरोंको साधनेकी शक्ति भी पारम्परिक रूपसे देते हुए पृथ्वीको सन्तोष बंधा दिया।।५।।

पहलेवाले अध्यायमें यह बताया था कि राजा परीक्षित पूर्ववाहिनी सरस्वती नदीमें स्नान करनेकेलिए गए थे. वहां जानेके बाद उन्होंने अधर्मको देखा; अब इसे कहा जा रहा हैः

।।सूत उवाच।।

तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानम् अनाथवत्।
दण्डहस्तञ्च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम्।।१।।

वहां अनाथके समान मारा जाता गायका जोडा राजाने देखा और राजाका चिह्न धारण किये हुए शूद्रको देखा जो हाथमें दण्ड लिए हुए था।।१।।

राजा परीक्षितने वहां एक गायका जोडा देखा. जोडेके समान लगनेके कारण यहां कहा है. क्योंकि उनमें एक गाय थी और दूसरा बैल. इनकी स्थिति अनाथके समान थी, मानो इनका कोई स्वामी ही न हो. भगवान् श्रीकृष्ण ही इनके नाथ थे, उनके पधार जानेसे ये अनाथके समान हो गए. महान् व्यक्तिओंको किसी व्यक्तिके देखने मात्रसे उसकी जातिका ज्ञान हो जाता है. अतः राजाको यह जानते देर नहीं लगी कि राजाके वेशको धारण करनेवाला यह व्यक्ति मूलतः शूद्र है. तात्पर्य यह है कि राजाने पाखण्ड धर्मको ग्रहण किये हुए कलिकालको देखा।।१।।

वह गायका जोडा दीनकी स्थितिमें था, यह बतानेकेलिए उनका वर्णन किया जा रहा है. यदि उनकी स्थिति दीनताकी न हो तो उनका पक्षपात करना राजाकेलिए दोष रूप हो जायः

वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम्।
वेपमानं पदैकेन वेपन्तं शूद्रताडितम्।।२।।

गाञ्च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम् ।
विवत्सां साश्रुवदनां कृशां यवसमिच्छतीम्।।३।।

राजाने देखा कि एक बैल श्वेत कमलके समान धवल, भयके मारे मूत्र करता हुआ, एक पैरसे कांपता हुआ, शूद्रसे पीटा जाता पीडित हो रहा है।।२।।

राजाने यह भी देखा कि एक गाय, जो धर्मको दोहनेवाली, शूद्रके पैरोंसे अत्यधिक मार खाती हुई, दीन दशाको प्राप्त, बछडासे रहित, आंसुओंसे भीगे हुए मुखवाली, दुबली हुई, जौको खानेकी इच्छा करती हुई स्थित है।।३।।

पहले वृषभका वर्णन किया जा रहा है. वृषभकी कान्ति श्वेत कमलके समान है. इससे वह स्वभावसे शुद्ध है यह बताया है. उसके अन्य पांच अंग व्याकुल हैं, जिससे वह प्रतिदिन बाहरी रूपसे नष्ट होता जा रहा है. वह मूत्र करता जा रहा है अर्थात् कर्मकी स्थितिका क्षय होता जा रहा है. वह डरा हुआ है अर्थात् उसमेंसे ज्ञानका अभाव हो है. 'इव' शब्द अनुकरणके अर्थमें है. अथवा मूत्र स्थानके समान कर्मकी अधोगति निकल रही है. इससे धर्मकी रोगवाली स्थिति सूचित होती है. एक पैरसे कांप रहा हैं. यहां कांपना दो प्रकारका है. एक ही पांव होनेसे कांप रहा है अथवा धर्ममेंसे अन्य तत्त्वोंके निकल जानेसे जो अभाव या जडताकी दशा उपस्थित हो गई है, इसलिए कांप रहा है. जिसके चार पैर रहे हों और तीन पैर चले गये हों अब एक ही पैर पर खडा रहनेका प्रयास कर रहा हो, तो वह स्वाभाविक ही कांपेगा. धर्ममेंसे ज्ञान सहित तप आदिका अभाव हो जानेसे और केवल सत्यके ही बचे रहनेसे उसकी स्थितिमें चंचलता आना स्वतःसिद्ध है. इस प्रकारकी प्राप्त जडतासे धर्म कांप रहा है. पदार्थके वास्तविक ज्ञानके न होनेसे धर्मके कार्य कम्पन रहित न रह सके. वह बैलरूपी धर्म शूद्रसे ताडित किया जा रहा है. कलिकालके वशीभूत शूद्रों द्वारा किये जानेवाले आडम्बरपूर्ण–पाखण्डसे भरे हुए धर्मके द्वारा सच्चे धर्मको पीडा हो रही है, इसे 'ताडना' शब्दसे कहा है. इस बैलरूपी धर्मको दण्डसे पीटा जा रहा है तथा गाय रूपिणी पृथ्वीको पांवसे मारा जा रहा है. कलिकाल भूमिके वधकेलिये स्थित है. विभिन्न ढोंग भरे मार्ग वास्तविक धर्मको पीडित कर रहे हैं. राजाने ऐसी स्थितिओंको देखा, यह इस सारी बातका सम्बन्ध हुआ.

अब गायका वर्णन किया जा रहा है. मूलमें 'च' आनेसे पृथ्वी डर और कांप भी रही है. वह स्वभावसे अति उत्तमा है, ऐसा कहा है. वह धर्मरूपी दूधको

प्रदान करनेवाली है. अग्निहोत्रादि धार्मिक क्रियाओंकेलिये उपयोगी पदार्थ उत्पन्न करती है. धर्मदुहा पाठ होने पर, वह मोक्षरूपी दूधको दुहाती है, यह अर्थ होगा. इस पृथ्वीके छहों अंग व्याकुल हैं, इसे कहा जा रहा है. देश आदिसे भरी पूरी पृथ्वी पुष्ट होती है. जब देशका अभाव हो जाता है, तो वह व्याकुल हो जाती है. देशमें उत्तम लोग निवास नहीं करते, प्रत्युत् दुष्ट जनोंका ही सब ओर बोलबाला हो है, जो विनाशकी स्थिति उत्पन्न करते हैं, अतः पृथ्वी दीन हो गई है. कलिकालके द्वारा उसे पीडा दी जा रही है अर्थात् पाखण्डी लोग उसका उपभोग कर रहे हैं. कलिका प्रथम चरण होनेसे 'पदा' यह शब्द एकवचनमें प्रयुक्त हुआ है. इस प्रकार देश और काल का निरूपण किया है. 'विवत्सा' शब्द कर्ताके अभावमें कहा है. वत्स अपने अपने धर्मोंका प्रतिनिधित्व करते हैं, जैसा कि राजा पृथु द्वारा पृथ्वी दोहनके प्रसंगमें निरूपित किया है. वैसे वत्सोंका अभाव हो जो विभिन्न पदार्थोंके उत्पत्ति विषयक अनुसन्धानों और प्रयत्नोंमें जूटे हुए थे. अतएव उसका मुख आंसुओंसे भीगा हुआ है. इससे मन्त्रोंका न रहना बताया है. मन्त्र पृथ्वीके हर्षको बताते हैं और बुरे शब्दोंके उच्चारण उसके आंसू हैं. श्रेष्ठ पदार्थोंकी कमी आ जानेसे पृथ्वीको दुबली कहा है. जहां यज्ञ होते हैं वहां यज्ञके अनुकूल प्रयोगमें आनेवाली वस्तुएं नहीं हैं यही उसका कृश हो जाना है. वह यवोंकी इच्छा करती है अर्थात् यज्ञ आदिमें भाग पानेकी कामना रखती है. इस प्रकार पृथ्वी परसे सभी कर्म लुप्त हो गए हैं, यही उसके छह अंगोकी व्याकुलताका सूचक है. यहां भी पहलेके समान वृषभकी स्थितिके अवलोकन कार्यकी तरह गायरूपी पृथ्वीके कार्यावलोकन या स्थितिको देखनेका सम्बन्ध है।।२-३।।

इस प्रकार धर्म और पृथ्वीकी स्थितिको देखकर तथा पहले कभी न देखे गए उस मारनेवाले कलिकालको देखकर उसे मारनेकेलिए परीक्षित पूछते हैं. यदि पूछें नहीं तो बिना सोचे-विचारे काम करनेवाले कहलाएं. अतः युद्धके पूरे साजो-सामानके साथ प्रश्न किये जानेको कहा जा रहा है:

पप्रच्छ रथमारूढः कार्त्तस्वरपरिच्छदम्।
मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः।।४।।

स्वर्ण मन्डित रथ पर आरूढ, सज्जित धनुषवाले राजा परीक्षितने मेघ गम्भीर वाणीसे पूछा।।४।।

कार्तस्वर (सोना) राजापनेको बतानेवाला है. सोनेके आवरणसे बने हुए

रथ पर राजा परीक्षित बैठे हुए थे. इससे उनको अपने महत्त्वका ज्ञान है, अतः एकदम किसी कार्यको न कर डालनेवाली बात सूचित होती है. मेघ गम्भीरतासे तपे हुओं पर कृपाकी वर्षा करनेका अभिप्राय है. गम्भीर शब्दके सुनने मात्रसे ही शत्रुओंका डूब जाना अर्थ निकलता है. इन वाक्योंसे दुष्टोंका निग्रह तथा सज्जनोंका परिपालन सूचित होता है. चढे हुए बाणवाले धनुषसे अनुचित वचन बोलते ही तत्काल मार देनेकी स्थिति स्पष्ट होती है।।४।।

''तुम कौन हो?'' राजा द्वारा कलियुगसे ऐसा प्रश्न किया जाना दो श्लोकोंमें वर्णित है. पूर्वमें उसे न जाननेकी स्थिति और जान लेने पर निश्चयकी स्थितिके भेदसे यह प्रश्न दो भागोमें विभक्त है. अथवा दूसरा श्लोक उसके अपमान किये जानेको बताता है:

कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान् बली।
नरदेवोऽसि वेषेण नटवत् कर्मणाद्विजः ।।५।।
कस्त्वं कृष्णे गते दूरं सह गाण्डीवधन्वना।
शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् वधम् अर्हसि ।।६।।

मेरी शरणको प्राप्त इस लोकमें निर्बलोंको अत्याचारपूर्वक मारनेवाला तू बलवान कौन है? वेषसे तो तू राजा लगता है, परन्तु तेरा यह वेश नटोंके समान है, क्योंकि तेरा कार्य शूद्रों जैसा है।।५।।

गान्डीव धनुषधारी अर्जुनके साथ श्रीकृष्णके दूर पधार जाने पर शोक करने योग्य तू कौन है जो निरपराधियोंको एकान्तमें मार रहा है. अतः तू वध करने योग्य है।।६।।

मैं ही जिस लोकका रक्षक हूं उसमें बलपूर्वक नियमके विरुद्ध चलनेवाले तुम कौन हो? जो किसीके शत्रु नहीं हो सकते, ऐसे दीनोंको तुम हठपूर्वक मार रहे हो. बलवान् होनेसे तुम पर कोई विपत्ति नहीं आ सकती, यह सूचित हुआ. मैं कौन हूं यह तो मेरे चिह्नोंको देखकर ही जाना जा सकता है; ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि तुम वेशसे ही राजा लगते हो, वस्तुतः तुम राजा नहीं हो. क्योंकि न तो तुम्हारे पास राजा होने जैसे साजो-सामान हैं और न लोकमें तुम्हारी प्रसिद्धि है. तुम तो नटके समान हो. राजाओंका उपहास करनेकेलिये तुमने वैसा रूप बना लिये है. क्योंकि राजा होते तो भूमिकी रक्षा करते, धर्मकी रक्षा करते; तुम तो इन कर्तव्योंसे उलटा कार्य कर रहे हो. तुम तुम्हारे आचरणसे भी राजा जैसे नहीं

लगते. तुम्हारे काम तो शूद्रों जैसै हैं. क्योंकि जो द्विज (जिनका जन्म, संस्कारके बाद यज्ञोपवित संस्काररूपी ज्ञानात्मक जन्म हो अर्थात् 'द्वि'=दो, 'ज'=जन्म, जिसका दो बार जन्म हो) होते हैं, वे गायको पैरसे नहीं मारते. दूसरा जन्म होने पर तो कर्तव्य व अकर्तव्य का विवेक हो जाता है, तुममें इसका अभाव है, इसीलिए तो गायको पैरसे मार रहे हो. उस मारनेवाले कलियुगका अपमान करते हुए राजा परीक्षित कहते हैं कि ''तू कौन है?'' इस 'तू'का प्रयोग अपमान किये जानेके अर्थमें होता है. क्या मुझे नहीं जानते? मैं ऐसा हूं, कलि यदि ऐसा कहे, तो परीक्षित पूछते हैं कि जब कृष्ण और अर्जुन इस भूमि पर विद्यमान थे, तब क्यों नहीं सामने आया? जब धर्मके करनेवाले और करवानेवाले चले गये तब तुम कौन आ गये हो? निश्चय है कि तुम बुरे व्यक्ति हो. उनके जानेके बाद अब मैं चला आया हूं, यदि कलि ऐसा कहे, तो परीक्षित कहते हैं कि पीछेसे आये हो तो तुम चोर हो. क्योंकि उनके राज्यमें उसने तुम्हारा स्थान निर्धारीत नहीं किया था. यदि तुम जबरन राजा बनना चाहते हो तो शोक करने योग्य हो, और अपराधी हो. इससे बडा अपराध और क्या हो सकता है कि निरपराधिओंको तुम एकान्तमें मार रहे हो, अतः तुम अपराधी हो. तुम वधयोग्य हो, इसके अतिरिक्त तुम्हारे लिये और कोई दण्ड नहीं है।।५-६।।

उस कलिकालको इस प्रकार मारनेकेलिए विचार करते हुए, गाय और पृथ्वी उन दोनोंके द्वारा कुछ भी न कहे जाने पर, उनके अपराधी होनेकी आशंकाको लेकर उन्हें सान्त्वना देनेकेलिए महाराज परीक्षित पूछते हैं:

त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदा चरन्।
वृषरूपेण किं कश्चिद् देवो नः परिखेदयन्।।७।।

आपका मृणाल(कमल) समान सफेद वर्ण है, क्या बैल रूपधारी कोई देवता हैं? तीन पैरोंसे रहित एक ही पैरसे चलते हुए, आप हमें खेद पहुंचा रहे हैं ।।७।।

आप कमलकी तरह श्वेत वर्णवाले हो, ऐसी कान्तियुक्त शुभ्रता प्राकृत वृषभकी होना कठिन है, साथ ही वह एक पैरसे नहीं चल सकता. अतः प्राकृत पशुकी असम्भावनासे परीक्षित पूछते हैं कि क्या आप कोई देवता ही हैं? पशुरूप देवता ऐसे नहीं होते. तो क्या वृषभरूपसे हमें खेद पहुंचाते हुए कोई देवता हो? शिबि आदिकोंके सम्मुख अग्नि आदि देवताओंका दूसरे रूपोंमें जाना पहले भी

सुना है. अब वृषभरूप धर्मने सोचा कि क्या यह राजा हमें जान जायेगा? ।।७।।

पैरसे भूमिका स्पर्श होता हुआ देखकर; यह देवता नहीं है, ऐसे निश्चयके साथ राजा कहता है:

न जातु कौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते।
भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन् विना ते प्राणिनां शुचः ।।८।।
मा सौरभेयानुशुचो व्येतु ते वृषलाद् भयम्।
मा रोदीरम्ब भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि ।।९।।

कुरुवंशके राजाओं द्वारा दण्ड विधानसे आरक्षित अथवा भुजाओंसे आलिंगित इस भूतल पर आपके अतिरिक्त और किसीके आंसू नहीं गिर रहे हैं।।८।।

हे सुरभिके पुत्र, आप शोक न करें. शूद्रसे उत्पन्न भय अब जाता रहा है. हे माताजी, आप भी अब रोईए नहीं, दुष्टों पर शासन करनेवाले मेरे रहते आपका कल्याण है।।९।।

हे वृषभ, आपके अतिरिक्त हमारे राज्यमें किसीके शोकके आंसू इस भूमि पर गिरते हुए न तो हमने देखे और न ही सुने. तिस पर भी हम कौरव वंशके राजाओंकी दण्डरूप भुजाओंसे यह धरती आलिंगित है अर्थात् हमारा शासनचक्र समस्त पृथ्वी पर प्रतिष्ठित है. महान् राजाओंसे भोगी गई पृथ्वी कभी भी क्लेशित नहीं होती. आपके स्वरूपको हम नहीं जान पाये, यह भाव हुआ. अथवा वृषभ खेदका ही प्रतिबिम्ब है. कहीं ऐसा तो नहीं कि राजाका यह कथन अनुचित हो, इस आशंकासे कहा जा रहा है 'हे सुरभीके पुत्र!' इससे वृषभका मध्यम भाव निरूपित हुआ कि न वह देवता है और न ही प्राकृत है, किन्तु कामधेनुका पुत्र होनेसे आप वृषभोंमें उत्तम हो, अतः किसी प्रकारका शोक न करो, शूद्रसे उत्पन्न हुआ भय समाप्त हो है. शूद्रको मैं मार दूंगा यह भाव हुआ. इस प्रकार वृषभको सान्त्वना देकर अब सुरभीको धीरज बंधाते हुए कहते हैं कि मत रोइए. हे माताजी, सदैव आपके दुग्धपान करनेसे आपमें मातापना सिद्ध है. अथवा स्नेहके सम्बन्धसे आप माता हैं. आपका कल्याण हो. मेरे आ जानेसे आपका कल्याण हो समझो, यह अर्थ हुआ. अतः आप रोइए मत. (पृथ्वी यह कहती है कि) तो फिर आपने मेरी पीडाको इतने समय तक कैसे नहीं जाना? तो कहा कि अब मेरा शासनकाल है. अब मैं इस कलिकाल पर अपनी आज्ञा प्रभावित करूंगा, अथवा

इसे दण्डित करूंगा और अब आपका कल्याण होगा. कारण उपस्थित न होनेसे आपकी पीडा पहले नहीं जान सका, यह भाव हुआ।।८-९।।

हमें निमित्त बनाकर आप इस शूद्रको भला क्यों मारने लगे? उस प्रसंगमें कहते हैं:

यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वाः त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्त्तिरायुर्भगो गतिः।।१०।।

हे साध्वि, जिस राजाके राष्ट्रमें सारी प्रजा असाधु लोगोंसे पीडित रहती हो, उस असावधान राजाकी कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य तथा गति नष्ट हो जाती है।।१०।।

मैं इसे अपने कर्तव्यकी दृष्टिसे मार रहा हूं, क्योंकि इसने हमारा अपकार (बुरा विचारा है) किया है. उसके अपकारको कहा जा रहा है कि हे साध्वि, जिस राष्ट्रमें दुष्ट पुरुषोंसे प्रजा आतंकित रहती है, वहांके राजाकी चारों वस्तुएं नष्ट हो जाती हैं. नाशके विषयमें खोजपूर्ण कारण बताया है कि राजा अपने दायित्व बोधसे असावधान रहता है, ऐसी उसकी मत्त स्थितिके कारण गिनाई गई चारों स्थितियां -आयु, यश, ऐश्वर्य अथवा भाग्य तथा गति, अर्थात् परलोक सम्बन्धी ज्ञान नष्ट हो जाते हैं।।१०।।

और अधिक क्या कहूं? इसकी रक्षा न की जाएगी तो दोष लगेगा, इसलिए रक्षा करना चाहिए, ऐसा विचार तो एक कामना हो गई. किन्तु प्रजादिकी रक्षा करना चाहिए; इस निश्चित किये गए सिद्धान्तके अनुसार राष्ट्र और प्रजाकी रक्षा एक नित्य की जानेवाली वास्तविकता है. इसलिए नियत किये गए नियमोंके आधार पर ही मैं यह रक्षाका कार्य करूंगा, ऐसा परीक्षित उस धर्म व पृथ्वीसे कह रहे हैं:

एष राज्ञः परो धर्मो ह्यार्त्तानाम् आर्त्तिनिग्रहः।
अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहम् असत्तमम्।।११।।

संकटमें पडे हुए लोगोंका दुःख दूर करना ही राजाका सबसे बडा धर्म है और यह कलिकाल बडा ही दुष्ट है तथा प्राणियोंसे द्रोहकी भावना रखता है, अतः मैं इसे मारूंगा।।११।।

'एष' शब्द अंगुलीमें इंगित किये जानेके अर्थमें प्रयुक्त होता है. इस प्रकारके दुःखी प्राणिओंकी रक्षा करना राजाका सबसे बडा धर्म है. प्रजाकी रक्षा

करनेकी तुलनामें यह महत्वपूर्ण कर्तव्य है कि आर्तोंकी आर्तिका निग्रह किया जाय अर्थात् पीडितोंकी पीडाएं दूर की जाय. दुःखी व्यक्तिओंको दान आदि देनेकी अपेक्षा उनके संकटोंका निवारण करना अधिक दायित्व पूर्ण कार्य है. तो इन सब बातोंसे क्या? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मैं इसे अपना धर्मपालन करनेकेलिये ही मारूंगा. तो फिर कहीं प्रत्यक्ष वध करनेसे अधर्म तो नहीं हो जायेगा? रक्षा कार्यके अन्तर्गत ऐसा वध परम्परासे धर्म ही माना जाता रहा है. तो यह कैसे मारा जायेगा? इस पर कहते हैं कि समस्त प्राणिओंसे द्रोह रखनेवालेका वध प्राणिओंकेलिये जीवन होता है. यदि इसे नहीं मारा जायेगा तो यह बहुतोंको मार डालेगा. इसलिए बुद्धिमानीका लाघव (कुशलता) यही है कि एकको मार देना ही श्रेष्ठ है. यह तो प्रत्यक्ष रूपसे क्या करना चाहिए और किसे नहीं करना चाहिए आदि विधि-निषेधका विषय है. दूसरोंमें तो अपने द्वारा अपने स्वयंके प्रयोजनसे वध किये जानेको ही हिंसाका विषय बताया है. परन्तु बहुतसे लोगोंकी हिंसा करनेवाले एकको मार डालना हिंसा नहीं कहलाता. इसी आशंकासे कहते हैं कि कलि दुष्ट है. अतः इसका वध करनेमें अधर्म नहीं है. दुष्टोंको नियन्त्रण करनेमें वेदकी आज्ञाओंका ही पालन होता है. इसलिए इसके वधसे तीनों बातें सिद्ध होती हैं. दुष्टोंको वशमें रखनेसे वेदाज्ञाका पालन, प्राणिओंके प्रति द्रोहका निषेधरूप संरक्षण तथा दुःखीओंके दुःखको दूर करनेसे वेद विधिका पोषण; इन तीनों प्रकारोंसे वेद विहित कर्म सम्पन्न होता है।।११।।

सुरभिको सान्त्वना देनेके विधि प्रस्ताव द्वारा कलिकालके वधको कहकर अब पुनः सुरभिके पुत्र बैलसे भी कलिका वध होनेकेलिए पूछते हैं:

कोऽवृश्चत्तव पादांस्त्रीन् सौरभेय चतुष्पद।
मा भूवंस्त्वादृशा राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्त्तिनाम् ।।१२।।

हे चार पैरवाले सुरभिके पुत्र, आपके तीन पैर किसने नष्ट कर दिए? श्रीकृष्णका अनुसरण करनेवाले राजाओंके राज्यमें आपके समान कोई न होवे ।।१२।।

आपके तीन पैरोंको किसने काटा है? जैसा अपराध हो वैसा ही दण्ड किया जाना चाहिए. सुरभिका तो कलिकाल द्वारा पैरसे ताडन मात्र किया है. उस अपराधका प्रतीकार तो कलिको पीटकर भी किया जा सकता है, पर इसने आपके तीन पैरोंको काटा है, अतः इसके दो पैर तथा एक हाथको काट देना चाहिए. तब

इसका अर्थ स्पष्ट करते हैं कि राजाके सम्बोधनसे यह जानकारी मिल जाती है कि इस स्थितिसे पूर्व वृषभके चार पैर स्थित थे. उसके पैर काट देनेसे भी मेरा कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेगा? इस विषयमें कहा जा रहा है कि फिरसे कलियुग ऐसी अनुचित चेष्टा न कर सके. जैसे कलियुगने आपकी स्थिति बना दी है, वैसे ही इस लोकमें जो दूसरे लोग जी रहे हैं, उनकी भी ऐसी ही दशा कर दी जाये, इसलिए इस पर काबू करना ही चाहिए. किसी भी राज्यमें तीन प्रकारकी प्रजा निवास करती है, सुखी दुःखी और साधारण. तो फिर ऐसा आग्रह क्यों कि इसे सर्वथा ही मार दिया जावे. तब कहते हैं कि श्रीकृष्णका अनुसरण करनेवाले राजाओंके राज्यमें ऐसे दुष्ट व्यक्ति नहीं रहने चाहिए. श्रीकृष्णका अनुवर्तन करनेवालोंके अतिरिक्त दूसरे राज्योंमें भले ही दूसरी राज्य व्यवस्थाएं हो सकती है; परन्तु भगवानकी सेवा करनेवालोंके राज्यमें ऐसे अत्याचारोंके दण्ड न दिये जाने ठीक नहीं हैं. क्योंकि मेरे राज्यमें रहनेवाले सभी व्यक्तिओंके द्वारा भगवान् सेवा किये जाने योग्य हैं. यदि कलिकाल अपनी विचारधारा प्रसारित करता है, तो उससे प्रभावित होकर मेरे राज्यकी प्रजा, इन्द्रियां व्याकुल हो जानेसे भगवानकी सेवाके योग्य नहीं रह जाती, अतएव कलि जैसे लोगोंका रहना उचित नहीं है।।१२।।

इसलिए आप पूरी तरहसे यह स्पष्ट कीजिए कि आपके पैरोंको छिन्न करनेवाला कौन है? ऐसा कहा जा रहा है:

आख्याहि वृष! भद्रं वः साधूनाम् अकृतागसाम्।
आत्मवैरूप्यकर्त्तारं पार्थानां कीर्त्तिदूषणम्।।१३।।

हे निरपराधी साधुरूप वृषभ, आपका कल्याण हो. अब आप यह बता दीजिए कि आपके रूपको किसने विकृत कर दिया है और कौन है वह, जिसने पाण्डवोंकी कीर्तिको दुषित किया है।।१३।।

आप वास्तविकता बता दीजिए, बैलके रूपमें होनेसे आपका कथन अनुचित नहीं कहलायेगा. यदि आपको यह विचार आ रहा हो कि किसीकेलिये कह दिये जाने पर वह मुझे अथवा मेरे परिवारवालोंको बादमें मार देगा तो आपको ऐसी शंका नहीं करना चाहिए क्योंकि आपका कल्याण ही है. इस शूद्र कलिके जीते जी मेरा कल्याण कैसा? तो इस प्रसंगमें कहा जा रहा है कि इसे शिक्षा देनेकेलिये दण्डित किये जानेके पक्षमें भी धर्ममार्ग पर चलनेवाले और अपराधसे रहित लोगोंके शरीरको कुरूप बनाना अनुचित है. तो भी इसे मारनेमें क्या कारण

है? तब राजा कहते हैं कि पाण्डवोंका ही यह अधिकारी सबको दण्ड देता है. लोकमें निन्दा होनेसे पूर्व सिद्ध कलंक रहित कीर्तिको यह कलि दूषित कर रहा है, अतः आपके द्वारा कही गई सत्यता भी पाण्डवोंके यशको स्थापित रखनेमें धर्म मानी जायेगी।।१३।।

और मेरी प्रतिज्ञा सिद्ध होती है, ऐसा कह रहे हैं:

जनेनागस्यघं युञ्जन् सर्वतोऽस्य च मद्भयम्।
अनागस्स्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुशः।
आहर्त्ताऽस्मि भुजं साक्षाद् अमर्त्यस्यापि साङ्गदम्।।१४।।

अपराध रहित मनुष्य पर जो अपराध करता है, उसे सब ओरसे मेरा भय है. वैसे ही निरपराधी प्राणियों पर जो निरंकुश हुआ अपराध करता है तो वह भले ही साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, मैं उसका भुजबंध युक्त हाथ काट डालनेको तत्पर हूं।।१४।।

निरपराधी व्यक्ति पर जो अपराध लगाता है, वह सब ओरसे मेरे भयको प्राप्त करता है. वह देह, धन, इह लोक और परलोक सम्बन्धी मेरे द्वारा किये गये भयको प्राप्त होता है. यहां तक कि उसके सम्बन्धी पुत्रादि भी डरे हुए रहते हैं. 'प्राप्नोति' ऐसा अध्याहार करने पर, जिनने अपराध किया ही नहीं है, उस अपराध करनेका आरोप लगानेवाले मत्तको मेरा सब ओरसे भय उपस्थित रहता है, इस प्रकार दोनों ही पाठ सटीक हैं. वस्तुतः तो आधा श्लोक पहलेके समान अग्रिम श्लोकमें बताये जानेवाले तात्पर्यसे जुडा हुआ है. यदि मैं(वृषभ) अपने पैर काटनेवालेके विषयमें बता भी दूंगा तो आप उसका क्या करेंगे? इस आशंकासे कहा जा रहा है कि वह कलि भी एक अधिकारी है, फिर आपसे मारा जाने योग्य कैसे है? इसके उत्तरमें करते हैं कि वह निरंकुश है. उस पर कोई नियम लगानेवाले नहीं है, अतएव वह उल्टे रास्ते पर चलनेवाला है. सो तो ठीक है, पर उस पर कैसे नियंत्रण करेंगे? इस अपेक्षासे कहते हैं कि उसकी भुजा काट दूंगा. कभी न मरनेवाले अर्थात् अमर्त्य इन्द्रकी भुजाको भी उखाड दूंगा. यह कार्य मैं किसी चमत्कार अथवा मारण मन्त्रका प्रयोग करके यहां ही बैठा-बैठा नहीं करूंगा, बल्कि स्वयं स्वर्गमें इन्द्रके सम्मुख जाकर उसकी सबके द्वारा पूजी जानेवाली बाजूबन्ध आदि आभुषणोंसे अलंकृत भुजाको काट दूं यदि वह भी निरंकुश होकर अपराध करने लगे तो, फिर अन्यकी तो बात ही क्या? ।।१४।।

हे राजन्, आप हमारी समस्याकेलिए नियुक्त नहीं हो. आपको अपने नियोगके अनुसार ही प्रजाके पालनमें तत्पर रहना चाहिए. हम तो आपके राज्यमें यों ही इधर-उधरसे घूमते चले आए हैं, आपके प्रजा सम्बन्धी जन नहीं हैं, इस आशंकाका राजा समाधान करते हुए कहते हैं:

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्यानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रम् अनापद्युत्पथान् इह।।१५।।

अपने धर्मका पालन करना राजाका परम धर्म है. शास्त्रोंमें कहे नियमोंके अनुसार अन्यों पर भी शासन करना तथा संकट न आने पर भी विपरीत मार्ग पर जानेवालोंको नियन्त्रित करना राजाका मुख्य कर्तव्य है।।१५।।

राजाके दो प्रकारके धर्म होते हैं. प्रथम व मुख्य कोटिके धर्मोमें वे धर्म आते हैं जो राजापनेके साथ ही साथ जन्म लेते हैं, जिन्हें सहज धर्म कहा जाता है. दूसरी कोटिके धर्म वे हैं जो राज्यपदके मिलने पर राजाको प्राप्त होते हैं जैसे अपने देशकी सीमा रक्षण, प्रजाके विभागोंकी संरचना, कर वसूली नियम, अपराध संहिताका नियमानुसार पालन करवाना आदि. पीडितोंकी रक्षा करना ही राजाका सहज व मुख्य धर्म है. अन्य धर्मोंका उतना महत्व नहीं है, यों कहिये कि वे गौण हैं. सहज धर्म व्यापक है, वह राष्ट्रकी सीमाओंसे बंधा हुआ नहीं है. जो कोई पत्नीको पीट रहा हो, उसका भी निवारण करना चाहिए, परन्तु शक्तिके न होने पर चुप्पी साधना पडता है. राजामें शक्तिका अभाव नहीं होता, उसे अपने मुख्य धर्म स्वधर्म या सहज धर्मका ही पालन करना चाहिए. जो चाहे अन्य हैं, राज्यसे सम्बन्धी नहीं हैं तो भी बिना किसी विपत्तिके आये ही खोटे मार्गमें प्रवृत्त होते हैं तो उनको वशमें करना ही चाहिए. जो शासन छोडकर विरक्त हो हो, उसकी बात मैं नहीं करता, परन्तु दूसरोंकी आर्ति हरण करना मेरा तो स्वधर्म है, अतः आपको उस आततायीका नाम बता ही देना चाहिए।।१५।।

जो बर्हिमुख हो है, वह कलिका निग्रह नहीं कर सकता अथवा जो भगवदीय नहीं है, वह भी कलिको नहीं जीत सकता, यद्यपि राजा परीक्षितके दोनों ही रूप नहीं हैं, वे भगवदीय तथा अबर्हिमुख हैं तथापि अभिमानके कारण बर्हिमुख व अभगवदीय जैसे जान पडते हैं. अतः उन्हें अन्तर्मुखी बनानेकेलिए पहले इसी अभिप्रायसे भरा हुआ उत्तर देनेकेलिए तथा भगवदीयका ज्ञान स्मरण करनेकेलिए प्रोत्साहित करते हैं:

धर्म उवाच

एतद् वः पाण्डवेयानां युक्तम् आर्त्ताभयं वचः।
येषां गुणगणैः कृष्णो दौत्यादौ भगवान् कृतः।।१६।।

पाण्डव वंशमें उत्पन्न होनेवालोंको दुःखितोंके प्रति ऐसे अभय वचन बोलना उचित है जिनके गुण समुहोंसे कृपा करते हुए भगवान् कृष्णने दूत आदि बननेका कार्य भी अंगीकार किया।।१६।।

आपके द्वारा दूसरोंके दुःखोंको दूर करनेकी भावना प्रकट करना परम कृपालुताका सूचक है तथा आपको ऐसा कहना उचित ही है. आर्तोंको अभयदान देनवाले वैसे आपके वचन यद्यपि अभिमानके सूचक हैं तो भी दूसरोंका दुःख निवारण करनेकेलिये कहे गये हैं. किसी अपनी बढाईकी भावनासे कहे गये वचन नहीं है. फिर भी उन वचनोंकी कृतिको अनुचित ही मानी जायेगी. अन्यको पीडा देनेवाले पदार्थ धर्म नहीं माने जा सकते. आर्तिके निवारणरूप भगवदीय धर्मको आगे लाकर ही भगवान् पूर्वजोंके वशीभूत हो गये थे. ऐसे गुण तो आपमें हजारों हैं, जिन्हें करके साक्षात् पुरुषार्थरूप और सब प्रमाणोंके अर्थरूप परमानन्दकी प्राप्ति आपको हुई. इन वचनोंको कहकर धर्मने परीक्षितको स्वयंके भ्रान्त होनेकी स्थितिका आक्षेप किया है. इससे संकेत दिया जा रहा है कि अत्यन्त बहिर्मुखताकी ओर बढी हुई ऐसी अपनी स्वधर्म निष्ठावाली भावनाका त्याग कीजिए।।१६।।

इस प्रकार भगवत्परक बननेका उपदेश देकर अब धर्मके सूक्ष्म तत्त्वका उपदेश दे रहे हैं:

न वयं क्लेशबीजानी यतः स्युः पुरुषर्षभ!।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः।।१७।।
केचिद् विकल्पवसना आहुरात्मानम् आत्मना।
दैवम् अन्ये परे कर्म स्वभावम् अपरे प्रभुम्।।१८।।

हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ, वाक्योंके अनेक भेदोंसे विमोहित हुए उस पुरुषको हम नहीं जानते, जहांसे क्लेशके बीज हुए हों।।१७।।

यहां कुछ लोगोंका यह मत है कि विकल्प (ऐसा नहीं तो वैसा नहीं, ऐसा है तो वैसा है आदि तर्क वितर्कात्मक विचारोंको विकल्प कहा जाता हैं, जिनमें द्वन्द्व भावकी सम्भावना होती है) रूपी वस्त्रसे ढंका हुआ स्वयंके सुख-

दुःखका कारण आत्मा है. कुछ भाग्यको कारण मानते हैं और कुछ कर्मको; कई स्वभावको ही इन सब स्थितियोंका आधार मानते हैं तो कई ऐसे हैं जो इन सबके मूलमें प्रभुको कारण मानते हैं।।१८।।

धर्म, राजा परीक्षितके प्रति कहते हैं कि मेरे इन तीनों पैरोंको एक व्यक्तिके द्वारा काटकर नष्ट नहीं किया है किन्तु सत्ययुग आदि युग अपनी-अपनी निवृत्तिके साथ एक-एक पैर अपने साथ लेते गये. वे युग, धर्मके पैरोंका आश्रय लेकर रहनेवाले होनेसे जब अपना-अपना समय पूरा करके जाने लगे तो धर्मके एक-एक पैरको लेकर जाते रहे. द्वापरमें वह धर्ममें दो पैरवाला ही रह गया. वेद तथा स्मृति इन दो प्रमाणोंवाला धर्म रह गया. इसलिए निर्णायक प्रमाणके अभावमें वस्तुतः किसीने भी कुछ भी नहीं किया. जो कुछ भी किया है, वह या तो कालने किया है या भगवानने. यह सब स्वभावसे ही होता है, अतः आपके प्रश्नका मांगा उत्तर घटित नहीं हो सकता. कालमें अथवा भगवानमें यह कुछ भी नहीं कर सकता. उनने प्रमाणका बोध होने पर अपने अधिकारके अनुसार पदार्थोंको जानकर यह वैसा ही करेगा. इस प्रसंगमें कोई भी बात स्पष्टरूपसे नहीं कही जा सकती. हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ! ''धैर्यशाली लोग मुझे पुरुषरूपमें देखते हैं'' इस न्यायके अनुसार यहां पुरुषके अन्तर्गत ही भगवद्दृष्टि की गई है. तिसपर भी आप तो पुरुषोंमें श्रेष्ठ हो. इससे अधिक क्या कहें? कि क्लेशके बीज पाप ही है अथवा उन्हें भगवान्के प्रति किये गये अपराध कह लीजिए. तो फिर वे कहांसे उत्पन्न होते हैं, इसका विचार करना चाहिए. पुरुष ही इन सबमें समवायि कारण है. कुछ अन्तःकरणको इसका समवायि कारण मानते हैं. भूत सरकारके(?) पक्षवाले शरीरको ही क्लेशके बीजको उत्पन्न करनेमें मिला हुआ सहयोगी कारण मानते हैं. अन्योंके विचारोंमें निमित्त ही समवायि कारण है. इन सब समवायियोंका नियामक कौन है, इस पर विचार करना है. किसके द्वारा नियमित की गई सामग्री क्लेशके बीजोंको उत्पन्न करती है. इसका कारण ढूंढनेमें अनिश्चयकी स्थिति है. वह एक मात्र पुरुष ही है. क्योंकि ओर कोई दूसरा तत्त्व नियमन नहीं कर सकता. वे पुरुष पांच भागोमें विभक्त है; व्यष्टि, समष्टि, पुरुष, काल तथा पुरुषोत्तम. इन पांचोमेंसे परम समवायि कौन है, यह अनिश्चयकी स्थिति है. विचार करनेवालेके अन्तःकरणके अनुसार वाक्यभेदोंके द्वारा हम सभीके मोहित होनेसे इस प्रसंगमें विचार करनेकी असमर्थता रहती है. एक ही वाक्यको विचारक गण अपनी-

अपनी बुद्धिके अनुसार अनेक प्रकारसे जोडते हैं, अर्थात् तात्पर्य निकालते हैं. वे वाक्यभेद सभी जगह अपने-अपने तर्कोंकी सहायता लेते हैं. अब वाक्यभेदोंसे निर्णय किये गये पदार्थोंको बताया जा रहा है. उस प्रसंगमें कुछ मायावादी आदिकोंका यह मत है कि व्यष्टि ही सबका कारण है. इसलिए सब प्रकारके विकल्प मायासे ढंके हुए हैं. ये विकल्प वस्त्रके रूपमें परिकल्पित किये गये हैं. विकल्पके अन्तर्गत ही जिनके वस्त्र हैं. विभिन्न कल्पनारूप अज्ञान या वस्त्र जिन पर आच्छादित है, वे आत्माको ही नियामक मानते हैं. वे इस वाक्यको आधार मानते हैं कि ''आत्मा ही आत्माका बन्ध है''. वे आत्माको ही कारण मानकर चलते हैं, इसके अतिरिक्त किसीको भी कारण नहीं मानते. वे कहते हैं कि आत्मामें ही सबकी स्थिति है. दूसरी ओर समष्टिको ही सबका मूल आधार माननेवाले पौराणिक हैं, जो ज्योतिषशास्त्रके आधार पर इस ब्रह्माण्डको पुरुषका शरीर मानकर उसमें कालचक्रको चेष्टारूपसे स्वीकार करते हुए उनके अंगोंके रूपमें बुध आदि ग्रहोंके अन्तःस्थित समस्त ज्ञानसे युक्त समष्टिको कारण मानते हैं. इसके बाद भी पुरुषको कारण माननेवाले प्रकृतिका अधिष्ठाता पुरुषको ही मानते हैं. वे सहायक रूपमें कर्मको नियामक स्वीकार करते हैं. अन्यथा प्रकृति व पुरुषकी नित्यतासे तथा कालकी नित्यतासे, एक सी अपेक्षाके रहते अन्तर न होनेसे सृष्टि होवे या नहीं भी होवे. इसलिए नियामकके रूपमें कर्मकी अपेक्षा की गई है. ''भाग्यसे ही प्रबुद्ध कर्मवाला होता है'' वे इस वाक्यको आधार मानते हैं, तदपि उनका नियामकत्व सम्भव नहीं होता. अन्य तो साधारण स्थितिके अन्तर्गत आते हैं. सिद्ध यह हुआ कि कर्म सहित पुरुष ही क्लेशके बीजका हेतु है. दूसरे विचारक कालको ही कारण मानते हैं; क्योंकि काल ही स्वभावका द्वार है. वह काल ही प्रकृति आदिको प्रेरित करता है. स्वभावसे ही वे परिणामको प्राप्त होते हैं और स्वभावसे ही प्रेरित करते हैं. ''सुखरूप और दुःखरूप मैं ही हूं'' ऐसे काल- भगवान्के वाक्य हैं. यद्यपि ऐसा कथन करनेवाले पुरुषोत्तम ही हैं तो भी इस प्रकरणके अन्तर्गत उन्होंने अपनेको कालरूपसे बताया है और शेष वाक्य काल द्वारा कहे गये हैं. ''काल वह शक्ति है, जिसके वशमें हुआ यह लोक वायुसे चलाये गये बादलोंके समान रहता है'' इन वाक्योंसे कालकी सत्ता सिद्ध होती है. अन्य दार्शनिक पुरुषोत्तमको ही सबका मूल कारण मानते हैं. वे पुरुषोत्तम ही सबमें प्रविष्ट हुए सब कार्योंको करते हैं. काल आदिकोंमें भी वे ही प्रविष्ट हैं.

यद्यपि कालका प्रभुत्व सर्वत्र है, तदपि वह प्रभुत्व उसका अपना नहीं हैं. वह काल भगवानकी प्रेरणासे ही सब करता है. कालमें सर्वपनेका अभाव होनेसे उसके कार्योंमें विषमता, निर्दयता आदि देखे जाते हैं. काल और आत्मा के विवेचनको आगे बतायेंगे. कालमें नियामकत्व तो है, परन्तु सर्वत्व नहीं है।।१७-१८।।

भगवान जब सभीमें प्रविष्ट हैं और वे ही सब कुछ कर रहे हैं, तो फिर दिखाई क्यों नहीं देते? उसके उत्तरमें कहा जा रहा है:

अप्रतर्क्यादˎ अनिर्वाच्यादˎ इति केष्वपि निश्चयः।
अत्रानुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया।।१९।।

वे प्रभु तर्कसे समझे नहीं जा सकते और कोई उनकी व्याख्या नहीं कर सकता कितनोंका ही यही निश्चय है. इसलिए हे राजर्षि, अब इस प्रसंगमें जो आपके अधिकारके अनुरूप हो, उसे करनेमें अपनी बुद्धिसे विचार कर लीजिए ।।१९।।

यद्यपि उन भगवान्के विषयमें शास्त्रोंके प्रमाणोंसे सामान्यतः यह तर्क दिया जाता है कि वे समस्त वस्तुओंमें वस्तु स्वरूपसे विद्यमान हैं और तत्त्वको जाननेवाले उन्हें देखते हैं, तदपि स्पष्टरूपसे सींगको पकडनेके समान ईश्वरको पकडकर बतानेवाला कोई तर्क नहीं है. तो जिन लोगोंने भगवानको जान लिया है, वे यह क्यों नहीं बताते कि वह किस प्रकारका है? उस प्रसंगमें कहते हैं कि उसकी विवेचना नहीं की जा सकती. जैसे शक्करका मीठापन केवल अनुभवसे ही जाना जा सकता है, पर उसे स्पष्टरूपसे कोई भी नहीं कह सकता. न तो किसी शब्द विशेषसे, न ही संकेतसे. इसी तरह व्यवहारमें न लाये जा सकनेके कारण उन पुरुषोत्तमकी व्याख्या नहीं की जा सकती. यद्यपि किसी विशेष आकारसे अथवा उत्प्रेक्षाओंसे उनके विषयमें नहीं बताया जा सकता तथापि शास्त्रोंके अनुभवसे उनका निश्चय किया है. ऐसे व्यक्ति कोई-कोई ही हैं, जो पुरुषोत्तमको मूल कारण मानकर उन्हें अनुभवमें लाते हैं. यहां क्लेशबीज विषयक बातको लेकर पांच पक्षोंमें जैसा जिसका अधिकार तथा जैसी जिसकी व्यवस्थाको लेकर विवेचन दिया है, आपका भी जैसा अधिकार है, उसके अनुरूप व्यवस्था कीजिए. यहां 'अनुरूप' शब्दका विशेष प्रयोजन है. आप राजर्षि हैं, अतएव इस सम्बोधनके अनुरूप राजापनेसे आप व्यवस्था विषयक बात सोच सकते हैं तथा

ऋषि होनेसे मन्त्रको देख सकते हैं. इसे जानकर आप हृदयमें ही अपने किये जाने योग्य कार्यका विचारपूर्वक निर्णय लीजिए. यहां हमसे सम्मति पूछनेकी कोई बात ही शेष नहीं रह जाती. किसी भी मतके अन्तर्गत एकरूपताके अभावमें अपने अधिकारके अनुसार ही कहे गये प्रसंगोंके अनुरूप निर्णय लीजिए. अतः आपको अब क्या करना है? इसका विचार अपनी बुद्धिसे कीजिए।।१९।।

राजाने इस प्रकार धर्मके वाक्योंको सुनकर उसका अभिप्राय, वचन तथा वक्ताका निर्धारण करके इस प्रकार कहा:

एवं धर्मे प्रवदति स सम्राड् द्विजसत्तम।
समाहितेन मनसा विखेदः पर्यचष्ट तम्।।२०।।

हे द्विज सत्तम शौनक! धर्मके ऐसा कहने पर वह सम्राट परीक्षित खेद रहित हुआ सावधान मनसे धर्मके प्रति इस प्रकार कहने लगा।।२०।।

राजाने यह निश्चय कर लिया कि धर्मके अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा कहनेमें समर्थ नहीं हो सकता. परीक्षित सम्राट हैं तथा विचारक हैं. यहां शौनक ऋषिको द्विजसत्तमा सम्बोधन इसलिए दिया कि वे सूक्ष्म बुद्धिसे संवादके अर्थको समझनेमें सक्षम हैं. राजामें ये विचार उत्पन्न हुए हैं कि व्यवहारके अनुसार पूछे जाने पर भी ये महानुभाव दूसरी ही प्रकारका उत्तर दे रहे हैं, इसमें क्या कारण हो सकता है? कहीं परोक्ष कथन द्वारा हमारी परीक्षाकेलिये अथवा व्यवहारमें न आनेकेलिये या फिर छलनेकेलिये या जानकारी न होनेकी दृष्टिसे इन्होंने हमें विपरीत उत्तर दिया है अथवा कोई ओर बात है? इस प्रकार चारों पक्षों पर विचार करनेमें राजाका चित्त लग गया. उसमें कुशाग्र बुद्धि होनेसे वाच्य, वाक्य, ज्ञानका अभाव होने पर भी कहनेवालेके अभिप्रायका निर्णय राजाने शीघ्र ही कर लिया. उन्हें समझनेमें बुद्धिको क्लेश नहीं हुआ. जैसै तैसे उन पांच पक्षों पर परीक्षितने निर्णय ले लिया. कुछ भी हो इस कलिकालने ही इन धर्म वृषभके पैर काटे है तथा पृथ्वीको पैरोंसे पीटा है. यद्यपि ये स्वयं इस बातको न कहकर किसी बहानेसे दूसरी ही बातें बता रहे हैं; ये ओर कोई नहीं, धर्म ही है. युगोंके वर्णनोंमें इन्होंने पूर्व युगकी व्यवस्थाओंका निरूपण किया है, जिसे मैने सुना है. अतः अपने प्रयोजन व अवसरका विचार करते हुए निर्धारित किये हुए अर्थको राजा धर्मके प्रति कह रहे हैं।।२०।।

परीक्षित निर्धारित किये हुए विचारको ही कह रहे हैं:

राजोवाच

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।

यद् अधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद् भवेत्।।२१।।

हे धर्मको जाननेवाले, आप धर्मकी बात कहते हो, अतः बैलका रूप धारण करनेवाले आप धर्म हो. क्योंकि अधर्म करनेवालेको जो नर्क आदि स्थान मिलते हैं, वे ही स्थान उस अधर्मकी सूचना देनेवालेको भी मिलते हैं ।।२१।।

आप तो धर्म हैं, क्योंकि आप धर्मको जाननेवाले हैं. क्योंकि जो दूसरा होता है, वह दूसरेके स्वरूपको नहीं जानता है. कारणरूपसे स्वरूपकी प्रसिद्धिकी आशंकासे कहते हैं कि ये धर्मकी बातोंको जाननेके कारण धर्मकी बातोंको कहते हैं. इससे अधिक और क्या कहें कि इन्होंने वृषभका रूप धारण कर रखा है. अलौकिकमें भी धर्मका रूप बैल ही बताया है. धर्मके कथन करनेवालेका समर्थन किया जा रहा है कि जो अधर्म करनेवालेके स्थान हैं उन्हें बताया है. अधर्म करनेवालेकेलिये जिन नरकादि स्थानोंको बताया है, वे ही स्थान अधर्मकी सूचना देनेवालेकेलिये भी होते हैं अर्थात् अधर्म रूप होते हैं. अतः नर्कके भयसे धर्मकी सूक्ष्म दृष्टिसे धर्मको कहनेवाले होनेके कारण ये धर्म हैं ।।२१।।

आजके समयमें व्याख्याकार जिस प्रकार वाक्योंके अर्थका त्याग कर देते हैं, उसी प्रकार यहां वाक्योंके स्वयंके अर्थका त्याग हुआ है, अतः यह विचार योग्य नहीं. इसलिए वाक्योंके अर्थ अपनी वास्तविकताको न छोडें, इस तथ्यको दृष्टिमें रखकर विचार करना चाहिए. इस आकांक्षासे कहा जा रहा है:

अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा ।

चेतसो वचसश्चापि भूतानाम् इति निश्चयः।।२२।।

अथवा भूत–प्राणी मात्रको देवमायाकी गति मन और वचन से अगोचर है, यह निश्चय है।।२२।।

यहां धर्मने जो यह कहा है कि ''हम नहीं जानते'', वास्तवमें वह बात वैसी ही है. ''मेरी मायाको ग्रहण करके बोलनेवालेकेलिये कुछ भी दुर्घटित नहीं हो सकता'' इस युक्तिमें कुछ भी कारणरूपता न होनेसे उसका निर्धार नहीं हो सकता. माया अथवा मायाकी प्रवृत्तिओं का पहलेसे ही विचार करना चाहिए, इसके बाद दूसरेका ज्ञान होगा. ऐसी शंका करके कहते हैं कि माया भगवान् सहित है और भगवानने ही उसे प्रेरणा की है, इसलिए वह माया भगवानकी शक्ति होनेसे

भगवान्के बराबर है. इसलिए उसकी गति अपनेको जाननेमें नहीं आ सकती. साधारण मनुष्योंको तो वेदवाक्योंसे भी जाननेमें नहीं आ सकती, यह बतानेकेलिये मूलमें कहा है कि उस मायाकी गति भूत-प्राणिओंसे नहीं जानी जा सकती।।२२।।

इस प्रकार यह धर्म है, यह पृथ्वी है, यह कलियुग है, ऐसा तीनोंका निश्चय करके, उनके योग्य जो करना है, उसे धर्मके आगे कहते हैं:

तपः शौचं दया सत्यम् इति पादाः कृते कृताः।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मय-सङ्ग-मदैस्तव।।२३।।

तप, शौच, दया और सत्य ये आपके चार पैर हैं. उनमें स्मय, संग और मद इन अधर्मके अंशो द्वारा आपके तप, शौच और दया -ये तीन पैर टूट गए हैं ।।२३।।

उन-उन युगोंके अनुसार धर्मका रूप भिन्न-भिन्न होनेसे उस समय रहनेवाले पैरोंको गिना जा रहा है. बारहवें स्कन्धमें अन्यथा निरूपणके प्रयोजनको वहां ही कहा जायेगा. कृच्छ्रादि तप कहा है. पूरी तरहसे शुद्ध हो जानेका नाम शौच है. उसकेलिये ही आचारका विधान है. दूसरेके दुःखको हटानेकी इच्छा दया है. यथार्थ कहना सत्यभाषण है. इन चारोंसे धर्म माना जाता है. सब धर्म सत्ययुग आदिमें प्रधान माने गये हैं. उस धर्मका प्रतिपक्षी अधर्म है. उस अधर्मके भी चार पांव है. वह गधेके रूपवाला है. उस अधर्मरूपी गधेके एक खुर है. धर्मके पांवमें दो खुर हैं. धर्ममें प्रमाण व प्रवृत्ति ये दो खुर हैं. अधर्ममें तो प्रमाणवाला खुर नहीं है. निवृत्तिको बतानेकेलिये अनुवादका आधार है. यदि ऐसा न हो तो वाक्यभेद हो जावे. भूमि तो सभीकेलिये समान रूपसे स्थिति योग्य होती है. प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा धर्म और अधर्म ये दोनों ही समान रूपसे पृथ्वी पर फैले हुए हैं. काल तो प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंके भेदको समान रूपसे स्थापित करता है. युगकी प्रवृत्तिमें धर्म है तथा निवृत्तिमें अधर्म है. कालके वशीभूत होकर धर्मके तीन पांवोंको दूर करके अधर्म अपने तीन पांवोंको स्थापित कर देता है. अधर्मके चार पैर हैं : गर्व, संग, मद और अनृत (झूठ). इस दशाविशेषमें धर्म प्रवेशके अंश पदका प्रयोग किया है।।२३।।

अब कलिके दोषोंको बताया जा रहा है:

इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्त्तयेद् यतः।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयम् अनृतेनैधितः कलिः।।२४।।

हे धर्म, इस समय आपका सत्य रूपी पैर रहा है. जिससे आपकी आत्माका निर्वाह हो रहा है. उस पैरको असत्य द्वारा नष्ट करके यह अधर्मरूप कलियुग ग्रहण करनेकी इच्छा करता है।।२४।।

इस समय तो आपका एक सत्यरूपी पैर ही है, जिससे अपने स्वरूपको आप हमेशा चलाते हो. अथवा सत्यके सम्बन्धसे आप समीपमें आते हो. इसलिए आपको वह सत्य निभा रहा है. मूलमें धर्मको कहनेवाला सम्बोधन है. उसके बजाय धर्मकी विभक्तिको बदलकर द्वितीयाका प्रयोग किया जावे तो सत्य धर्मको निभाता है, यह अर्थ बनता है. और यदि 'हे धर्म' ऐसा सम्बोधन कहो तो स्वयंके आत्माको सत्य निभाता है, इस प्रकार अध्याहार करके ऊपरका अर्थ करना चाहिए. उस सत्यरूप पैरको अधर्म लेनेकी इच्छा करता है, अथवा सत्यके कारणरूप अन्तःकरणको लेनेकी इच्छा करता है. अधर्म धर्मके पैरको लेनेकी इच्छा करे, इसमें कलियुगका क्या दोष? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि अधर्म यह कलियुग ही है. काल अनन्त है, उसमें सत्ययुग, त्रेता, द्वापर हैं, और वह कलियुग भी है, ऐसा कहा है. उस कालका विभाग करनेवाला कोई भी है, इसलिए सत्ययुगादि कहलाते हैं. उसमें काल किसी भी प्रकारसे स्वयंसे अलग नहीं कर सकता. अतः धर्म और अधर्म ही कालका विभाग करनेवाले हैं, जिससे सत्ययुग आदि कालका व्यवहार होता है. उसमें जितने समयको धर्म विभाजित करता है, उसे सत्ययुग कहते हैं. और जिसे अधर्म अलग करता है, उसे कलियुग कहते हैं. बडे भागमें धर्म, और थोडे भागमें अधर्म, इस प्रकार जब दोनों विभाजन करते हैं, उसे त्रेतायुग कहते हैं. जहां समान भावसे धर्म व अधर्मका बंटवारा होता है, उसे द्वापरयुग कहते हैं. इस रीतिसे कालका विभाग करनेवाले धर्म तथा अधर्म हैं. उसमें अधर्मके समूहको दूर करनेकेलिये जब कालका आगमन हो तब अधर्मके अंशका उल्लंघन करके वह आता है, जिससे अधर्मके अंशका प्रवेश होता है. जिस प्रकार संवत्सररूपी काल घूमता है और वह सबको अपने अन्दर रखे हुए होता है, उसी प्रकार युगके विभागके समयमें भी अधर्मके अंशका प्रवेश होता है. क्योंकि ''जो चार स्तोम हैं, वह सत्ययुगके हैं और जो पांच है, वे कलियुगके हैं'', ऐसा कहा है. उनमें चार स्तोमादिक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ हैं, उसका सत्ययुगके तरीकेसे निरूपण किया है. इसलिए सत्ययुगका धर्ममें अवच्छेदकपना है और इसके अतिरिक्त जो पंचात्मक काल है, वह कलियुग है.

अर्थात् सत्ययुगमें जो ज्योतिष्टोमादिक चार यज्ञ हैं, उसमें अभावरूप चार और एक इनसे अलग है, इस प्रकार पांच हुए. उसे वेदमें ''समान दिनोंके पांच पुण्यरूप नक्षत्र हैं'' ऐसा कहा है. वहां प्रसंगानुसार उसका निर्धार किया है. इसलिए ''देवस्य सवितुः प्रातः'' इस वाक्यमें प्रातः, संगव, मध्याह्न, अपराह्ण और सायं इस प्रकार पांच काल हैं और उनके सविता, मित्र, बृहस्पति, भग और वरूण ये क्रमवार देवता हैं, जिससे वे पुण्य रूप हैं ऐसा श्रुतिमें कहा है. वहां अग्निष्टोमादिक होनेसे चारका वीर्यपना बताकर चार काल बुरे बताये हैं. उसमें चार कालके अवयवोंको ऊपर लिखे अग्निष्टोमादिक चारका अभावके रूपमें निर्धार किया है. जिस प्रकार आकाशको अलग करनेवाले घट आदि हैं और उन घटोंमें रहनेवाले आकाशको बतानेकेलिये घडा ही बताया जाता है. उन घडोंके अन्दर और बाहर आकाश रहता है और मध्य भागमें घडा बताया जाता है, उसी प्रकार दोनों तरफ काल रहता हुआ मध्य भागमें अधर्मको बताता है, वह अधर्म कलिरूप है. ऊपर बताई श्रुतिमें सत्ययुग व कलियुग का ही नाम होनेसे दो युग हैं, यह सिद्ध होता है. उसमें द्वापरयुगमें सत्ययुगके बराबर ही कलियुग था, जिससे दो पैर धर्मके तथा दो अधर्मके थे. त्रेतायुगमें सत्ययुगसे कलियुग हीन था, जिससे तीन पैर धर्मके और एक पैर अधर्मका था. इस समय तो तीन पैर अधर्मके फैले हुए हैं. जिससे कलियुगकी उन्नति हुई है. उसमें भी हमेशा असत्यसे पोषण पाया हुआ कलियुग अपने शत्रुरूप धर्मका पैर लेनेकी इच्छा करता है, क्योंकि शत्रुका कोई भी अंश रहने देना ठीक नहीं. इसीलिए वेदमें सत्ययुग और कलियुग ये दो नाम हैं. उसमें सत्ययुगका शेष त्रेतायुग है और कलियुगका शेष भाग द्वापरयुग है।।२४।।

इस प्रकार धर्मका स्वरूप कहकर स्वयंको जो पृथ्वीके स्वरूपका ज्ञान हुआ है, उसे प्रकट करते हैं:

इयञ्च भूर्भगवता न्यासितोरुभरा सती।
श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः सर्वतः कृतकौतुका।।२५।।

भगवानने जिसका अत्यधिक भार उतार दिया है, ऐसी हुई यह पृथ्वी है. शोभायुक्त भगवान्के चरणकमलोंके संचरणों द्वारा जहां सभी ओर कौतुक किया है।।२५।।

धर्म और पृथ्वीके अतिरिक्त कलियुग भी उसी स्थल पर है, इसे मूलमें 'च'के द्वारा प्रकट किया है. इस पृथ्वीके तीन गुण एवं तीन दोष हैं, इस प्रकार यह

पृथ्वी छह अंशोवाली है. भगवानने पृथ्वीका अतिशय भार उतारा है. इसलिए भगवानका किया हुआ उपकार पृथ्वी पर है. ये पृथ्वीके गुण हैं, जिससे वह भगवानमें एक निष्ठावाली है और उसीसे पृथ्वी सती है. भगवानने ही उसे अपने अंशों द्वारा सजाया है, श्रृंगार किया है. उसे कहा जा रहा है कि शोभायुक्त भगवान्‌के पधारनेसे पृथ्वीके सब स्थलोंमें आश्चर्य उत्पन्न किया है. इससे शृंगाररसके भावको सूचित किया है।।२५।।

अब पृथ्वीके दोषोंको बताया जा रहा है:

शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झिताधुना।
अब्रह्मण्या नृपव्याजाः शूद्रा भोक्ष्यन्ति माम् इति।।२६।।

अब उसे भगवानने छोड दिया है, जिससे उसके नेत्रोंमें आंसू आ गए हैं. जिससे वह दुर्भागिनी होकर शोक कर रही है कि राजाके वेशके बहानेसे शूद्र मुझे भोगेंगे जो ब्राह्मणोंके भक्त नहीं हैं।।२६।।

भगवान् द्वारा परित्याग कर दिये जानेसे पृथ्वीका दुर्भागीपना, अब्रह्मण्यों द्वारा भोगा जाना, (ब्राह्मण और ब्रह्मको न माननेवाले शूद्र असुर) और पूर्व अवस्थाके त्यागका शोक बताया है. इन सभी कारणोंसे वह आंसू बहा रही है. उस पृथ्वीने स्वयं कोई दोष नहीं किया है, अतः उसे साध्वी कहा है. भगवान् द्वारा त्याग दिये जानेसे ही उसके भाग्यका अभाव हो है. अतः उसे भाग्यहीन अथवा दुर्भागा बताया है. 'अधुना' शब्दसे ''अभी-अभी ही त्यागा है'' ऐसे त्यागकी निकटताको सूचित किया है. राजा भी तो भगवान्‌के रूप ही होते हैं, यदि वे पृथ्वीका भोग कर रहे हैं तो इसमें दोषवाली क्या बात है? तो इस विषयमें कहा जा रहा है कि वे राजा अब्रह्मण्य हैं. भगवद्धर्मसे विपरीत चलनेको 'अब्रह्मण्य' शब्दके द्वारा सूचित किया है. नरोंका पालन करना ही सच्चा नृपपना है. जब उस नृपपनेको स्थितिके योगका अभाव है, तो वह राजाकी परिभाषामें आया ही नहीं. इस प्रकारसे ऊपरी तौर पर राजाका वेश बनाये हुए भगवान्‌के विरोधियोंको शूद्र कहा है. श्रुतिओंमें कहा है कि ''असुर ही शूद्र है''. वे शूद्र पृथ्वीको भोगेंगे, यही पृथ्वीके शोक व रोने का कारण है. इससे पृथ्वीमें रसका आविर्भाव न होनेसे उसे भोगे जानेवाला भाव घटित नहीं हो रहा है, यह सूचित किया है।।२६।।

अब इस प्रसंगके एक भागका उपसंहार करते हुए कहते हैं:

इति धर्मं महीञ्चैव सान्त्वयित्वा महारथः।

निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे।।२७।।

महारथी परीक्षितने इस प्रकार धर्म और पृथ्वी को सान्त्वना देकर अधर्मके कारणरूप कलिकाल पर अपना सजा हुआ खड्ग उठा लिया।।२७।।

कथन किये गये भावोंको इकठ्ठा अर्थवाला बनानेकेलिये 'च'कारका प्रयोग किया है. 'एव' शब्दका प्रयोग कलिके निषेध अर्थमें प्रयुक्त हुआ. 'महारथी' शब्द परीक्षित द्वारा कलिकालको नियन्त्रित करनेकी सामर्थ्यको बताता है. कलि देवता स्वरूप होनेसे उसके मस्तकको तीक्ष्ण तलवारसे काटना उचित नहीं समझा है, इस आशंकासे कहते हैं कि वह अधर्मकी विचारधाराको उत्पन्न करनेमें कारणरूप हैं. उसकी निवृत्तिके अर्थमें चतुर्थीका प्रयोग किया है. जिस प्रकार मच्छरोंको हटानेकेलिये धुएंका प्रयोग किया जाता है, वैसे ही यहां कलिकालके प्रसारको मिटानेकेलिये तलवारका प्रयोग हुआ है।।२७।।

धर्म व राजा के वार्तालापको सुननेके बाद कलिकाल न तो छिपकर भाग ही सकता और न ही इससे उसका कोई प्रयोजन सिद्ध हो सकता था अर्थात् उस प्रक्रियासे उसका बचाव नहीं हो सकता था. धर्मके वाक्योंको सुनकर उसके अर्थका विचार करनेसे तथा राजाके गौरवमय पाण्डवकुटुम्ब तथा उसके अभिमान युक्त वचनोंको सुनकर कि ''मैं इन्द्रकी भुजा भी उखाड डालूं'' अपने नाशके भयको छोडकर राजा परीक्षितकी शरणमें गया ; अब इस प्रसंगको कहा जा रहा है:

तं जिघांसुम् अभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम् ।
तत्पादमूलं शिरसा समगाद् भयविह्वलः।।२८।।

महाराज परीक्षित द्वारा मारे जानेवाली इच्छाको समझकर, घबराये हुए कलिकालने अपने राजा होनेके आडम्बरको त्याग दिया. भयसे विह्वल हुए उसने राजा परीक्षितके चरणोंमें शिर झुका दिया।।२८।।

छत्र आदि धारण करना और लोकमें आज्ञा मनवाना ये राजाके लक्षण हैं. कलियुगने उन चिह्नोंको छोड दिया. वह सम्राट परीक्षितके चरणोंमें गिर गया. इस स्थितिसे वह एक मात्र अब तक शरणमें आनेसे बच रहा था ऐसा स्वयंका राजवशेषत्व ज्ञापित किया है. अर्थात् आपकी शरणमें आकर आपका सेवक हो हूं, यह बताया है. वह भयके मारे घबराया हुआ है कि क्या पता, धर्म यों कह दे कि इसे मार दो, तो राजा मुझे मार देगा. अथवा कलिकी कपट क्रीडा जान जायेगा कि चरणोंमें गिरनेके बहानेसे वह राजाका भी स्पर्श कर लेना चाहता है,

जिससे आगे जाकर परीक्षितकी भी दुबुर्द्धि हो जायेगी (ऋषिके गलेमें सांप डालनेवाला प्रसंग). धर्मके सम्पर्कमें आ जानेसे राजा कहीं इस रहस्यमय अर्थको तो नहीं समझ जायेगा? इस भयसे वह विह्वल हो रहा है।।२८।।

चरणोंमें गिरनेके बादवाली स्थितिको बताया जा रहा है:

पतितं पादयोर्वीरः कृपया दीनवत्सलः।
शरण्यो नावधीत् श्लोक्य आह चेदं हसन्निव।।२९।।

दोनोंके वत्सल तथा श्लोक्य(यशवाले), शरणमें आए हुओंकी रक्षा करनेवाले वीर परीक्षित्, कलियुगको चरणोंमें पडा हुआ देखकर, हंसते हुएसे कहने लगे।।२९।।

कलियुग, चरणोंमें लोट रहा है, इसलिए परीक्षितकी गति नष्ट हो गई है, यह सूचित किया है. उस गतिका नाश भी धर्म बुद्धिके उपकारार्थ होगा, क्योंकि इस लोकमें ही उनकेलिये भगवान्से सायुज्य हो जाना लिखा हुआ है. 'वीर' यहां एक गूढ अभिप्रायसे प्रयुक्त हुआ है; कि वह अपने धर्मका अनुसन्धान करनेवाले हैं, साधारण प्रकृति सम्बन्धी सांसारिक विचार उनके नहीं हैं. धर्मकी समीपतासे राजाके हृदयमें दया आदि कोमल भावोंका प्रवेश होना वहां अधर्मके पास आ जानेके कारणको लेकर हुआ. इस प्रसंगमें उनकी कृपालुताको बताया जा रहा है. यह दया लौकिक सम्बन्धी है और इसी प्रसंगमें उन्हें 'दीनवत्सल' कहा है. बछडेको ग्रहण करनेवाला पशु होता है. यहां कलियुग भी पशु जैसा दीन बन है, जब दीन ही बन है, तो फिर क्या विचार करना? यह अर्थ हुआ. अपने पूर्वजोंकी कीर्तिको स्थिर बनानेका विचार न रहकर, उसकी रक्षाको ध्यानमें न लाते हुए, अपने धर्मके पालनको ही प्रमुखता दी. इसीकेलिये 'शरण्य'का प्रयोग हुआ. लोकमें निन्दा न फैल जाये कि ये लो, बेचारा पैरोंमें पड था, फिर भी मार डाला, इस भयसे भी उनको अभय देना अनिवार्य हो था. क्योंकि उन्हें श्लोक्य (अतिशय यशवाला) कहा है. जिसका इतना विस्तृत यश हो वह एक ही घटना अपयशवाली क्यों होने दे? 'इदं' शब्द आगे बोले जानेवाले कथनको उद्घाटित करता है. कलियुगकी विपत्तियोंका अन्त और उसके इच्छा किये गये पदार्थो या सुविधाओंके दिये जानेका अर्थ है. राजाके हंसते हुए जैसे होनेका तात्पर्य मुख पर कृपाका भाव लाने अथवा गर्व निवृत्तिके बाद उत्पन्न होनेवाले प्रसाद भावसे है।।२९।।

भविष्यमें राजा मार न डाले इस आशंकाका अनुमान लगाते हुए,

कलिको थर-थर कांपता हुआ देखकर, उसके डरको मिटानेके अभिप्रायसे परीक्षित इस प्रकार कहने लगे:

न ते गुडाकेशयशोधराणां बद्धाञ्जलेर्वै भयम् अस्ति किञ्चित् ।
न वर्त्तितव्यं भवता कथञ्चन क्षेत्रे मदीये त्वम् अधर्मबन्धुः।।३०।।

तुम हाथ जोडकर खडे रहनेवालोंको हम अर्जुनके यश धारियोंका डर थोडासा भी नहीं करना चाहिए. पर तुम इतना याद रखो कि किसी भी प्रकारसे हमारे क्षेत्रमें नजर न आओ, क्योंकि तुम अधर्मके बन्धु हो।।३०।।

गुडाकेश, गुडाका निद्राको कहते हैं जिसने निद्राको जीत लिया है, वह उसका ईश है, अर्जुनने गुडाकाको जीत लिया, अतः वे गुडाकेश हैं. इससे माया व मोह के अभाव होनेसे तुम्हारे द्वारा की जानेवाली बुराइयोंका हमको तनिक भी डर नहीं है, यह सूचित किया है. पूर्वजोंका यश धारण करनेकी लज्जासे भी हम अधर्म नहीं करेंगे, यह भाव हुआ. अथवा सत्य प्रतिज्ञावाले होनेसे भी हम इस ओर प्रवृत्त नहीं होंगे. मैं तो खैर उनका पौत्र ही हूं, परन्तु दूसरे भी जो कोई अर्जुनके यशको धारण करनेवाले हैं, उनके आगे भी अगर तुम हाथ बांधे खडे हो जाओगे, तो तुम्हें किसी प्रकारका भय नहीं है. इन्द्र भी तुमको भय उत्पन्न कर सकनेमें असमर्थ रहेगा, यह अर्थ हुआ. परन्तु तुम्हें हमारी आज्ञाका ताबेदार होकर, हम कहें जो करना होगा; ऐसा कहा है. तुम किसी भी तरहसे हमारे राज्य क्षेत्रमें अपने क्रियाकलाप नहीं करोगे. तुम्हारे किसी भी अंशसे हमारे क्षेत्र प्रभावित नहीं होने चाहिए. अपने जम्बूद्वीप राज्यको भी थोडा समझकर सम्पूर्ण क्षेत्रकी सीमासे भी बाहर हो जानेका निरूपण किया है. अथवा क्षेत्रका तात्पर्य उत्पत्ति स्थानसे होता है. जब-जब तुम्हारा बीज गिरेगा तब-तब ही तुम्हारी उत्पत्ति होगी अतः तुम हमारे क्षेत्रमें नहीं रहोगे. इसका यह कारण है कि तुम अधर्मके बन्धु हो. क्योंकि अधर्मका निवारण करने पर अथवा उसको दण्ड दिये जाने पर तुम बुराइयां पैदा करोगे, यह सूचित किया है. इससे इस समय पाखण्डियोंका निराकरण करनेमें निराकरण करनेवालेको भय होनेकी स्थितिमें बताया है।।३०।।

प्रजाको शिक्षण देना तथा दण्ड देना, यही तो राजाका कार्य है और मैं उसमें लाभका कारणरूप हूं, फिर आप मेरा निवारण किस लिए करते हो? कलियुग यदि ऐसी बात करे, तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि:

त्वां वर्त्तमानं नरदेव-देहेष्वनुप्रवृत्तोऽयम् अधर्मपूगः।।

लोभोऽनृतं चौर्य्यमनार्य्यमंहो ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः।।३१।।

राजाओंके शरीरमें तेरे द्वारा रहे जानेसे अधर्मका समूह उसमें प्रविष्ट हो जाता है. इस अधर्म समुहके अहं, लोभ, झुठ, चोरी, दुष्टता, पाप और यह सबसे बडी दरिद्रता माया (वचन चातुरी) तथा कलह, दम्भ आदि तेरे पीछे चले आते हैं।।३१।।

यदि राजा लोगोंमें रहनेकी स्थितिको तुमने छोड दिया हो तो उनका लाभ हो. उन राजाओंके अधर्मी बन जानेसे स्वरूप नाशके कारण उनसे क्या लाभ? स्वयं भी वैसे होनेसे पापका अनुमोदन करेंगे तो लाभवाली कोई स्थिति ही नहीं रही. इसलिए राजाओंके शरीरोंमें रहनेसे तुम्हारे पीछे-पीछे अधर्मका समूह भी प्रविष्ट हो जाता है. वह प्रत्यक्ष रूपसे हमारे शरीरमें भी स्थित है, यह निर्देशित किया है. अब अधर्मके समूहकी गणना की जा रही है. उस अधर्मके नौ प्राण हैं. दूसरेके धनकी इच्छा करनेरूपी लोभ, उसकी सिद्धि हेतु झूठ कि तुमने ही ऐसा किया है आदि शब्दोंका प्रयोग करता है. प्रतियोगीके बलवान होने पर छिपे रूपसे धनका हरण करना चोरी है. दुर्बलों पर बल प्रयोग द्वारा प्रत्यक्षमें स्त्री आदिका हरण करना अनार्यता अर्थात् दुष्टता है. यह आचरण आर्योंके विरुद्ध होनेसे अनार्यता कहा है. उसमें अशक्त होने पर अपराध करने रूपी; अंहः किया जाता है जैसे किसीको आगसे जला देना आदि. इसके बाद है दरिद्रता, जिसे ज्येष्ठाके नामसे कहा है. 'च' शब्दसे स्वयंका दरिद्र होना बताया है. वचनोंकी चतुराईसे किसीको ठगना, यह माया है. इसके बाद कलह, और फिरसे विश्वास जमानेकेलिये दम्भ होता है. अथवा 'च'कारसे कलहके बाद मारनेवाली स्थितिका क्रम उत्पन्न होता है।।३१।।

ऐसा कहते हुए अब चल रहे प्रसंगका उपसंहार करते हैं:

न वर्त्तितव्यं तद् अधर्मबन्धो धर्मेण सत्येन च वर्त्तितव्ये।
ब्रह्मावर्त्ते यत्र यजन्ति यज्ञैर्यज्ञेश्वरं यज्ञविताविज्ञाः।।३२।।

हे अधर्मके बन्धु, धर्म और सत्यके रहनेके योग्य स्थानमें, तुझे नहीं रहना चाहिए, क्योंकि तुम अधर्मके बन्धु हो. इसलिए यज्ञके विस्तारको विशेष जाननेवाले यज्ञों द्वारा यज्ञेश्वरका पूजन करते हैं अतः इस ब्रह्मावर्त देशमें तुम नहीं रहोगे।।३२।।

हे अधर्मके सगे भाई कलि, ऊपर बताये तुम्हारे समूहके कारण तुम्हें यहां

नहीं रहना चाहिए. आधार बननेके उसके विरोधीपनेको बताते हैं. धर्म, जो शरीर द्वारा हो; वाणीके द्वारा सत्य और 'च'से मानसिक रूपसे धर्म हो. जो शरीर, मन और वाणी से धर्मके करनेवाले हैं, उनमें ही स्थान होनेकी योग्यता है. फिर भी देश विशेषका निर्देश कर रहे हैं. कि ब्रह्मावर्त जो धर्मका क्षेत्र है, वहां यदि निर्दोष धर्म उत्पन्न होगा तो अन्यत्र उत्पन्न होनेवाले अधर्मको भी नष्ट कर देगा. इसलिए धर्मके क्षेत्रमें तुम्हें नहीं रहना है. क्योंकि इस क्षेत्रमें कभीभी धर्मकी शून्यता नहीं रहती है. देवताओं द्वारा भी निरन्तर देवपूजनके द्वारा यहां यज्ञ होते रहते हैं. इसीलिए कहा है कि जहां यज्ञों द्वारा भगवानका पूजन किया जाता है. इसमें भी मुख्य धर्मके प्रकारके रूपमें ईश्वरके पूजन शब्द पर जोर दिया है. श्रुतिके अनुसन्धानसे भी यह बात स्पष्ट है, जिसमें वर्णन है कि ''देवताओंने यज्ञों द्वारा यज्ञेश्वर भगवान्का पूजन किया''. यदि कलि यह कहे कि चलो मैं तो किसी एक छोटेसे स्थानमें ही रह लूंगा, तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि यहां स्थान-स्थान पर यज्ञको विस्तार देनेवाले बडे-बडे विशेषज्ञ निवास करते हैं. तेरे किसी भी स्थानमें प्रवेश होते ही वे तुम्हारी गतिविधि जान जायेंगे तो यज्ञादि करना छोड देंगे, यह सूचित किया है. अतः तुम तो यह ब्रह्मावर्त क्षेत्र पूर्णतया छोड दो।।३२।।

यज्ञ करनेका फल क्या होगा? इस लोकके फलोंको तो आपको भी भोगना चाहिए. परलोक तो केवल सोचनेकी वस्तु है. उस प्रसंगमें कहते हैं:

यस्मिन् हरिर्भगवान् इज्यमान इज्यात्ममूर्त्तिर्भजतां शं तनोति ।
कामान् अमोघान् स्थिरजङ्गमानाम् अन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा।।३३।।

जो देव यज्ञोंमें और यज्ञोंमें पूजे जाते हैं, और जो समस्त देवताओंके आत्मारूप हैं और मूर्तिरूप हैं, जैसे वायु सबके अन्दर और बाहर है वैसे ही भगवान् सबके अन्दर और बाहर हैं. ऐसे भगवान यज्ञ करनेवालोंके सुखको बढाते हैं और उनके कालको सफल बनाते हैं।।३३।।

जिस देवपूजनमें या यजनमें भगवान्के पूजनके उद्देश्यसे यज्ञपुरुष साक्षात् भगवान् विष्णुका यजन होता है वहां तो इन्द्र, वायु आदि देवताओंका पूजन होता है, भगवानका कहां? तो उसका उत्तर देते हैं कि यज्ञ ही उनका प्रत्यक्ष दृश्यमान रूप है अथवा मूर्ति है. इससे क्या अन्तर पडा? तो कहते हैं कि ये यज्ञ भक्तोंके कल्याणको करते हैं. भक्तिमार्गके अनुसार ये आधिदैविक यज्ञ है. यहां भाग्य या अदृष्ट के द्वारा फल नहीं किन्तु प्रसन्न हुए देवता फल प्रदान करते हैं.

स्वयंकी कोई कामना या उद्देश्य न होनेसे केवल भगवत्प्राप्ति ही एक मात्र भावना होनेसे, भगवान् स्वयं ही भक्तके प्रति कृपालु बनकर स्वरूपदान देते हैं. अतः भगवान्से प्रेम करना ही इसका मुख्य द्वार है. आध्यात्मिक यज्ञोंका फल अदृष्ट द्वारा होता है. भौतिक यज्ञोंका फल पंच महाभूतोंकी शुद्धि करने मात्र तक सीमित है. सब जगह भगवान् ही फल देनेवाले हैं. कहा है कि, ''फलकी उपपत्ति एक मात्र भगवान्से ही है''. कहा है कि वे भजन करनेवालोंको कल्याणका विस्तार प्रदान करते हैं. धर्म पक्षमें कामनाके विस्तारका अभाव है. यहां भगवदिच्छा ही अमोघ फलोंको देनेवाली है, कामनाएं करना इस पक्षमें सफल नहीं होता. स्थिर और जंगमोंमें तो फलका सम्बन्ध न होनेसे कामना किये जाने पर यज्ञ करनेका फल प्राप्त होता है. इससे अधिक क्या कहें? यज्ञसे सन्तुष्ट हुए भगवान् ज्ञान भी प्रदान कर देते हैं. वे अन्दर और बाहर दोनों ओरसे प्रकट हो जाते हैं. एकका ही दो रूपोंमें प्रकट होने पर वायुका दृष्टान्त दिया है. प्राणवायु और महावायु शब्दोंके भेदसे भी जिस प्रकार पदार्थकी एकताका बोध होता है उसी प्रकार भगवान् पदार्थमें व्यवहार करते समय भी बाहर और भीतरसे एक ही होते हैं. इस दृष्टान्तसे भगवान् वायुके समान सब जगह व्यापक हैं. वे सर्वरूप हैं, सब कुछ बन सकनेकी सामर्थ्यवाले हैं. इसीलिए कहा है वे भगवान् यह आत्मारूपसे हैं. भगवान् प्राणरूप नहीं है, प्रत्युत् आत्मा ही हैं. 'एष' शब्दसे भक्तिके द्वारा स्फुरित होते हुए भगवानका निर्देशन किया है।।३३।।

इस प्रकारसे जिस कलियुगको जीवनदान मिला है या अभयपन मिला है, वह फिरसे विशेष प्रार्थनाके द्वारा राजाको छलनेकेलिए विनम्रता प्रदर्शित करता है, श्रीसूतजी शौनकसे इस प्रसंगमें आगे कहते हैं:

सूत उवाच

परीक्षितैवम् आदिष्टः स कलिर्जातवेपथुः।

तम् उद्यतासिम् आहेदं दण्डपाणिम् इवोद्यतम्।।३४।।

परीक्षितने जिस कलियुगको इस प्रकारकी आज्ञा की है, ऐसा वह कलियुग कांपता हुआ उन परीक्षितसे कहने लगा, जो हाथमें दण्डरूपी तलवारको लिए खडे हैं।।३४।।

कलिकालको देशनिकालेकी आज्ञा दी गई है. वह कांप रहा है कि कहीं ये मेरे द्वारा बाहर न जाने पर मार ही डालें, क्योंकि इनकी प्रतिज्ञा सत्य है.

आज्ञापालनमें विलम्ब करना अथवा चुप रहना उचित नहीं है, क्योंकि ये तलवार ताने हुए खडे हैं. पहले जो अपराध किया है, उसका दण्ड ये अवश्य देंगे. ये दण्ड ग्रहण किये हुए हैं, इस भावको बताया है. एक बारका अपराध तो सहन करने योग्य है, पर आज्ञाका पालन न करने रूपी दूसरा अपराध करने पर तो मार ही डालेंगे, क्योंकि ये बिलकुल तैयार खडे हैं।।३४।।

कलियुग प्रार्थना करने लगता है:

कलिरुवाच

यत्र क्वचाथ वत्स्यामि सार्वभौम तवाज्ञया।
लक्षये तत्र तत्रापि त्वाम् आत्तेषुशरासनम् ।।३५।।
तन् मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुम् अर्हसि।
यत्रैव नियतो वत्स्य आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम्।।३६।।

आपकी आज्ञासे मैं जहां कहीं भी रहने जाता हूं, वहीं आप धनुष-बाण हाथमें लिए खडे दिखाई देते हो. क्योंकि आप चक्रवर्ती होनेसे आपकी आज्ञाका पालन सर्वत्र होता है. अतः धर्मधारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ हे राजा परीक्षित, आप मुझे स्थान बतानेके योग्य हो, जहां आपकी आज्ञाका अनुसरण करता हुआ मैं सदैव स्थायी रूपसे निवास करूं।।३५-३६।।

हे सार्वभौम, यह सारी भूमि आपकी है. मैं भी आपका हूं. अतः मुझसे अधिष्ठित भूमिके भी आप ही ईश्वर हो. पहले तो मेरी स्वतन्त्र सत्ता थी, अब तो मैं आपकी आज्ञाके वशमें हूं. 'अथ' शब्द भिन्न प्रकरणको प्रारम्भ करनेके समय प्रयुक्त होता है. आप जहां कहीं रहनेकी आज्ञा देंगे, वहीं रहूंगा. मेरे स्थित रहनेमें कोई सन्देह नहीं हैं. पर आपको फिर क्रोध नहीं करना चाहिए. जीवित रहने पर कहीं तो मुझे रहना ही है. जीवन भी आपका ही दिया हुआ है. इसलिए स्पष्ट रूपसे आपकी आज्ञा न होने पर भी जीवनरक्षाके कारण, रहनेकी आज्ञा भी आपको ही देनी है. मेरे कार्योंको देखकर आप क्रोध करेंगे. जहां कहीं भी रहूंगा, वहीं आपको धनुष-बाण ताने देखूंगा. इसलिए वह स्थान बताइए जहां मैं आपको धनुष-बाणयुक्त न देखूं. कलिकालके द्वारा यह प्रार्थना चतुरतापूर्वक की गई है कि तुम्हें धनुष-बाण रहित देखूं. मेरे दर्शन मात्रसे आपको धनुष-बाण छोड देना चाहिए, यह भाव हुआ. धर्मका पालन करनेवालोंमें आप श्रेष्ठ हैं अर्थात् याचित दानको देना और दिये हुएका परिपालन करना इससे सूचित हुआ है. यद्यपि मैं

वहीं रहूंगा परन्तु आपको इसका स्पष्ट निर्देश कर देना चाहिए. आपकी आज्ञासे वह स्थिति नियमके अन्तर्गत आ जायेगी. आपकी आज्ञाका पालन होगा. यहां भी कलिने राजाको भुलावेमें डाल दिया है, उन्हें ठग लिया है. ''शास्त्र यह कहते हैं कि कोई भी शुभ-अशुभ फल आज्ञा देनेवालेको लगता है'' इस न्यायसे वह सब पाप आपको ही लगेगा, यह भाव सूचित किया है. नियत किये गये स्थानके आधार पर भी अधर्म और अर्थ में तथा जुआ खेलने आदिमें मेरा निवास होगा, यह सूचित कर दिया है।।३५-३६।।

कलियुगकी प्रार्थनासे महाराज परीक्षितने वैसा ही किया, ऐसा श्रीसूतजी महाराज कहते हैं:

।।सूत उवाच।।

तत् तथाभ्यर्थितस्तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः।।३७।।

इस प्रमाणसे जब कलियुगने प्रार्थना की तब राजा परीक्षितने जुआ, मद्यपान, स्त्री और हिंसा, जहां ये चार प्रकारके अधर्म हों वे स्थान उसे रहनेकेलिए दिए।।३७।।

राजा परीक्षित सोचते हैं कि इसे स्थान तो अवश्य ही दिये जाने चाहिए. और यह अधर्मका बन्धु है. जुआ खेलना आदि ये पहलेसे ही अधर्म माने ही जाते हैं, अतः इसे वे ही स्थान क्यों न दे दें, ऐसा मानकर कि दूसरे स्थान दिये जाने पर वे भी अधर्मके स्थान बन जायेंगे अतः द्यूत आदि स्थान ही कलियुगकेलिये दिये. द्यूत अर्थात् पासोंका खेल, स्वतन्त्र विषयरूप मदिराका पान, बहुवचन होनेसे साधारण स्त्रियां और हिंसा, जहां इनमें अधर्म होता है, वे ही स्थान कलिको निवास हेतु दिये. केवल स्वभावसे ही नहीं अपितु शास्त्रोंके अनुसार जहां ये होते हैं वही कलिके स्थान होते हैं. इससे अधिक क्या कहें, अधर्म मूलतः चार प्रकारका है: ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी करना और गुरुकी स्त्रीसे गमन करना. चोरी करना जुआं खेलनेके अन्तर्गत ही सम्मिलित है. अतः महापापका स्थान है. ये चारों कलिकालके निवासस्थान हैं. जो इन पापोंको करता है, वह कलिकालके द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है. यहां 'यत्र' शब्द अधर्मके उद्देश्यको लेकर कहा है।।३७।।

कलि कहता है कि पांच स्थान तो मेरे श्रुतियोंने ही पहलेसे निर्धारित कर रखे हैं, अस्तु एक स्थान तो आपको मेरे लिए अधिक ही देना चाहिए, इस

आकांक्षामें कहा जा रहा है:

पुनश्च याचमानाय जातरूपम् अदाद् विभुः।
ततोऽनृतं मदः कामो रजो वैरञ्च पञ्चमम्।।३८।।
अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत् तन् निदेशकृत्।।३९।।

और पुनः याचना करते हुए कलियुगको राजा परीक्षितने सोना भी निवासकेलिए दिया. अतिरिक्त इसके पांच स्थान और भी रहनेको दिए. वे पांच स्थान : झूठ, मद, काम, क्रोध और वैर हैं. उत्तराके पुत्र परीक्षितके द्वारा दिए गए इस पांच स्थानोंमें अधर्मको उत्पन्न करनेवाला कलि राजाके निर्देशानुसार रहने लगा।।३८-३९।।

फिरसे देनेका क्रम चला. एक बार मांगने पर चार स्थान दे दिये और पुनः याचना करने पर स्वर्ण भी निवास हेतु दे दिया. यों तो चोरीमें ही सोना भी आ परन्तु विशेष रूपसे सोनेकी चोरी को ही; स्वरूपवाले सोनेको ही, कलिका स्थान निर्देशित किया है. निश्चय ही स्वर्ण महान् अनर्थोंका जन्मदाता है. स्वर्ण उसे किस रूपमें रहनेकेलिये दिया है उस पर कहा जा रहा है कि राजा विभु होनेसे स्थानादि देनेमें समर्थ है. 'च' शब्दसे दो स्थितियां सामने आई; स्वतन्त्रतापूर्वक दिये गये स्थान तथा मांगे जाने पर दिये गये स्थान. पुनः प्राप्त किये गये स्थानोंमें स्वरूपगत स्थानत्व न होकर कार्यरूपसे स्थानापन्नत्व है. उन कार्योंको क्रमवार बताया जा रहा है कि जिससे अधर्म अनुवर्तन करता है, वह सबसे पहला मिथ्यासे भरा हुआ जुआ है. शराब पीकर मत्त होना मदका रूप है. स्त्रिओंके साथ रमणकी प्रक्रिया अथवा विचार बनाना यह कामका रूप है. रज क्रोध रूपवाला है, इसीमें हिंसा सम्मिलित है. सोना वैररूप है और हिंसा भी वैररूप है. अतः दो प्रकारका वैर बतानेकेलिये मूलमें 'च'कार दिया है. ये पांच स्थान अधर्मको पैदा करनेवाले हैं. यहां 'उत्तराका पुत्र' ऐसा सम्बोधन देनेका विशेष अभिप्राय है, इससे उनके विवेकको कम माननेकी सूचना मिलती है कि स्थान देकर परीक्षितने कोई बुद्धिमानीका काम नहीं किया. परीक्षितके निर्देशानुसार वह कलिकाल उन-उन स्थानोंमें निवास करने लगा. यहां परीक्षित आज्ञाकर्ता हैं (जैसा कि पहले कहा है कि दोष आज्ञा करनेवालेको ही लगता है)।।३८-३९।।

इस प्रकार कलियुगको दिये गये स्थानोंको बताकर उसी प्रसंगसे धर्मकी

आज्ञानुसार चलनेवालोंको उपदेश किया जा रहा है:

अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित्।
विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकगुरुः पतिः।।४०।।

अपनी उन्नति चाहनेवाला पुरुष कभी भी इन पांच स्थानोंका सेवन न करे. विशेष करके जो धर्मशील राजा है, जो लोकको शिक्षा देनेके कारण लोकगुरु तथा लोकका पालन करनेके कारण पति कहलाता है, वह तो कदापि इन स्थानोंका प्रयोग न करे।।४०।।

'अथ' शब्द नया प्रसंग प्रारम्भ करनेमें प्रयुक्त होता है. जो उत्कृष्ट बनना चाहते हैं, अपनी उन्नतिके अभिलाषी हैं, उन्हें इन झूठ आदि अधर्मके रूपोंका सेवन नहीं करना चाहिए. क्वचित अर्थात् कभी भी नहीं, प्रमाद (आलस्यवश)से भी नहीं, क्योंकि पाक्षिक दोषोंका भी परिहार कर देना चाहिए. इस प्रकार पदार्थोंके आग्रहसे उनका सेवन करते-करते कभी कलिकालके स्थान भी सेवन करनेमें आ ही सकते हैं. और तब महान् अनर्थ हो जाता है. इसलिए ये पांचो स्थान कलिकालके स्थान हैं, इस शंकासे (भयके अर्थमें) उन्हें दूरसे ही छोड देना चाहिए. जहां इससे एकदम विपरीत होनेका निश्चय हो तो वहां क्या विधान और क्या निषेध? और राजाकेलिये ये सब विपरीत स्थितियां सम्भावित होनेके कारण विशेष रूपसे मना की गई है. और विशेष करके राजा परीक्षित् तो धर्मशील राजा हैं, वे तो अधर्मके विरोधी हैं. वे लोकके गुरु हैं अर्थात् उपदेश कर्ता हैं, अपने शिष्योंको श्रेष्ठ आचरणोंकी शिक्षा देनेवाले हैं. रक्षा करनेवाले हैं. प्रजाका पालन करनेवाले हैं. राजाके धर्म प्रजामें आते हैं, इसलिए राजाको सावधानी पूर्वक इनसे बहुत-बहुत दूर ही रहना श्रेयस्कर है।।४०।।

इस प्रकार कलिकालको स्थान निर्दिष्ट करके उसे उनमें स्थापित करनेके बाद राजाने जो किया, उसे प्रसंगके ही अन्तर्गत अब आगे बताते हैं:

वृषस्य नष्टान् त्रीन् पादान् तपः शौचं दयाम् इति।
प्रतिसन्दध आश्वास्य महीञ्च समवर्द्धयत्।।४१।।

वृषभके नष्ट हुए तप, शौच, और दया रूपी तीन पैरोंको पुनः जोडते हुए उसे आश्वासन दिया तथा पृथ्वीको समृद्ध (धनधान्यादिसे) बसाया।।४१।।

अब बैलके विषयमें कहते हैं. कालकी व्यवस्थासे पहले बताये गये धर्मके तीन पैर चले गये थे उन्हें पुनः यथास्थिति व्यवस्थित कर दिया, पूरी तरहसे

जहांका तहां जोड दिया. राजाने धर्मको चारों प्रकारसे अर्थात् सम्पूर्णतया प्रजामें प्रभावित कर दिया, प्रसारित-प्रचारित कर दिया. पृथ्वीको सान्त्वना देनेके विषयमें कहते हैं कि उसे आश्वासन दिया. उसे बढाया. सभी स्थानों पर भक्तिमार्गका प्रचार किया और खेतो-वाडो सम्बन्धी विकासोंके द्वारा धरतीको शस्य श्यामला बनाया. पृथ्वी परसे पाखण्डको दूर कर दिया. 'च' शब्दसे पृथ्वीमें धर्मको भी खूब बढाया।।४१।।

परीक्षितके विषयमें प्रत्यक्ष रूपसे अज्ञात होने पर भी (आकृतिगत जानकारी न होने पर भी) कीर्ति और प्रभाव द्वारा विद्यमान होनेसे मानो वह सब प्रसंग वर्तमानके समीपमें ही अथवा वर्तमानके समान ही घटित हो रहे हों, इस न्यायसे शौनकादि ऋषियोंमें अतिशय श्रद्धा उत्पन्न करनेकेलिए, दूरकी कथाको भी विद्यमानके रूपमें निरूपण करते हैं:

स एष एतर्ह्यध्यास्ते ह्यासनं पार्थिवोचितम्।
पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञारण्यं विविक्षता ।।४२।।

पितामह सम्राट युधिष्ठिर द्वारा जंगलमें जानेकी इच्छा करते हुए जिन परीक्षितको राजा योग्य आसन पर बिठाया, वे ये परीक्षित् आज भी सिंहासनारूढ हैं।।४२।।

वे राजा परीक्षित ये रहे. भगवान्से सायुज्य प्राप्त हो जाने पर उनके समान ही स्फुरण होनेसे, अकस्मात् सामने आविर्भूत होनेसे, यह निर्देश हुआ है. इसीलिए इस समय भी वे पृथ्वीपतिके योग्य उचित आसन पर बैठे हुए हैं. जनमेजय उनके उस आसन पर नहीं बैठा है, वरन् वे ही भगवद्रूप होकर वहां विराजमान हैं. जब किसी कथनका सभीको समीपतासे अनुभव हो रहा हो, वहां 'हि' अव्ययका प्रयोग होता है. इसलिए राजाके योग्य आसन पर वे आज भी विद्यमान हैं, यह अर्थ हुआ. अन्यथा ''पार्थिवके उचित'' ऐसा कथन ही अर्थहीन हो जावे. किसी अन्य सिंहासन पर भी वे नहीं बैठे हैं, वे उसी सिंहासन पर आसीन हैं जहां उन्हें पितामह युधिष्ठिर वनमें जानेसे पूर्व राज्याभिषेक देकर गये थे।।४२।।

अब उनके आज भी विद्यमान होनेकी बात किस आगे होनेवाले अच्छे प्रसंगकेलिये कही जा रही है. उस उपचार (किसीके भलेकेलिये किये गये उपाय) को अभी तक कहा नहीं है उसे अब कहते हैं:

आस्तेऽधुना स राजर्षिः कौरवेन्द्रश्रियोल्लसत्।

गजाह्वये महाराजः चक्रवर्त्ती बृहच्छ्रवाः।।४३।।

चक्रवर्ती और यशस्वी, राजर्षि महाराज परीक्षित् कौरव वंशके राजाओंकी राज्यलक्ष्मी द्वारा सुशोभित होते हुए आज भी हस्तिनापुरमें विराजते हैं ।।४३।।

वे आज भी विराजते हैं. इस समय भी वे उसी प्रकार विद्यमान हैं. कोई दूसरा शरीर लेकर चले आये हों ऐसी बात नहीं है. ये वेही राजर्षि हैं. समानतासे भ्रम उत्पन्न हो जानेवाली स्थितिका निवारण करते हुए कहते हैं कि वे कौरव कुलके राजाओंकी लक्ष्मीसे दैदीप्यमान हैं. कौरवेन्द्रोंकी राज्यलक्ष्मीसे सुशोभित होते हुए जैसे पहलेसे चले आ रहे हैं वैसे ही हैं. अथवा उस आसन पर उसी प्रकार स्थित हैं. और वह सिंहासन भी अन्यत्र नहीं है, हस्तिनापुरमें ही है. उन्हें महाराज कहा है. वे राज्यलक्ष्मीसे पुष्ट हैं. चक्रके समान निरन्तर घूमते हुए अपनी आज्ञाको सर्वत्र मनवाते हैं, अतः चक्रवर्ती है. उसी प्रकारका उनका बढा-चढा यश है. आज भी बन्दीगण उनके प्रशंसाके गीत गाते हैं, स्तुतियां करते हैं।।४३।।

इस प्रकार भगवान् और भागवत की कृपासे, अजर और अमर होकर ब्रह्म बन जानेके समान ही भगवान्के समान रमणशील हो गए, व्यापकत्व गुणसे पदार्थोंको भोगनेवाले बन गए. इतना कहकर शौनक ऋषि आदिकों द्वारा देखनेकी इच्छाके न रहने पर उन परीक्षितके अलौकिक रूपका ही वर्णन किया है, न कि लौकिक रूपका, इस अभिप्रायसे अब उपसंहार किया जा रहा है:

इत्थम्भूतानुभावोऽयम् अभिमन्युसुतो नृपः।
यस्य पालयतः क्षोणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः।।४४।।

ऐसे यह प्रभावशील अभिमन्युके पुत्र महाराज परीक्षित हुए, जिनके द्वारा पृथ्वीके पालन किये जाते हुए आप सब इस यज्ञकेलिए दीक्षित् हुए।।४४।।

ऐसे महान् प्रभाववाले थे ये. मर जानेके बाद भी जीवित स्थित हैं. ऐसा विलक्षण अद्भुत प्रभाव है कि जिन्होंने कलिकालको भी मुट्ठीमें कर लिया. आखिर क्यों न हों? वे अभिमन्युके पुत्र जो ठहरे! अभिमन्युपुत्र सम्बोधन देकर उन्हें महान शूरवीर कहा है. उनके राज्यकालमें ही आप सबने यह प्रारम्भ किया है. जिनके पालन करते समय ही भागवतजी हुए. अन्यथा आपको भी भागवत सुननेकेलिये जाना चाहिए. एक सहस्र वर्ष तक दीक्षित होनेके कारण 'कोई भी नहीं मरेगा' इस वाक्यसे कोई भी विरोध नहीं आयेगा. अग्निषोमीय आदि यज्ञोंमें

ही हिंसाका विधान होनेसे; इन यज्ञोंमें विधान नहीं है. उनके द्वारा पृथ्वी पालन किये जानेकी स्थितिमें ही हजार वर्ष तक चलनेवाले यज्ञकेलिये आप दीक्षित हुए हैं. अन्यथा छोटे राजाके राज्यमें इस महान कार्यका प्रारम्भ घटित नहीं होता. इससे इस कलिकालमें बडे यज्ञोंके न करनेका भी समर्थन हुआ है।।४४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथम स्कन्धके १७वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण'का ग्यारहवां अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

अध्याय १८

महाराजा परीक्षितको शृंगी ऋषिका शाप

अथाध्यायद्वयेनास्य वृत्तम् उत्तरम् ईर्यते ।
शापात् प्रायस्ततो राज्ये शापो वैराग्यबोधकः ।।का.१।।
सङ्क्षेपकथनं पूर्वं श्रोतृप्रीत्यनुसारतः ।
विस्तारोक्त्यै तयोः श्रद्धा श्लाघा चान्योन्यम् ईर्यते ।।का.२।।
तादृशं फलवद् नान्यद् इति स्थापयितुं द्विजात् ।
शापस्तु हरिणा प्रोक्तः तक्षकाग्नेरलौकिकात् ।।का.३।।
ज्ञानिनो देहनाशाय नान्यथामृतवर्षणात् ।
यादवेभ्यस्तथोत्कर्षः शापमुग्धेभ्य ईर्यते ।।का.४।।

कारिकार्थः अब, इन महाराज परीक्षितके जीवनकी अन्तिम घटनाको दो अध्यायोंसे बताया जा रहा है. वैराग्यको जन्म देनेवाला शाप बना; जिस शापसे राज्यमें आसक्तिको छोडकर उन्होंने एकान्तका सेवन किया।।१।।

सुननेवालेकी प्रीतिके अनुसार सूतजीने शौनकजीके प्रति परीक्षित सम्बन्धी कथनको छोटे रूपमें कहा. शौनकजीके प्रेमको ओर अधिक बढानेकेलिए, सूत तथा शौनक दोनोंमें ही श्रद्धा उत्पन्न हुई है. वे दोनों परस्पर परीक्षितके चरित्रकी प्रशंसा करने लगे।।२।।

ब्राह्मणका शाप, जिस प्रकार परीक्षितके वैराग्यके उत्कर्षको बताता है, उसी प्रकार उनके अधर्मको भी बताता है. ऐसी स्थितिमें शापवाली कथासे परीक्षितकी महत्ता किस प्रकार बढी? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि परीक्षितके समान महान् फल प्राप्त करनेवाला अन्य कोई नहीं हुआ. इस फलको सिद्ध करनेकेलिए भगवानने ही ब्राह्मणसे शाप दिलवाया है, क्योंकि ब्राह्मण भगवानका मुख होनेसे, उनके द्वारा कहे हुए वचन भगवानने ही कहे ऐसा समझना चाहिए. तक्षकसे उत्पन्न अलौकिक अग्निसे परीक्षितको नष्ट करवाने केलिए भगवानने ही शाप दिलवाया है।।३।।

ज्ञानी बने हुए परीक्षितके शरीरको नष्ट नहीं करवाया जाता तो भागवत् रूपी अमृतकी वर्षा कैसे होती? यादवोंकी तुलनामें परीक्षितका उत्कर्ष होना सिद्ध हुआ है. क्योंकि यादवगण तो शाप पाकर मूढ बन गए और परस्पर लड

मरे; और परीक्षित शाप पाकर भागवतरूपी अमृतपान करते हुए भगवानमें सायुज्यको प्राप्त हुए. अतः इस परीक्षितका उत्कर्ष अतिशय बढ गया।।४।।

इस प्रकार महाराज परीक्षितकी राज्य सम्बन्धी व्यवस्थाओं पर प्रकाश डालनेके उपरान्त; अब संक्षेपमें उनके जीवनकी अन्तिम अवस्थाके विषयमें निरूपण किया जा रहा है:

सूत उवाच

यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः।
अनुग्रहाद् भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ।।१।।

भगवान् श्रीकृष्णके अद्भुत कर्म तथा कृपासे, परीक्षित द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाके चलाए हुए ब्रह्मास्त्रसे भी माताके पेटमें मृत्युको प्राप्त नहीं हुए।।१।।

जो अश्वत्थामाके अस्त्रसे न मर सके, ऐसे परीक्षित. जिनकी भगवान्के द्वारा पहले रक्षा की गई और उन्हींके द्वारा बादमें उपसंहार कर दिया गया. इसे कहते हैं कि वे अद्भुत करनेवाले हैं. माताके उदरमें जो नहीं मरे वे भागवतरूपी अमृतको पीकर मर गए. भगवान् और कृष्ण, ये प्रकट और अप्रकटके भेदसे ब्रह्मके दो नाम हैं. परीक्षित माताके उदरमें नहीं मरे, परन्तु गंगामें तो मर ही गए।।१।।

अब परीक्षितकी मृत्यु होनेमें विशेष स्थिति होनेकी बात कही जा रही है:

ब्रह्मकोपोत्थिताद् यस्तु तक्षकात् प्राणाविप्लवात्।
न सम्मुमोहोरुभयाद् भगवत्यर्पिताशयः।।२।।

ब्राह्मणके क्रोधसे उत्पन्न, तक्षक द्वारा होनेवाले प्राणोंके नाशके शापको सुनकर भी ब्रह्ममें अर्पित अन्तःकरणवाले परीक्षितको मोह उत्पन्न नहीं हुआ ।।२।।

ब्राह्मणके क्रोधसे उत्पन्न हुआ तक्षक परीक्षितको बिना जलाये नहीं रह सकता था. जो ब्रह्मास्त्र माताके उदरमें सफल नहीं हो सका था वही अब तक्षकके रूपमें आकर सफल हुआ. इसी कारण यहां 'ब्रह्मकोप'में ब्रह्मास्त्रके भावको लेकर 'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग हुआ है. जिस तक्षकसे प्राणोंमें उथल-पुथल हो जाय. जो निरुद्ध है, चारों ओरसे घिरे हुए होनेके कारण इधर-उधर हिल नहीं सकते, उनका अग्निमें प्रवेश होनेसे महान उपद्रव होता है. सभी स्थानों पर प्राण

अग्निका स्पर्श नहीं करते. परन्तु तक्षककी अग्निके स्पर्शसे तो प्राणोंमें भी खलबली मच गई. उस तक्षकसे अतिशय भय उत्पन्न हुआ. फिर भी परीक्षितको सम्मोह उत्पन्न नहीं हुआ. क्योंकि उन्होंने अपने अन्तःकरणको भगवानमें अर्पित कर दिया. कहीं ऐसा न हो कि अन्तःकरण भी तक्षककी अग्निमें झुलस जाय, अतः पहलेसे ही उसे भगवानको सोंप दिया।।२।।

अब राजाने जिस प्रकार शरीरको छोडा, उसे कहते हैं:

उत्सृज्य सर्वतः सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थितिः।
वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम्।।३।।

जिन परीक्षितने भगवानकी संस्थितिको सब प्रकारसे जान लिया, संसारके समस्त प्रपंचोंसे नाता तोड लिया और व्यासजीके पुत्र शुकदेवजीके शिष्यत्वको ग्रहण करके गंगामें अपने देहको त्याग दिया।।३।।

सब कुछ त्याग दिया. परीक्षितने सर्व प्रथम वैभवादिका परित्याग किया, इसके पश्चात् गुरु श्रीशुकदेवकी कृपा हुई, उनके उस सम्प्रदायसे भगवान्के स्वरूपका ज्ञान हुआ जिससे उन्होंने अपना अन्तःकरण प्रभुको समर्पण किया. इस प्रकार परीक्षितने उन अजित भगवानकी स्थितिको सम्यक् प्रकारसे विशेषतापूर्वक जान लिया. भगवानकी व्यवस्थाको पूरी तरहसे परीक्षित् समझ गए।।३।।

राजा परीक्षितको उस बहुत बडे भयकी स्थितिमें भी सम्भ्रम क्यों न हुआ? इस आकांक्षासे कहा जा रहा है:

नोत्तमश्लोकवार्त्तानां जुषतां तत्कथामृतम्।
स्यात् सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि भजतां तत्पदाम्बुजम्।।४।।

जिन्हें उत्तमश्लोक भगवान्के विषयमें बात-चीत करना ही प्रिय लगता है, उनकी कथारूपी अमृतको पीकर ही जो सदैव छके रहते हैं, निरन्तर भगवान्के चरणकमलोंका ही जिन्हें स्मरण बना रहता है; ऐसे पुरुषोंको अन्तकालके समयमें भी किसी प्रकारका भय नहीं लगता।।४।।

जिनमें सदैव उत्तमश्लोक भगवानकी ही वार्ता होती है. जिनकी लौकिक वार्ताएं भी भगवत् सम्बन्धिनी होती हैं, जो सदा उन भगवानकी कथारूपी अमृतको पान करते हुए उसी रसमें डूबे रहते हैं, सज्जन पुरुषों द्वारा कही गई भगवत्कथाओंमें ही जिनका मन लीन रहता है, अधिक क्या कहें, जो भगवान्के चरणकमलोंका ही सेवन करते हैं; उन्हें मृत्युके समय किसी भी प्रकारकी

हडबडाहट नहीं होती. भ्रम होना सन्निपातका कार्य है. दोष और गुण मिलकर जब एकताको प्राप्त होते हैं, तभी सन्निपात हो जाता है. श्रीकृष्ण उद्धवजीके प्रति कहते हैं कि ''मैं इसे मारता हूं'' इस प्रकारकी बुद्धि हो जाना ही सन्निपात कहलाता है. वह सन्निपात दो प्रकारका है: एक तो ''मैं इसे मारता हूं'' ऐसा अभिमानरूप है और दूसरा मन, शब्द, स्पर्श आदि विषय. इन्द्रिय और प्राणों का स्वाभाविक विषयसम्बन्ध जीवित अवस्था तक रहता है, उसी प्रकार सन्निपातका व्यवहार भी जीवित अवस्था तक ही जीवके साथ रहता है, और अन्तमें गुणोंकी वृत्तियां ही उस सन्निपातके कार्यको प्राप्त हो जाती है. वही मन, शब्दादिक विषय, इन्द्रियां और प्राण, भगवान्‌के सम्बन्धवाला कार्य करें, तो पहलेसे उत्पन्न हुआ सन्निपात मिट जाता है. उसमें लौकिक वार्ता तामसी है, आवश्यक वार्ता राजसी है और भजन सम्बन्धी चर्चा सात्त्विक है. सात्विक स्वभावसे भगवत् सम्बन्धी लौकिक वार्ता की जाये तो वह भी सात्त्विक हो जाती है. व्यवहारकेलिये आवश्यकतानुसार की जानेवाली बात राजसी है और भजन सम्बन्धी चर्चा सात्त्विक है. इस प्रकार सात्त्विक स्वभावसे भगवान्‌के सम्बन्धसे लौकिक वार्ता की जाय तो वह लौकिक वार्ता भी सात्त्विक हो जाती है. किसीके आग्रहसे दृढता आने पर जो भजन होता है, वह तामस है. ''मनसे जो ध्यान किया जाता है, वैसी ही क्रिया होती है'' ऐसा श्रुतिओंमें कहा है. जिससे वार्ता करना मनका धर्म है. इसलिए निरन्तर शरीर, इन्द्रियां और अन्तःकरण द्वारा भगवत् चिन्तन करनेसे बीज सहित दोष नष्ट हो जाते हैं और तीनों ही प्रकारके स्वभाव परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे पारसमणिके स्पर्शसे लोहा भी सोना बन जाता है. जिसमें कोई अन्य तत्त्व न मिल सके इस रीतिसे भगवान्‌के स्वरूपका चारों तरफसे प्रवेश होने पर भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकता. यद्यपि अन्तिम समयमें देह, इन्द्रियां और अन्तःकरण व्याकुल हो जाते हैं, जिससे उसके स्वभावमें फिरसे भ्रम उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है, तो भी जिनके देह, इन्द्रियां आदि भगवान्‌के ही हो गये हैं, उन्हें काल नहीं मार सकता. क्योंकि वे भक्त भगवानकी कथारूपी अमृतको पीकर नित्य स्थित रूपवाले बन जाते हैं।।४।।

उन भक्तोंके सम्बन्धमें कालको नियन्त्रित करनेवाली बात कैसे सम्भव है? उस प्रसंगमें कहते हैं:

तावत् कलिर्न प्रभवेत् प्रविष्टोऽपीह सर्वतः।

यावद् ईशो महानुर्व्याम् आभिमन्यव एकराट्।।५।।

जब तक अभिमन्युके पुत्र महाराज परीक्षित् इस विशाल पृथ्वीका एक छत्र शासन करते हैं; तब तक सभी स्थानोंमें प्रविष्ट हुआ कलिकाल अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर सकता।।५।।

तब तक कलि प्रभावित न हो सका. राजा परीक्षितके राज्यमें भी कालका सम्बन्ध नहीं है. वहां उनकी आयुमें कालका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? तो कहते हैं कि परीक्षितने आधिदैविक कालका निवारण किया है. गुणयुक्त भगवानकी तुलनामें परीक्षितमें गुणोंकी हीनता है, फिर भगवान द्वारा बनाये गये कालको इन परीक्षितने किस प्रकार हटाया? इस पर कहते हैं कि वह समस्त स्थानोंमें प्रविष्ट होता हुआ भी रुका हुआ है. जिस प्रकार प्रतिबन्ध मणिके प्रयोगसे काष्ठमें लगी हुई अग्नि जहां की तहां रुक जाती है, आगे नहीं बढती; उसी प्रकार राजा परीक्षितके राज्यमें रहता हुआ कलिकाल भी अपने कार्योंको न करता हुआ, रुका पडा है. राजामें विशेष रूपसे भगवदीयपना होनेसे, कार्योंकी तुलनामें गुणोंकी अधिकता होनेसे, कलिकालको अटका रखनेकी क्षमता है. कलिकालको उन्होंने अपने देशसे दूर नहीं किया है. इसीलिए कहा कि वह कलि यहां सब स्थानों पर प्रविष्ट होता हुआ भी अप्रभावित है. परीक्षितने कालके कहीं होने और कहीं न होनेके भेदको, जिसे देशपरिच्छेद कहा जाता है, निवारण कर दिया. परन्तु कालको रोक दिया जाना भी कैसे संभव हुआ? वह तो भगवानका बनाया हुआ है. उस पर कहा है कि परीक्षित् ईश (राजापनेसे) हैं. परीक्षितमें भगवानका प्रवेश होनेसे अथवा भगवान् द्वारा ऐश्वर्य प्रदान किये जानेसे उनमें ईशत्व (ईश्वरके गुण) है. वे भी किसी कार्यको करने, न करने तथा विपरीत कर देनेमें समर्थ हैं. इससे अधिक और क्या कहें, भगवानने काल और राजा दोनोंको ही अधिकार प्रदान किये हैं. उन दोनोंमें राजाको ही महान बनाया है. अतः उनमें कालको अटकाये रखनेकी सामर्थ्य है. परीक्षित् श्रीकृष्ण भगवान्के भानजेके पुत्र हैं; और काल तो भगवानका वाहनरूप है. इस दृष्टिसे भी कालकी तुलनामें परीक्षितका विशेष महत्त्व है. अलग-अलग देशके खण्डोंमें कलिकाल फैला हुआ है. जम्बू द्वीपके आठ वर्गोमें त्रेतायुगके समान काल व्यवहार करता है और यह कलि यहां मात्र भारतवर्षमें प्रवर्तित हुआ है. ये राजा परीक्षित् तो आठों भागवाले जम्बू द्वीपके एक छत्र सम्राट हैं. कलिकालके पास भारत वर्षका ही

छोटा भूखण्ड है. इसलिए छोटे भागका शासक सम्पूर्ण भू मण्डलके महान शासकके अधीन रहेगा ही. अतः परीक्षितको कलिकालके प्रभाव-विस्तारको प्रतिबद्ध (अटकाये रखनेकी) रखनेकी सामर्थ्यवाला सिद्ध किया है।।५।।

कालमें ही कलियुग प्रवृत्त हुआ, इसे किसलिए स्वीकार नहीं करते? द्वितीय स्कन्धमें शौनकजीने कहा है कि ''उत्तम यशवाले भगवानकी वार्ता करते हुए कालके जिन क्षणोंको व्यतीत किया जाता है, उसके अतिरिक्त शेष बची हुई आयुको उदित तथा अस्त होता सूर्य ले जाता है'' अतः जिस कालमें भगवानकी वार्ता होती हो उसे सूर्य नहीं हर सकता. इसलिए सूर्यकी गतिसे गणना करनेमें कालका परिच्छेद (विभाग) होता है, तब सतयुग, त्रेतायुग आदि युगोंका व्यवहार होता है. इससे ''प्रसंगमें आनेवाले बढे-चढे पनको कहना चाहिए'' इस न्यायसे भगवानकी वार्ता करते हुए राजाकी आयुसे और भगवान्से काल ही उत्तम है, ऐसा क्यों नहीं कहा गया? ऐसी शंका करते हुए कहते हैं:

यस्मिन् अहनि यर्ह्येव भगवान् उत्ससर्ज गाम्।
तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः।।६।।

जिस दिनसे भगवानने इस पृथ्वीको छोडा, तभीसे अधर्म रूप कलि आ गया।।६।।

जिस दिनसे भगवान् पधारे उसी दिन कलि आ धमका. सचमुच ही राजाकी आयुसे तथा भगवान्से कालका उत्कर्ष किया जा सकता है, पर ऐसा हुआ नहीं. द्वापरके अन्तमें भगवानने अवतार लिया और तब कलि प्रविष्ट नहीं हुआ. उस समय भगवानने सूर्यकी गतिको उत्तम बनाया. जब भगवान् पधारे तो कालकी उत्तमता जाती रही. इधर परीक्षितको अभी राज्याधिकार मिला नहीं था, बस इसी सन्धिकाल (बीचका समय) में कलिने अपना अखाडा जमा लिया. युधिष्ठिरके कालमें प्रवेश हुए कलिको यदि परीक्षित् निकाल बाहर करते, तो मर्यादा भंग होती. यदि कालको देश निकाला दिया जाता तो वह परीक्षितके पधारनेके बाद पुनः आता ही और अपनी निश्चित अवधि तक शासन करनेकेलिये उतना ही समय अधिक लेता, जितने समय उसे देशसे बाहर रहना पडा था. ऐसी स्थितिमें शास्त्रोंसे निर्धारित कल्कि भगवान्के प्रकट होनेके स्थिति-कालमें बाधा खडी हो जाती. अतः भगवान्के समान बल न होनेसे परीक्षितके समयमें कालका वह गौरव घट था. अतएव जिस दिन भगवान् इस

धराको त्याग कर पधारे, उसी समय कलिने अपना प्रभाव स्थापित कर लिया. उस कलिको भगवान्‌के पधार जानेकी ही प्रतीक्षा थी. इधर वे पधारे नहीं कि वह आ धमका. उस कलिके आते ही सारे अधर्म अपने अपने कामोंमें जुट गए।।६।।

जबकि कलिकाल दुष्ट था, तो उसे मार देना ही उचित था या फिर उसका किसी अन्य प्रकारसे निराकरण कर देना चाहिए था. परन्तु भगवानने ही कलिकालको युगके अधिकारीके रूपमें नियुक्त किया था अतः इस विषयमें भगवान्‌से ही प्रार्थना की जानी योग्य थी. क्योंकि भगवानकी प्रार्थनासे सभीका उपकार सिद्ध होता है, इसी आशंकासे कहा जा रहा है:

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक्।
कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्।।७।।

सम्राट परीक्षित् भंवरेके समान सार वस्तुको ग्रहण करनेवाले थे, अतः उन्होंने कलिकालसे द्वेष नहीं किया. कलिकालमें सार बात यह है कि पुण्य कार्योंके फल शीघ्र ही मिलते हैं, और पाप कर्मोंके केवल वे ही फल मिलते हैं, जो स्वयंने किये हों।।७।।

यद्यपि राजा परीक्षित् सब कुछ करनेमें समर्थ थे, परन्तु उन्होंने कलियुगसे द्वेष नहीं किया. यद्यपि धर्मसे कलिकालसे द्वेष किया, परन्तु परीक्षितने धर्मका अनुसरण करते हुए कलिसे द्वेष नहीं किया. उसमें उनका सम्राट होना ही कारण है. राज्यमें अन्य छोटे खण्डोंके राजाओंके द्वेष करने पर भी उन सबके अनुरोध पर सम्राट किसीसे भी द्वेष नहीं करता. यद्यपि कलि अधर्मको उत्पन्न करनेवाला है परन्तु उस उत्पत्ति कर्तासे द्वेष न होकर उससे उत्पन्न हुए अधर्मसे राजाको द्वेष है. अतः कहा कि राजा परीक्षित् सार वस्तुके भोगनेवाले हैं. चांवलों पर छिलकें हैं, इसलिए चांवलोंको ही छोड दो, यह मानकर राजा, कलि अधर्म करनेवाला है, अतः कलिको ही छोड दो, ऐसा नहीं करता. जिस प्रकार तुषोंको हटाकर चांवल खा लिये जाते हैं, उसी प्रकार यह राजा केवल सार पदार्थको ग्रहण करनेवाला है. सार वस्तुका महत्त्व तभी है, जब वह असार वस्तुसे ढंकी रहे अथवा लिपटी रहे. अतः राजा कलिकालका किन्हीं भी अंशोमें द्वेष नहीं करता. तो फिर जहर और मीठेसे युक्त अन्नके त्यागके समान गुण और दोषोंकी समानता होने पर अथवा दोषोंकी अधिकता होने पर उस वस्तुके समान कलिकालका त्याग राजाने क्यों नहीं किया? उस प्रसंगमें कहते हैं कि भंवरेके समान त्याग नहीं

किया. सार अर्थात् तत्त्वको गानेवाला होनेसे उसे सारंग(भंवरा) कहा जाता है. वह मधुमें मस्त होकर गाता है. यद्यपि केवडा बाहरसे कांटोंसे घिरा रहता है, पर इसकी परवाह न करता हुआ भ्रमर, उस केतकीमें मकरन्दकी अधिकता होनेसे उसमें रम जाता है. मकरन्द, भ्रमरका एक मात्र जीवन होनेसे वह उसे छोड नहीं सकता. ठीक इसी प्रकार राजाने भी ''कलिकालमें जीव नारायणके परायण होंगे'' इसमें भगवान्के गुण और भक्त सुलभ होंगे तथा भक्ति सिद्ध होगी, और वह भक्ति ही एक मात्र जीवन है, ऐसा मानकर द्वेष नहीं किया. कलिमें स्थित अधर्मके अंशका निराकरण तो प्रतिबन्धसे भी हो जाता है. अधिक कहनेसे क्या? युग परिवर्तन आदिकी दृष्टिसे तो सतयुग और कलियुग दोनों ही समान हैं. इस समानताकी दृष्टिसे भी राजा परीक्षितने कलिसे द्वेष नहीं किया. कहते हैं कि इसमें मनुष्यकी कुशलताएं शीघ्रतासे सम्पादित होती है. ''सत्ययुगमें पापका फल तत्क्षण मिलता है. त्रेतामें पापका फल बारहवें दिन, द्वापरमें एक महीने बाद और कलिमें एक वर्ष बाद पापका फल होता है''. इसके एकदम ठीक उल्टा धर्मके विषयमें मानिए. अर्थात् कलिमें धर्मकी सिद्धि तत्क्षण होती है. इस विषयमें कहा भी है कि पुण्य और पाप ये दोनों ही कलिकालमें स्वयं करनेवालेको ही लगते हैं. कलिकालमें संसर्गसे उत्पन्न होनेवाले पाप नहीं लगते. स्वयंके किये हुए पापोंका फल ही मिलता है. अतः लोक उपकारकी दृष्टिसे भी महाराज परीक्षितने कलिकालसे द्वेष नहीं किया।।७।।

और इसके अतिरिक्त भी यह कलिकाल देशमें क्रियाशील नहीं हुआ अपितु पुरुषोंके कार्यों द्वारा व्यवहारमें आया. उसमें भी जो बालक हैं (बुद्धिकी अल्पता बालकपन ही कहलाता है, केवल अवस्था विशेष ही नहीं) उन बालकोंमें भी जो विचारहीन हैं अथवा बेखबर हुए प्रमत्तकी तरह जी रहे हैं, कलिकाल उनमें ही प्रवेश पाता है. महाराज परीक्षित् शिक्षककी दृष्टिसे उसकी स्थितिकी उपेक्षा ही करते हैं, परन्तु उससे द्वेष नहीं रखते. इस प्रसंगमें अब आगे कहा जा रहा है:

किं तु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको नृषु वर्त्तते।।८।।

जो अप्रमत्त है, धैर्यशाली है, उनसे कलि डरता है. यह भेडिया तो प्रमत्त हुए बालकरूप मनुष्योंमें ही अपनी वीरता दिखाता है।।८।।

किन्तु यह किन पर अपना प्रभाव चलाता है? 'तु' अव्ययके द्वारा कलिकालका स्थानमें स्थित होनेरूपी पूर्वपक्षका निराकरण किया है. धर्ममें लगे हुए बालकोंके अन्दर शीघ्रतासे फल सिद्धि होती है तथा प्रपंच नष्ट हो जाते हैं. धर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है तथा ज्ञानके उदय होनेसे सब कुछ त्यागनेवाली स्थिति उत्पन्न हो जाती है इसलिए कलियुग ऐसे धर्मको बाधा पहुंचानेके काममें शूर कहा है. जो मोक्षके अधिकारी हैं, धैर्यशाली हैं, उनसे तो यह कलि डरता है. इसके अतिरिक्त यह वैराग्य उत्पन्न करनेमें कारणरूप है. क्योंकि जो सांसारिक भावनाओंमें रमे हुए हैं, ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान जिनको नहीं है, ऐसे प्रमत्तोंमें ही यह सावधानीपूर्वक अपना अधर्म प्रचारका कार्य करता है. यह कलि आयुको नष्ट करनेवाला है. यही कारण है कि कलियुगमें मनुष्य कम उम्रके होते हैं. इस कलिकालका स्वभाव कहते हैं कि जैसे भेडिया हो. यह कलिकाल भेडियेके रूपवाला है. वह रात्रिमें सोये हुए अरक्षित बालकोंको उठाकर ले जाता है. यह शेरके समान सामने आकर सबको खानेवाला नहीं है. अतः महान पुरुषोंकी प्रवृत्ति इसे मारनेकी नहीं होती. एक वचनसे यहां कलिकालकी असहाय स्थितिकी सूचना मिलती है. उसमें भी एक और विशेष बात है कि वह सामान्य मनुष्यों पर ही असर करता है; परन्तु जो नरोंमें उत्तम हैं अथवा ऋषि श्रेणीके हैं, वहां इस कलिकी दाल नहीं गलती. इसलिए राजा परीक्षित् द्वारा इस पर ध्यान ही नहीं दिया गया, इसकी उपेक्षा कर दी गई।।८।।

इस प्रकार कलिके स्वरूपको बताकर कथाका उपसंहार करते हैं:

उपवर्णितम् एतद् वः पुण्यं पारीक्षितं मया।
वासुदेवकथोपेतम् आख्यानं यद् अपृच्छत।।९।।

जिन भगवान् वासुदेवकी कथासे युक्त पुण्यशील राजा परीक्षितके विषयमें आपने पूछा था, वह पवित्र आख्यान मैने आपको कह सुनाया है।।९।।

मैने आख्यानका वर्णन कर दिया. लोकमें उपयोगी होनेके कारण विभागरूपमें निरूपित किये गये इस परीक्षितका फल पुण्य प्राप्ति कहा है. जिस प्रकार गंगास्नान आदिसे धर्म होता है, उसी प्रकार परीक्षितका यह आख्यान भगवान् वासुदेवकी कथासे ओतप्रोत है. सार बात यह है कि आपके द्वारा परीक्षित् सम्बन्धी आख्यान पूछे जाने पर, मैने कहनेका जो अनुमोदन किया था; उसे मैने पूछे गये प्रश्नका उत्तर देकर पूरा किया. अन्यथा तो केवल भगवत् कथा

ही कही होती. ''परीक्षित् सम्बन्धिनी कथाको मैं सुनाउंगा'' ऐसी स्वीकृति देनेसे इसे संक्षेपमें कहा है।।९।।

साक्षात् भगवत् कथासे युक्त न होनेके कारण यदि हमारा प्रश्न अनुचित था तो आप उसका निरूपण नहीं करते और तभी हमें निषेध कर देते. प्रसंगके अन्तर्गत आ जानेसे ही उस आख्यानका कथन करना इतना आवश्यक नहीं था. ऐसी शंका होने पर उसका उत्तर देते हैंः

या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्मणः।
गुणकर्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः।।१०।।

जिन अतिशय श्रेष्ठ कर्म करनेवाले भगवानकी जो कथाएं कहने योग्य हैं तथा जो कथाएं भगवान्के गुण और कर्मोंका आश्रय लिए हुए हैं, श्रेष्ठताकी ओर बढनेकी इच्छावाले पुरुषोंको उन कथाओंका अवश्यमेव सेवन करना चाहिए ।।१०।।

भगवान्के गुण व कर्मोंसे युक्त जो कथाएं कहने योग्य हैं, उन्हें प्रासंगिकतामें भी कहना चाहिए. प्रसंगके अन्तर्गत आये हुए कथानक सर्वथा अनुपयोगी नहीं हुआ करते. क्योंकि उनका आधार भगवानकी कथा ही होती है. उत्तमका आश्रय लेनेसे उत्तमताके अधिकारकी प्राप्तिके कारण वे कथाएं भी कहने योग्य बन जाती है. अतः जो कोई भी कथा भगवान्के गुण तथा कर्मों का आश्रय लेनेवाली हों उन्हें अवश्य ही सुनना चाहिए. उसमें कारण है कि अतिशय बढे-चढे कर्म करनेवालोंको कथा कथनीय होती है. निरूपण की जानेवाली कथामें भगवत्कथाके श्रेष्ठ भावकी स्थापना अधिक होनेसे वे भक्तिको उत्पन्न करनेवाली होती है. अन्यथा वे भी सहस्रनाम पाठ आदिके समान ही केवल धर्म अर्जनके उपयोगकी ही हो जायें. कहने योग्य इसलिए हैं कि उनके सुननेसे उन महान कर्मकर्ताओंके कर्मोंको करनेकी प्रेरणा मिलती है. केवल निर्देश मात्रसे ही भगवान्के कर्म कहनेकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है. किन्तु जन सामान्यमें वे भली प्रकार प्रतिष्ठित हो जायें इस भावसे उन्हें कहा जाना चाहिए. पुरुषोंके द्वारा उसे ग्रहण किया जाना चाहिए. पुरुष क्यों कहा? क्योंकि वह स्वतंत्र है. अतः यदि उसे भगवत् तत्त्व पानेकी अभिलाषा है तो अवश्य ही उसे इन पोषक कथाओंका श्रवण करना चाहिए. जिस प्रकार शुद्ध घृतसे बने हुए अन्न भोजन करनेवालेको पुष्ट बना देता है, उसी प्रकार भक्तिके भावोंको पुष्ट बना देनेवाली

कथाएं श्रवणीय हैं।।१०।।

इस प्रकार सूतजी महाराजको कथा कहनेसे रुका जानकर सारे ऋषि इच्छित अर्थके ज्ञानको जाननेकेलिए श्रीसूतजीको अत्यधिक उत्साह दिलाते हुए कहते हैं:

ऋषय ऊचुः

सूत! जीव समाः सौम्य! शाश्वतीर्विशदं यशः।
यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्यानाम् अमृतं हि नः।।११।।

हे सौम्य सूतजी, आप सदा जिएं. आपका यश निरन्तर विस्तारको प्राप्त होवे. जो कि आप हम मनुष्योंको भगवान् श्रीकृष्णके अमृतको पिला रहे हो।।११।।

हे सूतजी, आप नित्य जीवें. ब्राह्मणोंको सन्तोष देने पर उसके प्रतिफलके रूपमें उनके पास देनेकेलिये आशीर्वादरूपी द्रव्य ही है. इसलिए कहा कि हे सूतजी, आप शाश्वत वर्षों तक जीएं. इतने दीर्घतम जीवनको धारण करनेके पीछे आपका क्या उपयोग है? इसके समाधानमें कहते हैं कि हे सौम्य, हे भगवत्स्वरूपके सेवनकर्ता अर्थात् हे बुध (परम लक्ष्यको प्राप्त करनेमें नियोजित बुद्धिवाले) आप अपने ज्ञान और चातुर्य से उत्पत्तिको शिष्ट कर देते हैं अर्थात् भागवत् श्रवणसे उत्पत्ति मिट जाती है आवागमन शेष नहीं रह जाता. अतः आपके बहुत काल तक जीवित रहनेसे हमारा महान कार्य सिद्ध होगा. 'समाः' अर्थात् संवत्सरों (वर्षों तक) पर्यन्त. 'शाश्वत' याने नित्य जैसे कि ब्रह्म अथवा ऐसे ही ब्रह्माण्डादि पदार्थोंके समान सीमा रहित समय तक आप जीवन धारण कीजिए. इस प्रकार आशीर्वाद देनेमें कारण बताया है. आप भगवान् श्रीकृष्णके विशद यशका गान करते हैं, इस कारण आपके जीवनका महान प्रयोजन है. वेदोंकी ऋचाओंके अन्तर्गत आये प्रउग आदि स्तुतिओंकी तरह जो केवल कर्ममार्गका ही निर्देशन करती हैं, ये आपके अमृतमय गान वैसे कर्म निर्देशक नहीं हैं, प्रत्युत् परमानन्द श्रीकृष्णरससे ओतप्रोत हैं. हमारे लिये आपद्वारा किया भगवत् शंसन् अमृत है. आप द्वारा उच्चरित भगवद्गुणगान मृत्युनाशक, सुख सरसानेवाला और परम आनन्दके रूपवाला है. उसके अर्थमें कारण बताया जा रहा है कि श्रीकृष्णका यश विशद है. वह यश अतिशय निर्मल है. वह यश संसार विषको उखाड फेंकता है. संसारमें प्रवेश होनेकी प्रक्रियाको दूर कर देता है. उन

श्रीकृष्णका विशद यश मृत्युको पास भी नहीं फटकने देता. परमानन्द श्रीकृष्णका यश सुख उत्पन्न करनेवाला है. और श्रीकृष्ण ही परमानन्द हैं. सदानन्दकी वाचकता श्रीकृष्ण शब्दमें ही निहित है. 'कृष्'का प्रयोग भू अर्थात् सत्ताके अर्थमें प्रयोगित होता है और 'ण' निवृत्ति अर्थात् आनन्दके अर्थमें. आनन्दकी एकरस प्रवहमान शाश्वत स्थिति ही भगवान् कृष्णका नाम धारण करती है. इन्हीं श्रीकृष्णके गुणगानसे परम आनन्दके प्राप्त होनकी वेला प्रस्तुत होती है।।११।।

परीक्षितकी कथाके प्रश्न मात्रसे उदासीन हुए सूतजी, हम लोगोंकी कर्म मार्गमें हुई प्रवृत्तिको देखकर भगवान्के कथामृतको आगे पिलावें या न पिलावें, इस आशंकासे निवेदन करते हैं:

कर्मण्यस्मिन् अनाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्।
आपाययति गोविन्द–पादपद्मासवं मधु।।१२।।

इस कर्ममें विश्वास रहितवाले, धुएंसे मलिन हुए हमें; आप श्रीगोविन्दके चरणकमलोंके मधुर रसको पिलाते हो।।१२।।

कर्ममें विश्वासकी स्थितिका अभाव बताया जा रहा है. इस यज्ञ नामवाले कर्ममें फलके निश्चित रूपसे मिलनेका विश्वास ऋषिओंको नहीं है. ''कौन जाने उस लोकमें फल मिलेगा अथवा नहीं''. ऐसा श्रुतिओंमें कथन आया है. जिस प्रकार वहां सन्देह न होनेकी स्थितिमें भी सन्देहयुक्त वचनोंका प्रयोग हुआ है, वैसा ही इस प्रसंगमें भी हुआ है. इसीलिए ''धूएंमें धूमायित हुए'' शब्दोंका प्रयोग हुआ है. धूएंसे मलिन शरीरोंवाले हमें आपने कथाश्रवण द्वारा निर्मल बनाया है. इसमें यज्ञ किये जानेका दोष स्पष्टरूपसे बताया है. गुणोंको यज्ञमें सन्देहकी दृष्टिसे देखा है. ऐसे महान यज्ञके कष्टमें आपने हमें गोविन्दके चरणकमलके मीठे रसको पिलाया है. इस हजार वर्षवाले यज्ञमें जिस रसका अनुभव हमें आज तक नहीं हुआ, वह आपने हमें करा दिया है. अतः इस यज्ञकी तुलनामें आप ही आदरणीय हैं. भगवद्रसका पान चारों ओरसे करा रहे हैं, जिससे वह हृदयमें पूरी तरह प्रवेश हो जाये. यहां 'गोविन्द' शब्दका प्रयोग सुननेवालोंकी रक्षाके अर्थमें किया है. 'चरणकमल' कहकर भक्तिमार्गके प्रचारको व्यापकता दी है. आगे भी इस रसका पान किया जाता रहेगा, इस बातकी सूचना भी ऊपर लिखित वाक्योंमें दे दी गई है. मकरन्दकेलिये प्रयुक्त किये गये 'आसव' शब्दका यहां विशेष प्रयोजन है, वह यह कि जिस प्रकार आसवके पीनेसे कुछ होश–

हवाश नहीं रहता, वैसे भगवद्रसका पान करनेसे व्यक्ति अपने देहकी सुध-बुध खो बैठता है, उसका देह अध्यास नष्ट हो जाता है. यहां ज्ञानके फलको प्रासंगिक रूपमें बताया है और भक्तिको ज्ञानसे बढा-चढाकर सूचित किया है. 'मधु' शब्द मीठेके अर्थमें प्रयोगित हुआ है. जैसे मधुर पदार्थको पीनेकी इच्छा निरन्तर बनी रहती है, उसके स्वरूपसे ही पान करनेकी योग्यता उसमें स्थित है, उसी प्रकार भगवान् गोविन्दके चरणकमलोंका मधुर आसव रस निरन्तर पीते ही रहे, कभी तृप्ति ही नहीं, यह इच्छा उन ऋषिओंको बनी हुई है।।१२।।

इस प्रकार ऋषियोंने कथामें अत्यधिक आदर बताकर, सूतजीका भी अतिशय आदर करते हुए कहा है:

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किम् उताशिषः।।१३।।

भगवान्के भक्तोंके एक क्षणके संगके भी बराबर न तो स्वर्ग है और न ही मोक्ष. फिर अन्य मृत्यु लोकके नष्ट होनेवाले मनुष्यों द्वारा चाहे गए राज्यादिक पदार्थ तो सत्संगकी तुलनामें ठहर ही कैसे सकते हैं?।।१३।।

जिसका संग भगवान्के साथ हो है, ऐसे भगवद्भक्तोंके संग करनेकी तुलनामें स्वर्ग एक अंशके रूपमें भी नहीं ठहरता. जैसा आपका संग करनेसे कथाके अमृत पानका सुख मिलता है, वैसा स्वर्गमें मिलता होगा, इसकी हम कल्पना भी नहीं करते. असमान वस्तुकी समता करने पर अनादर होता है. स्वर्ग वह है ''जहां दुःखसे सुखकी स्थितिका भेद नहीं होता है'' इस वाक्यसे स्वर्गमें एक ऐसा विशेष प्रकारका सुख है, जिसमें दुःख कतई नहीं मिला हुआ हो. वह सुख जीवके द्वारा भोगा जाता है, परन्तु वह सुख आत्माके आनन्दसे कम है. उस जीवका आवरण जब हट जाता है तो उसे अपुनर्भव कहते हैं, क्योंकि वह दुबारा जन्म नहीं लेता है. वह मनुष्य द्वारा प्राप्त किये जानेवाले आनन्दकी अपेक्षा उत्तम होते हुए भी ब्रह्मके आनन्दकी तुलनामें बराबरी नहीं करता. ये दोनों ही प्रकारके आनन्द मिलकर आनन्दमय भगवानकी समता नहीं कर सकते. क्योंकि अन्य आनन्द सिमित हैं, उन्हें संख्यामें बांधा जा सकता है. भगवानका आनन्द अनूठा ही है तथा उसका कोई आर-पार नहीं. यदि ऐसा न हुआ होता तब तो जीवका ब्रह्मभाव होना, ब्रह्मभूत होना अथवा भगवानमें प्रवेश होना आदि कहे न होते. दोना भरकर खल खानेसे मुठ्ठीभर शक्कर खानेका रसानुभव नहीं होता. ब्रह्मानन्दमें

भी ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान रखनेवाले सनकादिक ऋषि भी भगवान्‌के आनन्दको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं. अतः भगवान्‌के साथ स्वर्ग और मोक्षकी समानता नहीं है. यहां तक कि साधन पक्षमें भी उसकी समानता नहीं है. मुक्त होनेके बाद निश्चित रूपसे वह भगवानको प्राप्त कर सकनेमें अधिकारकी प्राप्त करता है. ''ब्रह्मभूत होने पर आत्मा शान्त हो जाती है'' इस वाक्यसे भगवान्‌के भक्त भी भक्तिको उत्पन्न करते हैं. वह भक्त, भक्तिके स्वरूपका उपकार करनेवाला एक अंग है और भक्तिके अधिकारका निरूपण करनेमें मोक्ष भी एक अंग है. कहा भी है कि ''मुक्त हुए सिद्धोंमें भी भगवानमें परायण होनेवाले भक्त दुर्लभ हैं''. इससे यह सिद्ध हुआ कि मुक्त होनेवाले सब व्यक्ति भगवान्‌के आनन्दको प्राप्त नहीं कर लेते. भगवान्‌के भक्तका क्षण मात्र संग भी भगवान्‌के आनन्दको उत्पन्न करते हैं, अतः भगवद्‌भक्तोंका संग आनन्द प्रदान करनेमें स्वतन्त्र है, मोक्ष तो केवल उसका एक पहलू है. अतः दोनोंकी बराबरी ही क्या? भले ही भ्रममें फंसे व्यक्ति मोक्ष अथवा स्वर्गप्राप्ति आदिको भगवत्प्राप्तिकी तुलनामें रखें; परन्तु हम शौनक ऋषि तो इसकी समानता नहीं करते. मनुष्य तो आशीर्वाद रूपमें पुत्र आदिकी ही कामना रखते हैं. 'अशिष' शब्द द्वितीया बहुवचनमें हैं. लौकिक अभिप्रायसे उनका निषेध किया है. क्योंकि लौकिक लोगोंका पदार्थ प्राप्तिमें ही विशेष आदर रहता है. लौकिक और वैदिक मार्गकी अपेक्षा पुष्टिमार्ग (भगवानकी कृपाका मार्ग) सबसे बढकर बताया है।।१३।।

इस प्रकार वक्ताके उत्साहको बढानेवाले वचन कहकर, भगवान्‌के प्रति अपने बढे हुए अनुरागको प्रकाशित करते हैं:

को नाम तृप्येद् रसवित् कथायां महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानाम् अगुणस्य जग्मुः योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः।।१४।।

महानसे भी महान्, एकान्त परायण तथा रसके जाननेवालोंमें भला ऐसा कौन होगा जो भगवानकी कथामें तृप्त हो जाय. योगेश्वरोंमें मुख्य भगवान् शिव तथा ब्रह्माजी जिन निर्गुण ब्रह्मके अनन्त गुणोंको नहीं जान सके।।१४।।

उन भगवानकी कथासे कौन तृप्त हो सकता है? इस प्रकारके अमृतसे कोई तृप्त नहीं हो सकता. अतृप्तिका प्रकार तो पहले ही निरूपित कर दिया है. उसके रसमें भी साधककी इच्छाके अनुकूल निरूपण किया है. उससे औषधिके समान तृप्तिका होना नहीं कहा है. क्योंकि वह केवल रसके रूपवाला ही नहीं है

किन्तु रस भी है. अतः वह रस स्वयंमें रुचिको उत्पन्न करता है. यद्यपि साधारणतया कथाके सुनने मात्रसे ही रसकी उत्पत्ति होती है तो भी संसारके रोगमें अत्यधिक रमे हुए लोगोंके अन्तःकरणमें प्रवेशके अभावसे एक बार भी रसके ज्ञानमें उनकी रुचि नहीं भी होवे; परन्तु जो रसके जाननेवाले हैं, वे कैसे तृप्त हो सकते हैं? यह अर्थ हुआ. उसमें भी भगवानकी कथामें वे कैसे तृप्त हो सकते हैं. कथाके रससे तृप्त होना लोकमें भी प्रसिद्ध है. कर्ममें तथा ज्ञानमें निष्ठावाले भले ही तृप्त हो जाते हों? परन्तु जो महत्तम हैं, एकान्त परायण हैं, वे तो तृप्त नहीं होते. यहां महत्तम उन्हें कहा है जो भक्तिसे युक्त ज्ञानवाले हैं. उनमें एकान्तसे, नियमसे परे जो उत्कृष्ट हैं और ऐसे ब्रह्मकी प्राप्तिका उत्तम स्थान है, उसे एकान्त कहा है; ऐसे उस एकान्तको प्राप्त करनेमें जो लगे हुए हैं, उन्हें रस कथासे तृप्ति कहां? जब तक उन भगवानको फलरूपमें प्राप्त न कर लें तब तक तृप्त होनेकी कोई स्थिति ही नहीं. यद्यपि केवल कर्ममें निष्ठावाले और ज्ञानी उस रसमय स्थितिको प्राप्त नहीं कर सकते तो भी लोगोंके विश्वासके आधार पर और साधनके द्वारा उनको भी रसका जानकार मान लिया है. ऐसी स्थितिमें उन उत्कृष्ट लोगोंकी फलसे तृप्ति नहीं होती तो जो निरन्तर भगवानका ही अनुसरण करनेवाले भगवत् भक्त हैं, वे कैसे तृप्तिका अनुभव कर सकते हैं? यहां निवृत्तिका तात्पर्य केवल रसके ज्ञान हो जानेसे है. किसी अन्य प्रकारसे यह सिद्ध नहीं होता. उस प्रसंगमें यह सम्मति दी गई है कि उस ब्रह्मका कोई अन्त नहीं है. निर्गुणके गुणोंका अन्त नहीं जाना जा सकता. जिस प्रकार रसज्ञ लोगोंकी रुचि कथामें नित्य बनी रहती है और क्षण-क्षणमें नये रसानन्दका अनुभव होता है वैसे ही ब्रह्मके गुण भी परिच्छिन्न (एक देश-कालमें सीमित अवस्थावाले) नहीं हैं, वे भी निरन्तर नये-नये रूपोंके अनुभवमें आते हैं. अतः कोई भी बुद्धिके द्वारा उन गुणोंकी गणना नहीं कर सकता. चाहे गये पदार्थकी एक निश्चित मात्रावाली स्थिति होनेसे अर्थात् परिच्छिन्न अवस्था होनेसे, उसे प्राप्त कर लिये जाने पर तृप्त हुआ जा सकता है परन्तु निस्सीमको परिच्छिन्न रूपमें प्राप्त नहीं किया जा सकनेके कारण उससे कभी तृप्ति नहीं होती. अतः प्रमाण और प्रमेय की नित्य स्थिति होनेसे, अपेक्षा और प्रतिबन्धकता का अभाव होनेसे तृप्ति हो जानेकी बुद्धिकी सम्भावना नहीं है , यह कहा है. निर्गुणमें गुणोंकी अनन्तता होना विरोधाभास है, इससे उनके गुणोंकी असंख्यता सूचित नहीं होती. क्योंकि जो गुणवाला होगा वह सीमित

गुणोंवाला ही होगा, जैसे देवदत्त आदि व्यक्तिके नाम लिये जानेसे उसमें कितने गुण किस-किस प्रकारके हैं, यह बोध हो जाता है; परन्तु उस निर्गुणके गुण तो पर्वतके मुहानेसे बहनेवाली नदीके जलके समान सीमा रहित हैं. इसलिए उन्हें अन्तवाला कहना ठीक नहीं होगा. ज्ञानवाले लोगोंकी प्रवृत्ति भी उस रसके अनुभवसे जुडी हुई है. यदि निर्गुणत्वमें गुण होनेका अभाव हो तो भगवान्का अद्वितीयत्व न रह जाये अतः भगवान् गुणवाले हैं, ऐसा एक पक्षीय रूपसे परिच्छिन्न दृष्टिसे देवदत्तवाले उदाहरणकी तरह नहीं कहा जा सकता. भगवान्के ये गुण ऊपरसे बादमें लगाये गये नहीं हैं, प्रत्युत् भगवान् अपने स्वरूपसे विकार प्राप्त हुए बगैर ही गुण रूप बने हैं, अतः कारणकी नित्यता होनेसे क्षण-क्षणमें उत्पन्न होनेवाले गुण बिना अन्तवाले हैं. जिनकी कभी भी समाप्ति ही न हो, इतने गुण हैं भगवानमें. अतः वे अनन्त गुणसम्पन्न हैं. इसी प्रसंगमें कहते हैं कि योगेश्वर भी प्रभुके गुणोंका अन्त नहीं पा सकते, तो साधारण योगियोंकी तो बात ही क्या? परन्तु भगवान्से जुड जाने पर ही वे उन गुणोंको जान सकते हैं. इसलिए योगेश्वरोंमें मुख्य महादेवजी तथा ब्रह्माजी माने गये हैं. भक्ति और योग में महादेवजीका प्राधान्य होनेसे उनको श्लोकमें रखा है. यहां प्रमाणकी मुख्यतासे महादेवजीका ग्रहण किया है तथा प्रमेयकी मुख्यतासे ब्रह्माजीका. 'भवतीति भवः' जो भगवान्से उत्पन्न हुआ है वह भव=शिव हैं. इस व्युत्पत्तिसे वे स्पष्टतया ब्रह्मका रूप हैं. 'पाद्मौ' पद्मसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा हैं, नाभिके कमलसे आविर्भूत हुए हैं अतः पाद्मौ कहा है. ये दोनों ही योगेश्वरोंमें मुख्य हैं. भगवान्से इनका सीधा सम्बन्ध है, और इसी कारण शिव वेदरूप कहे गये हैं. ''वेद शिव हैं और शिव ही वेद हैं'' यह वाक्य प्रमाण है. ब्रह्माजी भगवान्के नाभिकमलसे उत्पन्न होनेके कारण उन्हींसे उत्पन्न होनेवाले तत्त्व हैं।।१४।।

शौनक ऋषि निवेदन करते हैं कि अब प्रमाणरूप भगवानकी कथा है, प्रमेयरूप भगवान्के गुण हैं और रसके जानकार उनके प्रमाता है, ऐसे अनन्त भावसे योग्य होनेसे भगवान्के गुणोंको कहिएगा:

तद् नो भवान् वै भगवत्प्रधानो महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
हरेरुदाराचरितं विशुद्धं शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन्! ।।१५।।

आप भगवदीयोंमें प्रधान हैं, अतः हे विद्वान सूतजी, आप हमें महान् भक्तोंके आश्रयरूप भगवान् हरिके विशुद्ध एवं उदार चरित्रोंको सुनाइए।।१५।।

उन भगवानका चरित्र आप हमें सुनाइए. आपका यही कार्य है. क्योंकि आप निश्चय ही भगवदीयोंमें मुख्य हैं. 'प्रधान' शब्द प्रकृतिका वाचक होनेसे नित्य नपुसकलिंगमें प्रयुक्त होता है. अथवा आपकेलिये भगवान् ही मुख्यता रखते हैं. इससे अधिक क्या कहें कि महान भगवद्भक्तोंकेलिये भगवान् ही प्राप्त करने योग्य सबसे बडे फल हैं. अतः आपकी महत्त्व सिद्धिकेलिये भगवद्गुणोंका कथन करना आपकेलिये परम आवश्यक है. भगवान्के गुणकथनमें आपको भी किसी प्रकारका क्लेश नहीं होगा, इसलिए कहा है कि वे हरि हैं. भगवान्के अतिरिक्त भी उनके गुण ही सारे पुरुषार्थोंको प्रदान करनेवाले हैं, अतः उन्हें उदार चरित्रवाला कहा है. उन्हें परम शुद्ध बताया है. शुद्धिकेलिये ही तो सारे प्रयास और संस्कार किये जाते हैं. जिन भगवान्के चरित्र सुननेसे विशेषरूपसे शुद्धि होती है. सब ऋषि अपने श्रोता होनेकी बात निवेदित करते हैं कि हम सब आप द्वारा कहे जानेवाले भगवच्चरित्रोंको सुननेकी अभिलाषावाले हैं. अतः आप हमारे लिये विशेष करके भगवान्के विशुद्ध चरित्रोंका विस्तार कीजिए. प्रार्थना करनेके भावमें लोट् लकारका प्रयोग होता है. कथन करनेकी योग्यता होनेके कारण सूतजीको 'विद्वान्' सम्बोधन दिया है।।१५।।

इस प्रकार सामान्यतया कहनेकेलिए प्रार्थना करके, अब सुनने योग्य विशेष प्रश्नको पूछते हैं:

स वै महाभागवतः परीक्षिद् येनापवर्गाख्यम् अदभ्रबुद्धिः ।
ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ।।१६।।

आप उन्हीं महाभागवत् परीक्षितकी कथा कहिए, जिनकी बुद्धि विशाल थी तथा जिनने शुकदेवजीके द्वारा उच्चरित ज्ञान द्वारा गरुडजीके चिह्नसे युक्त ध्वजावाले भगवान्के चरणकमलोंके मूलको प्राप्त कर लिया था।।१६।।

आप उन्हीं महाभागवत् परीक्षितकी कथा कहिए. जहां साधन एवं फल में किसी प्रकारका भेद नहीं है वही सुनने योग्य है. उस स्थान पर सुननेवाले अधिकारीका विशेषण महाभागवत् दिया है. भगवानका भक्त ही भागवत् कहा जाता है. जिसे भगवान्के द्वारा भागवतरूपमें ग्रहण कर लिया वह फल प्राप्तिकी ओर बढनेवाला महाभागवत होता है. वह भगवान् द्वारा बहुत ही कृपापूर्वक देखा जाता है. इस प्रकारका सुननेवाला मुख्य कहा जाता है. उनके वैसा होनेमें कारण बताते हैं कि वे परीक्षित है. ''पहले देखे गये भगवानका ध्यान करनेसे'' उन्हें

'परीक्षित' नामसे पुकारा गया. जिन परीक्षितने शुकदेवजीके उपदेशसे गरुडजीकी ध्वजावाले भगवान्‌के चरणमूलको प्राप्त कर लिया, ऐसी उस कथाको कहिए, जिसका आगे जाकर मूल कथासे सम्बन्ध जुड जाता है. दूसरें शास्त्रोंमें 'ब्रह्म' नामसे तथा 'मोक्ष' नामसे जिस स्वरूपका दिग्दर्शन कराया है वही हमारे शास्त्रोंमें चरण पीठरूप वैकुण्ठको बताया है. ''वही उन विष्णुका परम पद है'' ऐसा श्रुतिओंमें कहा है. परम भक्तोंको भी भगवान्‌के चरणकमलोंको प्राप्त करनेकेलिये शास्त्ररूप साधनको सुनना चाहिए. महान पुरुषोंको भी, जिस साधनके बिना कार्य सिद्ध नहीं होता उस साधनको मुख्यरूपसे करना चाहिए. निश्चय ही वह साधन तो ज्ञान ही होगा, और वह प्रसिद्ध है ही, फिर उस ज्ञानके कथन करनेकी आवश्यकता ही क्या है? इस आशंकासे कहा जा रहा है कि वे परीक्षित् अदभ्र बुद्धिवाले थे. अर्थात् उनमें बुद्धि बहुत अधिक थी. यह बुद्धि तो उनमें शास्त्रश्रवणसे पहले ही स्थित थी, परन्तु बुद्धिसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भगवान्‌के चरणकमलोंको प्राप्त करानेमें साधनरूप नहीं होता. यह तो व्यासजीके पुत्र शुकदेव मुनि द्वारा उच्चरित ज्ञानसे ही सम्भव है, क्योंकि वह नित्य सिद्ध ज्ञान है. भागवतका वह ज्ञान चैतन्यरूप होनेसे स्वतः प्रकट है; व्यासपुत्र शुकदेवजीने तो केवल शब्दमात्रसे उस ज्ञानका उच्चारण किया है. समस्त खगों (पक्षीओं)के इन्द्र (मुख्य अर्थमें) गरुडजी हैं. वे भगवानकी ध्वजामें चिह्नरूपसे विराजमान कालके स्वरूप हैं. शास्त्रोंके वाक्योंके अनुसार ''वे सुपर्ण गरुडजी कालात्मक हैं''. श्रुतिओंने उन्हें ''उन विष्णुका परम पद'' होना बताया है. चरणोंमें भी मूलको प्राप्त होनेका यहां यह विशेष अर्थ है कि उस मूलको प्राप्त हो जानेके बाद भक्त फिर लौटकर इस लोकमें नहीं आता. ''जिन भगवान्‌के चरणमूलमें पुरुषने अपना निवास बना लिया है'' इस वाक्यसे उस पुरुषके पुनरागमनका अभाव घोषित होता है. अथवा भुवनरूप वृक्षमेंसे चरणोंके मूलमें प्रवेश होना बताया है।।१६।।

उस चरण मूलमें प्रवेश होनेके ज्ञानको आप हमारे प्रति बताइए:

तद् नः परं पुण्यम् असंवृतार्थम् आख्यानम् अत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं पारीक्षितं भागवताभिरामम् ।।१७।।

अतिशय पुण्यरूप, प्रकट अर्थवाला, अद्‌भूत योगनिष्ठावाला, भगवान्‌के भक्तोंको आनन्द देनेवाला और अनन्त भगवान्‌के चरित्रसे जुडा

हुआ, परीक्षितका चरित्र हमें सुनाइए।।१७।।

उन परीक्षितके चरित्रको सुनाइए. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्ति की निष्ठावाले सभी जनोंको यह आख्यान सुनना चाहिए. धर्ममें निष्ठावालोंको पुण्य अर्जन करनेकेलिये इसे सुनना चाहिए. यह आख्यान ढके हुए अर्थवाला नहीं है. इसके सुननेसे अर्थकी भी सिद्धि होती है. इस आख्यानके अद्‌भुत होनेसे कामकी सिद्धि होती है, क्योंकि इसमें अति अद्‌भुत योगनिष्ठाको बताया है. जिन्हें मोक्षकी इच्छा है, उन्हें भी यह सुनना चाहिए. आख्यानका तात्पर्य है, उस वृतान्तका प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंका सन्दर्भ. इससे अधिक क्या कहें कि भगवान् अनन्त चरित्रोंसे युक्त हैं. जिन अनन्त भगवानने अनन्त चरित्रोंका आचरण किया है, उनसे युक्त आख्यान श्रोतव्य है उस आख्यानके ही ये सब विशेषण है. ये विशेषण अपूर्व होनेसे उद्‌देश्यपूर्तिकी दृष्टिसे कथाके अन्तर्गत किसी भी प्रकारके आक्षेपसे युक्त नहीं है. जैसा कि आपने पूर्वमें कहा है कि ये राजा परीक्षित् सम्बन्धी आख्यान प्रसिद्धिको प्राप्त होगा, क्योंकि भगवान्‌के भक्तोंको यह आख्यान बहुत ही आनन्द देनेवाला है अथवा परीक्षितसे सम्बन्ध रखनेवाले आख्यानका यह उद्‌देश्य पूर्ण अंश है. अन्य जो उसके कर्तव्य आदिका वर्णन है वह विधेय अंश है, पूरक भाग है. इस आख्यानमें भगवान्‌के भक्त चारों ओरसे रमण करते हैं।।१७।।

ऋषियों द्वारा सूतजीको इस प्रकार उत्साह दिलाये जाने पर सूतजी उन ऋषियोंका उत्साह बढाते हुए कहते हैं:

सूत उवाच

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हा स्म वृद्‌धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः ।
दौष्कुल्यम् आधिं विधुनोति शीघ्रं महत्तमानाम् अभिधानियोगः।।१८।।

अहो, हम तो विलोम व्यवस्थासे उत्पन्न हुए हैं, तो भी वृद्धोंकी सेवासे आज प्रसिद्ध जन्मवाले हो गए. महान् पुरुषोंकी भगवान्‌के नाम लेने सम्बन्धी जो आज्ञा होती है, वह हीन कुलमें उत्पन्न होनेकी मन सम्बन्धी पीडाको नष्ट कर देती है।।१८।।

आश्चर्यवाची 'अहो' शब्दका प्रयोग हुआ है. यहां सूतजी द्वारा स्वयंको प्रशंसा करना स्वयंकेलिये न होकर भगवान् तथा ऋषिओंकी स्तुतिकेलिये है. मैं धन्य हूं, ऐसा सूतजी कहते हैं. 'अहो' आश्चर्यको बताता है. 'वयम्' शब्द

प्रशंसाके अर्थमें आया है. हम सफल जन्मवाले हैं. 'अद्य' शब्द कभी किसीको न मिलनेवाले लाभकी प्राप्ति स्वयंको हो जानेके भावसे प्रयुक्त हुआ है. 'ह' अव्ययका प्रयोग अद्‌भुत अर्थकेलिये है. प्रसिद्धिके अर्थमें 'स्म' अव्यय लगा है. अकस्मात ही हमारा जन्म सफल हो है. सूतजी कहते हैं कि हमारे जैसे जन्मवालेको श्रेष्ठ फल नहीं मिला करता है, तदपि मिल है, ऐसे सद् जन्मको प्राप्त करनेका आश्चर्य है. असत् स्थितिमें उत्पन्न सत् जन्मवाले नहीं होते. बहुतोंके द्वारा एककी प्रार्थना नहीं होती. इसलिए बहुतोंका उपकार करनेसे अथवा बहुतोंके द्वारा वर्णन किये जानेसे अपने आपमें बहुतपना अथवा अधिक सम्मानवाली स्थिति एकको ही प्राप्त हो गई, इस प्रकार प्रशंसाका भाव बताया है. प्रसंगवश जन्म होने पर प्रायः भाग्यवश ही फलसे सम्बन्ध होता है. ''नदीके तेज बहावमें कोई-कोई ही तैर सकता है''. इस वाक्यके अनुसार दैव वश ही कोई विपरीत जन्मवाला अनुकूल फलको प्राप्त कर सकता है. हमने भी उस फलकेलिये ही जन्म धारण किया है. सूतपनेके अभावमें यह व्यवस्था युक्ति संगत नहीं है. ब्रह्म कल्पमें की गई यह व्यवस्था बहुत काल बाद आज ही प्रतिष्ठित हुई है, इससे पहले कभी नहीं हुई. यह अर्थ युक्तिके द्वारा बाधा पहुंचाया लगता है. इसलिए स्मरण करनेवाले सूतजीको आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है. निन्दा किये जाने योग्यका उत्तम स्थिति प्राप्त करके सभी लोगोंसे आदरणीय बन जाना बहुत ही अचम्भेको पैदा करनेवाला है. क्योंकि भगवान्‌के समान भगवानकी कृपासे मुझमें छह गुण उत्पन्न हुए हैं. यद्यपि मेरा जन्म समान व्यवस्थाके अनुसार उल्टापन लिये हुए है, क्योंकि मैं क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुआ पुत्र हूं, अतः मुझे 'सूत'के नामसे पुकारे जानेकी व्यवस्था रही है''. वृद्ध जनोंकी सेवासे मुझे यह सम्मान प्राप्त हुआ है. इसलिए वृद्धोंकी सेवा समस्त पुरुषार्थोंको देनेवाली है. इससे अधिक क्या कहें कि ऐसी सेवासे दोष भी मिट जाते हैं. हम तो दूषित कुलमें उत्पन्न हुए हैं, भगवानकी कृपासे हमें श्रेष्ठ कुलमें कब जन्म मिलेगा, इस प्रकारकी मानसिक पीडा भी निवृत्त हो गई. महान पुरुषों द्वारा दी गई आज्ञा अभिधा कहलाती है. भगवान्‌के गुणगान करनेकेलिये महत् पुरुषोंकी आज्ञासे शीघ्र ही मनकी पीडा दूर होती है, अतः आपकी सेवा और आज्ञा इन दोनोंने मेरे समस्त पुरुषार्थको सफल बना दिया।।१८।।

इसलिए इसके उत्तर देनेके बादवाला फल क्या होगा इसे मैं नहीं जानता.

प्रश्न करनेसे ही यह सिद्धि मिल गई, यह कहा जा रहा है:

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवान् अनन्तो महद्गुणत्वाद् यम् अनन्तम् आहुः।।१९।।

महान् पुरुषोंके उत्तम आश्रयरूप प्रभुका नाम उच्चारण करनेसे समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धि होनेमें सन्देह ही क्या? वे भगवान् अनन्त तथा अनन्त शक्तिवाले हैं. उन भगवानमें कभी समाप्त न होनेवाले महान् गुणोंके कारण अनन्त होनेकी बात कही गई है।।१९।।

उन प्रभुका नाम लेने मात्रसे उद्धार होनेमें क्या सन्देह? उन भगवानका नाम लेनेसे दूषित कुलमें उत्पन्न होनेकी पीडा कहां ठहर सकती है? यह सम्बन्ध हुआ. यहां सूतजीने इसे अपने अभिप्रायसे नहीं कहा है. यदि इस भावसे कहा होता तो अपनी प्रशंसा करनेसे गर्वकी भावना हो जाती. अतः केवल नाम उच्चारण करनेवालेके फलको कहा है, जिससे जो कुल रहित हैं उनका उद्धार हो जाय और जो कुलीन हैं उनमें घमण्ड पैदा न हो. एकवचनका निर्देश करनेसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सूतजीने उपर्युक्त कथन स्वयंकेलिये प्रयोगमें लिया है.

अब भगवान्के नामका माहात्म्य बताया जा रहा है. महान पुरुषों द्वारा एकान्त परायण भगवानका नाम लेना इच्छित विचारको पूरा करता है. महत् पुरुषोंको भी उन भगवान्के नामका उच्चारण करनेसे अपने इच्छित लक्ष्यकी प्राप्ति होती है और बादमें अन्य लोग भी भगवानका नाम उच्चारण करते रहें, यह अपेक्षा रहती है. प्रायः नाम उच्चारण करनेवाले हमारे अभीष्टको जानते हैं, इसलिए भी वे अनुकरण करते हुए हमारी तरह ही भगवानका नाम लेते रहेंगे, यह भाव हुआ. इस प्रकार सबके द्वारा उपासना करनेसे नामके उच्चारणके महत्त्वको कहकर अब कैमुतिक न्याय (एकके बाद बढकर दूसरेके उत्तरोत्तर महत्त्व प्रदर्शनको कैमुतिक न्याय कहते हैं)को बतानेकेलिये भगवान्के माहात्म्यको कहा जा रहा है. एकसे बढकर दूसरेकी श्रेष्ठता बतानेकी दृष्टिसे नाम उच्चारणसे भगवानकी महानताको बताया है. अतएव उन भगवानमें निष्ठा रखनेसे उसी फलकी प्राप्तिको बताया है. यदि ऐसा न हो तो नामके उच्चारणमें ही शास्त्रकी समाप्ति हो जावे और भागवत् ग्रंथका प्रारम्भ ही न होवे. अतः भगवान्के माहात्म्यको कहा जा रहा है कि वे अनन्त शक्तिवाले हैं. जिन प्रभुका नाम इतने

माहात्म्यवाला है, तो उन नामोंको धारण करनेवाले भगवान् अनन्त शक्ति सम्पन्न कहे ही जाने चाहिए. पर ऐसा कहे जानेमें नामके साथ भगवानका माहात्म्य कहा जायेगा, ऐसी शंकासे पहले भगवान्के माहात्म्यको कहकर, उत्तरार्धमें कहे गये 'यद्' शब्दको लेकर अर्थ करते हैं. महानताका भाव जिसमें सन्निहित हो, उसे माहात्म्य कहते हैं. महत्त्वका तात्पर्य ही यह है कि जो देश, काल और वस्तु से ढंका हुआ न हो. वे भगवान् अनन्त होनेसे उनका माहात्म्य भी उन्हींके समान तीन भागोंमें हो गया. उस माहात्म्यके तीन भाग शक्ति, स्वरूप और गुण नामसे हैं. शक्ति, स्वरूप और गुण –इन सबको स्वरूप, कार्य और फल के रूपमें पुनः तीन–तीन प्रकारसे कहे जाने पर नौ संख्या हो जाती है. माहात्म्यके ये नौ भाग अनन्तपनेको प्राप्त होते हुए भगवानमें समाहित रहते हैं या यों कहिये कि पर्यवसानको प्राप्त हो जाते हैं. उसकेलिये कहा है कि जो अनन्त शक्तिवाले हैं. जिसकी शक्तियां सब ओरसे बिना अन्तवाली हैं. अथवा जिसकी अनन्त शक्तियां हैं या उन अनन्त भगवानमें वैसी ही अनन्त शक्तियां हैं. इस प्रकार भगवानका स्वरूप भी अनन्त है और उनके गुण भी अनन्त हैं. इस रीतिसे उनके स्वरूपके अन्त न आनेको कहा है. जिन भगवानका अन्त नहीं है, अथवा जिन भगवानमें अन्त नामकी कोई स्थिति नहीं है. भगवानमें जो निष्ठा रखता है अर्थात् जो भक्त है, वह भी अन्तसे रहित है, यह सूचित हुआ. इससे अधिक और क्या कहें कि भगवान्के गुणोंके दोनों रूप कभी भी समाप्त होनेवाले नहीं हैं. वे महत्त्व और गुणत्व दोनोंसे अनन्त हैं. उनके गुण, स्वरूप और महत्त्व व्यापक हैं. उनके एक भी गुणमें महत्त्वका छिपापन नहीं है अर्थात् सब गुण महत्त्वको प्रकट रूपसे बतलाता है. यहां 'च'कारका प्रयोग यह बताता है कि भगवान्के समान ही गुण भी अवान्तर भेदसे युक्त हैं अर्थात् भगवान्के एक–एक गुणमें अनेक गुण व्याप्त हैं. ऐसे एक प्रकारसे बिना किसी भाग विशेषमें विभक्त किये अर्थात् व्यापक रूपसे भगवान्के माहात्म्यको बताया है. इस प्रकार भगवान्के अन्य माहात्म्य भी इसी रीतिसे अनन्त हैं, यह सूचित किया ।।१९।।

अब भगवानका दूसरा माहात्म्य विशेष प्रकारसे कहा जाना चाहिए; इस इच्छासे आगे वर्णन करते हैं:

एतावतालं ननु सूचितेन गुणैरसाम्यानतिशायनस्य ।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूतिः यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः।।२०।।

गुणोंसे जिनके बराबर अथवा बढचढकर कोई नहीं है, ऐसे उन भगवान्‌के लिये बस यही कहना पर्याप्त है कि लक्ष्मीजी अपनी प्रार्थना करनेवालोंका त्याग करके उन भगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवा करती है, जो भगवान् उन लक्ष्मीजीकी इच्छा नहीं करते।।२०।।

बस इतना ही कहना पर्याप्त है कि हम स्वमावसे भगवान्‌के माहात्म्यका वर्णन करनेमें असमर्थ ही हैं. परन्तु उनके माहात्म्यके विषयमें सूचित करना परम कर्तव्य है. अन्यथा महाराजाधिराजके स्वरूपका स्पष्टतया वर्णन करना अपराध है. उनके विषयमें सूचित भी अधिक नहीं किया जा सकता इसीलिए कहा कि भगवान्‌के विषयमें इतना सूचित कर देना ही पर्याप्त है. यों तो यह सूचना भी नहीं देनी चाहिए, यह अर्थ हुआ. 'ननु' अव्ययका प्रयोग अन्तःकरणकी सम्मतिका सम्यक् बोध करानेकेलिये किया है. माहात्म्यके रसमें सराबोर होकर कहते हैं. माहात्म्यका वर्णन करनेमें उत्तमता और अभावका निरूपण होना चाहिए. यह निरूपण सजातीय अथवा समान स्थितिवाले पुरुषके होने पर सम्भव होती है. वह स्थिति भगवानमें सम्भव न होने पर कहते हैं कि इन भगवान्‌के गुणोंकी समानता करनेवाला अथवा उनसे गुणोंमें बढ-चढकर कोई नहीं है. इस प्रकार यह समानता न तो भगवान्‌के स्वरूपके साथ हो सकती है और न ही उनकी शक्तिओंके साथ. यह सब कुछ होते हुए भी कुछ सूचित करनेके अभिप्रायसे कहते हैं कि लक्ष्मी अपने आराधकोंको भी छोड देती है, जिनके विषयमें कहा है कि ''उन लक्ष्मीजीके बिना देवत्व कहां?'' इत्यादि वाक्योंके अनुसार सभी लक्ष्मीजीको मूल मानते हैं. वे लक्ष्मीजी विचार करनेवाली हैं. इस प्रकार वे स्वरूपसे तथा बुद्धिसे बहुत महिमावाली हैं; यदि वे अपने चाहनेवालोंको छोडकर भगवानकी ही सेवामें लगी रहती हैं, तो उनके सबसे उत्तम होनेकी विवेचना कहने योग्य नहीं है. यदि सबसे उत्तम स्थितिवाली होनेमें स्वयं लक्ष्मीजी ही समर्थ होतीं तो भगवानको क्यों भजती? यदि यह मान लिया जाय कि वे भोगकेलिये हैं, तो फिर वे प्रार्थना करनेवालोंको छोडकर, भगवान् द्वारा न चाहे जाने पर भी उनकी सेवा क्यों करती हैं? और उसमें भी उन अभिलाषा रहितकी चरणरजको ही क्यों भजती हैं? क्योंकि वह चरणोंकी रज लक्ष्मीजीके पास नहीं है, वे उससे रहित हैं. और दूसरे लोग लक्ष्मीजीसे रहित हैं. इसलिए भगवान्‌के माहात्म्यका निरूपण नहीं करना चाहिए. कोई यह नहीं कह कहता कि सरसोंसे मेरु पर्वत बडा है, क्योंकि

उसका बडा होना सब जानते हैं, अतः यह कहनेकी आवश्यकता नहीं समझते।।२०।।

हो सकता है कि लक्ष्मीजी प्रकृत्ति रूपा होनेसे अथवा स्त्री होनेसे कम बुद्धिवाली हों, तो भी महान् लोगोंके विचार पूर्वक किये जानेवाले भजनको कहा जाना चाहिए यदि ऐसे भाव शौनक ऋषिके अन्तःकरणमें जागृत हो गये हों तो उसका निराकरण करनेकेलिये अब आगे कहते हैं:

अथापि यत् पादनखावसृष्टं जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः ।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात् को नाम लोके भगवत्पदार्थ।।२१।।

इससे भी अधिक भगवान्के चरणोंका प्रभाव देखिए कि जिन भगवान्के चरणके नखसे निकले हुए जलको ब्रह्माजीने पूजनकेलिये प्रयोगमें लिया तथा जो जल शिवजी सहित समस्त जगतको पवित्र करनेवाला है, ऐसे भगवत्पदार्थके तुल्य जगतमें ओर कौन है?।।२१।।

और भी देखिए. यद्यपि विभूतिरूपी लक्ष्मीजी द्वारा स्त्री सम्बन्धी दोषोंका किया जाना सम्भव नहीं है और इस पर यह युक्ति भी दी गई है कि ''दुर्जन सन्तुष्ट रहे'' इस न्यायके द्वारा दूसरे ही प्रकारसे माहात्म्यको बताये जानेका निरूपण किया है. ये तीन देवता प्रमुख रूपसे माने गये हैं : ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र; वहां ब्रह्मा चरणोंको धोनेवाले हैं. शिव चरणके जलको धारण करनेवाले हैं. अतः अब इनसे बढकर कौन महान होना चाहिए? इस विषयमें कहते हैं कि भगवान्के चरणनखसे निकले हुए पूजा योग्य जलको ब्रह्माजीने ग्रहण करते हुए पूजा कार्यमें समर्पित किया. वह जल 'गंगा जल' कहा गया. वह गंगा महादेव सहित जगतको पवित्र करती हैं. नखसे निकली हुई गंगा अथवा इससे भिन्न अर्थात् चरणकमलसे निकली हुई गंगाजी वामनजी द्वारा ब्रह्माण्डका भेदन करते समय प्रकट हुई. ब्रह्माण्ड भेदनके समय चरणसे आये हुए उस जलको अलकनन्दा आदिके रूपमें जाना और उसे भी यहां इस प्रसंगमें संगृहित किया है अथवा भगवानकी तुलनामें जलकी अति हीनताको ''नखसे निकला हुआ बताकर'' प्रस्तुत किया है. नखसे निकला जल बहुत हीन बताया है. ईश्वरकी पवित्रताको आगे बताया जा रहा है. ''शेषं पुनाति'' पाठ होने पर, भगवान्के अतिरिक्त वह नखजल ब्रह्मसे लेकर तृण पर्यंत सारे जगतको पवित्र बनाता है, सभी उस नखजल गंगासे पवित्र होनेकी इच्छा करते हैं, तो फिर

भगवानकी तुलनामें अन्य कौनसा पदार्थ बढकर है, निश्चय ही कोई भी नहीं. अक्षरसे भी परे 'भगवान्' हैं. उस प्रसंगमें कहते हैं कि लोकमें उनसे बडा कौन है? वेदमें तो 'भगवान्' महान हैं ही परन्तु लोकमें भी उनका महान सिद्ध होना कहा जाना चाहिए क्योंकि लोक तो समस्त ब्रह्माण्डको देखनेवाला है; इसलिए जो ब्रह्माण्डका नायक है उसे भगवान्के नामसे कहा है. 'भगवान्' शब्द, उस ब्रह्मका वाचक शब्द है जिससे बढा-चढा कोई भी नहीं हो।।२१।।

इस प्रकार तर्क और प्रमाणके द्वारा भगवानपनेको स्थापित करके, अब अनुभवके द्वारा भी भगवानपनेको कहा जा रहा है:

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम् ।
व्रजन्ति तत् पारमहंस्यम् अन्त्यं यस्मिन् अहिंसोपरमः स्वधर्मः।।२२।।

जहां धीर पुरुष भगवानमें अनुरक्त होकर सहसा ही शरीर आदिमें आसक्तिको छोड देते हैं तथा अन्तमें उस परमहंस पदवीको प्राप्त कर लेते हैं, जिसमें अहिंसा और शान्ति स्वधर्म बन जाती है।।२२।।

भगवानमें अनुराग हुआ कि सब पुरुषार्थ सिद्ध हुए. किसी दूसरेके नखका जल जिस प्रकार सब तरहके अर्थोंका नाश करनेवाला होता है, वहीं दूसरी ओर भगवान्के नखका जल सब प्रकारके पुरुषार्थोंको सफल बनानेवाला होता है. दूसरे पदार्थोंमें आसक्ति रखना जिस तरह आत्माका नाश करनेवाला होता है, वहीं दूसरी ओर भगवानमें थोडासा भी अनुराग हो जाने पर समस्त प्रकारके पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं. उसे कहा जा रहा है कि जो कोई भी भगवानमें अनुरक्त हो जाते हैं, उन्हें आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है. इस अनुराग करनेमें ब्राह्मण आदि होनेकी अथवा साधन आदिकी कोई अपेक्षा नहीं है. उसे कहते हैं कि ये सब सफलताएं उसे सहसा ही मिल जाती हैं. इस भगवदनुरागके मार्गमें सबसे बडी बाधा कामनाके बलसे प्राप्त किये गये विषयोंके भोग ही है. उन विषयोंको दूर हटानेकेलिये 'धीर' शब्द कहा है. यह धीरता शीघ्र ही उन अनुराग करनेवालोंमें सुखको उत्पन्न कर देती है. इसलिए विवेकसे धैर्य करना चाहिए. अथवा अनुराग करनेसे धैर्यशाली भी हो जाते हैं. भगवानमें किये जानेवाले अनुरागसे साधनोंकी सहायता लिये बिना भी साध्य और फलकी प्राप्ति हो जाती है. राग अन्तःकरणका धर्म है. वह अनुराग अपने वर्गका (भगवत् प्राप्तिरूप प्रक्रिया) पोषण करता है न कि अपने वर्गका नाश. भगवान्के सम्बन्धको प्राप्त होकर

भगवान द्वारा किये गये संस्कारसे वह सब प्रकारके विपरीत वर्गका नाश कर देता है. संसारमें लगानेका कारणरूप वर्ग जो कि भगवानकी ओर बढनेमें बाधा उपस्थित करता है ऐसे उस वर्गको नष्ट करके वह अनुराग भगवत्पदको प्राप्त करा देता है. इस प्रकारके लक्षणवाले अनुरागसे द्वेषादि युक्त भक्ति द्वारा भी किसीको भगवानकी प्राप्ति होती है. भक्ति युक्त द्वेषमें भी भगवानकी प्राप्तिके प्रसंगमें कोई विरोध या विसंगति पैदा नहीं होती. देह आदिमें अहंता-ममताके लक्षणोंसे दृढताको प्राप्त हुआ संग भगवानमें अनुराग होने पर नष्ट हो जाता है. ऐसे उस मजबूत संगको भी धीर पुरुष सहसा ही छोड देता है. 'ऊढ', शब्दका अर्थ वेदमें भी बताया सूचित किया है. जिस प्रकार विवाह करके लाई हुई स्त्रीको नहीं छोडना चाहिए, उसी प्रकार देहका संग भी नहीं छोडना चाहिए. ''अपनी आत्माकी रक्षा निरन्तर करनी चाहिए'' तथा ''निश्चय ही यह शरीर धर्म साधन होनेसे प्राथमिकता रखता है''. पुरुषको समस्त प्रकारके अर्थ प्रदान करनेमें शरीरके होनेकी उपयोगिता स्पष्ट है. इस प्रकार वेदवाक्योंसे उत्पन्न हुई बुद्धिको भी अनुरागी जन त्याग देते हैं. भगवान्के भक्त ''लोकमें तथा वेदमें उत्पन्न हुई बुद्धिको भगवत्कृपासे छोड देते हैं'' इस वाक्यसे देह आदिमें संगका त्याग भक्त जन कर देते हैं. ज्ञानके अन्तर्गत तो देहकी आसक्ति छोड देना ही पुरुषार्थ कहा है. भक्तिमार्गमें तो उस ज्ञानकी प्राप्ति अथवा देहासक्तिका त्याग एक प्रासंगिक या गौण स्थितिकी सामान्य प्रक्रिया मात्र है. जो भगवानमें अनुरक्त हैं वे ही उनके समीप पहुंचते हैं. भगवान्के इस वाक्यके आधार पर कि ''मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं''. हो सकता है, इसका गौण फल ही प्राप्त होता हो, इस आशंकासे कहते हैं कि वे परमहंसोंको प्राप्त होनेवाले फलको प्राप्त होते हैं. तो फिर वे क्रमशः मुक्त होते हुए वैश्वानरादि लोकोंको प्राप्त होते होंगे और उन्हींके समान यह भी अवान्तर (अमुख्य-गौण) स्थान ही होगा? इस आशंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यही अन्तिम स्थान है. यह इस वाक्यसे प्रतिपादित किया है कि ''इस आनन्दमयी स्थितिका अन्त आनन्दमें समाहित हो जाना ही है'' अतः इस स्थितिको प्राप्त कर लिये जानेके बाद फिर अन्य कोई भी स्थान प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाता. कहीं ऐसा तो नहीं कि इसमें धर्मके हेतुका अभाव होनेसे और वेदमें इसका प्रतिपादन न होनेसे यह अप्रमाणिक हो जावे, इसलिए पहले निरूपित नहीं किये गये सन्मार्गकी आशंकासे कहते हैं कि जिसमें अहिंसा ही सबसे बडा स्वधर्म

कहा है. वेदके पूर्वकाण्डमें धर्मका प्रतिपादन हुआ है और उत्तरकाण्डमें ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली अविद्या रहित शान्तिका. ये दोनों ही अनुरागके स्वाभाविक धर्म हैं. जिस प्रकार जलमें रसकी स्थिति सदैव है. इसलिए सभी वेदोंमें भक्ति धर्मका प्रतिपादन होनेसे भक्तिमें वेदोंके विरोधकी शंका नहीं करनी चाहिए. 'अहिंसा' शब्दके द्वारा मुख्य धर्मका निरूपण किया है. 'आलभन' शब्दका प्रयोग वेदमें हिंसाकेलिये नहीं किया है. इसलिए अहिंसा और शान्तिकी प्राप्ति ये दोनों धर्म भक्तमें सहजरूपसे आ जानेके कारण यहां वेदोंकी नियम स्थापना शक्ति ही कुण्ठित हुई है, न कि भक्तिकी विरोधी भावना प्रकट हुई है. अतः भगवानका माहात्म्य अनन्त है, वह किसीके भी द्वारा नहीं कहा जा सकता।।२२।।

ऋषि शौनकके मनमें यदि यह शंका उठे कि जब भगवानका अनन्त माहात्म्य किसीसे भी नहीं कहा जा सकता तो फिर आप उसे कैसे कह पा रहे हो? इस आशंकासे कहते हैं:

अहं हि पृष्टोऽर्य्यमणो भवद्भिः आचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान् ।
नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः।।२३।।

हे सूर्यरूप शौनकादि ऋषिओं, आपने मुझसे जो पूछा है, उसे मैं जितना जान पाया हूं, उतना बताता हूं. आकाश बहुत विशाल है, उसमें पक्षी अपनी क्षमताके अनुसार उडते हैं वैसे ही व्यापक गतिवाले व अनन्त गुणवाले भगवानमें जितना मेरा ज्ञान है उस प्रमाणसे मैं प्रतिपादन करता हूं।।२३।।

जैसा आपने मुझसे पूछा है, हे सूर्यके समान ऋषिओं, आपके द्वारा ही प्रकाशित किये गये और याद दिलाये गये भगवान्के गुण हैं अथवा आपने अपने माहात्म्यके द्वारा ही यह ज्ञान कराया है, उन्हें ही मेरे द्वारा आपको बताया जाना चाहिए. मैं कोई नई बात बताने नहीं जा रहा, केवल अनुवाद कर रहा हूं. यद्यपि मैं ब्राह्मण नहीं हूं, तो भी मेरे द्वारा उपदेश दिये जानेमें दोष नहीं है. इसलिए कहते हैं कि आपने ही मुझे भगवान्के गुणवर्णनकी आज्ञा दी है, इस प्रकार आप ही मेरे माध्यमसे कथन कर रहे हो. 'भवद्भिः' यह शब्द दोनों ओरसे सम्बद्ध है. परन्तु मैं अपनी बुद्धिके अनुसार ही कहूंगा. उसे कहते हैं कि जितना मैं अपनी बुद्धिके अनुसार भगवद्गुण जान पाया हूं, उसे कहूंगा. यद्यपि ''अर्थको जानकर ही वाक्य रचना की जानी चाहिए''. इस न्यायसे वाक्यका ज्ञान होता है, परन्तु अभीके लोग जैसे वेदका उच्चारण बिना अर्थ समझे ही करते हैं, वैसा तो मैं नहीं करूंगा, पर

मुझे जितने अर्थका ज्ञान है तदनुसार ही मैं कहूंगा. पर इससे होगा क्या? भगवान्के सभी गुण तो निरूपण नहीं किये जा सकते न? ऐसी शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं कि आकाशमें गरुड आदि पक्षी अपनी क्षमताके अनुसार ही उडते हैं, न कि वे विशाल आकाशको माप सकते हैं, तो भी उन्हें 'आकाशमें उडनेवाला' नाम तो सिद्ध है ही, ठीक वैसे ही मैं भी अपनी सामर्थ्यानुसार ही भगवान्के गुणोंको कहूंगा, यह भाव हुआ. यह दृष्टान्त तो विषम है, क्योंकि क्रिया तो एक सीमित स्थानमें ही होती है, और ज्ञान तो सीमा रहित होता है, ऐसी शंकाकी सम्भावना पर समाधान देते हैं कि ज्ञानी जन भी विष्णु अर्थात् व्यापककी गतिको व चरित्रको अपनी योग्यताके अनुसार ही जान पाते हैं, यदि ऐसा न हो तो उन्हें कुछ जानना बाकी ही न रहे, वे भगवान्के तुल्य हो जाय. 'गति' शब्द यहां एकवचन है अर्थात् भगवान्के सारे ही गुण आकाशके समान हैं, अतः उनके किसी एक गुणको भी पूरी तरहसे कोई भी नहीं जान सकता. इसलिए उनके गुणोंकी जानकारी रखनेके विषयमें मैं अकेला ही दोषी नहीं हूं, प्रत्युत् यह भगवद्गुण विषयक बात ही वैसी है, जिसे जाना ही नहीं जा सकता।।२३।।

इस प्रकार अपने कम कहनेके दोषको एक ओर रखते हुए, पूछे गए प्रश्नका उत्तर देना प्रारम्भ करते हैं:

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयां वने।
मृगाननुगतः श्रान्तः तृषितः क्षुधितो भृशम्।।
जलाशयम् अचक्षाणः प्रविवेश तम् आश्रमम्।।२४।।

एक बार महाराज परीक्षित् धनुष उठाकर शिकार खेलनेकेलिए जंगलमें गए. वे पशुओंका पीछा करते हुए थक गए तथा भूख और प्यास से अत्यधिक व्याकुल हो गए. उन्हें कहीं भी जलाशय नहीं दीखा और वे उस आश्रममें प्रविष्ट हुए।।२४।।

एक बारकी बात है, राजाको प्रमादवश शाप लगा. इसे बतानेकेलिये स्वभावकी प्रवृत्तिओंको कारणरूपसे कहा है. धनुषको उठानेकी क्रियासे वध कार्यको सूचित किया है. जंगलमें शिकारीकी तरह शिकार करने हेतु राजा परीक्षित् पशुओंके पीछे दौड रहे हैं. पशुओंका संग करनेसे उनमें शोकका जन्म हुआ है. श्रुतिमें कहा है कि ''जंगलमें पशु छोटे हैं और शौकयुक्त हैं''. इसलिए पशुओंका अनुगमन करनेसे राजा थक गये. देह व्याकुल हो गया. वे भूख व प्याससे भी युक्त

हो गये. इस तरह उनमें तीन दोष उत्पन्न हुवे. यदि ऐसा न होता तो युद्धभूमिमें निरन्तर युद्ध करनेवाले परीक्षितको कभी थकावट नहीं हुई, तो शिकारके ही प्रसंगमें उन्हें थका हुआ क्यों कहा जाता? इसलिए दुष्टका अनुगमन नहीं करना चाहिए. 'भृशम्' अव्ययका प्रयोग राजाकी भूख, प्यास व थकानको न सह सकनेकी स्थिति प्रदर्शित करनेकेलिये किया है. श्रम आदि दोषोंके उत्पन्न होनेसे ही दूसरे दोष भी उत्पन्न हो गये तथा गुणोंका उत्पन्न होना समाप्त हो गया, अतः परीक्षितको जलाशय नहीं दिखाई दिया. जलाशय देवतारूप होनेसे वे दोषयुक्त राजाके सामनेसे तिरोहित हो गए. बिना आज्ञाके प्रवेश करनेको 'प्र' उपसर्गसे बताया. 'प्रवेश'के स्थान पर 'प्रविवेश' क्रियाका प्रयोग किया. इसलिए वे ऋषिके मुख्य स्थान तक चले गए. 'तम्'का प्रयोग, स्थानके प्रसिद्ध होनेको बताता है. वह स्थान हारे हुए द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाका मन्त्रणा स्थल रहा था।।२४।।

जिसमें स्वतः दोष व्याप्त हो जाते हैं, उन्हें साधु पुरुषके दर्शन होने पर भी सद्बुद्धि प्राप्त नहीं होती. जैसे सन्निपात रोगके व्याप्त हो जाने पर घीसे भी व्यक्ति मर जाता है, वैसा ही राजाके साथ हुआ; इसे 'ददर्श'से लगाकर साढे तीन श्लोकों द्वारा कहा है. उनमें दो श्लोकों द्वारा राजाके दोषोंकी अधिकता बतानेकेलिए मुनिके स्वरूपका वर्णन करते हैं:

ददर्श मुनिम् आसीनं शान्तं मीलितलोचनम्।
प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राण–मनोबुद्धिम् उपारतम्।।२५।।
स्थानत्रयात् परं प्राप्तं ब्रह्मभूतम् अविक्रियम्।
विप्रकीर्णजटाच्छन्नं रौरवेणाजिनेन च।।२६।।

राजाने देखा कि मुनि नेत्र बन्द किये हुए शान्त बैठे हैं. इन्द्रिय, प्राण, मन व बुद्धिको बाहरसे हटाकर अन्दरकी ओर रोक लिया है. तीन स्थानोंसे ऊपर उठकर किसी प्रकारकी क्रिया न करते हुए ब्रह्मरूप हो गए हैं. वे बिखरी हुई जटाओंसे ढंके हुए हैं तथा काले मृगचर्मका आवरण धारण किये हुए हैं।।२५–२६।।

'मुनि' शब्दसे श्रवण व मननकी सिद्धि बताई गई है. 'आसन' कहकर मननमें तल्लीनता बताई है. योगमें आसन तीसरा अंग है. अतः पहलेके दोनों अर्थ भी इसके द्वारा कहे गये हैं. 'शान्त' शब्दसे, प्राणायामके द्वारा मन पर नियन्त्रण बताया है. 'मीलित लोचन' अर्थात् नेत्र बन्द होनेकी स्थितिसे इन्द्रियोंका

बाह्य विषयोंसे हटाना सिद्ध हुआ है. ध्यान और धारणा को बतानेकेलिये 'प्रत्याहार' ही विस्तार प्रदान करता है जो कि 'प्रतिरुद्ध' शब्दसे सिद्ध है. अथवा 'मीलित लोचन'से विषयों द्वारा बाधा न पहुंचाया जाना सूचित किया है. प्रतिलोम रूपसे रोक लिया है अर्थात् बाहरसे हटाकर इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि को अन्तर्मुखी बना लिया है. इस प्रकार बाह्य व आन्तरिक विषयोंसे निवृत्त होकर अपने स्वरूपमें विद्यमान भगवानमें सम्पूर्णतया अनुरक्त हो गये हैं. उस स्वरूप सेवनसे वे भगवान्के सेवक बताये गये हैं और इसीसे उनकी ध्यान व धारणा भी सूचित हुई है. अब मुनिकी समाधिके विषयमें कहते हैं कि वे तीनों स्थान पार कर गये हैं. जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि –ये जीवके चार स्थान हैं. उसमें भगवान्के गुण और स्वरूप, ये दो कार्य एकके बाद एक बताये हैं. इसलिए इन मुनिके द्वारा तीन स्थानोंको पार कर समाधि प्राप्त स्थितिमें स्वरूपके प्राप्त होनेको बताया है, यह अर्थ हुआ. उन्हें केवल इसका भान ही नहीं हुआ है, वरन् फल भी प्राप्त हो है, वे ब्रह्म हो गये हैं. ''ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है'' ऐसा श्रुतिओंमें कहा है. इस समाधिको किसीके द्वारा न जाने जा सकनेवाली स्थितिके कारण 'असम्प्रज्ञात' शब्दसे कहा है. वे समस्त विकारोंसे रहित याने 'अविक्रिय' हो गये हैं. इस स्थितिमें आ जानेसे शरीरकी आयुका बढना, घटना आदि विकार भी जाते रहे हैं. मनके कार्य भी नष्ट हो गये हैं. वे मुनि केवल आत्म स्वरूपसे भगवानका सेवन कर रहे हैं. बाहरी प्रभावोंका निराकरण पहले ही बताया जा चुका है. बिखरी हुई जटाओंसे वे चौतरफा ढंके हुए हैं. बहुतसे सींगोवाले रुरु मृगके काले चर्मसे उनका देह ऊपरकी ओरसे ढंका हुआ है. इस प्रकार अन्दर व बाहरकी व्यवस्थासे ढंके हुए मुनिसे राजा द्वारा प्रार्थना नहीं की जानी चाहिए थी, यह सूचित किया है।।२५–२६।।

ऐसे मुनिसे भी राजाने याचना की, इसे कहते हैं:

विशुष्यत् तालुरुदकं तथाभूतम् अयाचत ।
अलब्धतृणभूम्यादिः असम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः ।
अवज्ञातम् इवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह।।२७।।

जलके बिना कण्ठ सूख रहा था ऐसे राजाने समाधि स्थित मुनिसे जलकी याचना की. परन्तु उसे बैठनेको आसन, भूमि स्थान, अर्घ्य तथा मधुर सत्य वाणीसे सत्कार प्राप्त नहीं हुआ. जिससे राजा स्वयंको अपमानित मानता

हुआ सा क्रोधित हो गया।।२७।।

राजाका तालु विशेष रूपसे सूख था. शोकसे ही तालु सूख जाता है. ऐसे धर्म(लक्षणों)का विश्लेषण पहले कर दिया है. याचना करना भी दोष ही है. पहलेके दोषोंसे फिर नया दोष उत्पन्न हो गया. कहते हैं कि उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ. ''तृण, भूमि, जल और निष्कपट वाणी सज्जनोंके घरसे कभी दूर नहीं होती'' यही श्रेष्ठ धर्म है. वहां इन सब बातोंको न देखकर स्वयंका शिक्षक होना विचारकर, मुनिको शिक्षा देनेकेलिये राजा क्रोधित हो गया. क्योंकि उसे ये सब सत्कार प्राप्त नहीं हुए. न उसे तृण(आसन, चटाई) मिला, न ही बैठनेको भूमि पर स्थान. 'आदि' शब्दसे उसे जल भी नहीं मिला. तृण, भूमि आदि उसे नहीं मिले. जलकी इच्छासे ही ये सब स्थितियां गिनाई गईं. राजाके आगमन पर विशेष रूपसे अर्घ्य आदि देना धर्म है. न ही राजाको अर्घ्य मिला और न ही वाणीसे सत्कार. ब्राह्मणों द्वारा राजाके पांव धोनेका विधान नहीं है, अतः अर्घ्य द्वारा सत्कार किया जाना व्यवस्थाके अन्तर्गत ग्रहण किया है, वह अर्घ्य भी प्राप्त न होने पर राजामें पुनः दूसरा दोष कल्पित हो गया, वह अपनेको अपमानित मान बैठा. यहां निषेधके अभावमें 'इव' शब्दका प्रयोग हुआ है. यदि राजा स्वयं ही जल आदि ग्रहण कर लेता तो भी दोष नहीं होता. ऐसी स्थितिमें यह आपत्ति धर्म कहलाता. परन्तु घमण्डके कारण उसने वैसा नहीं किया. उसे कहते हैं कि उसने स्वयंको अपमानित अनुभव किया. दोषसे दृष्टि रुंध जानेसे मुनिके स्वरूपका विचार न करते हुए केवल क्रोध किया. यह अविचारशीलता राजाकेलिये आश्चर्यकी बात है, अतः आश्चर्यको बतानेवाले 'ह' अव्ययका प्रयोग हुआ है ।।२७।।

क्रोध शिक्षाकेलिए भी होता है, परन्तु 'मन्यु' शब्दका प्रयोग 'द्वेष' करनेके अर्थमें ही होता है. तब राजामें दूसरे दो प्रकारके दोष और भी उत्पन्न हो गए, जिन्हें कहा जा रहा हैं:

अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्याम् अर्दितात्मनः ।
ब्राह्मणं प्रत्यभृद् ब्रह्मन् मत्सरो मन्युरेव च।।२८।।

हे ब्रह्मन्, भूख और प्याससे व्याकुल आत्मावाले राजाको पहले कभी भी जो ईर्ष्या और क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ था, वह सहसा ही ब्राह्मण पर हो गया।।२८।।

राजामें इससे पहले कभी भी ऐसे दोष उत्पन्न नहीं हुए थे कि उसने

ब्राह्मणसे मत्सर (ईर्ष्या) किया हो. यहां 'सहसा' शब्दसे राजामें विचार उत्पन्न न होने की स्थिति बताई गई है. यहां राजाके देहधर्म प्रबल हो गये हैं, जिन्हें भूख व प्याससे माध्यमसे बताया है. उस भूख व प्याससे उत्पन्न होनेवाली व्याकुलताका प्रभाव राजा परीक्षितके अन्तःकरणको भी प्रभावित कर गया. इस प्रकार ब्राह्मणके प्रति किये गये मत्सर और क्रोधरूपी अतिक्रमको सुनकर कहीं शौनक ऋषिमें क्षोभ(विचलन) उत्पन्न न हो जाय, अतः सूतजीने उन्हें 'ब्रह्मन्' सम्बोधन दिया है. राजाको ब्राह्मणसे ही मत्सर और क्रोध उत्पन्न हो गया. दूसरेकी उन्नति न सहना ही मत्सर कहलाता है. इस प्रकार राजामें दश दोष उत्पन्न हो गये, जिन्हें 'च'कारसे समूहरूपमें बताया है।।२८।।

अब उपसंहार करनेकेलिये दोषोंसे उत्पन्न फलको कहा जा रहा है:

स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा।
विनिर्गच्छन् धनुःकोट्या निधाय पुरम् आगतः।।२९।।

उस राजाने तो क्रोधमें भरकर, मरे हुए एक सांपको धनुषके कौनेसे उठाकर, उन ब्रह्म ऋषिके कन्धे पर रख दिया. इसके बाद राजा आश्रमसे बाहर निकलकर अपने नगरमें आ गया।।२९।।

राजाने तो ब्रह्मर्षिके कन्धे पर मरा सांप डाल दिया. यहां 'तु' शब्द पहलेवाली ग्लानिके निवारणकेलिये आया है. इससे उसको ग्लानिके निवारणका कार्य पूरा हुआ. ''कलिकालको स्थान देनेके कारण ब्राह्मणका अपमान करनेका विचार राजामें उत्पन्न हुआ''. उन ब्रह्मरूप हुए ऋषिमें प्रमेय और प्रमाण दोनों प्रकारके बल होना सूचित किया है. यह स्थिति उनमें नित्य है. राजाके द्वारा शिर पर डाला जानेवाला सर्प कंधे पर आ पडा क्योंकि वह शिर साक्षात् ब्रह्मरूप था. अतः राजाका उठा हुआ हाथ शिरकी ओर आगे बढ ही नहीं सका. उस आश्रमसे निकलते समय राजाने एक सर्प मारा और उसके मरने पर धनुषकी नोकसे उठाकर ऋषिके कंधे पर डाल दिया तथा अपने नगरमें आ गया. शिकारकेलिये हुआ धनुष, शिकारके कार्य तथा इस कार्यको करके लौट आया. यदि राजा वहां निकट ही स्थित रहता तो क्रोधित हुए ऋषिके बालकको मना सकता था।।२९।।

राजा द्वारा इस प्रकारका कार्य किये जानेमें क्या अभिप्राय रहा होगा? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं:

एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः।

मृषासमाधिराहोस्वित् किं नु स्यात् क्षत्रबन्धुभिः।।३०।।

क्या सचमुच ही इन ऋषिने सारी इन्द्रियोंको वशीभूत रखते हुए नेत्र बन्द कर रखे हैं? या फिर झूठ-मूठ ही समाधि लगाए हुए हैं, अथवा यह सोच लिया हो कि इन क्षत्रिय भाइयोंसे क्या होना जाना है?।।३०।।

इन्होंने कहीं ऐसा तो नहीं कर रखा कि सारी इन्द्रीयोंको जीतकर नेत्र बन्द किये हुए हों. यह भी हो सकता है कि हमें धोखेमें रखनेकेलिये मिथ्या समाधिका ढोंग रचे हुए हों और इसीलिए आंखे मुंदे हुए हों? अन्यथा यह सब बतानेका क्या प्रयोजन? वहां कहते हैं कि 'नु' अव्ययका प्रयोग या तो वितर्कके अर्थमें आता है अथवा निश्चयके अर्थमें. क्षत्रिय बन्धुओंके आने-जाने से क्या होता है? क्षत्रिय बन्धुके ज्ञानको योगसे जान लिया होगा? यद्यपि झूठी समाधि भी लगा रखी हो तो यह क्षत्रिय हमारा क्या बिगाड सकता है इस भावनासे मेरी अवमानना की हो. इस प्रकार अपने मनको समझानेकेलिये राजामें ऐसे विचार उत्पन्न हो रहे हैं, यह अर्थ हुआ।।३०।।

इस प्रकार राजा परीक्षित् द्वारा बिना सोचे समझे अनर्थरूप कार्य करनेके परिणामको कहा जा रहा है:

तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विचरन् बालकोऽर्भकैः।
राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदम् अब्रवीत्।।३१।।

उन ऋषिका अति तेजस्वी पुत्र बालकोंके साथ घूम रहा था. जब उसने पिताके प्रति किये गये राजाके पापको सुना तो वहांसे इस प्रकार बोला।।३१।।

ऋषिके एक पुत्र था. पुन्नामके नरकसे रक्षा करता है वह 'पुत्र' कहलाता है. जो इस नरकसे रक्षा नहीं करता उसका पुत्रपना चला जाता है. शमीक ऋषिका पुत्र श्रृंगी बहुत तेजवाला था. इससे उसकी सामर्थ्य बताई गई है. उसका अविवेकपना बताया है कि वह बालकोंके साथ आश्रममें घूम रहा था. उसने राजाके पाप अथवा अपराधको सुन लिया. मरे हुए सांपके छूनेसे भी पाप लगता है. पापसे मृत्यु होती है अथवा पाप, मरणरूप है. अथवा आश्रमके सांपको मारा जाना तो और भी अधिक पाप है. आश्रममें राजाके द्वारा किया यह अपराध राजाके पक्षमें कुफल देनेवाला न होकर मुनिको ही कुफल देनेवाला हो है. 'तात' स्नेहको प्रदर्शित करनेवाला नाम है. जहां उसने राजाके अपराधको सुना उसी स्थल पर वह ऋषिपुत्र इस प्रकार कहने लगा।।३१।।

आगेके तीन श्लोकों द्वारा दण्डका निरूपण करनेकेलिए दण्डकी योग्यताको बताया जा रहा है. स्वामीका द्रोह करना अधर्म है और राजाका होना दण्डकेलिए है. दण्ड देनेकी सामर्थ्य उस ऋषि बालकमें है. वह राजाके पहले दोषको बताता हुआ कहता है:

अहो अधर्मः पालानां पीन्वां बलिभुजाम इव।
स्वामिन्यघं यद् दासानां द्वारपाले शुनामिव।।३२।।

अहो, इन पालन करनेवालोंका अधर्म तो देखिये, जो बलिका भक्षण करनेवाले कुत्तोंके समान मोटे होकर द्वार पर रक्षाकेलिये नियुक्त किये गये ये दास अपने स्वामीका अपराध करनेमें भी नहीं चूकते।।३२।।

'अहो' आश्चर्य बतानेवाला शब्द है. पालन करनेवालोंका अधर्म देखिए. धर्मका पालन करनेवाले अधर्मको हटाते हैं, न कि करते हैं. अतः अधर्मके कारणको कहता हुआ स्थान विशेषको प्राप्त करके उसके हेतुको प्रकाशित करता हुआ दृष्टान्त देता है कि ये मोटे हो गये हैं. यह मोटापन ही अधर्म करनेमें कारणरूप है. नीच राजा बल प्राप्त करके अधर्म करते हैं. जिस प्रकार कुत्ता स्वामीके टुकडों पर पलकर पुष्ट होनेके बाद, उस भोजन देनेवाले स्वामीको ही काटने दौडता है अथवा घरमें घुस जाता है, वैसा ही ये राजा है. ब्राह्मणोंके दो राज्य हैं, एक भीतरका आत्म सम्बन्धी राज्य और दूसरा बाहरवाला भौतिक राज्य. ब्राह्मणों द्वारा अन्दरके राज्यकी साधना की जाती है, वे भगवान् द्वारा इसीकेलिये विशेषरूपसे नियुक्त किये गये हैं, बाहरका भौतिक राज्य उन स्वयंके भोगनेकेलिये नहीं होता. इसलिए बाहरी राज्यकेलिये उन्होंने क्षत्रियोंको स्थापित किया है. ब्रह्मा द्वारा बनाई गई इस भूमिको कश्यपने तथा परशुराम एवं रामचन्द्रजी ने ब्राह्मणोंकेलिये सोंपा है. भूमिका राज्य मिलने पर भी ब्राह्मणोंने इस बाह्य जगतके राज्यको नहीं किया प्रत्युत अन्तःकरणके राज्यको ही किया. उसे कहते हैं कि बाह्य जगतके शासनकेलिये ब्राह्मणों द्वारा नियुक्त किये गये शासन स्वामीके प्रति पाप भावनासे भर गये हैं. ये दास होकर भी स्वामीके प्रति अपराध करनेमें जातिदोष तथा मूर्खतासे कुत्तेके समान हो गये हैं. दरवाजेकी चौकीदारीकेलिये जैसे कुत्तेको रखा जाता है, इसी प्रकार इन राजाओंको द्वारपालके समान नियुक्त किया है. जिस प्रकार कुत्ते अज्ञानसे स्वामीको ही खा जाते हैं. घरमें किसीके प्रवेश न होने देनेकेलिये उन्हें अधिकार दिया जाता है, पर वे स्वयं ही घरमें घुस

जाते हैं इसी प्रकार ब्राह्मण अपने समाधिरूप राज्यकी रक्षा करनेकेलिये इन्हें बाहरके द्वार पर नियुक्त करते हैं, परन्तु ये कहते हैं कि समाधि मत करो, समाधि त्याग कर हमारी पूजा करो. इस प्रकार राजाकी समानता कुत्तेसे की गई है।।३२।।

दृष्टान्त विषयक विषमताकी शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं:

ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि द्वारपालो निरूपितः।
स कथं तद्गृहे द्वाःस्थः सभाण्डं भोक्तुम् अर्हति।।३३।।

ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियोंको द्वारपालके रूपमें नियुक्त किया है. वे क्षत्रिय ब्राह्मणोंके द्वार पर रहनेवाले होनेसे उनके साथ भोजनपात्रमें किस प्रकार भोजन करने योग्य हैं?।।३३।।

ब्राह्मणोंके द्वारा क्षत्रियोंको द्वारपाल नियुक्त किया है. इससे स्वामिद्रोहका समर्थन होता है. 'हि' शब्द चार प्रकारसे राजाओं द्वारा मर्यादा उल्लंघनका निरूपण करता है. शरीर आदि बाह्य पदार्थ ही दरवाजे हैं. वस्तुतः राजाओंके इन उत्तरदायित्वोंको भृगु ऋषिने निरूपित किया है. अतः जिन्होंने निरूपित किया है, उन्हींके दरवाजे पर द्वारपालके रूपमें रहनेवाले ये राजा क्या उनके भोजनपात्र अथवा रसोईपात्रमें खानेकी योग्यता रखते हैं? अर्थात् ये ब्राह्मणोंको आज्ञा देने योग्य नहीं है. क्योंकि ये ब्राह्मणोंकी ही कृपासे राज्य करते हैं, वस्तुतः ब्रह्माका घर ही ब्रह्माण्ड कहलाता है. उस ब्रह्माण्डमें समस्त पुरुषार्थोंके उपभोग स्थान ब्राह्मण हैं. उन पर आनेवाली बाधाओंका निराकरण ये द्वारपाल राजा ही करते हैं. राज्य ही राजाओंकेलिये प्रदान की गई बलि है. जैसे राजा किसानोंके कर ग्रहण करता है, वैसे ही जब वह ब्राह्मणोंसे भी कर ग्रहण करने लगे तो वह ब्राह्मणके भोजनपात्रमें ही भोजन करना हुआ. समाधिमें स्थित ब्राह्मणका अपराध करना, घरमें घुसकर भोजनपात्रमें भोजन करनेके समान ही है।।३३।।

इस प्रकार अपराधका समर्थन करके, स्वयंकी दण्ड देनेकी सामर्थ्य बताते हुए, दूसरे प्रकारसे वस्तु स्थितिकी व्याख्या करते हैं:

कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम्।
तद्भिन्नसेतून् अद्याहं शास्मि पश्यत मे बलम्।।३४।।

विपरीत मार्ग पर चलनेवाले राजाओं पर शासन करनेवाले भगवान् कृष्णके पधार जानेके बाद, ये शासक लोग मर्यादा विरुद्ध मार्ग पर चलने लगे हैं, अब मैं इनको नियन्त्रणमें लूंगा, अब मेरी शक्ति भी देख लो।।३४।।

भगवान् कृष्णके पधार जानेके बाद ब्राह्मण ही दण्डाधिकारी हुए. सदानन्दरूप भगवान् अपने अनुभवकेलिये ही ब्राह्मणोंको नियुक्त करके अपने धाममें पधार गए. भगवानने अपने आनन्दके अनुभवके सम्पादनकेलिये ही पहले ब्राह्मणोंके विरोधियों पर शासन किया अथवा उनका दमन किया. अब यदि पालन करनेवाले क्षत्रिय वैसे ही विरोधी बन जावें या दुष्ट हो जावें तो ब्राह्मणोंका कर्तव्य है कि उन्हें दण्ड दिया जाय. भगवानने शासक और शासित, ये दो भेद स्थापित किये हैं. इसलिए इन दोनों प्रकारकी स्थितिओं पर हमें ही नियन्त्रण करना चाहिए, क्योंकि मर्यादा तोडी गई है. इस क्षत्रियने शासक होनेकी व्यवस्थाको भंग कर दिया है. यहां ऋषिपुत्र शृंगी द्वारा शाप देनेमें अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है, प्रत्युत धर्मकी मर्यादाके स्थापित किये जानेवाला भाव है. इससे पूर्व कभी मर्यादाका उल्लंघन नहीं सुना था, इसलिए कहा कि आज ही ऐसा हुआ है. क्योंकि आज ही राजा द्वारा अनुचित कार्य किया है अतः आज ही दण्ड दिया जाना चाहिए. उस शमीक ऋषिके पुत्र शृंगीमें वैसे दण्ड देनेकी क्षमता है, इसे वह आश्रमके अन्य बालकोंको बताता है कि देखो, मेरी शक्ति देखो. स्वयंमें जो ब्रह्मतेज प्रकट हुआ है, उसे स्वयं देखते हुए अपने दूसरे मित्र बालकोंको भी उसे बताया ।।३४।।

ऐसा निश्चय करनेके बाद, अब जो उसने किया, उसे कहा जा रहा है:

इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यान् ऋषिबालकः।
कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह।।३५।।

अपनी अवस्थाके समान बालकोंके सामने उस ऋषि बालकने क्रोधमें लाल नेत्र कर कौशिकी नदीके जलका आचमन करके वाणीरूपी वज्र छोड दिया।।३५।।

राजाकी इस भावनाके भ्रम पर कि वही शासक है; ऋषिपुत्रकी आंखें लाल हो गईं. उसे क्रोध आ गया. इससे वह दुबारा इस विषय पर विवेकपूर्वक विचार नहीं कर सका, यह बताया है. उसने कौशिकी नदीके जलका आचमन करते हुए ब्रह्मभावका आविर्भाव किया और ''षट् फट् जही'' इत्यादि मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए वाणीरूपी वज्र छोड दिया. इन्द्रका वज्र तो दधीचिकी हड्डीओंसे बना हुआ था, परन्तु यह तो ब्राह्मणोंका मूलभूत वाणीरूपी वज्र था (जिसका प्रहार अचूक होता है)।।३५।।

उस वाग्वज्रके अर्थको बताया जा रहा है:

इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि ।
धक्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे पितृद्रुहम् ।।३६।।

उस मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले कुलके अंगाररूप पिताके द्रोही राजाको आजसे सातवें दिन मेरे द्वारा भेजा 'तक्षक' सांप भस्म कर देगा ।।३६।।

इस प्रकारसे मर्यादाको छोडनेवाले राजा परीक्षितको आजसे सातवें दिन तक्षक सर्प भस्म कर देगा. 'स्म' प्रसिद्धिके अर्थमें आया है. सबको प्रसिद्ध करते हुए उस राजाका भक्षण करेगा अर्थात् इस घटनाको सब जानेंगे. इससे उसे कोई भी नहीं बचा पायेगा, यह सूचित किया है. ''शिरमें सात प्राण होते हैं'' ऐसा श्रुतिओंमें लिखा हुआ है. शिरकी रक्षा किये जानेसे प्राण नष्ट होने पर भी वह राजा तब तककेलिये जीवन मुक्त रहेगा. यदि राजा ऋषिके शिर पर सांप रख देता तो उसी समय मर जाता. पाण्डव वंशमें उत्पन्न हुए परीक्षितको तक्षक कैसे भस्म कर सकता है? वहां कहते हैं कि वह कुलका अंगार है. यदि इस समय राजा तक्षकके द्वारा नहीं जलाया जाता तो वह इस प्रकारका अपराध करनेके कारण यादवोंके समान अपने कुलका ही नाश कर देगा. इसलिए पाण्डवोंका उपकार करनेकेलिये तक्षकसे उसका नाश आवश्यक है, यह अर्थ हुआ. यदि राजाने तक्षककी प्रार्थना की तो वह उसे छोड भी सकता है? इस आशंकासे कहते हैं कि तक्षकको मैं आज्ञा देकर भेज रहा हूं. मुझसे प्रेरित हुआ वह तक्षक उसे क्षमा नहीं करेगा, यह अभिप्राय हुआ. यदि तक्षक क्षमा कर देगा तो मैं तक्षकको ही भस्म कर दूंगा. इस प्रकार आज्ञा दिये जानेमें कारण बताते हैं कि उसने मेरे पिताजीसे द्रोह किया है. मेरे पितासे द्रोह करनेका यह दण्ड उसे मिलेगा।।३६।।

इस प्रकार वह ऋषि बालक शृंगी, महाराज परीक्षितको शाप देकर, तेजके शान्त हो जाने पर मनुष्यभावको प्राप्त होकर, घर पर आकर रोने लगा. अब इसे कहा जा रहा है:

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालो गलेसर्पकलेवरम् ।
पितरं वीक्ष्य दुःखार्त्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ।।३७।।

इसके बाद वह ऋषिबालक आश्रममें आया तथा पिताके गलेमें सांपका मृत शरीर पडा हुआ देखकर दुःखित हुआ खुले कण्ठसे रोने लगा ।।३७।।

इसके बाद पिताके गलेमें सर्प देखकर वह ऋषिपुत्र रोने लगा. 'गलेसर्प-कलेवरम्'में अलुक समास है. बालक होनेसे वह यह नहीं जान सका कि पिताके

गलेमें पडा हुआ सांप जीवित है अथवा मरा हुआ है. पिताको ऐसी स्थितिमें देखकर वह दुःखसे व्याकुल हो तथा मुक्तकण्ठसे अर्थात् बहुत ऊंचे स्वरमें रोने लगा. पिताके कण्ठमें तो सर्प है और स्वयं मुक्तकण्ठ है. 'ह' अव्ययका प्रयोग निश्चयात्मक अर्थमें किया जाता है अर्थात् वह निश्चय ही रोने लगा।।३७।।

इसके बाद क्या घटना घटित हुई? उसे कहा जा रहा है:

स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा पुत्रविलापनम्।
उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा चांऽसे मृतोरगम्।।३८।।
विसृज्य पुत्रं पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि।
केन वापकृतं सर्वम् इत्युक्तः स न्यवेदयत्।।३९।।

उन अंगिरस गौत्रमें उत्पन्न शमीक ऋषिने पुत्रके विलापको सुनकर, हे ब्रह्मन्, धीरे-धीरे नेत्रोंको खोला और अपने कंधे पर मरे हुए सर्पको देखा।।३८।।

उस सर्पको कंधे परसे हटाकर, पुत्रसे पूछा कि हे पुत्र, तुम किस कारणसे रो रहे हो? अथवा किसने तुम्हारा बुरा कर दिया है? पिताके द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर उस पुत्र शृंगीने संक्षेपमें सारी बात निवेदन कर दी।।३९।।

वे ऋषि कुलीन थे. वे शमीक ऋषि, अंगिरस गोत्रमें उत्पन्न हुए थे. इससे उनका कुलीन तथा सहनशील होना सूचित हुआ है. सूतजीने शौनकको ब्रह्मन्का सम्बोधन देकर अन्य शंकाओंसे मुक्त कर दिया. ब्रह्मसे उत्पन्न हुए जन किसी भी स्थितिमें कोई दूसरी प्रकारकी बात अर्थात् मर्यादा विरुद्ध बात करते ही नहीं. बहुत ऊंचे स्वरसे समाधि नष्ट हो जाती है, जैसे कोई स्वप्न टूट जाता हो, वैसी ही प्रक्रियासे उन्होंने अपने नेत्र धीरे-धीरे खोले तथा मृत सर्पको कंधे पर पडा देखकर पहले स्वाभाविक रूपसे उसे एक ओर हटा दिया. पुत्र होनेसे किसी अन्यथा प्रकारके वचनोंके कथन करनेकी पिता द्वारा कोई सम्भावना नहीं है. अतः प्रश्न ही कर रहे हैं कि हे पुत्र किसने तुम्हारा अपकार किया है? यहां पिताके द्वारा दो ही प्रश्न पूछे गये हैं अथवा दो ही वाक्य बोले गये हैं. पुत्र तुम क्यों रो रहे हो तथा किसने तुम्हारा बुरा कर दिया है. विशेषरूपसे बातको खुलासा करके कहनेमें किसी विशेष प्रयोजनको न देखते हुए संक्षेपमें ही ऋषि बालकने सब घटना निवेदन कर दी।।३८-३९।।

तब शमीक ऋषिने श्रृंगीके वचनोंको सुनकर उनका विचार किया और सोच लिया कि पुत्रने यह कार्य उचित नहीं किया. इसी पर आगे कहते हैं:

निशम्य शप्तम् अतदर्हं नरेन्द्रं स ब्राह्मणो नात्मजम् अभ्यनन्दत् ।
अहो बतांऽहो महदज्ञ ते कृतम् अल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः।।४०।।

राजाकेलिए शाप दिया जाना सुनकर उन मुनिने पुत्रकी प्रशंसा नहीं की. उन्होंने कहा, अरे पुत्र, तुने बहुत बडे अज्ञान व पापका कार्य कर दिया, जो राजाके इतनेसे अपराध पर बहुत बडा दण्ड दे दिया।।४०।।

मुनिने ज्यों ही सुना कि पुत्रने राजाको शाप दे डाला, तो उस कार्यको अयोग्य बताया. वह राजा था, राजाको ऐसा शाप दिया जाना ठीक नहीं हुआ. इसमें क्या ठीक नहीं हुआ? अपराधीको दण्ड ही तो दिया, फिर पुत्रको क्यों नहीं सराहा? वहां इस शंकाका उत्तर देते हैं कि वे ब्राह्मण हैं. ''ब्राह्मण क्षमाके गुणसे ही पूजनीय हुए हैं''. क्षमाके अभावमें ब्राह्मणत्व रहता ही नहीं. तो जिस प्रकार राजा उपेक्षणीय था वैसे ही पुत्रकी भी उपेक्षा कर देनी चाहिए थी, फिर क्यों नहीं की गई? वहां कहते हैं कि वह पुत्र था. वह अपनेसे उत्पन्न होनेके कारण उपेक्षणीय नहीं था. ''जिसका निषेध न हो वह अनुमोदित होता है'' यह सोचक पुत्रने शान्त भावसे उसे स्वीकार कर लिया. ''ब्रह्म दण्डसे जले हुएको नर्कके प्राणी भी दया भावसे नहीं देखते'' इस न्यायसे राजाका परलोक भी जाता रहा. इसलिए पिताकी आज्ञासे कार्य न किया जानेके कारण केवल शब्दोंके अर्थोंकी ही सत्यता रहेगी. राजाको परलोक सम्बन्धी कष्ट नहीं सहना पडेगा. मुनि अब पुत्रके क्रोधको युक्तिसे शान्त कर रहे हैं. अन्यथा उसका भी मरण दोषपूर्ण ढंगसे हो. अतः जिससे पुत्रमें पश्चात्ताप हो वैसे वचन कहते हैं कि अहो पुत्र तेने यह क्या कर डाला? अरे, राजाको शाप देना तो पांचों पुरुषार्थोंके विरुद्ध है. अतः अब तेरे पांच पुरुषार्थ जाते रहे. ऐसे भयसे उसमें पश्चात्ताप पैदा किया है. यह तो पहले ही कहा जा चुका कि तेने महापाप किया है. 'अहो' शब्द अचम्भेको बतानेवाला है. 'बत' शब्द खेदको बताया है. तेने बहुत बडा पाप कर दिया है. परन्तु यह कार्य तुमने नासमझीमें किया है. समझदारीमें किया होता तो प्रायश्चित भी नहीं होता. उसे कहते हैं कि तेने थोडेसे अपराधका बहुत बडा दण्ड दे डाला. परिणाम स्वरूप तुम विचार करके देखो कि उसने हमारा अपराध ही कितना सा किया है. हमारे आश्रमके एक सांपको ही तो उसने मारा और मुझसे उसका स्पर्श करा दिया, सो तो स्नान करनेसे स्पर्श दोष समाप्त हो जायेगा. बस इतनीसी बात पर ही तेने उसे मृत्यु भय उत्पन्न कर दिया! उस बेचारेके प्राण ही हर लिये! एक सर्पसे राजाकी

तुलना तुम्हें नहीं करनी चाहिए थी. सर्पके स्पर्श मात्रसे जहर व्याप्त हो जानेकी भी कोई समानता नहीं होती. उपरी तौरके भयसे निकट उपस्थित प्राणहरणके महाभयकी स्थिति नहीं की जानी चाहिए थी. जैसा अपराध राजाने किया था, उसकी तुलनामें राजाको मृत्युका शाप देनेका तेने महान अधर्म किया है।।४०।।

यदि ऋषिबालक शृंगीके मनमें यह बात आवे कि हमने तो तुलनात्मक दण्ड ही दिया. सर्प मारने पर मरनेका शाप, सर्पसे स्पर्श कराने पर तक्षक सर्पका स्पर्श और भयके स्थान पर भय प्रदान किया है, इसमें अनुचित क्या हो गया? वहां कहते हैं:

न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं सम्मातुम् अर्हस्यविपक्वबुद्धे ।
यत् तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः।।४१।।

हे कच्ची बुद्धिवाले बालक, जिस राजाका नाम पर है, उसे तुम्हें मनुष्योंके समान नहीं मानना चाहिए. क्योंकि जिसके असह्य तेजसे रक्षित प्रजा भय रहित हुई, कल्याणोंको प्राप्त करती है।।४१।।

राजा सामान्य मानव नहीं होता. हे कच्ची बुद्धिवाले, राजाकी पदार्थोंसे तुलना नहीं होती. राजा मनुष्यके समान नहीं होता, फिर छोटे-मोटे जीवोंसे तो समानतावाली बात ही क्या? ब्रह्मको जाननेवालों केलिये ऐसे वचन ठीक हैं. ग्रन्थ वाक्य तो ये हैं कि ''जो कुत्ते और चाण्डालमें समान भाव रखता है, वही पण्डित है''. वहां कहते हैं कि राजाका नाम 'पर' है. यहां अक्षर ब्रह्मके विचारसे जीवोंमें ब्रह्मकी समानता कही गई है. वास्तवमें देखा जाय तो भगवान्के साथ जीवकी क्या बराबरी? अर्थात् जीव भगवान्के तुल्य नहीं है. राजा भगवानका गुणावतार होता है. ''इन स्थानोंमें धर्म यज्ञ मनु देवता और राजा ये भगवान्के अवतारके रूप हैं''. ये भी वाक्य हैं कि ''पृथ्वीका पति राजा विष्णुरूप होता है''. यह वाक्य, केवल राजाका सम्मान करनेकेलिये यों ही कह दिया हो ऐसा नहीं है. वहां कहते हैं कि राजा तेजस्वी होता है. जिस राजाके असह्य तेज द्वारा दुष्ट चोरोंसे प्रजाकी सब प्रकारसे रक्षा होती है, प्रजा निर्भय हो सत्यरूपसे कल्याणोंको प्राप्त करती है. जीवोंकी सब जगह समानता होनेसे, राजामें जो तेज या आज्ञा शक्ति देखी जाती है, वह स्वरूप मात्रसे ही सबका भय दूर कर देती है, ये धर्म जीवमें नहीं होते. अतः राजाका विशिष्ट होना या भगवत् तुल्य होना कोई औपचारिक बात नहीं है, यह अर्थ हुआ।।४१।।

इस प्रकार अधर्म करनेसे धर्मका विरोध कहा है. अब अर्थके विरोधको कहते हैं:

अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः ।
तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्यत्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत्क्षणात्।।४२।।

जिनका नाम नरदेव है, ऐसे चक्रपाणि भगवान्‌के न दिखाई देने पर यह लोक अत्यधिक चोरोंसे युक्त हो जाता है, और तब इस लोककी रक्षा न होने पर यह भेडोंके झुंडकी तरह तत्क्षण नाशको प्राप्त हो जाता है।।४२।।

राजाके न होने पर अराजकता फैल जाती है. यदि एक दिन भी राजा न दिखाई दे तो सब अनर्थ हो जाते हैं. राजाका नाम नरदेव होना तो कोई विशेष उपाधिवाली बात नहीं है. वास्तवमें तो वह चक्रपाणि है. राजा चक्र धारण करनेवाले विष्णु ही हैं. इसलिए, यहां पुत्रको 'अंग'का सम्बोधन दिया है. पदार्थ ज्ञान होनेके आग्रहको छोडकर सुननेकी स्थितिमें लानेकेलिये यहां 'अंग' कोमल सम्बोधन दिया हैं. उसके स्वरूपके भी न दिखाई देने पर यह लोक बहुत सारे चोरोंसे भर जाता है. यों कहिए कि प्रायः सभी चोर हो जाते हैं, जिससे विनाशकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है. सभीकी बुद्धियां भ्रष्ट हो जाती हैं. पालन करनेवाले पालकके अभावमें सारी प्रजा भेडोंके समूहके समान तितर-बितर होकर नाशको प्राप्त हो जाती है. अतः सभीके अर्थका नाश होनेसे यहां अर्थका विरोध सिद्ध हुआ।।४२।।

उनके अर्थका विरोध हो जानेसे अपनी क्या हानि हुई? उस पर कहते हैं:

तद् अद्य नः पापम् उपैत्यनन्वयं यन् नष्टनाथस्य वसोर्विलुम्पकात् ।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः।।४३।।

आज, अपने लिए अकारण ही पाप आ लगा है कि अपने शापके कारण राजाके नष्ट हो जाने पर, धनको चुरानेवाले चोर परस्पर प्रजाको मारते हैं, गाली देते हैं तथा पशु, धन एवं स्त्रियोंका ये डाकू हरण कर लेते हैं ।।४३।।

उस शाप देनेके हेतुसे आज पापोंका समूह अपने पास चला आया है. यद्यपि हमने कोई पाप नहीं किया है, तदपि बिना कारण ही वह आ है. वह अकारण ही क्यों चला आया है? यदि पाप अकारण ही चला आता हो तो ऐसा फिर हमेशा ही होना चाहिए कि बिना बात ही सभीको पाप लगा करे. वहां इसे स्पष्ट करते हैं कि प्रजाके स्वामीके नष्ट होने पर, यह पाप आया है. उस राजा परीक्षितकी मृत्युमें हमारे द्वारा दिया शाप ही तो कारण है, इसलिए स्वामीके नाशके हम निमित्त बने हैं.

अब उसकी प्रजाके धनको चोर चुराएंगे. माना कि यह पाप हमने प्रत्यक्षरूपसे नहीं किया, परन्तु हमारे शाप-कार्यके द्वारा इस पापका सम्बन्ध हमसे हो गया. केवल धनका ही नाश होगा, बात इतने पर ही आकर नहीं ठहरती, वरन् कामका भी नाश होगा. इसे कहते हैं कि परस्पर मारकाट मचेगी. शासकके न होने पर प्रजा अराजक हो जाती है. लोग एक-दूसरेको मारते हैं, गालियां देते हैं तथा स्त्री आदि पदार्थोंका अपहरण कर लेते हैं. (परीक्षितके अभावमें यह सब कुछ होगा और इन सबका पाप अकारान्तरसे हमें ही लगेगा)।।४३।।

प्राणीयों केलिए तीन वस्तुएं सर्वस्व मानी जाती है : पशु, स्त्री और धन. भूमि आदि तो इन वस्तुओंकी साधक मात्र है. इन तीनों वस्तुओंके अभावमें इच्छाओं द्वारा उपभोगमें लायी जानेवाली सभी वस्तुएं नष्ट हो जाती हैं, इसे आगे कहते हैं:

तद् आर्यधर्मश्च विलीयते नृणां वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां शुनां कपीनामिव वर्णसंकरः ।।४४।।

तब मनुष्योंमें से आर्य धर्म नष्ट हो जाता है. वर्ण और आश्रम के आचारयुक्त वेदधर्मके नष्ट हो जाने पर, केवल अर्थ और काम में ही जिनका मन लग है, ऐसी कुत्तों और बन्दरों के समान वर्णसंकर सन्तानें मनुष्योंमें होने लगेंगी।।४४।।

वह आर्यधर्म नष्ट हो जायेगा. सदाचारके लक्षणोंवाला सामान्यरूपसे सारी ही प्रजामें प्रचलित सज्जनोंका धर्म विलीन हो जायेगा. वह धर्म वर्ण और आश्रम की व्यवस्थासे विशेषरूपवाला है. वह धर्म यज्ञके रूपमें तीन वेदोंमें प्रतिपादित किया है. इस प्रकारका धर्म नष्ट होगा यह कहा. ऐसा होनेसे क्या होगा? तो कहते हैं कि यहां धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी ही व्यवस्था है, जब इन तीनोंमेंसे धर्म निकल जायेगा तो लोग अर्थ और कामको ही प्रधानता देते हुए उसमें ही लीन हो जायेंगे. अर्थ और काम में मन आसक्त होने पर अधर्मके कारणरूप वर्णसंकर लोग पैदा होने लगेंगे. निर्ल्लजतापूर्वक उपभोग करनेवाले, दुःसंग आदिसे युक्त मनुष्योंकेलिये कुत्तोंका दृष्टान्त दिया है. उनका वंशानुक्रम भी प्रसिद्ध नहीं होगा. दो पुरुषोंमें भी वंश परम्पराकी समानता नहीं होगी. जब यही पता नहीं रहेगा कि कौन किसका पिता है और कौन किसकी माता है तो वर्णसंकर धर्म भी चला जायेगा. अधिक कहनेसे क्या? वृक्षसे जीवन धारण करनेवाले

वानरोंके समान बुद्धिमान् मनुष्य भी एक ही स्त्रीमें सैंकडों पुरुषों द्वारा भोग करनेसे, माता-बहिन आदिके विवेकसे रहित हो जायेंगे. तब एक भी पुरुषका वर्ण नहीं रहेगा. गांव और जंगल में रहनेवाले पशुओंके दो दृष्टान्त दिये गये हैं. गांवके (सभी मानव बस्तिओंका प्रतिनिधि शब्द) लोगोंकेलिये कुत्तेका और वनमें रहनेवाली जातिओंकेलिये वानरोंका उदाहरण दिया है. इसलिए इन सबके मूलमें जो काम है वह नष्ट होना चाहिए, यह कहा है।।४४।।

इस प्रकार परम्परासे दोषोंको कहकर अब साक्षात् दोषोंको कहते हैं:

धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राड् बृहच्छ्रवाः।
साक्षान् महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट्।
क्षुत्तृट्श्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापम् अर्हति ।।४५।।

सम्राट परीक्षित् विख्यात यशवाले धर्मका पालन करनेवाले; भगवान्के महान् भक्त, राजर्षि और अश्वमेध यज्ञ करनेवाले थे. भूख व प्याससे व्याकुल हुए और थके हुए व दीन स्थितिमें पडे हुए वे राजा हमसे शाप पाने योग्य किसी भी प्रकार नहीं थे।।४५।।

राजा परीक्षित् धर्मका पालन करनेवाले हैं, उनका एक-एक गुण भी हमारे द्वारा सम्पूर्णतया पूरी निष्ठाके साथ पूजा करने योग्य है. इनमें तो सभी गुण हैं. धर्ममार्गसे ये पूज्य हैं. उसे कहते हैं कि वे धर्मका पालन करनेवाले हैं. नीति मार्गसे भी ये पूज्य हैं, क्योंकि ये नरपति हैं. काम द्वारा भी पूज्य हैं, क्योंकि सम्राट् हैं, साम्राज्यके वैभवसे सबकी इच्छाओंको दान देकर पूरा करते हैं. ये प्रसिद्ध हैं अतः पूजा योग्य हैं. उसे कहते हैं कि वे बृहच्छ्रवा हैं. अर्थात् जिनकी कीर्तिको बहुतोंने सुना है. भक्तिमार्गसे भी ये पूज्य हैं, साक्षात् महाभागवत हैं. दूसरे लोग तो गुरु द्वारा भगवान्से अंगीकार किये हुए महाभागवत होते हैं, परन्तु इनके तो भगवान् ही गुरु हैं. इसलिए साक्षात् महाभागवत हैं. वैदिक आचरणसे भी ये सम्मानके योग्य हैं, क्योंकि ये वेदके अर्थका पालन करनेवाले तथा मन्त्रका प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले हैं, वेदार्थकी रहस्यात्मक विचारसरणीकी अनुभूतिवाले हैं. अतः ये राजर्षि हैं. कर्ममार्गकी दृष्टिसे भी ये आदरणीय हैं क्योंकि इन्होंने अश्वमेध यज्ञ किये हैं. इनके विषयमें अधिक क्या कहा जाय? ये सर्व गुण सम्पन्न हैं. यदि धर्मकी दृष्टिसे आदरणीयताका विचार नहीं भी किया जाय तो भी केवल लौकिक विचारसे भी राजा पूज्य हैं. उसे कहते हैं कि वे भूख, प्यास व थकान से युक्त थे.

ये सारी पहले कही गई बातें मुनि शमीकने योगसे जान ली थी. तालु सूख जानेसे राजा दीन हो था. इस प्रकारसे सब तरहसे पूजनीय राजा शाप पानेके योग्य नहीं था. पूजनीयका पूजन न किये जानेसे अधर्म हो गया. राजाका केवल एक दोष देखनेसे ही अपनेमें नीचपना आ गया, यह अर्थ हुआ।।४५।।

अधिक क्या कहना? भक्तका द्रोह करनेसे भगवान् क्रोधित हो जाते हैं. अब उससे हमारा सर्वनाश हो जाएगा, इस भयसे भगवानकी प्रार्थना करते हैं:

अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्वबुद्धिना।
पापं कृतं तद् भगवन् सर्वात्मा क्षन्तुम् अर्हसि ।।४६।।

आपके पाप रहित भक्तोंमें इस बालकने कच्ची बुद्धि होनेके कारण जो पाप कर दिया है, हे भगवान्, आप सबके आत्मा होनेसे क्षमादान देनेके योग्य हैं ।।४६।।

जो आपके निष्पाप भक्त हैं, आप द्वारा पालन किये जानेवाले दास हैं, विचार करने पर वस्तुतः जो पापसे रहित है, हे भगवान्, आप इस दूर तक विचार सकनेकी क्षमतासे हीन बालकोंको क्षमा कर दीजिए. ''बालकमें गुण-दोषका विश्लेषण करनेकी बुद्धि नहीं होती'' यह बतानेकेलिये यहां 'बालक' शब्दका प्रयोग हुआ है. इससे शाप देनेरूप पाप बन है, क्षमा करनेमें कारण बताते हैं कि आप सभीके आत्मा हैं, अतः भेद दृष्टिसे रहित हैं. इसलिए यह अपना है तथा यह पराया है, यह विषम भाव आपमें नहीं है. ब्राह्मणोंको इससे क्या भय है? वहां कहते हैं कि वे भगवान् हैं. भक्तोंके विराधिओं पर कुपित हो जाते हैं, जिससे मोक्ष प्राप्त होनेमें विरोध उत्पन्न हो जाता है, यह बताया है।।४६।।

भक्तिका विरोध बताते हुए कहते हैं कि शापके बदले शाप दिया जाकर उसका समाधान हो जाएगा; इस शंकाका परिहार करते हुए कहते हैं:

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।।
नास्य तत्प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि।।४७।।

तिरस्कार किये गये, धोखा खाये हुए, शाप दिये गये, अवज्ञा किये गये तथा ताडना देने पर भी भगवान्के भक्त सब कुछ करनेमें समर्थ होते हुए भी, अपने प्रति किये गये इन सभी अपराधोंका बदला नहीं लेते।।४७।।

तिरस्कृत होने पर भी भक्त प्रतीकार नहीं करते. चाहे उन्हें गाली देकर अपमानित किया जावे, या कुटिल वचनोंसे उन्हें ठगा जावे; इस समय जो शाप

दिया है, उसी प्रकार शाप दिया जावे अथवा किसी प्रकारसे उन्हें अधिक्षिप्त (निन्दित) किया जावे या मारा जावे, वे भगवान्‌के दास गुण, क्रिया, अहंकार तथा देहके नाशका भी निवारण, अथवा प्रतिकार नहीं करते. किसीके प्रति ''जैसेको तैसा'' करनेकी भावना तो उनसे बहुत दूर रहती है. उसमें कारण कहते हैं कि वे भगवान्‌के भक्त होते हैं. अतः प्रतीकार करनेमें समर्थ होते हुए भी, वैसा नहीं करते. 'हि' अव्ययका प्रयोग अर्थके उचित होनेका प्रतिपादन करता है. शक्तिमें क्षमासे युक्त होना उचित कहा है।।४७।।

इस प्रकार पिताका पश्चात्ताप निरूपण करते हुए और राजा परीक्षितका निर्दोषपना बताते हुए; एक दोषी द्वारा दूसरे दोषीका अनुमोदन करना ठीक ही है, ऐसी आशंकाका परिहार करते हुए, श्रीसूतजी, ऋषि शमीककी स्तुति करते हैं:

सूत उवाच

इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः।
स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तद् अचिन्तयत्।।४८।।

इस प्रकार पुत्र द्वारा किये गए पापसे वे महामुनि पश्चात्ताप युक्त हो उठे. राजा द्वारा स्वयं अपराध किये जाने पर भी, उन्होंने उसका अपराध सोचा तक नहीं।।४८।।

इस प्रकार पाप तो किया पुत्रने और अनुताप हुआ पिताको. अन्यके द्वारा किये हुए पापसे भी वे मुनि इतना अधिक पश्चात्ताप करने लगे. वहां कारण बताते हैं कि वे महामुनि थे, क्योंकि भगवानने भी इस कृत्यको अनुचित माना है, इस प्रकार वे भगवानके हृदयकी बात जान गये थे, यही उनका महामुनित्व था. इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है कि राजाने मुनिके कन्धे पर सर्प रखनेका पाप किया और मुनिने उसके अपराधको मनसे भी नहीं सोचा. अतः परम्परासे भी पापसे डरनेवाले होनेके कारण, भगवान्‌के हृदयका ज्ञान होनेसे उन्हें अपनेमें ही दोष दिखाई दिया, इसीलिए वे महामुनि कहलाये।।४८।।

महामुनि शमीक तथा महाराज परीक्षित्, इन दोनोंकी समानता बताते हुए, अब उपसंहार करते हैं:

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्मागुणाश्रयः।।४९।।

लोकमें प्रायः यह देखा जाता है कि असत् पुरुष साधु पुरुषोंको हर्ष–

शोकादि द्वन्द्वमें जोड देते हैं. परन्तु वे साधु पुरुष न तो दुःखी होते हैं और न ही प्रसन्न होते हैं; क्योंकि आत्मा, इन गुणोंका आश्रय नहीं होता।।४९।।

प्रायः लोकमें यह प्रवृत्ति देखी जाती रही है कि असज्जन सज्जनोंको कष्टमें डाल देते हैं. यहां 'साधु' शब्द परीक्षित् तथा मुनि शमीककी प्रकृतिके विषयमें किया है. यों तो सामान्यतया सभीकेलिये प्रयुक्त हुआ है, परन्तु प्रसंगानुसार राजा और मुनि केलिये विशेष रूपसे प्रयोगित किया है. लोकमें सभी स्थानों पर असाधुओंके द्वारा साधुओंको कष्टकी स्थितिमें डाला जाता है. उस समय राजाके द्वारा शमीक मुनि तथा ऋषिबालक द्वारा राजाको इस परिस्थितिमें डाल दिया था. साधारणतया अन्योंके द्वारा भी ऐसा ही कर दिया जाता है कि दुष्ट लोग सन्तोंको पीडा पहुंचाते हैं तथा उनमें निष्ठा रखनेवाले उन्हें हर्षकी परिस्थितियां प्रदान करते हैं. परन्तु दुःखोमें जोडे जाने पर साधु पुरुष दुःखी नहीं होते और सुखोंके साथ जोडे जाने पर हर्षको प्राप्त नहीं होते. अतः साधुओंमें क्षोभ नहीं होता, यह उचित ही कहा है. वहां प्रमाण देते हैं कि ''आत्मा, गुणोंका आश्रय नहीं होता''. हर्ष आदि गुण कहलाते हैं. उनका आश्रय अन्तःकरण ही होता है, न कि आत्मा. ऋषि तथा राजर्षि परीक्षित् दोनोंमें ही अन्तःकरणके अध्यासवाली स्थिति न होनेसे क्षोभका अभाव होना उचित है, यह भाव हुआ।।४९।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथम स्कन्धके १८वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)के
'उत्तमाधिकार प्रकरण'का बारहवां अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

अध्याय १९

महाराजा परीक्षितका अनशन व्रत और शुकदेवजीका उनके पास पधारना

सर्वदोषनिवृत्तिस्तु पूर्वाध्याये निरूपिता।
प्रमादेऽपीश्वरेच्छातो व्यामोहाभाववर्णनात्।।का.१।।

कारिकार्थः इस अध्यायके पहलेवाले अध्यायमें यह बताया कि असत्पुरुषों द्वारा सत्पुरुषोंको सुख-दुःखरूपी द्वन्द्वमें जोड दिए जाने पर भी, हर्ष अथवा शोक उत्पन्न नहीं होता. वहां सब प्रकारके दोषोंकी निवृत्तिका निरूपण किया है. क्योंकि ईश्वरकी इच्छासे किसी समयमें कोई भूल हो जाय तो भी भगवान्‌के भक्तोंको मोह उत्पन्न नहीं होता. राजा परीक्षितने ब्राह्मणके गलेमें सर्प डाला, पर उससे ब्राह्मणको मोह नहीं हुआ, उसी तरह ब्राह्मणके पुत्रने परीक्षितको शाप दिया उससे परीक्षितको भी मोह नहीं हुआ. इससे दोषकी निवृत्ति बताई गई है।।१।।

अधुना पूर्णगुणता वैराग्यज्ञानभक्तिषु।
यशःकर्मसमाजश्रीभावेषु च निरूप्यते।।का.२।।

अब वैराग्य, ज्ञान और भक्ति में परीक्षित् पूर्ण ज्ञानवाले हैं. क्योंकि यश, कर्म, समाज और लक्ष्मी को भोगनेमें परीक्षित् समर्थ हैं, यह निरूपण करते हैं।।२।।

एकोनविंशे वैराग्यात् प्राये मुनिगणागमः।
तत्र पृष्टार्थसन्देहे शुकागम इतीर्यते।।का.३।।

उन्नीसवें अध्यायमें वैराग्य होनेसे राजा परीक्षितका एक ही स्थान पर बैठना निश्चित हो है; वहां मुनियोंका समूह आया हैं. वहां परीक्षित् द्वारा पूछे गये अर्थमें सन्देह उत्पन्न होने पर, श्रीशुकदेवजी पधारे हैं, यह निरूपण किया है।।३।।

मुनयो भगवद्भक्त-यानं द्रष्टुं हरेः कथाम्।
श्रोतुञ्च भावितज्ञानाद् विवादस्तु शुकोन्नतौ।।का.४।।

भगवान्‌के भक्तका परलोकमें पधारा जाना देखनेकेलिए और वहां भगवानकी कथा होगी ऐसा भविष्यका ज्ञान ऋषियोंको हो जानेसे, कथा सुननेकेलिए वहां ऋषिगण आये हैं. उनमें श्रीशुकदेवजी शिवजीका अवतार

होनेसे, परम्परासे उन्हें भगवानका अवतार प्राप्त हुआ है. नारदजी, परशुराम और व्यासजी को साक्षात् भगवान्के अवतारका भाव है. इन सबके होते हुए श्रीशुकदेवजी सबसे ऊंचे आसन पर बैठे, इसे लेकर इन सभीके मनमें विवाद उठा होगा ।।४।।

वैराग्यस्य प्रकर्षेण प्रकर्षोऽत्र विवक्षितः ।
ज्ञाने तुल्येऽपि देवर्षेः त्यागाभावाद् न वक्तृता ।।का.५।।

परन्तु यहां तो ज्ञान देनेमें जिसका उग्र वैराग्य हो, उसीकी महत्ता कही जाती है; शुकदेवजीमें दृढ वैराग्य होनेसे, उनकी महानता हुई है. ज्ञानकी स्थिति तो नारदजीमें शुकदेवजीके समान ही थी, तो भी नारदजीका त्याग न होनेसे वे वक्ताके रूपमें स्थित न हुए।।५।।

भार्गवस्यापि रामस्य व्यासस्यापि हरेस्तनोः ।
गुरुणैव स्वरूपाप्तिज्ञानदानाद् न वक्तृता ।।का.६।।

परशुरामजी तथा व्यासजी भगवान्के अवतार हैं अतः मोक्ष देना चाहें तो दे सकते हैं; परन्तु परीक्षितको तो ज्ञान प्राप्त करना है और वह ज्ञान गुरुसे ही मिल सकता है. क्योंकि ज्ञान होनेसे स्वरूपकी प्राप्ति होती है, उस ज्ञानको देनेवाले महादेवजी हैं, और शुकवेदजी महादेवजीका अवतार हैं; यह कथा कूर्म पुराणमें है. अतः यहां व्यासजी और परशुरामजी को वक्ताका आसन प्राप्त नहीं हुआ और श्रीशुकदेवजी ही वक्ताके स्थान पर विराजे।।६।।

द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतः शुक एव ततो गुरुः ।
एतदर्थं हि भगवान् अवतीर्णो वृषध्वजः ।
बीजाधानोत्तरं रक्षा विष्णोरन्ते शिवात्मना ।।का.७।।

बत्तीस लक्षणोंसे युक्त श्रीशुकदेवजी ही परीक्षितको ज्ञान देनेमें गुरुरूप हुए हैं. उनकेलिए ही भगवान् महादेवजीने अवतार लिया है. परीक्षित् जब माताके गर्भमें आए, उसके बाद रक्षाका कार्य विष्णुका होनेसे उन्होंने उनकी रक्षा की. संहारका कार्य शिवजीका होनेसे, शुकदेवजी द्वारा संहार कार्य सम्पन्न हुआ. लौकिक दाह न होने देनेकेलिए अलौकिक अग्निरूप ब्रह्मशापसे राजाका दाह हुआ है।।७।।

पहलेके अध्यायमें राजाको शाप लगनेका निरूपण किया. अब अद्भुत् कर्मवाले भगवान्से राजाको शापके फल होनेका निरूपण किया जा रहा है. उसमें

गंगाजी, सत्संग और ज्ञान –इन तीनोंका निरूपण आता है. पहले परीक्षितको पश्चात्ताप हुआ, यह एक प्रकारसे तप हो गया. राज्य आदिमें उन्हें किसी प्रकारकी कामना नहीं रही, ऐसे वैराग्यका चार श्लोकोंमें निरूपण किया है. ''जो कोई पाप बन हो, उस प्रसंगमें जब पुरुषको पश्चात्ताप होता है, उसमें सब प्रकारसे भगवानका स्मरण करना ही उस पापका निवारण है'' ऐसा शास्त्रोंका मत है. उसी रीतिसे भगवान्‌के स्मरणरूप अंगके रूपमें हुए परितापका निरूपण यहा किया है. उसमें साधारण पुरुषको परिताप होवे तो वह वैराग्यका अंग कहलाता है और भक्तका पश्चात्ताप भक्तिरूप होनेसे भक्तिका अंग होता है. उस प्रमाणसे परीक्षितको किसी भी बातकी इच्छा शेष न रह जानेसे, जो पश्चात्ताप हुआ है, उसीका निरूपण सूतजी कर रहे हैं:

सूत उवाच

महीपतिस्त्वथ तत् कर्म गर्ह्यं विचिन्तयन् आत्मकृतं सुदुर्मनाः ।
अहो मयामीवमनार्यवत् कृतं निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि ।।१।।

सूतजीने कहा, (अपनी राजधानीमें लौट आनेके बाद) परीक्षित् अपने उस गर्हित कार्यका विचार करते हुए उद्विग्न मनवाले होकर पश्चात्तापसे घिर गए. अहो ! मैंने दुष्ट लोगोंके समान यह क्या नीच कर्म कर डाला? बिना अपराध ही, छिपे हुए तेज सम्पन्न ब्राह्मणके प्रति मैं उस समय कैसे इतना हीन कर्म कर बैठा?।।१।।

महाराज परीक्षितको महान पश्चात्ताप हुआ. वनसे लौटकर थकान मिटानेके बाद जब राजकीय कार्यों पर विचार करनेकेलिये परीक्षित् सिंहासन पर विराजे तब ब्राह्मणके गलेंमें सांप डाला जाना याद करके उस पापसे व्याकुल हो गए. यहां 'तु' शब्दसे पश्चात्तापसे पहलेवाली दूषित मनःस्थितिका निवारण किया है. राजा सोच रहा है कि मेरे द्वारा किया वह कार्य कितना गर्हित, न करने योग्य तथा अपयशको प्रदान करनेवाला है. मेरे दोनों ही लोकोंको नाश करनेवाला यह कार्य मुझसे हो है, यह अर्थ हुआ. राज्य सम्बन्धी अन्य सब प्रकारकी चिन्ताओंको छोडकर विशेषरूपसे वनमें घटित घटना पर ही चिन्ता करते हुए राजा उदास हो गये. यद्यपि दण्डविधान द्वारा वे चोरोंका वध आदि करते थे तो भी उसे वे प्रत्यक्षरूपसे न करके दूसरोंके द्वारा ही करवाया करते थे, परन्तु यह कार्य तो उन्होंने स्वयं ही किया था अतः दुश्चिन्ताओंसे युक्त मनवाले हो गये. मनके

द्वारा शोककी उत्पत्ति ही दुष्टता है. शोककी स्थितिमें भी भगवानका स्मरण करते रहनेसे राजा चेतनामें रह सके अन्यथा वे मूर्च्छित ही हो गये होते. अनुतापकी इस स्थितिमें उनके बोले गये वाक्योंको बताया जा रहा है. 'अहो' यह शब्द आश्चर्यको बतानेवाला है. वे कहते हैं कि मुझ भगवद्भक्तके द्वारा, धर्म पालन करनेवालेके द्वारा यह पापरूप अपराध दुष्ट लोगोंकी तरह बेखटके कर दिया है. दुष्ट स्वभाववाले भी इस प्रकारका अपराध नहीं किया करते. इस विषय पर वर्णन करते हैं कि वे ब्राह्मण निरपराधी तथा छिपे तेजवाले थे. प्रकरणका विचार करनेसे अथवा लोकका विचार करनेसे भी निरपराधीको दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए. अधिक क्या कहें? निश्चित किये गये विचारसे भी जीव ही दण्ड दिया जाने योग्य है, न कि ब्राह्मण. नीतिसे विचार किये जाने पर भी जहां दण्ड देनेसे सर्वनाश होता हो वहां दण्डका विधान नहीं है. इसमें भी गुप्त तेजवालेको तो दण्ड दिया ही नहीं जाना चाहिए, क्योंकि उसे दण्ड दिये जाने पर सर्वनाशकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है. तेज छिपा हुआ होनेसे राजाका नाश अपराध करनेके समयमें ही नहीं हो गया, यदि तेज छिपा हुआ न होकर प्रकट अवस्थावाला होता तो उसी समय परीक्षित् जलकर भस्म हो होता।।१।।

तो फिर अब क्या करना चाहिए? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं कि ब्राह्मणका अपराधरूप विषय ही जो कुछ करना होगा उसे करेगा. मुझे अब इस विषयमें कुछ भी नहीं करना है, इसे बतानेकेलिए कहते हैं:

ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनाद् दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात् ।
तदस्तु कामं ह्यघनिष्कृताय मे यथा न कुर्यां पुनरेवम् अद्धा ।।२।।

निश्चय ही मेरे द्वारा ब्राह्मण देवताका किया गया यह अपराध किसी भी उपायसे टाला नहीं जा सकता. इससे उत्पन्न होनेवाला दुःखरूपी फल मुझे शीघ्र ही मिलनेवाला है. मेरे पापकी निवृत्तिकेलिए वह दुःखरूपी फल मुझे मिले, वही अच्छा है; ताकि मैं कभी फिरसे ऐसा अपराध न करूं।।२।।

इस अपराधका दुःखरूप फल निश्चय ही होगा. मनमें यह बात आवे कि वैष्णव होनेके कारण तुम्हारा कुछ भी नहीं होगा, तो कहते हैं कि साक्षात् भगवानका अपमान हुआ है. हृदयमें स्थित भगवानका वे ब्राह्मण मुनि ध्यान कर रहे थे. उनका शरीर मन्दिररूप था. अतः मन्दिरका अपमान करनेसे भगवानका अपमान स्वतः ही हो गया. ''भक्त होकर यदि भगवानका द्रोह करे तो निश्चय ही

नरकमें जाता है'' इस न्यायसे निश्चय ही दुःख होगा. समस्त पुरुषार्थोंका प्रतिबन्ध करनेवाला अपने क्रियाकलापोंसे चित्तमें व्याकुलता भरनेवाला दुःख तो होना ही है. यह दुःख दो प्रकारका है. अपने आश्रयरूप देहका नाश अथवा इसके बाद निवृत्त हो जानेका उपायरूप, ऐसा यह व्यसन दो प्रकारका हुआ. अपने आश्रयका नाश करनेवाला यह व्यसन न हटाया जा सकनेवाला है. बिना दुःख दिये जो दुर नहीं हो सकता अर्थात् दुःखरूप फलको देकर ही जो शान्त होता है. अपराध बहुत ही भयंकर होनेसे इसका फल शीघ्रतासे मिलेगा, उसे कहते हैं कि अब अधिक समय नहीं है. तो यह दुःखरूपी फल उसी समय क्यों न प्राप्त हुआ ? दुःख दूर होनेवाला है कि नहीं, ऐसा ज्ञान, उपाय करनेके बाद होता है. इसलिए उस व्यसनका उपाय करो, ऐसा कोई कहे तो कहते हैं कि वह दुःख तो हो. जिन पुरुषोंको देह आदि अच्छे लगते हैं, वे ही व्यसन दूर करनेका उपाय करें. भगवानका अपराध बन जाने पर भी जिन्हें शरीर आदिकी रक्षा करना रुचता है वे ही व्यसनके प्रतीकारमें प्रयत्नशील बनते हैं. ''हमारे लिये तो उस कष्टका आना ही उचित है''. इसलिए प्रार्थना करते हैं कि दुःख अपनी इच्छानुसार जैसे आना चाहे वैसे ही आवे. दुःखको आनेमें किसी भी प्रकारका संकोच न होवे. हम हमारे देहके नाशकी इच्छा करते हैं. प्रार्थना करनेमें कारण बताया जा रहा है कि पाप नष्ट होनेकेलिए यह आवश्यक है. यह दुःख प्रत्यक्षरूपसे मुझे ही प्राप्त हो. अपराध तो शरीरका धर्म है. उस धर्मका नाश होनेके स्थान पर, धर्मी (शरीर)का नाश होना अनुचित है. यह बात समान नहीं कही जा सकती कि अपराध किसका और दण्ड किसको. वहां कहते हैं कि फिरसे पाप न हो जाय. शरीरके विद्यमान रहने पर ही दुःखका साक्षात्कार सम्भव है. शरीर न रहे, तो वह दुःख राज्य और पुत्रोंको प्राप्त हो. इसलिए यह कष्ट सम्मुख रूपसे मुझे ही प्राप्त हो, यह अर्थ हुआ।।२।।

जिसका शरीर आदिसे अतिशय प्रेम हो, उसकेलिए तो यह कहना सम्भव है. पर शरीरके विद्यमान रहनेसे दोषोंके उत्पन्न होनेका भय हो तो उसके पाक्षिक दोषका परिहार करनेकेलिए कहा जा रहा है:

अद्यैव राज्यं बलमृद्धकोशं प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे ।
दहत्वभद्रस्य पुनर्न मेऽभूत् पापीयसी धीर्द्विजदेवगोभ्यः।।३।।

आज ही क्रोधित हुए ब्राह्मण कुलके अग्निसे मेरा राज्य, बल(सेना) और बढा हुआ खजाना जल जाए. मुझ अकल्याणकारीकी ब्राह्मण, देवता और

गायों के प्रति फिर कभी भी ऐसी पाप पूर्ण बुद्धि न हो।।३।।

आज ही नष्ट हो जाय. अपने विनाशकी प्रार्थना बाकी बचे हुए पदार्थोंकी रक्षाकेलिये नहीं है, बल्कि उनसे साक्षात् सम्बन्ध न होनेके कारण है, इसलिए ब्राह्मणका अपराध हो जाने पर देह नाशकी प्रार्थना की गई. साक्षात् रूपसे क्रोधित हुए ब्राह्मणवंशका अग्नि, राज्य सेना व धनको नष्ट कर दे. सात्त्विक, राजस व तामस पुण्यके परिणाम स्वरूप ही राज्य, सेना व धन –ये तीनों प्राप्त होते हैं. इनकी प्राप्तिका कारण अदृष्ट है, अतः उसकी समाप्तिकेलिये ये सब जल जावें. वहां साधकके विषयमें कहते हैं कि मैं अकल्याणकारी हूं. मुझमें कल्याणकी भावना नहीं है. इस कल्याण रहित अदृष्टके जागे रहनेसे ही पापमय बुद्धि होती है. अतः ''दोषको हटानेकेलिये गुण रहितका भी गुण बताया है''. इस न्यायसे पुण्यके अभावमें राज्य आदिके दोष उत्पन्न करनेवाले होनेसे इनके नष्ट हो जानेकी प्रार्थना, राजाके द्वारा उचित ही की गई है, जिसे कहते हैं कि फिरसे ऐसा न हो. एक भी बार अब फिरसे पाप बुद्धि उत्पन्न न हो, इसलिए इन सबका जल जाना ही उपयुक्त है. अतः ऐसे समयानुकूल विचारके उत्पन्न होनेसे राजाको जो निश्चिन्तता प्राप्त हुई है, उसे आगेके तीन श्लोकों द्वारा बताया जा रहा है।।३।।

महान् लोगोंको फलप्राप्तिमें इच्छा न होनेसे, फलप्राप्ति विलम्बसे होती है. अतः इच्छाके उत्पन्न होने पर, अब वह फल कब होगा? ऐसा विचार करते ही, राजाने उस समय अपने प्रति भेजे गए शापको सुना:

स चिन्तयन् इत्थम् अथाशृणोद् यथा मुनेः सुतोक्तो निर्ऋतिस्तक्षकाख्यः।
स साधु मेने न चिरेण तक्षकानलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम्।।४।।

राजा ऐसा विचार कर ही रहा था कि मुनिपुत्र द्वारा भेजे गये तक्षक नामवाले मृत्युके विषयमें सुना. उस राजाने इस समाचारको शुभ माना कि शीघ्र ही तक्षक रूपी अग्नि मुझ आसक्तकेलिये विरक्तिका कारण बन गई है।।४।।

वे सोच रहे थे. पहले कहे गये प्रकारसे वे दुःख प्राप्तिके विषयमें विचार कर रहे थे. शमीक ऋषि द्वारा भेजे गये ब्राह्मणके मुखसे उन्होंने तक्षक नामवाले मृत्युको सुना. यद्यपि इसे सुननेकी स्थिति मूलमें नहीं है, तदपि जिस प्रकारका वह मृत्यु है, उसे मूलमें लिखा है. जिससे उस प्रकारके मृत्युको सुना है, यह अर्थ हुआ. स्वरूपसे तो पदार्थ जान ही लिया था, केवल यह नहीं जान पाये थे कि वह दुःख किस प्रकारका होगा. इसलिए जिस बातकी जानकारी नहीं थी, वही सुनाई

गई है. इसलिए अश्वमेध यज्ञके अवभृथ स्नानमें, ''मृत्युकी इच्छा करनेसे सब मृत्यु द्वारा इच्छा किया जाता है'' ऐसा वेदमें कहा है. अतः दूसरा कोई मृत्यु न होनेसे तक्षक मृत्युका कारण नहीं है, प्रत्युत् मृत्यु स्वरूप ही है, यह बतानेकेलिये तक्षक नामवाले मृत्युको सुना, यह कहा. यह सुनकर राजाने जो किया उसे कहते हैं. राजाने उस मृत्युको अच्छा माना. वे तो इस विषयमें पहलेसे ही विचार कर रहे थे, उन्होंने यदि इसे शुभ नहीं माना होता तो सुननेके बादमें विचार उत्पन्न होता और तब वे शीघ्रतासे यह नहीं मान पाते कि यह ठीक हुआ है. इस स्थितिमें अब मुझे क्या करना चाहिए, इसका निश्चय न होनेसे सात दिनकी अवधिमें किये जानेवाले कर्तव्यके विषयमें विलम्ब लग जाता. अतः उसे सुनकर परीक्षितने अच्छा माननेमें देर नहीं लगाई और तत्काल अच्छा मान लिया. वह तक्षकरूप अग्नि अच्छी है, इसे माननेमें कारण बताते हैं कि जो विषयमें आसक्त हो रहा हो उसे वैराग्य उत्पन्न करनेमें कारणरूप है. विषयका उपयोग वैराग्यमें कारण नहीं होता, यह बतानेकेलिये आसक्ति और वैराग्य को एक ही समासमें न रखकर अलग-अलग पदोंमें रखा है।।४।।

इस प्रकार निरपेक्षपनेका निरूपण करके राजाके कर्तव्यरूप संन्यासरूपी वैराग्यका निरूपण करते हैं:

अथो विहायेमम् अमुञ्च लोकं विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात् ।
कृष्णाङ्घ्रिसेवाम् अधिमन्यमान उपाविशत् प्रायम् अमर्त्यनद्याम्।।५।।

विचार करने पर यह लोक और परलोक पहलेसे ही त्याग कर देनेके योग्य है. अतः इन दोनोंको छोडकर श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी सेवाको ही अधिक मानते हुए, महाराज परीक्षित् निश्चयपूर्वक गंगाजीके तट पर बैठ गए ।।५।।

इस लोक और परलोक का फल भोगनेवाला वैराग्य राजाको ज्ञानकेलिये नहीं हुआ है, प्रत्युत् भगवानकी सेवाकेलिये हुआ है, इसका निरूपण करनेकेलिये कहते हैं कि वे श्रीकृष्णकी सेवाको अधिक मानते हैं. इसलिए इस लोकके त्याग करनेवाली बात कही गई है. परन्तु भोगके त्याग करनेवाली बात नहीं लिखी गई है. भक्तिमार्ग द्वारा भगवानकी सेवा करना केवल शरीरसे ही सिद्ध हो सकता है. यहां शंका होती है कि परीक्षित्का यह त्याग तो शापके कारण है, अतः उन्हें भक्त क्यों कहा है? वहां कहते हैं कि राजाने तो बहुत पहलेसे ही लोक

और परलोक को त्याग करने योग्य मान लिया था. भगवानकी सेवाकेलिये दोनों लोक छोड देने चाहिए, यह पहले ही विचार लिया था. इस शरीरके द्वारा ही भगवानकी सेवा करूंगा. यह शरीर किसी अन्य कार्यमें न लगे, इसकेलिये राजाने अनशन व्रत लिया अर्थात् न कुछ भोजन करना और न ही जल पीना. उनकेलिये कहा है कि राजा देवताओंकी नदी गंगाजीके किनारे पर प्रायोपवेश करके बैठ गये. अन्नादिका त्याग करनेरूपी प्रायोपवेश भगवान्के व्रतरूपमें राजाने करना विचारा है. क्योंकि वेदोंमें लिखा है कि ''दो पक्षी एक ही पेड पर रहते हैं, उनमें एक पक्षी विषयोंका स्वाद लेता है और दूसरा उसे न लेता हुआ भी बलवान है'' अतः भोग रहित रहना भगवानका व्रत है. मृत्युमें प्रायः पदकी द्वितीया विभक्ति कर्मके अर्थमें है. अन्यथा '' 'प्राय'केलिये बैठे'' ऐसा चतुर्थी विभक्तिवाला अर्थ होता. यह शरीर अन्नमय होनेसे, यदि इसमें अन्न न जाय तो यह नष्ट हो जाय और जिससे सेवामें बाधा खडी हो जाय. इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि वे देवताओंकी नदी गंगाजीके किनारे पर बैठे. अतः उनका वह शरीर मरणधर्मवाला न रहा. क्योंकि वह नदी अमर्त्योंकी है, वहां अमरता है. प्रतिदिन अन्नका भक्षण करनेसे देहकी बढोतरी और घटोतरी होती रहती है. यदि उसे पहलेसे ही साधनके रूपमें ग्रहण किया जावे तो देह नाशको प्राप्त हो जावे और दूसरे देहको धारण करनेका कार्य सिद्ध करनेवाला है अथवा नहीं, इसमें सन्देह होनेसे गंगाजीके किनारेके ऊपर राजाने प्रायोपवेश किया है. क्योंकि यथायोग्य वस्तुको स्थापित करनेवाले गंगाजी हैं. जो नहीं मरते उन्हें 'अमर्त्य' कहते हैं. अतः जो गंगाजीके तीर पर उत्पन्न हुए हो वे अमर्त्य होते हैं. इसलिए अमर्त्यपना गंगाजीने सिद्ध किया है. उसकेलिये राजाने गंगाजीके किनारेके ऊपर बैठनेका निश्चय कर लिया है. उनका विचार यह है कि यह शरीर भी उत्तरोत्तर केवल तेजसे ही तैयार हुआ है, यह गंगाजीके सम्बन्धसे देवतारूप हो जावेगा. जिससे भगवानकी सेवामें फल सिद्ध हो, उसके योग्य बन जायेगा. अतः उन्होंने गंगा किनारे निवास किया है.

अब यहां यह शंका होवे कि आजके समयमें भी गंगाजीके किनारे पर बहुतसे मनुष्य निवास करते हैं, परन्तु उनका शरीर तो देवताओंकेसे धर्मवाला नहीं होता, जिससे गंगाजी देव भावको सिद्ध कर देते हैं, ऐसे कथनमें बाधा आती है. इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि आजके समयमें मनुष्य आधिभौतिक (भौतिक रूपका ही विचार करनेवाले) होनेसे, गंगाजी भी उनके पास आधिभौतिक रूपसे ही

प्रकट रहते हैं अतः देवतारूप फलकी सिद्धि उन्हें नहीं होती ।।५।।

इस प्रकार गंगाजी, योग्य देहको सिद्ध करनेवाले होनेसे, उनका इस रूपमें परम्परासे उपयोग होता आया है. इसका निरूपण करनेके बाद, भक्तिमें उनका साक्षात् फलरूप उपयोग बताते हैं:

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र–कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान् कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः।।६।।

जिस मनुष्यकी मृत्यु समीप आ गई है, वह भला उन गंगाजीका सेवन क्यों न करे जो शोभायमान तुलसीसे मिश्रित श्रीकृष्णके चरणकमलकी अत्यधिक रजसे युक्त जलका वहन करनेवाली हैं और अपने सिंचनसे महादेवजी सहित समस्त लोकोंको बाहर और भीतर से पवित्र बना देती हैं।।६।।

यह शरीर भगवानकी सेवा करनेके अधिकारवाला बन जाय, इसलिए पहले भगवान्के चरणोंका प्रक्षालन बाताया है. गंगाजीकी सेवा करने पर ही भगवत्सेवाकी भावना करनेमें आती है. उसमें भगवान्के चरणकमलको धोया है, ऐसी भावना करानेवाला श्रीगंगागीका जल है. उनके उस स्वरूपकेलिये कहते हैं कि ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीने भगवान्के चरणकमलको धोया था, उनसे भी पहले लक्ष्मीजी प्रतिदिन चरणकमलोंको धोते थे और सदैव तुलसी समर्पित करते थे. इस रीतिसे लक्ष्मीजी द्वारा समर्पित की हुई तुलसी प्रभुके चरणमें रही हुई थी. जब बलिराजाका उद्धार करनेकेलिये और देवताओंको स्वर्ग देनेकेलिये भगवान् तैयार हुए, अथवा भगवानका जो चरणकमल स्वर्गलोकमें हुआ था, वह कार्य करनेवाला बन था. यदि भगवान् कार्यशील न होवें तो जीवको सायुज्य मुक्ति मिल जावे, पर उसका शरीर सेवा करनेके योग्य नहीं हो पाता. इसलिये भक्तके देहको सेवा योग्य बनानेकेलिये भगवानने अपना चरण ब्रह्मलोकमें पधराया. उन चरणकमलों पर लक्ष्मीजी द्वारा समर्पित तुलसीजीके साथ मिली हुई चरणोंकी रज है, वह रज ही भक्तके देहको सेवा योग्य बनाती है. क्योंकि व्याससूत्रमें तीसरे अध्यायके प्रारम्भवाले सूत्रमें कहा है कि ''पूर्वजन्ममें निष्काम यज्ञ करनेवाला ज्ञान रहित हो और उसकी मृत्यु हो जावे, तब समस्त वेदोंके अर्थरूप भगवान्के स्वरूपका उसे ज्ञान न होनेसे यज्ञरूप भगवानका प्राकट्य नहीं होता'' अतः उसका वह यज्ञ पंचमहाभूतोंको शुद्ध करनेवाला बन जाता है. परन्तु उसके द्वारा निष्काम यज्ञ करनेसे देवता प्रसन्न होकर उसे ज्ञानयोग्य देह सिद्ध करनेकेलिये

पंचाग्नि विद्याके प्रकारसे उसके शरीरका निर्माण करते हैं. उस रीतिसे पूर्व जन्म जिसने भगवानकी कथाका श्रवण आदि साधन भक्ति युक्त ढंगसे किया है और श्रवणादि करनेसे मोक्ष सिद्ध होता है, ऐसा जानकर तन्त्र शास्त्रमें कही गई दीक्षाको लेता है तथा जिसने उपासना मार्गका श्रवण आदि कर लिया है, वह निष्काम यज्ञके समान उसके पंचमहाभूतका संस्कार करनेवाला होता है. इसके बाद निष्काम यज्ञ करनेवालेको देवताओंका सम्बन्ध प्राप्त होकर पंचाग्नि विद्यामें कहे गये होमके स्वरूप द्वारा जो यज्ञ रहता है, उसमें श्रवणादिक नौ प्रकारकी भक्ति जिसने कर ली है और इसके बाद भी उसे जन्म देनेवाले तथा पोषण देनेवाले भगवान्‌के भक्त माता-पिता द्वारा उसका शरीर उत्पन्न करनेकेलिये चरणामृत द्वारा और चरणकी रजसे उनके पंचमहाभूत बनते हैं. उसी रीतिसे पूर्व जन्ममें वैसा पुण्य करनेवालेको उनके सम्बन्धसे वैसा शरीर सम्पादन करनेकेलिये साक्षात् भगवानकी सेवा करने योग्य देह प्रदान करनेकेलिये श्रवणादिक साधन रखे गये हैं. वह देह चरणामृत और चरणकी रजके सम्बन्धवाला बन जाता है. वह भगवान्‌के चरणोंकी प्राप्ति होनेसे पहले ही चरणामृत और चरणके रजकी प्राप्तिको सिद्ध करनेवाला हो जाता है. इसे सिद्ध करनेवाले गंगाजी ही हैं, ऐसा कहते हैं. क्योंकि भगवानका चरण ब्रह्मलोकमें गया. तब ऊपर बताये अनुसार लक्ष्मीजीने तुलसी समर्पी, उससे युक्त चरणरज गंगाजीमें रहती है. जिससे उसके शरीरमें मर्यादा भक्ति तथा पुष्टिका सहज सम्बन्ध होनेमें वह चरणरज ही कारणरूप होती है. पृथ्वीके ऊपर बहुतसे भक्त हैं. ऐसे भक्तोंको ऊपर बताये अनुसार भगवदीय शरीर सिद्ध करनेकेलिये, जिसमें सभी ओर श्रीकृष्णकी चरणरज ही अधिक मात्रामें है, ऐसे जलको गंगाजी प्रवाहित करते हैं. गंगाजीका जल तथा ब्रह्माके कमण्डलका जल सीमित है परन्तु चरणोंकी रज न अमाप है. भगवान्‌के चरणोंकी रज धोनेमें आ सके इतना जल गंगाजीमें न होनेसे उस जलमें रजकणोंकी ही अधिकता है. आजके समयमें भक्तोंकेलिये ही गंगाजी अपने जलमें उस माहात्म्यका प्रकाश करती हैं. अन्य जनोंकेलिये उसका प्रकाशन नहीं होता. यह बतानेकेलिये ही 'गंगाजी चरणरजको प्रवाहित करनेवाले हैं', ऐसा कहा है. उसके प्रासंगिक रूपसे दो फल कहे गये हैं. वे गंगाजी तीनों लोकोंको बाहर और भीतर से पवित्र बना देते हैं. मूलमें 'सेशान्' पाठ होने पर, महादेवादिक पालन करनेवाले देवोंके साथ तीनों लोकोंको पवित्र करते हैं, यह अर्थ करना

चाहिए. ऐसा निरूपण करनेसे पृथ्वी पर उत्पन्न हुए भक्तोंमें अधिक दोषोंकी उत्पत्ति संभव नहीं, ऐसा कहा है. अतः जो पहलेवाले शरीरको छोडनेकी इच्छावाला तथा समीप मृत्युवाला हो वह संस्कारित तेजोमय देहको उत्पन्न करनेवाली गंगाजीका सेवन भला क्यों नहीं करेगा? ।।६।।

इस प्रकार गंगाजीके तीर पर प्रायोपवेश करना चाहिए, यह युक्तिसे निश्चय करके और अपने अभक्त होने पर कहीं सब कुछ अन्यथा हो जावे, उस दोषका परिहार करते हुए, परीक्षितके द्वारा किये जानेवाले अग्रिम कर्तव्यको बताया जा रहा है:

इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम् ।
दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रिम् अनन्यभावो मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः।।७।।

मुनिव्रतको धारण करनेवाले तथा समस्त संगका त्याग करनेवाले उन पाण्डवोंके पुत्र परीक्षितने गंगाजीके किनारे पर प्रायोपवेशका निश्चय करके, अनन्यभावसे भगवान्के चरणकमलका ध्यान किया।।७।।

पहले बताये गये प्रकारसे विष्णुपदी गंगाके किनारे प्रायोपवेश कर पहलेवाले पक्षका(सांसारिक मोहका त्याग) निराकरण करते हुए और इस पक्षको (भगवानका ध्यान) विशेषरूपसे ग्रहण करते हुए निश्चयपूर्वक परीक्षित् भगवानके ध्यानमें निमग्न हो गये. क्योंकि वे पाण्डवोंके पुत्र हैं. हो सकता है कि आध्यात्मिकताके बलिष्ठ हो जाने पर पहले बताई गई बात सिद्ध न हों, अतः पूर्व सहायताके रूपमें भगवान् मुकुन्दके चरणोंका ध्यान करने लगे. भगवान् मोक्षको देनेवाले हैं, जिससे स्वतन्त्रता पूर्वक ध्यानके उपयोगका निवारण किया. इसलिए 'अङ्घ्रिम्' (चरणकमल)में एकवचनकी संख्या विवक्षित नहीं है, पर ''घरको स्वच्छ करते हैं'' ऐसा कहनेमें एकवचनकी संख्या है. जिस प्रकार होमादिक कामोंमें दुसरे घरोंका मार्जन करनेमें कारण बताया है, तदनुसार यहां भी प्रभुके दूसरे चरणकमल ध्यानके उपयोगकेलिये हैं. जिससे वह ध्यान सेवाके योग्य शरीरकी प्राप्तिके अंगके रूपमें वर्णित हैं. पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाली होनेसे, परीक्षितको अनन्य भक्ति प्राप्त हुई है. उसे कहते हैं कि प्रायोपवेश और गंगाजी राजाको इच्छित हैं. जिससे पुरुषार्थ प्राप्त करनेमें उन्हें स्वतन्त्रता न होवे प्रत्युत् चरणकमल द्वारा पुरुषार्थ सिद्ध होवे, ऐसा कहा है. इसी तरह राजाने मनको भी दण्डित कर लिया है. अब वाणी और कायाके दण्डको कहते हैं कि राजाने मुनिके

समान व्रत धारण किया है. व्यर्थकी बातें करनेको छोड देना ही मौन कहलाता है. अथवा मुनिओंके अतिरिक्त दूसरोंसे भाषण करनेका निषेध किया है. यदि किसी प्रकारसे बोलना ही नहीं ऐसा व्रत लिया होता तो आये हुए मुनिओंसे प्रश्न करना और शुकदेवजीके साथ भाषण करना कैसे सम्भव होता? ऐसी स्थितिमें लिये हुए व्रतका त्याग हो जाता. इसलिए मुनिव्रतका अर्थ व्यर्थकी बातें करना छोड देनेसे ही है. उसी प्रकार परीक्षितने पुत्र मित्रादिकोंके संगका भी त्याग कर दिया है. मनसे तो संग पहले ही छोड दिया था, परन्तु शरीरसे आज्ञा देकर कार्य करवाने रूप संगका भी राजाने परित्याग कर दिया है।।७।।

इस प्रकार परीक्षितने अपना कर्तव्य किया. अब बचा हुआ काम भगवान् ही सिद्ध करेंगे, जिसकेलिए महाभक्त शुकदेवजीको उस कार्य सम्पादनमें जोडा जाना है. परन्तु समूह होने पर ही रस उत्पन्न होगा, ऐसा सोचकर भक्ति रसके उत्पन्न होनेकेलिए भगवान् द्वारा किये हुए मुनियोंके आगमनको कहते हैं:

तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना महानुभावा मुनयः सशिष्याः।
प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः।।८।।
अत्रिर्वसिष्ठश्च्यवनः शरद्वान् अरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ।।९।।
मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो भरद्वाजो गौतमः पिप्पलादः।
मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनिः द्वैपायनो भगवान् नारदश्च।।१०।।
अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षिवर्या राजर्षिवर्या अरुणादयश्च।
तान् आर्षेयप्रवरान् समेतान् अभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे।।११।।

पृथ्वीको पवित्र करनेवाले, बडे-बडे प्रभावशाली मुनियोंके झुण्डके झुण्ड अपने-अपने शिष्यवर्गके साथ गंगा किनारे पधारे. प्रायः सत्पुरुष तीर्थ करनेके बहानेसे स्वयं तीर्थोंको पवित्र बना देते हैं।।८।।

गंगाके उस पावन तट पर अत्रि, वसिष्ठ, च्यवन, कृपाचार्य, अरिष्ट, नेमि, भृगु, अंगिरा, पराशर, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्र प्रमद, इध्मवाह, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिषेण, भरद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, अगस्त्य, भगवान् व्यासजी तथा नारदजी, ये सभी पधारे।।९-१०।।

अन्य भी बहुतसे देवर्षि और ब्रह्मर्षियोंमें उत्तम, ऐसे ही राजर्षियोंमें श्रेष्ठ अरुण आदि उस स्थल पर पधारे. इस प्रकार सभी ऋषियोंके वहां एकत्रित हो

जाने पर राजाने मस्तक झुकाकर वंदना की एवं पूजन किया।।११।।

जिस समय परीक्षितने प्रायोपवेश किया उसी समय मुनिगण वहां पधारे, 'उप' अव्यय समयकी समीपता बतानेकेलिये है. आज ही भगवानने उन्हें आज्ञा की और वे मुनि वहां पधारे हों, ऐसा नहीं है, परन्तु पहलेसे ही लोकों और तीर्थोंको पवित्र करनेकेलिये भगवानने उन्हें नियुक्त कर रखा है तथा वे वैसा ही करते हैं. इस विषयमें कहा है कि वे भुवनोंको पवित्र करते हैं. यदि उनमें यह पवित्र करनेवाला प्रभाव न हो तब तो उन मुनिओंकेलिये तीर्थोंका सेवन करना शेष रह जावे. तीर्थोंको पवित्र बनानेवाली उन मुनिओंकी सामर्थ्यको कहा जा रहा है कि वे महानुभाव हैं. यद्यपि वे मुनि वहां बुलाये हुए नहीं हैं, परन्तु उनके आनेका प्रयोजन ज्ञानप्राप्तिको लेकर हुआ है. क्योंकि वे मुनि हैं, मनन करना उनका लक्ष्य है. वे अपने शिष्योंको भी साथमें लाये हैं ताकि उन्हें पुनः ज्ञान बतानेकी आवृत्ति न हो और वे रसिकतासे आगे इन सुनी हुई कथाओंको कह सकें. स्वतन्त्रता पूर्वक तीर्थोंमें जानेसे आश्रमधर्म करनेवालोंका निषेध किया है, इसकेलिये 'प्रायेण' शब्दका प्रयोग किया है. यद्यपि इस न्यायसे कि ''श्रेष्ठ लोग जैसा आचरणोंको करते हैं, उन्हींका अनुकरण दूसरे लोग भी करते हैं'' उन मुनिओंका तीर्थमें आना लोकशिक्षाकेलिये भी सम्भव है, लेकिन वह उनका मुख्य प्रयोजन नहीं कहा जा सकता. उसे कहते हैं कि वह एक बहाना है, मात्र ब्याज है. इस बहोनेसे वे तीर्थोंको पवित्र करते हैं. इसलिए अन्तमें उन्हें 'सन्त' शब्दसे कहा है.

अत्रि ऋषिके कुलमें उत्पन्न हुए ब्राह्मण, ब्राह्मणोंमें मुख्य गिने जाते हैं, इसलिए उन्हें पृथक्से बताया है. शरद्वान् अर्थात् कृपाचार्य अथवा कृपाचार्यका नाम शारद्वत होनेसे गौतमको भी शरद्वान् कहा जाता है. वहां गाधिराजाके पुत्र विश्वामित्र आये. श्रीपरशुरामजी पधारे. गौतम ऋषिके पिता उतथ्य ऋषि आदि पधारे. इस प्रकार ब्रह्मर्षिसे लेकर भगवान्के भक्त नारदजी तक गिनाये गये हैं. उनमें अत्रिसे लेकर विश्वामित्र ऋषि तकके ऋषिगण ज्ञानका प्रतिपादन करनेवाले थे. परशुरामजीसे लेकर पिप्पलाय तकके ऋषि धर्मका प्रतिपादन करनेवाले थे. इसी प्रकार मैत्रेयजीसे लेकर नारदजी पर्यन्त ऋषिगण भक्तिका प्रतिपादन करनेवाले थे. उनमें तीन प्रकारके गुण साथ मिलनेसे नौ भेद होते हैं. तदनुसार ज्ञानका प्रतिपादन करनेवाले नौ प्रकारके ऋषि हुए हैं. पांच प्रकारके कर्म प्रकृति

और विकृतिके भेदसे दश प्रकारके होते हैं. जिससे धर्मका प्रतिपादन करनेवाले छः ऋषि भक्तिमार्गके हैं. मूलमें 'च'कार होनेसे नारदजीके शिष्य भी भक्तिमार्गीय ऋषिओंकी गणनामें गिनाये गये हैं. उस कथनके अनुसार देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षि का नाम यहां ग्रहण किया है. कोई अरुण नामके ऋषि भी यहां पधारे हुए हैं. जब ये सभी ऋषिगण पधार आये तब राजाने उनका पूजन किया. जो ऋषिओंके वंशमें श्रेष्ठ थे अथवा जिनका यज्ञमें वरण किया था, वे सब एक ही समयमें आये होनेसे उसी समयमें सबका पूजन किया अथवा उनकी सम्मतिके अनुसार जिसका जिस रीतिसे पूजन करना योग्य लगता था, उसी रीतिसे पूजन किया. वन्दनाके अन्तमें 'पूजा' शब्द है जिससे पूजाकी समाप्तिको सुचित करनेवाला वन्दन अन्तमें किया।।८-११।।

''जो अपनी इच्छासे धर्म करता है, वह आभास कहलाता है'' ऐसा सप्तम स्कन्धमें कहा है; जिससे उस दोषको दूर करनेकेलिये सारे ऋषि व्यग्र नहीं थे. तब विज्ञापन करनेकेलिये फिरसे राजाने प्रणाम किया. स्वयंका जो कर्तव्य है, उसे करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए, इस निर्णयकेलिये बाहरी दृष्टिसे उत्तर देनेके निराकरणकेलिए हृदयमें निष्ठा रखकर, विनय हेतु खडे होकर, हाथ जोडते हुए राजा विज्ञापन करने लगे. उसे कहते हैं:

सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत् ।
विज्ञापयामास विविक्तचेता उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः।।१२।।

उन सभी ऋषिओंके सुख पूर्वक बैठ जाने पर राजाने फिरसे प्रणाम किया. चित्तको एकान्तमें रखते हुए, समस्त ऋषिओंके मध्यमें खडे होकर, हाथ जोडकर; महाराज परीक्षित् अपने सोचे हुए विचारको प्रकट करने लगे।।१२।।

राजाने पूजा कार्यकी व्यस्ततासे निमटनेके बाद, देह आदिसे मनको खेंचकर आत्मामें प्रवेश करा दिया; ऐसे राजा ऋषिओंके सामने हाथ जोडकर खडे हुए हैं।।१२।।

राजा पहले अपना वृत्तान्त कहकर दो श्लोकों द्वारा इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी दो साधनोंकी प्रार्थना करते हैं. उसमें भगवानकी कृपा और महान् पुरुषोंकी कृपा, ये दो मूलभूत कारण है. तो भी भगवानकी कृपा होनेमें महापुरषोंकी कृपा ही कारण रूप है. इसलिए पहले महाराज परीक्षित् महापुरुषोंकी कृपाका ही निरूपण करते हैं:

राजोवाच

अहो वयं धन्यतमा नृपाणां महत्तमानुग्रहणीयशीलाः ।
राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचाद् आराद् विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म।।१३।।

अहो ! राजाओंमें हम बहुत ही श्रेष्ठ हैं, क्योंकि महान् पुरुषोंकी कृपाको प्राप्त करनेके योग्य स्वभाववाले हो गये हैं. अन्यथा राजाओंका कुल तो निंदित कर्मवाला होनेसे ब्राह्मणोंके चरणजलसे भी दूर रहता है, पर मुझे उसकी प्राप्ति हो जानेका हर्षयुक्त आश्चर्य है।।१३।।

यहां 'अहो' शब्द आश्चर्यके अर्थमें है. 'वयम्' शब्दमें प्रशंसाका अर्थ छिपा है. राजा परीक्षित् स्वयंको अत्यधिक धन्य मान रहे हैं. पुरुषार्थरूपी धनको प्राप्त करनेकी योग्यतावाले ही धन्य हैं. वहां राजाको अतिशय रूपसे सर्व पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हुई है. राजा कहते हैं कि आप सब मुनिगण पुरुषार्थरूप हैं. ऐसे सब पुरुषार्थरूप आप सभी मेरे ऊपर अनुग्रह करनेकेलिये पधारे हैं. अब यहां कोई यह शंका करे कि ऋषिओंके वहां आने मात्रसे ही स्वाधीनताकी प्राप्ति हुए बिना ही अर्थात् मुक्त अवस्था आये बिना ही पुरुषार्थ प्राप्ति कैसी ? वहां उसका समाधान करते हैं कि वे मुनिगण अत्यधिक प्रभाव सम्पन्न हैं, वे महत्तम हैं. भगवान्के अन्तरंग भक्तोंके द्वारा अनुग्रह करने योग्य आचरण जिसमें हैं, ऐसे परीक्षित् पर ऋषिओंने अनुग्रह किया है. परीक्षितका स्वभाव जैसा भी हो, हम ऋषि तो इनके पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाले बनेंगे. परीक्षितके प्रति ऋषिओंकी इस भावनाके कारण, वे राजाओंके मध्यमें श्रेष्ठ स्थितिवाले हो गये. ऐसी बात नहीं है कि राजा एवं ब्राह्मणोंकी पारस्परिक समानताके कारण यह युक्ति यहां दी गई हो. इस विषयमें आश्चर्य ही क्या ? क्योंकि ऐसा वाक्य है कि ''परस्पर क्षत्रिय और ब्राह्मण आत्माकी रक्षा करें''. वहां कहा है कि राजाका वंश ब्राह्मणोंका अनुगत है. परस्पर रक्षा किये जानेवाली बात तो महापुरुषोंके कार्यकी प्रशंसाके रूपमें कही गई है. सच बात तो यह है कि राजाओंका तो वंश मात्र ही है. जहां ब्राह्मणगण चरण धोकर अन्दर प्रवेश करते हैं तो शुद्धता व अशुद्धताके मध्यमें उनके वे धुले हुए चरण वेदिकारूप स्थानवाले हो जाते हैं. यहां उन ऋषिओंके चरणोंकी पवित्रतावाली स्थिति बताई गई है. उन पवित्र चरणोंसे राजाओंके कुल दूर ही रहते हैं. वे उन चरणोंके समीप तक जानेमें भी अयोग्य रहते हैं. उन चरणोंका (प्रक्षालन जलके माध्यमसे) उन राजाओंके हृदयमें चला जाना तो बहुत

दूरकी बात है, यह अर्थ हुआ. राजाको अपने इस सौभाग्य पर हर्ष हो रहा है, अतः हर्षको बतानेवाले 'बत' अव्ययका प्रयोग हुआ है. क्योंकि इस समय उन स्थितिओंसे विपरीत ही बात हो गई अर्थात् राजाओंके कुल ब्राह्मणके चरणोंसे दूर रहते हैं, और यहां ब्राह्मणोंके चरण स्वतः कृपा करने पधारे हैं. वे ब्राह्मणोंके चरण राजाओंकी हीन दशाओंके कारण ही उन्हें प्राप्त नहीं होते, क्योंकि उनके कर्म बहुत ही निम्न कोटिके और दूसरोंकी हिंसासे भरे हुए होते हैं।।१३।।

इस प्रकार उन ऋषिओंकी कृपाका निरूपण करके अब भगवानकी कृपाको बताते हैं:

तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम् ।
निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो यत्र प्रसक्तो भयम् आशु धत्ते।।१४।।

ऐसे मुझ पापीकेलिए, जो घरमें आसक्त हो रहा था, ब्राह्मणका यह शाप वैराग्यका कारण बना. इस शापसे तो पर और अवर के ईश्वर भगवान् ही प्राप्त हो गए. क्योंकि जहां आसक्ति है, वहां भय शीघ्रतासे धारण होता है ।।१४।।

राजाओंके कुलमें कभी ऐसा दुष्कर्म नहीं होना चाहिए था. मैं तो ऐसा ही दुष्कर्म करनेवाला निकला. वह गर्हित कर्म मुझसे ही हुआ. यों कहिए कि मैं केवल पापरूप ही हुआ. पहले तो फिर भी मैं क्षत्रियपनेमें स्थित था, और अब तो कुलका अहंकाररूप होनेसे मूर्तिमान पाप ही बन हूं. भगवान् ही वैसा बन जानेमें कारणरूप हुए हैं, क्योंकि वे पर और अवर के ईश हैं. यदि ऐसा नहीं होता तो वे भगवान् केवल परके ही ईश रहते परन्तु वे तो 'अवर' अर्थात् हमारे जैसोंके भी उद्धारक हैं. शाप भगवद्रूप कैसे हो गया? उस प्रसंगमें कहते हैं कि वे वैराग्यके मूल हैं. भगवान्के षड्गुणोंमें अन्तिम वैराग्यगुण भी है. उस गुणका मूल कोई ओर हो नहीं सकता अतः अनन्तरूप होनेसे द्विजशाप भी भगवानका एक रूप ही है. तो फिर शास्त्रोंके द्वारा भगवान् वैराग्यके कारणरूप क्यों नहीं हुए और फिर पाप तो वैसे भी भगवत्कृपा होनेमें उपयोगी नहीं है. इसलिए कहा है कि घरमें जिनका चित्त आसक्त है, उसका उद्धार कैसे हो? 'गृहेषु'में बहुवचन है, जिससे घरमें तथा पुत्र आदिमें विशेष आसक्तिको बताया है. स्वयंको भी साधनरूपसे उन घर-पुत्रोंमे जुड जाना होता है जिससे भगवत्कथा सुननेमें भी समयका अभाव रहता है. ऐसे आसक्त पुरुषोंको ''भगवान्के तात्त्विक रूपको

समझनेमें प्रत्यक्षतः सामर्थ्य हीनता होती है'' इस न्यायसे आसक्त पुरुष भगवानको कैसे जान सकते हैं? अतः पापिओंका उद्धार करनेमें शास्त्रोंकी भी सामर्थ्य नहीं है. भगवान् जब 'पर' और 'अवर'के उद्धारक हैं तो घरमें स्थित हुएका उद्धार क्यों नहीं कर देते, क्योंकि भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं! वहां कहते हैं कि जो घरमें अत्यधिक आसक्त हैं, भगवान् उनके हृदयमें शीघ्र ही भयकी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं, न कि भयसे मुक्त करते हैं. अतः यहां शाप, भयकी निवृत्तिकेलिये भगवत्रूप हुआ, यह अर्थ हुआ।।१४।।

इस तरह महान् पुरुष मुनियों और भगवान् द्वारा किये गये उपकारोंका वर्णन करके अब राजाके स्वयंके कर्तव्यको बताते हैं:

तं मोपयान्तं प्रतियन्तु विप्रा गङ्गा च देवी धृतचित्तम् ईशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ।।१५।।

देवी गंगा और विप्रगण मुझे अपनी शरणमें आया हुआ समझें. चित्तको ईश्वरमें धारण कराए हुए मुझे ब्राह्मणका भेजा हुआ ठगरूप तक्षक भले ही यथेच्छा रूपसे डस ले; आप लोग मुझे भगवान् विष्णुकी गाथाएं सुनाइए।।१५।।

इस प्रकार उपकार किये गये मुझे आपकी शरणमें आया हुआ जानिए. विशेषरूपसे पूर्ण बनानेवाले होनेके कारण यहां 'हे विप्राः' यह सम्बोधन है. अर्थात् आप मुझे भी पूर्णता प्रदान कीजिएगा, यह भाव हुआ. देवतारूपी गंगाजी मुझे शरणमें आया हुआ जानें. गंगाका जल प्राकृतिक रूपसे और लोक प्रसिद्धिके रूपमें जड पदार्थ होनेसे शरणमें जानेवाली स्थितिका अनौचित्य बताया है, अतः गंगाकेलिये 'देवी' शब्दका प्रयोग आधिदैविक दृष्टिसे कहा है. भक्त और भगवान्के चरणजलकी शरण लेना, भगवान्के मार्गमें बाधा नहीं बनती. कहीं यह प्रार्थना स्वयंको शापसे छुडानेकेलिये तो नहीं की जा रही? कहते हैं कि नहीं, ऐसी बात नहीं है. राजा परीक्षितका कथन है कि मैंने चित्तको ईश्वरमें धर दिया है. चित्त भगवानमें पिरो दिया है. ब्राह्मण बालकके द्वारा भेजा बनावटी तक्षक रूपवाला अथवा कृत्रिम वेश धारण किये हुए कोई 'तक्षक' नामवाला वञ्चक (ठग) अथवा सचमुच ही तक्षक सर्प मुझे सम्पूर्ण रूपसे ही डस ले, तो भी मुझे अब परवाह नहीं. यहां 'वा' अव्यय अनादरके अर्थमें है. मुझे इस तक्षक सर्पके दंश कर लेने पर भी कोई हानि नहीं है. जब तुम्हें कोई हानि नहीं है तो हम ऋषिओंका यहां उपयोग ही क्या है? वहां कहते हैं कि आप विष्णुकी गाथा

गाइये. इससे यह सिद्ध किया है कि अब राजाका चित्त बाहरकी ओर नहीं है. ''पाक्षिक दोष भी शंका करने योग्य है'' अतः चित्तकी चंचलताको दृष्टिमें रखकर यह प्रार्थना की गई है।।१५।।

इस प्रकार इस लोककी प्रार्थना करनेके बाद, अब परलोक सम्बन्धी प्रार्थना करते हैं:

पुनश्च भूयाद् भगवत्यनन्ते रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु ।
महत्सु यां याम् उपयामि सृष्टिं मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः।।१६।।

मैं परीक्षित्, आप ब्राह्मणोंसे पुनः नमस्कार करता हुआ निवेदन करता हू कि जिस-जिस सृष्टिमें मेरा जन्म हो, वहां ही भगवान् अनन्तमें मेरी रति (भक्ति) हो और उन भगवानमें दृढ आश्रयवाले महापुरुषोंके साथ मेरा प्रसंग (मिलन, सत्संग) हो. प्राणीमात्रसे मेरी मित्रता हो. मैं आप सभी द्विजोंको फिरसे नमस्कार करता हूं।।१६।।

मुक्तिकी सम्भावना न होनेसे उसकी अपेक्षा भी नहीं है, क्योकि मैंने ब्राह्मण व भक्त का अपराध किया है. मैं भगवदीय हूं, अतः मुक्तिकी इच्छा भी मुझे नहीं है. क्योंकि राज्यरस और भक्तिरस, इन दोनोंमें बहुत ही अन्तर है. भक्तिमें बन्धन हो तो भी भगवान्के समान विरुद्धधर्माश्रयपना तो है. भक्ति बन्धन करनेवाली नहीं है, अतः मेरी तो भगवानमें ही प्रीति होवे. मुझे राज्य आदिकी इच्छा नहीं है. जन्म तो होना ही होना है, उसमें देह, जाति, गुण और क्रिया में किसी प्रकारका रस नहीं है; अतः जिस-जिस जन्ममें जाऊं, वहां-वहां भगवानमें मेरी प्रीति होवे. सभीमें भगवानका रूप होनेसे भगवद्रूप पुत्र आदिमें प्रीति तो स्वतः सिद्ध है, अतः उसकी प्रार्थना किसलिए करनी? ऐसी शंका करके कहते हैं कि मेरी प्रीति अनन्त भगवानमें होवे. जिन भगवानका देश, काल और वस्तु से विभाग नहीं हो सकता, ऐसे भगवानमें मेरी प्रीति होवे. पुत्र आदिमें उनकी व्यपकता नहीं है. भगवानमें प्रीति होनेके कारणकी भी प्रार्थना करते हैं कि उन प्रभुका ही प्रसंग मुझे होता रहे. यदि वैसा न हो तो एक बार रतिको उत्पन्न करके उस कार्यकेलिये काममें लाया साधन नष्ट हो जावे. उस रतिकी आवश्यकता होनेसे सदैव वैसी ही प्रीति होवे, ऐसी प्रार्थना की जावे तो वह उस रूपमें पूरी नहीं हो सकती. क्योंकि रति मनका धर्म है, अतः वैसी ही स्फूर्ति सदैव बनी रहे तब तो देहादिका निर्वाह भी नहीं हो सकता. सदैव भगवानमें रति होवे, यह बात किसी

प्रकारके साधनसे सिद्ध नहीं होती. रति होनेका वरदान मिले तभी रतिका भाव सिद्ध हो सकता है. युक्तिकी बाधा होनेसे रतिका पर्यवसान भगवानमें ही है. भक्तोंको भगवानमें रति होनेके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिए. ऐसी रतिका होना देहादि धर्मके साथ रहने पर सम्भव नहीं. अतः ऐसी रति जो इच्छासे उत्पन्न होती है, स्थायी या नित्य नहीं होती. यह रति केवल स्नेहभावसे ही उत्पन्न होती है. क्योंकि स्नेह अन्तःकरणका धर्म है. अतः केवल विशेष प्रकारकी इच्छा हो जानेका नाम रति नहीं है. इस विशेष रतिकी व्याख्या नहीं की जा सकती. सुखसे सम्बन्ध रखनेवाली इच्छाको रति नहीं कहा जा सकता. स्वर्गकी कामनाके रहने पर उसे रतिकी संज्ञा नहीं दी जा सकती. पुत्र आदिमें उस रतिके प्रसंगके होनेके अभावमें भी उसका अस्तित्व नहीं रह जाता. अतः रतिका दूसरा अर्थ स्नेह है. वह स्नेह एक अनूठा ही पदार्थ है. वह स्नेह तो भगवानमें ही होना चाहिए. भगवान्के विषयवाला जो स्नेह होता है, वह ज्ञान अथवा ऐश्वर्यके समान भगवान्के पास ले जानेवाला होता है. यह सम्बन्ध अन्यत्र भी आभासित होता है, जैसे कि गर्मीका स्पर्श. जैसे-जैसे भगवान्से निकटता बढती जाती है वैसे-वैसे ही स्नेहकी बढोतरी अत्यधिक रूपमें होती जाती है. शरीर सम्बन्धी आत्मामें भगवान्के साथ बहुत ही निकटका सम्बन्ध होनेसे परम स्नेह उत्पन्न होता है. इस अध्यायसे अन्य स्थान पर जो स्नेह है, उसका व्याससूत्रके दूसरे अध्यायमें ''वाक्यान्वयात्''वाले सूत्रके भाष्यमें, जहां याज्ञवल्क्यने मैत्रेयजीको उपदेश दिया है; वहां इसका पूरी तरहसे विवेचन किया है. तात्पर्य यह है कि भगवानकी समीपतासे ही परम स्नेह उत्पन्न होता है, वह स्नेह अपने आप उत्पन्न होना असम्भव है. भगवान्के भक्तों द्वारा ही उसे प्राप्त किया जा सकता है. अतएव भगवान्के भक्तोंका ही प्रसंग पूरी तरहसे होवे. अतः यहां 'प्रसंग' शब्द कहा है. भगवानका आश्रय अति समीपताको बतानेवाला है. केवल आश्रित हो जानेसे ही दूसरोंसे भगवानकी समीपताको प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं है. इसलिए महान् पुरुषोंके साथ प्रसंग होनेकी बातको कहा है. मूलमें 'च'कार होनेसे भक्तोंमें भी रतिका होना बताया है. इस प्रकारसे साधन सहित भगवानमें रति होनेकी प्रार्थना की है. अब उस रतिमें बाधा न पडे, वैसी प्रार्थना की जा रही है कि सर्वत्र सभीमें मेरा मैत्री भाव होवे. जैसा कि भगवानने इस वाक्यमें कहा है कि ''मैं ऊंचे और नीचे सभी पदार्थोंमें रहता हूं'' अतः प्राणिओंका अपमान करनेवालोंसे भगवान् प्रसन्न नहीं होते. ''भक्तिसे ही भगवान्

प्रसन्न होते हैं'' इस वाक्यसे प्राणिओंका अपमान करने पर फलप्राप्तिमें भी बाधा उपस्थित हो जाती है तथा स्वरूपप्राप्तिमें भी बाधा उपस्थित हो जाती है. जब तक भगवान् प्रसन्न नहीं होते, तब तक भक्ति उत्पन्न नहीं होती. अतः सबके साथ मैत्रीकी प्रार्थना की गई है. क्योंकि मित्रता होने पर किसीका अपमान नहीं होता. समान भावमें तो फिर भी किसीका अपमान हो जाना सम्भव है, अतः सबसे मित्रता होवे ऐसा कहा है. परीक्षितने तो ब्राह्मणका अपमान किया था, फिर उन्हें वरदान क्यों दिया जाना चाहिए था? उस प्रसंगमें कहते हैं कि ब्राह्मणोंको नमस्कार करता हूं. महान् पुरुषोंको नमस्कार करनेमें अपराधोंका नाश करवाना ही कारण है. इस प्रकार अपराधोंको नष्ट करवाकर, निर्विघ्नतापूर्वक साधन सहित भगवानमें रति होनेकी प्रार्थना की गई है ।।१६।।

उस प्रसंगमें ब्राह्मणोंकी सम्मति हो तदनुसार ब्राह्मणोंके मुखकी चेष्टाको देखकर, ''ऐसा ही होगा'' ऐसा निश्चय करके, राजा परीक्षित् निश्चिन्त हो गये, यह कहा जा रहा है:

सूत उवाच

इति स्म राजाध्यवसाययुक्तः प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः ।
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः।।१७।।

ऐसे निश्चयवाले, जिन्होंने अपने पुत्रको राज्यका भार सोंप दिया है, ऐसे वीर राजा परीक्षित् गंगाजीके दक्षिणी किनारे पर, पूर्व दिशाकी ओर निकले हुए अग्र भागवाले कुशोंके आसन पर, उत्तर दिशाकी ओर मुख किये हुए विराज गए।।१७।।

यहां प्रसिद्धिके अर्थमें 'स्म'का प्रयोग हुआ है. सबके द्वारा मेरा विचार जान लिया है, ऐसा निश्चय करके राजा स्थित हो गये. अध्यवसाय अर्थात् उनका यह विचार निश्चयपनेको धारण किये हुए हैं. भूमि पर सभी ओर राक्षसोंका फैलाव हो जानेसे अन्तमें उनका आवेश न हो जाय अतः वे कुशासन पर बैठ गये. उत्तम भक्तिके अधिकारी देवता हैं, अतः पितृपनेकी निवृत्तिकेलिये और देवभावकी सिद्धिकेलिये पूर्वमें अग्र भागवाले दर्भके आसन पर विराज गये. जिनकेलिये कहा है कि उन दर्भोंके जडवाले भाग पश्चिम दिशाकी ओर हैं. राजाको तक्षक आदिका भय नहीं है, अतः उन्हें 'धीर' कहा है. वे उत्तरकी ओर मुख किये हुए गंगाजीके सम्मुख बैठे हुए हैं. उनका वह बैठनेका स्थान गंगाके

दक्षिणी किनारे पर अन्तर्वेदिमें स्थित है अर्थात् गंगाके बीचमें उभरे हुए भू–स्थल पर राजा परीक्षित् विराजमान हैं. यहां सभी वाक्योंमें पहलेकी तरह ही 'लट्' लकारका प्रयोग हुआ है. यहां गंगाको समुद्रकी पत्नी कहा है. समुद्र पत्नी कहनेका अभिप्राय है कि राजाकी एक मात्र निष्ठा भगवानमें ही है, अब इस समय गंगाजी भगवानका चरणजल हैं, ऐसी दृष्टि नहीं रह गई है. अतएव भगवानकी प्राप्तिकेलिये लक्ष्मीके पतिमें एकनिष्ठ हो गये हैं. भगवान् समुद्रमें पौढते हैं, अतः समुद्रकी स्त्रीके दक्षिणी तट पर बैठनेसे वे भगवानको अपने पास ले आती हैं अथवा भगवान्के समीप ले जाती हैं. अथवा भगवान् समुद्रकी पुत्री लक्ष्मीजीके पति हैं, इस तरह वे समुद्रके जामाता (दामाद–जंवाई) लगते हैं, इसलिए विनती करती हैं. इस तरह परीक्षित् भगवानमें लालसा(प्रबल इच्छा) युक्त हो गये हैं. यह बतानेकेलिये समुद्रकी पत्नी गंगाके दक्षिणी किनारे पर राजाका बैठा जाना कहा है. अब अपने राज्यकी चिन्ताके त्यागकेलिये कहा जा रहा है कि राजाने राज्यका भार अपने पुत्र जनमेजयको सौंप दिया है अर्थात् उन्हें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं है।।१७।।

राजा परीक्षित् राज्यकी चिन्ता छोडकर, जब गंगाजीके तट पर विराजे तब देवताओंने उनका अनुमोदन किया, उसे कहते हैंः

एवं तु तस्मिन् नरदेवदेवे प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः।
प्रशस्य भूमौ व्यकिरन् प्रसूनैर्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः।।१८।।

इस प्रकार परीक्षित् प्रायोपवेशन करके बैठे, तब आकाशमें देवताओंके झुण्ड राजाका बखान करते हुए आनन्दमें पृथ्वी पर पुष्प वृष्टि करने लगे और बार–बार दुन्दुभियां बजने लगीं।।१८।।

मूलमें 'तु' शब्दके द्वारा उनके सन्देहका निवारण किया है. राजाको नरदेवोंका भी देव कहा है. जिससे वे इन्द्रके बराबर हैं, यह बताया है. इसी मार्गसे परीक्षित् वैकुण्ठमें जायेंगे. इसीलिए महाराजके आनेके निमित्त उन्होंने वाद्य बजाये हैं. वह इसलिए कि परीक्षित् स्वर्गके रास्तेसे वैकुण्ठमें जायेंगे, अतः वे स्वर्गमें आवें तब बाजे बजाये जाने चाहिए ऐसा विचारकर देवताओंने दुन्दुभिओंका नाद किया. उसे कहते हैं कि स्वर्गमें ही देवताओंने प्रशंसा की है कि ''राजाने ठीक किया'' ऐसा कहते हुए पृथ्वी पर पुष्पोंकी वृष्टि की है. देवताओंके द्वारा अनुमोदन किये जानेसे कार्यकी सिद्धिका निश्चय हो गया. परीक्षितकी उत्तम गति

होनेमें, यह शुभ शकुन हुआ ऐसा समझाया है. हर्षसे देवताओंके दुन्दुभि नामके वाद्य बजने लगे अर्थात् हर्षमें भरकर देवताओंने दुन्दुभियां बजाई. मूलमें 'च'कार होनेसे अन्य बाजे भी बजाये जाने लगे, यह बताया है. तात्पर्य यह है कि स्वर्गमें उत्सव हुआ. इससे यह सन्देह दूर हो कि शापके कारण राजा परीक्षितकी कोई अन्य गति होनेवाली नहीं है अर्थात् वे उत्तम गतिको ही प्राप्त होंगे।।१८।।

वहां पधारे हुए महर्षियोंके कृत्यका निरूपण करते हैं:

महर्षयस्तं समुपागता ये प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः ।
ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपम्।।१९।।

जो महर्षि वहां पधारे हुए हैं, उन्होंने परीक्षितकी प्रशंसा की और 'साधु-साधु' शब्दसे राजाके कार्यका अनुमोदन करते हुए, उत्तमश्लोक भगवान्के गुणोंका गान करने लगे, जो स्वाभाविक ही उन ऋषियोंकेलिये प्रजा पर अनुग्रह करने रूप सार वस्तु है।।१९।।

वहां पर महर्षिगण उत्तम रीतिसे पधारे हैं, ऐसा मूलमें कहा है. जिसका अभिप्राय यह है कि राजाका निर्वाण होने तक पूरी तरह उनकी भलाईमें लगे रहना. वे ऋषि भी राजाकी प्रशंसा करने लगे, जिससे जिस कार्यकी प्रशंसा ब्राह्मणोंने की हो वह कार्य अंगहीन हो तो भी अंगवाला हो जाता है, ऐसा सूचित किया है. परीक्षितने ठीक किया है, यों उसका अनुमोदन करने लगे. राजाने प्रायोपवेश अपनी इच्छासे किया है, ऐसे दोषका निवारण उनके कार्यके औचित्यका अनुमोदन द्वारा किया है. महर्षियोंके अनुमोदनमें कारण बताते हैं कि राजा लोग इन महर्षियोंकी प्रजा हैं, अतः उन पर कृपा करना ऋषिओंका स्वभाव है. वह स्वभाव ऋषिओंका सार है. यदि ऋषि, अपनी प्रजारूप राजा पर अनुग्रह न करें तो वे सार रहित हो जावें, ऐसा सूचित किया. जिस प्रकार राजा अपनी प्रजा पर अनुग्रह न करनेसे सारहीन हो जाता है वैसे ही राजागण ऋषिओंकी प्रजारूप हैं और उन पर ऋषि अनुग्रह न करें, तो वे ऋषि निःसार हो जावें. जिस पर भी परीक्षित् परम भक्त हैं, उन पर तो अनुग्रह करना ही चाहिए, इस अभिप्रायसे कहते हैं कि उत्तमश्लोक भगवान्के गुणोंमें जो श्रवण करने योग्य है, उन्हें कहने लगे. अथवा परीक्षित् भगवान्के गुणोंमें समान हैं, अतः भगवान्के गुणोंको सुननेकेलिये जिस प्रकार रहना चाहिए वैसे ही परीक्षितकी अन्तिम गति देखनेकेलिये भी रहना ही चाहिए. भगवान्के गुणोंको सुननेमें ये परीक्षित् मुख्य

अधिकारी हैं, अतः श्रेष्ठ श्रोता होनेसे उनकी प्रशंसा की जानी चाहिए।।१९।।

ऋषि अब परीक्षितकी प्रशंसा करते हैं:

न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु ।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः।।२०।।

हे राजर्षि वर्य, कृष्णका अनुसरण करनेवाले आपकेलिए यह कोई विचित्र बात नहीं है. भगवान्के पास जानेकी कामनावाले आपने राजमुकुटसे पुष्ट सिंहासनको शीघ्र ही छोड दिया है।।२०।।

हे राजर्षिओंमें उत्तम परीक्षित, सबका परित्याग करके आप भगवानमें परायण हो गये, यह आपकेलिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि आप श्रीकृष्णके ही आचरणोंका अनुसरण करनेवाले हैं. 'राजर्षिवर्य'के सम्बोधनसे मर्यादाकी उत्तम सीमा सूचित की है. श्रीकृष्णका जिन्होंने अनुव्रत किया है, अर्थात् जैसे भगवान् सब कार्यको करनेके बाद पधारे, वैसे ही भगवान्के भक्तको भी करना चाहिए. इस प्रसंगमें दृष्टान्त देते हैं कि आपके पितामह पाण्डवोंने भी भगवान्के पास जानेकेलिये तुरन्त राज्यासन छोड दिया था और वह राज्यासन भी साधारण नहीं था प्रत्युत् अनेक राजाओंके मुकुटोंसे सेवा किया चक्रवर्ती राज्य था. अर्थात् जिस राज्यमें उनसे युद्ध करनेवाला कोई शेष नहीं रह था, ऐसे राज्यासनको आपके पितामहने छोड दिया था वैसे ही आपको भी भगवान्के पास जाना चाहिए।।२०।।

इस प्रकार परीक्षितकी स्तुति करके, जैसे उनसे अनुसरण करनेकेलिए ही कह रहे हों, इस गूढ अभिप्रायसे कहते हैं:

सर्वे वयं तावदिहास्महेऽथ कलेवरं यावद् असौ विहाय ।
लोकं करं विरजस्कं विशोकं यास्यत्ययं भागवतप्रधानः।।२१।।

भगवान्के भक्तोंमें प्रधान राजा परीक्षित् जब तक शोक व रजोगुण रहित उत्तम लोकमें पधारें, तब तक हम सभी ऋषिओंको यहां ही रहना चाहिए ।।२१।।

अपनने जो कहा है, उसे निभाकर ही जाना चाहिए, तब तक हमें यहीं रहना चाहिए. उसे कहते हैं कि जब तक यह राजा भगवान्के लोकमें जावें तब तक हम सभी यहीं रहेंगे. यह राजा क्या करता हुआ और कहां जायेगा? ऐसा जाननेकी इच्छा होने पर कहते हैं कि सात दिनके बाद शरीरका त्याग करके

अर्थात् पंचमहाभूतके समूहका त्याग करके परलोक याने व्यापि वैकुण्ठमें जायेगा. जहां रजोगुणका सम्बन्ध ही नहीं है, वह स्थान शुद्ध सत्त्वात्मक है. वह स्थान प्रकृतिसे पर है. जहां शोक नहीं है, तमोगुण नहीं है अथवा यों कहें कि वह स्थान समस्त दोषोंसे रहित है. ऐसे स्थल पर यह सावधान हुआ राजा जायेगा. उसमें कारण बताते हैं कि यह राजा भगवान्के भक्तोंमें मुख्य हैं अथवा जिनकेलिये भगवान्के भक्त ही मुख्य हैं, अतः जब तक ये व्यापि वैकुण्ठ पधारे तब तक हम लोग यहीं रहेंगे।।२१।।

इस प्रकार ऋषिओंके अनुग्रहको सुनकर और यह जानकर कि ये बहुत समय तक यहां रहेंगे तब तक मुझे समस्त सन्देहोंका निवारण कर लेना चाहिए, उस प्रसंगमें पूछनेकेलिए जो कुछ परीक्षितने किया, उसे कहा जा रहा है:

आश्रुत्य तेषां वचनं परीक्षित् समं मधुच्युद्गुरु चाव्यलीकम् ।
अभाषतैतान् अभिवन्द्य युक्तं शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः।।२२।।

पूरी तरहसे जिन ऋषिओंके मुखसे मधु झरता है, ऐसे सारयुक्त और कपट रहित ऋषिओंके समुहका वचन सुनकर, भगवान् विष्णुके चरित्रोंको सुननेकी इच्छा रखनेवाले परीक्षित् उनकी वन्दना करते हुए इस प्रकार कहने लगे।।२२।।

राजाका नाम परीक्षित् है. जब वे गर्भमें थे तब उन्हें भगवान्के दर्शन हुए थे. उस स्वरूपका ध्यान रखते हुए पुरुषोंकी परीक्षा करनेवाले होनेसे उनका नाम परीक्षित् हुआ. जिससे उन ऋषिओंके वचन सत्य हैं ऐसा निर्धार किया है. चार पुरुषार्थके कारणरूप चार गुण ऋषिओंके वचनोंमें हैं. उन्हें कहते हैं कि स्वयंकी और राजाकी समानता पूर्वक हितका चिन्तन करनेरूपी समता उन वचनोंमें है. इसी प्रकार ''निर्दोषं हि समं ब्रह्म'' अर्थात् ब्रह्मका स्वरूप दोष रहित और समान है ऐसा गीताजीमें कहा हुआ होनेसे ऋषिओंके वचनमें ज्ञान रूपवाला भान कहा है. वे वचन मधुकी वर्षा करनेवाले हैं. ऐसा कहनेसे उन वचनोंकी मधुरता बताई गई है. जिससे ''यह राजा सब प्रकारसे भगवान्के पास ही जायेगा'' ऐसा कथन बहुत ही मीठा है. इससे उनकी इच्छाके प्रमाणसे रूप प्राप्त करनेवाली स्थितिको बताया है. वे वचन गौरवपूर्ण हैं, उस अर्थमें गुरुता (बडापन) भरी हुई है. यह राजा भगवान्के पास जायेगा, तब तक हमें यहां रहना है, इसमें तब तक सभीका हित करेंगे, ऐसा कहा है. उस अर्थकी समानता बताई जा रही है. मूलमें 'च'कार होनेसे

प्रशंसा की गई है. अतः वे वचन कपट रहित हैं. इसलिए भगवान्के पास जानेकी कामनावाले राजाने राज्य सिंहासनका त्याग किया. ऐसा कहकर उन वचनोंको धर्मरूप कहा है. ऐसे सब पुरुषार्थ युक्त ऋषिओंके वचनोंको सुनकर राजाने उन ऋषिओंकी वन्दना की और विष्णुके चरित्रोंको सुननेकी इच्छावाले उस राजाने कहने योग्य वचनोंको कहा।।२२।।

अब परीक्षितके उन वचनोंको कहा जा रहा है:

राजोवाच

समागताः सर्वत एव सर्वे वेदा यथा मूर्त्तिधरास्त्रिपृष्ठे ।
नेहाथ वामुत्र च कश्चनार्थः ऋते परानुग्रहम् आत्मशीलम्।।२३।।

राजाने कहा कि जिस प्रकार सत्य लोकमें मूर्तिको धारण करनेवाले वेद हैं, उसी प्रकार सब स्थलसे आप ऋषिगण पधारे हैं. आप साक्षात् मूर्तिमान वेदोंके समान हो. दूसरों पर कृपा करना आपका स्वभाव है और आप लोगोंका यहां पधारनेका प्रयोजन भी यही है. इसके अतिरिक्त इस लोक और परलोकमें आपका कोई दूसरा स्वार्थ नहीं है।।२३।।

यहां यदि ऋषिओंकी क्षमतामें सन्देह हो जाय तो परीक्षितको किसी अन्य स्थान पर जाना पडे, ऐसी स्थितिका निवारण किया है. हे ऋषिओं! आप सब स्थलसे पधारे हुए हो. आपकी प्रामाणिकता तो स्वतः सिद्ध है. उसे कहते हैं कि सत्यलोकमें जिस प्रकार वेद आधिदैविक स्वरूपसे स्थित रहनेवाले हैं, वैसे ही आप हैं. आपके वाक्यमें, आपका कोई भी स्वार्थ छिपा हुआ नहीं है. उसे कहते हैं कि इस लोकमें तथा परलोकमें दूसरों पर अनुग्रह करनेके अतिरिक्त आपका कोई प्रयोजन नहीं है. अन्यों पर अनुग्रह करनेमें आपका कोई उद्देश्य नहीं, यह तो आपका एक स्वभाव ही है।।२३।।

''इसलिए मैं आपसे कुछ पूछता हूं'' उसे पूछते हैं:

ततश्च वः पृच्छ्यम् इमं विपृच्छे विश्रम्य विप्रा इतिकृत्यतायाम् ।
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं शुद्धञ्च तत्रामृशताभियुक्ताः।।२४।।

हे विप्रो! ''इस तरह करना चाहिए'', उस निमित्तसे आप पर विश्वास रखते हुए मुझे जो पूछना है, उसे पूछता हूं. वह यह कि सदैव करने योग्य शुद्ध कर्तव्य क्या है? और मरनेकी तैयारीमें किये जानेवाला शुद्ध कर्तव्य क्या हैं? इस

विचारसे आप सम्पूर्णतया जुडे हुए हो, अतः इस पर विचार कीजिएगा।।२४।।

''कोई भी पूछे बिना कुछ भी नहीं कहता'' ऐसा श्रुतिओंमें कहा है, इसलिए पूछने योग्य विषयको मैं आपसे पूछता हूं. मेरी बुद्धि जिस प्रकारसे मुझे प्रेरित कर रही है, उसे मैं विशेषरूपसे पूछता हूं. किसी भी बातकी युक्तिका विचार किये बिना ही मात्र आप पर विचार करते हुए ही पूछता हूं. कारण यह है कि आप विप्र हो, अतः विशेषरूपसे पूर्ण बनानेवाले हो, अतः मुझे भी आप पूर्ण करेंगे. यह मेरा कर्तव्य है, इसलिए पूछता हूं. कर्तव्यका निर्धार और उसके साधनके प्रकारका निर्धार आपको मुझसे कहना चाहिए. कालके विषयमें कर्तव्य पूछते हैं कि सब प्रकारसे नित्यपनेके भावसे जीवित रहनेवालेको क्या करना चाहिए और अन्तकालके समय मरनेकी तैयारी करनेवालेको क्या करना चाहिए? दान आदि करनेके प्रसंगमें जो कर्तव्य कहे गये हैं, वे तो करनेवालेकी शुद्धिके अन्तर्गत हैं, फिर भी अन्तकालमें कर्ताकी शुद्धि न होनेसे कर्तव्यपनेमें सन्देह रहता है. इसलिए शुद्धिकेलिये काल आदिकी जिसमें चिन्ता न करना पडे, ऐसा कर्तव्य आप द्वारा मुझसे कहा जाना चाहिए, यह राजाके कहनेका अभिप्राय है. आपको यह नहीं कहना चाहिए कि उसका कोई भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि आप तो सब ओरसे जुडे हुए हो, अतः आप इस अर्थमें सब प्रकारके प्रमाणका विचार कीजिए।।२४।।

इस प्रकार राजा द्वारा पूछा गया. सब कुछ परित्याग करनेवालेका गुरु भी त्यागी ही होना चाहिए. जो त्यागी नहीं है, वह त्याग करनेवालेका गुरु नहीं होता. इस समय वहां भगवत् प्रेरणासे सबका परित्याग करनेवाले श्रीशुकदेवजी महाराज पधारे. अब इसे कहा जा रहा है:

तत्राऽभवद् भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गाम् अटमानोऽनपेक्षः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतश्च बालैरवधूतवेषः।।२५।।

उस समय पृथ्वी पर घूमते हुए किसीकी चाहना न रखनेवाले, जिनके चिह्न प्रकट रूपमें दिखाई नहीं दे रहे और जो अपने लाभसे ही संतोष माननेवाले हैं, स्त्रियों तथा बालकोंसे घिरे हुए और अवधूत वेषवाले भगवान् व्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजी संयोगसे वहां आ निकले।।२५।।

शुकदेवजी वहां प्रकट हुए हैं. इस प्रकार प्रकट होनेकी उनमें सामर्थ्य है, इसलिए उन्हें भगवान् कहा है. वे भगवान् व्यासजीके पुत्र होनेसे भी भगवान् हैं. उन ऋषिओंकी दृष्टिमें उस प्रकारका भान न हो जावे, इसलिए उन्हें दूसरी रीतिने

बताया जा रहा है. शुकदेवजी पृथ्वी पर घूमते रहते थे. पृथ्वी पर घूमते रहना परमहंसोंका धर्म है. उनमें दूसरी किसी भी प्रकारकी इच्छा नहीं थी. वे किसी प्रकारकी अपेक्षा नहीं रखते थे. वे राजाके समान क्रीडापूर्वक घूमते रहते थे. उन शुकदेवजीके महापुरुषोंवाले चिह्न किसीसे पहचाने जा सकनेवाले नहीं थे. उनमें बत्तीस लक्षण थे, यदि वे जाननेमें आ जावें तो लोग उन्हें राजा मान सकते थे. राजाके सोलह लक्षण होते हैं और राजाधिराजके बत्तीस लक्षण होते हैं. जिनमें बत्तीस लक्षण होते हैं वे भगवान् होते हैं अथवा ब्रह्मके स्वरूपको जाननेवाले होते हैं. उन लक्षणोंके फलको कहते हैं. उन्हें आत्माका लाभ हुआ है अतः उन्हें अत्यधिक सन्तोष प्राप्त है. ये दोनों फल शुकदेवजीको हुए हैं. आत्माके लाभसे वे सन्तोषवाले हैं. आत्मलाभ और सन्तोष, ये दोनों एक दूसरेके कारणरूप हैं, अतः ''आत्मलाभसे बढकर दूसरा कोई नहीं'' इसमें श्रुतिका विरोध नहीं हैं. उनका यह पृथ्वी-भ्रमण तो क्रीडा रूप है, यह बताया. उनके लक्षणोंका ज्ञान न होनेमें कारण बताते हैं कि वे बालकोंसे घिरे हुए हैं. मूलमें 'च'कार होनेसे शुकदेवजी स्त्रिओं और अज्ञानिओं द्वारा भी घिरे हुए हैं, यह बताया. लक्षणोंकी पहचान न हो जावे अथवा परोक्ष न हो जाय, इसलिए उन्होंने अवधूतका वेष धारण किया है. शरीरके संस्कारसे रहित जडको अवधूत कहते हैं. शुकदेवजीका शरीरके बाह्य केश नख आदि बनाना, वस्त्रादि धारण करना आदि संस्कार नहीं है, परन्तु उनमें जडत्वका अंश नहीं है. उसे बतानेकेलिये कहा है कि उन्होंने अवधूतका वेष बना रखा है. अर्थात् वे स्वयं वास्तविक रीतिसे अवधूत नहीं हैं, प्रत्युत् वह वेष बनाया हुआ है।।२५।।

उन शुकदेवजीके बत्तीस लक्षणोंको बताया जा रहा हैः

तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद-करोरुबाह्वंसकपोलगात्रम् ।
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्णं सुभ्र्याननं कम्बुसुजातकण्ठम् ।।२६।।
निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षसम् आवर्त्तनाभिं वलिवल्गूदरञ्च ।
दिगम्बरं वक्रविकीर्णकेशं प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम् ।।२७।।
श्यामं सदापीच्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन ।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यः तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम् ।।२८।।
स विष्णुरातोऽतिथय आगताय तस्मै सपर्यां शिरसा जहार ।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका महासने सोपविवेश पूजितः।।२९।।

शुकदेवजी सोलह वर्षके हैं. उनके चरण, हाथ, जंघाएं, भुजाएं, कपोल तथा सारा शरीर सुकुमार है. शुक मुनिके नेत्र सुन्दर और आयताकार हैं तथा ऊंची उठी हुई नासिका, समान कान, सुन्दर भोंहें व मुख तथा शंखके समान सुन्दर कण्ठ है. उनका जत्रु (कण्ठके नीचेकी कंधेसे मिलानेवाली हड्डियां) अर्थात् हंसलियां मांसलपनेसे ढंकी हुई हैं. शुकदेवजीका वक्षस्थल पुष्ट एवं ऊपर उठा हुआ है. उनकी नाभि गोलाकार है तथा सुन्दर सलवटोंसे युक्त पेट मनोरम है. (मूलमें 'च'कार होनेसे पुरुषके भाव चिह्नका संकेत मिलता है) इस प्रकार शुकदेवजीमें बत्तीस लक्षण हैं. वे दिगम्बर हैं (दिशा रूपी वस्त्रोंवाले) तथा धुंघरारे केश बिखरे हुए हैं. उनके हाथ बहुत लम्बे हैं. समस्त देवताओंमें भगवानकी कान्तिके समान शुकदेवजीकी कान्ति है. उनका वर्ण श्याम है. वे सदैव अपनी मनोहर अवस्था और अंगोंकी शोभा द्वारा मन्द हास्यसे स्त्रियोंके मनको भानेवाले हैं. शुकदेवजी यद्यपि अपने तेजको छिपाए हुए वहां पधारे तदपि उनके लक्षणोंको जाननेवाले ऋषिगण अपने-अपने आसनों पर खडे हो गए. इन नवागन्तुक अतिथि शुकदेवजीकी महाराज परीक्षितने मस्तक झुकाकर पूजा की. इसके बाद उनके पीछे घेरा बनाए हुए अज्ञानी लोग, स्त्रियां और बालक वापस लौट गए. महाराज परीक्षितसे पूजा किये गए श्रीशुकदेवजी एक बहुत बडे आसन पर विराजमान हो गए।।२६-२९।।

श्रीशुकदेवजी बत्तीस लक्षणोंवाले थे. उनमें कितने ही लक्षण भीतर रहनेवाले थे. इस प्रकार वे लक्षण सब जगह व्याप्त होकर रहते थे. उनमें स्वयंकी इच्छासे प्रकट होनेकी सामर्थ्य थी. छः गुणवाली ऐश्वर्यकी सम्पत्तिसे वे युक्त थे. इस तरह उनमें भगवदीयपना है. अपनी इच्छासे लीला करना किसी बातकी अपेक्षा न रखना, तिरोधान (छिप जाने)का सामर्थ्य आत्माका लाभ और संतोष ये आठ गुण पच्चीसवें श्लोकमें कथित हैं. इनके अतिरिक्त अब अन्य गुणोंको बताया जा रहा है. आठसे दूने सोलह वर्षकी श्रीशुकदेवजीकी अवस्था है. ये वर्ष शरीरके होते हैं, जो कि उसके वृद्धि और क्षयके कारणरूप हैं. ऐसा मूंछका डोरा फूटनेसे निश्चय हुआ है. ''मर जानेवाली यह चमडी अपवित्र है'', ऐसा वेदमें कहा है, जिससे केश भी अपवित्र माने गये हैं. तो भी वे उत्पत्तिके अंगरूप होनेसे मृतपनेको बतानेवाले नहीं हैं. इस प्रकार शुकदेवजीको सोलह वर्षके समयका वृद्धिरूपी गुण प्राप्त हुआ है. परन्तु कामको उत्पन्न करनेवाला दोष उन्हें प्राप्त

नहीं हुआ. इस प्रकार बल आदि वृद्धिरूपी गुण होने पर भी उनमें कामकी उत्पत्तिरूप दोषका अभाव है. इस प्रकार दो गुण बतानेकेलिये ही दो बार आठ वर्षका प्रयोग किया है. अन्यथा एक ही में उन्हें सोलह वर्षका बता देना चाहिए था. दो बार आठ वर्ष कहे जानेमें काम और बुढापा आदिकी प्राप्ति न होनेकी सूचना है, और ज्ञान तथा भक्ति आदि गुणोंकी प्राप्ति व स्थापना केलिये दोषके अभावकी सूचना दी गई है. अथवा सोलह वर्षके बादवाला समय भगवानको भुला देनेमें कारणरूप है. इसलिए अपवित्र चर्मके स्पर्शका अभाव होनेसे अवशेष समयमें वे भगवानका स्मरण करते हैं, यह बताया है. दो बार आठ वर्ष कहे गये हैं, जिससे पीछेवाले अन्य कालका शुकदेवजीको स्मरण है और आर्य लोकमें उनकी प्रसिद्धि है, ये दो गुण बताये हैं. जो सम्पूर्णतया कुत्सित (निंदा करने योग्य)को मारता है, उसे सुकुमार कहते हैं. उस रीतिसे दोष रहितको सुकुमार कहा है और गुणयुक्त शुकदेवजीके चरण आदि हैं. इसलिए चरण, हाथ, हंसलियां, भुजाएं, जंघाएं व कपोलों (गालों) आदिको कोमलतासे युक्त बताया है. इस प्रकार उनका शरीर सुकोमल है, ये छः गुण कहे गये हैं. उनके नेत्र सुन्दर तथा विस्तारयुक्त हैं, नासिका ऊंची है. श्रीशुकदेवजीके दोनों कान समान और सुन्दर हैं, मुखके ऊपर शोभावाली दो भ्रुकुटियां और शंखमे समान तीन सलवटोंवाला श्रेष्ठ कण्ठ है. ये पांच गुण कहे गये हैं. कण्ठमालामें रहनेवाली हड्डियोंको जत्रु कहते हैं, उनकी वे अस्थियां बहुत गहराईमें छिपी हुई हैं, वक्षस्थल पुष्ट और ऊंचा है, चक्रीदार नाभी है, त्रिवलीयुक्त पेट है और उसका आकार पीपलके पत्तेके समान है; इस प्रकार ये चार गुण बताये हैं. मूलमें 'च'कार है, जो पुरुषपनेके चिह्नको बतानेवाला है. इस प्रकार ये छब्बीस लक्षण कहे गये हैं. अब उनका जो लोक विषयक उपकार है, उन दो कार्योंको कहा जा रहा है कि वे दिगम्बर(नग्न) हैं तथा केश घुंघरारे और बिखरे हुए हैं. उनमें ब्रह्मभाव होनेसे भगवान्के समान शरीरका व्यापकत्व है, अतएव दिशाएं ही वस्त्ररूप हैं. यदि वे लौकिक वस्त्र धारण करें तो अन्दर व्यवधान पडनेसे विभाग पड जाय और उससे लोकको पीडा हो, इसलिए शुकदेवजी नग्न पधारे हैं. उनके बिखरे हुए केश ब्रह्मा और शिव रूप हैं, क्योंकि 'क' और 'ईश' ये दो शब्द मिलकर 'केश' शब्द बनता है. उसमें 'क' ब्रह्माका अर्थ बतानेवाला है और 'ईश' शिवके अर्थको बतानेवाला शब्द है. उन केशोंमें उत्पन्न करनेकेलिये बांकापना है और उनके ग्रासरूप न

होनेकेलिये वे केश बिखरे हुए हैं. यदि ऐसा न हो तो ब्रह्मरूप होने पर भी महादेवजी गल जावें. केशोंका बांकापन उनका गुण है. शुकदेवजीके हाथ बहुत ही लम्बे हैं, वे घुटनों पर्यन्त हैं. देवताओंमें विष्णु भगवान् ही सर्वोत्तम हैं. उन विष्णुकी कान्तिके समान शुकदेवजीकी कान्ति है. उनका श्याम रंग है. सदैव स्त्रिओंका हित करनेवाली तरुण अवस्थासे अंगोकी शोभा बढी हुई है. वह शोभा स्त्रिओंकेलिये सुख उत्पन्न करनेवाली है. यह कोई वर्णन किये जानेवाला विषय नहीं है, परन्तु शुक मुनिके सौन्दर्यकी अधिकता बताई गई है. जिस प्रकार स्वर्णकी परीक्षा कसौटीसे होती है, उसी प्रकार पुरुषके सौन्दर्यकी परीक्षा स्त्रियोंकी दृष्टिरूपी कसौटीसे होती है. अतः शुकदेवजीके सौन्दर्यातिशयको बतानेकेलिये ही उन्हें स्त्रिओंके मनको भानेवाले कहा है. वे सुन्दर मन्द हास्य द्वारा स्त्रिओंके मनमें उतर जानेवाले हैं. स्त्रियां चतुर और अचतुर दो प्रकारकी होती हैं; उन दोनोंको ही शुकदेवजी मनोहर लगते हैं, ये बतानेकेलिये दो विशेषण हैं. इस प्रकार घुंघरारे केशोंसे लगाकर छः लक्षण बताये हैं. ऐसे बत्तीस लक्षणवाले शुकदेवजीको देखकर सारे मुनि आसनके ऊपरसे खडे हो गए. उनमें दूसरी प्रकारसे शुकदेवजीको जान पानेका ज्ञान नहीं था. उन्हें कहते हैं कि मुनिगण शुकदेवजीके लक्षणोंको जाननेवाले थे. उनके खडे होनेमें ज्ञान ही कारणरूप था और ज्ञान होनेमें मुनिपना कारणरूप था. ये ही शुकदेवजी हैं, ऐसा कोई लक्षण लौकिक प्रमाणसे नहीं जाना जा सकता था. इसीलिए उनके तेजको बहुत ही गूढ बताया है. राजाने जिस समय मुनिओंसे प्रश्न किया, उसी समय राजा भी खडे हुए थे, वहां शुकदेवजी पधारे, उसे कहते हैं. मूलमें 'सः' लिखा हुआ है, जिससे राजाका खडा होना बताया है. यहां परीक्षितका नाम 'विष्णुरात' लिखा है, जिसका अभिप्राय यह है कि भगवानने मेरी रक्षा इसीलिए की थी, ऐसा ज्ञान राजाको है. शुकदेवजीको अतिथि कहा है, क्योंकि ''जो अनित्यपनेसे रहते हैं, उसे अतिथि कहते हैं'' ऐसा वचन होनेसे शुकदेवजी कभी किसी स्थल पर निश्चित समयसे नहीं पधारते. ऐसे मुनिको क्या प्रदान करना चाहिए? ऐसी जाननेकी इच्छा होने पर कहते हैं कि मुनि आत्माके ही योग्य हैं, ऐसा समझकर राजाने मस्तक नंवाकर पूजा अर्पण की, अर्थात् उन्होंने अपने मस्तकको अर्पण किया. इसके बाद दूसरी रीतिसे बतानेकेलिये अज्ञानी लोग, स्त्रियां और बालक, जो तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुणके कार्य रूपमें शुकदेवजीने ग्रहण किये थे;

उनका त्याग किया. उसे कहते हैं कि इसके बाद गुणके कार्यरूपसे वे तीनों समूह (स्त्रियां-बालक-अज्ञानी) वापस लौट गये. तत्पश्चात् पूजा किये गये शुकदेवजी राजाके बैठने योग्य विशाल आसन पर विराजमान हुए।।२६-२९।।

इसके बाद वे सारे ऋषि शुकदेवजीसे दूर स्थित होने पर भी (उस श्रेष्ठ आधिदैविक स्थितिकी अनुभूति उस रूपमें न होनेके कारण भी आत्मिक रूपसे ऋषिओंकी दूरस्थ स्थिति संकेतित की गई हो सकती है) उनके चारों ओर समीपमें बैठे गए उसे कहते हैं:

स संवृतस्तत्र महान् महीयसां ब्रह्मर्षिराजर्षिसुरर्षिसङ्घैः ।
व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दुः ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः।।३०।।

शुकदेवजी महाराज चारों ओरसे ब्रह्मर्षि, राजर्षि और देवर्षिओं के समूहसे घिरे हुए हैं. वे ज्ञानिओंमें महान् भगवान् शुकदेवजी ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे ग्रह, नक्षत्र और ताराओंके समूहमें चन्द्रमा अत्यधिक शोभित हो रहा है।।३०।।

शुकदेवजी ब्रह्मर्षि आदि सभीसे घिरे हुए विराजमान हैं, उसका कारण कहते हैं कि वे ज्ञानिओंको भी ज्ञान देनेवाले हैं. ब्रह्मर्षि आदिकोंके तेजसे शुकदेवजीका तेज और भी बढ है. परन्तु उन सबके तेजसे शुकदेवजीके तेजको कुछ भी हानि नहीं हुई है. उसे कहते हैं कि शुकदेवजी बहुत ही शोभित हुए. यह उनका प्राकृत गुण नहीं है, उसे कहते हैं कि वे भगवान् हैं अर्थात् वे साक्षात् भगवान् ही शुकदेवजीके रूपमें पधारे हैं. तब उनकी महानता सब स्थलमें प्रसिद्ध हो गई है. इसे बतानेकेलिये एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार बुध आदि ग्रहोंसे और अश्विनी आदि नक्षत्रोंसे और अन्य दूसरे बिखरे हुए ताराओंके समूहसे युक्त चन्द्रमा आकाशमें शोभित होता है वैसे ही शुकदेवजी शोभित हो रहे हैं. ब्रह्मर्षि, राजर्षि और देवर्षि ऐसे तीन प्रकारके ऋषिओंसे वे घिरे हुए हैं, इसलिए दृष्टान्तमें भी वे ग्रह, नक्षत्र और ताराओंके समूहसे घिरे हुए चन्द्रमा बताये गये हैं. उसमें भी तीन भेद कहे हैं।।३०।।

परीक्षितने जिस समय ऋषिओंसे प्रश्न किया उसी समय शुकदेवजी पधारे, अतः शुकदेवजीसे ही पूछना चाहिए अन्यसे नहीं; ऐसी भगवानकी इच्छा जानकर अब राजा, श्रीशुकदेवजीसे पूछ रहे हैं:

प्रशान्तम् आसीनम् अकुण्ठमेधसं मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य ।

प्रणम्य मूर्ध्नाऽवहितः कृताञ्जलिः नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत्।।३१।।

परम शान्तिपूर्वक विराजमान, तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न श्रीशुकदेवजीको पासमें देखकर, भागवत् राजा परीक्षितने शिर नवाकर प्रणाम किया तथा हाथ जोडकर विनम्रता पूर्वक सत्य वाणीसे इस प्रकार पूछने लगे।।३१।।

इस श्लोकमें गुरु तथा शिष्यके धर्मको 'प्रशान्त' आदि पदसे कहा है. उसमें ज्ञान, ज्ञानका कर्म, अव्यग्रपना और साधन –ये चार गुरुके धर्म हैं. उन्हें पहले बताया जाता है, अत्यन्त शान्ति ज्ञानका कार्य है. बैठनेसे उनकी अव्यग्रता (स्थिरता) बताई गई है. उनका ज्ञान कभी भी रुकावटवाला नहीं है, इसलिए 'अकुण्ठ' कहा है. शुकदेवजीकी बुद्धि पर कोई प्राकृतपनेकी संभावना करे, उसे दूर करनेकेलिये 'मेधस्' शब्द प्रयुक्त हुआ है. 'मुनि' कहनेसे उनके साधनरूप मननको बताया है. इस प्रकार गुरुके चार गुण बताये. अब शिष्योंके गुण बतानेकेलिये कहते हैं कि कोई विशेष हो तो उसे गूढ अर्थ भी बता दिया जाता है, इसलिए परीक्षितका राजापना और भगवदीयपना बताया. इसके पश्चात् शिष्योंके छः धर्म बताये. पहला धर्म गुरुके सम्मुख जाना है, फिर शरीर द्वारा साष्टांग दण्डवत् करना, सावधानीसे रहना, प्रार्थना करनेकेलिये हाथ जोडना, बादमें वाणी द्वारा नमस्कार करना, तदनन्तर मधुर और सत्य वाणीसे प्रश्न करना चाहिए. ये छः गुण शिष्योंमें हों तो ही श्रवण करना सफल हो सकता है।।३१।।

राजा परीक्षित् प्रश्न करनेसे पहले श्रीशुकदेवजीकी स्तुति करते हैं:

राजोवाच

अहो अद्य वयं ब्रह्मन् सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः।
कृपयातिथिरूपेण भवद्भिः तीर्थकाः कृताः।।३२।।

अहो ! आश्चर्य है कि हम क्षत्रिय बन्धु हैं, तो भी आज सत्पुरुषोंकी सेवा करने योग्य हो गए, क्योंकि आप अतिथिकी कृपासे और स्वरूपसे हमें तीर्थ रूप बना दिये गये हैं।।३२।।

जिस प्रकार पहले ऋषिओंके पासमें अपनी प्रशंसा की थी, वस्तुतः वह ऋषिओंकी ही प्रशंसा थी; उसी प्रकार यहां भी अपनी प्रशंसा करते हैं, जो कि शुकदेवजीकी प्रशंसाकेलिये ही है. शुकदेवजी ब्रह्मरूप हो गये हैं, उनका साक्षात्कार बाहर हुआ है, यह आश्चर्यकी बात है. इसीलिए 'अहो' अव्यय मूलमें दिया है. 'है ब्रह्मन्', इस सम्बोधनसे 'आप ब्रह्मरूप हो' यह सिद्ध किया है.

हम सत्पुरुषोंकी सेवा करने योग्य हो गये हैं. अब हमें विदेह–जनकके समान उपदेश करनेका अधिकार मिलेगा. यद्यपि स्वभावसे तो हम क्षत्रिय बन्धु हैं या क्षत्रिय जिनके बन्धुरूप हैं, ऐसे हम क्षत्रिय वंशमें उत्पन्न हुए हैं, परन्तु हमारा अब क्षत्रिय धर्म नहीं है. सत्पुरुषोंकी सेवा करना तो दूर, ब्राह्मणोंके चरण धोनेका जल जिस स्थान पर गिरता है, उस स्थल तक भी राजकुल की पहुंच नहीं है, यह कथन पहले कह दिया है. शुकदेवजी पधारे उतने मात्रसे ही सेवा करनेकी योग्यता आपमें कैसे आ गई? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि गंगाजी आदिमें आप स्नान करते हैं और जैसे अपने सम्बन्ध मात्रसे उन्हें तीर्थरूप बना देते हैं, वैसे ही घरमें निवास करते हुए हमें कृपा करते हुए अतिथि रूपसे पधारकर आपने तीर्थरूप बना दिया है. जिससे हमारा तीर्थपना गौण न होकर मुख्यताको ही प्राप्त है।।३२।।

गंगा आदिमें स्नान करनेसे तो जल और देह का संयोग होनेसे पापी पुरुषोंके स्नान किये जाने पर उनका पाप उसमें घुला रहता है, वह सत्पुरुषोंके स्नान करनेसे उनमें चला जाता है, जिससे वह जल तीर्थ रूप हो जाता है और यहां सत्पुरुषके घर पर आ जाने मात्रसे ही तीर्थ रूप बना दिये गये? ऐसी शंका उत्पन्न होने पर कहते हैं:

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्श–पादशौचासनादिभिः।।३३।।

जिनके स्मरण मात्रसे ही पुरुषोंके घर शीघ्रतासे पवित्र हो जाते हैं, तो जहां उनके दर्शन–स्पर्श चरण प्रक्षालनका जल और असनादिक द्वारा घर शुद्ध हो जावे, उसमें कहना ही क्या?।।३३।।

घरमें रहते हुए आपका स्मरण होनेसे, स्पर्शसे जैसे अन्धकार दूर होता है, वैसे सब घरकी अशुद्धि दूर कर दी जाती है. उसके बाद करोडों सूर्यसे भी अधिक प्रकाश करनेवाले और ज्ञानेन्द्रियोंको पवित्र करनेवाले आपका दर्शन हो जाय, जलके समान साक्षात् पापको दूर करनेवाला आपका स्पर्श हो जावे, भगवान्के चरणकमलके समान अलौकिक जन्मको प्रदान करनेवाले आपके चरणका जल प्राप्त हो जाने और पूजाके अंगके रूपमें रहनेवाले आसन आदिको आप अर्पण कराये गये हों, तो वे सभी सब पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाले हैं. उसी प्रकर आपकी परिचर्या करनेमें आवे और जिससे घरकी शुद्धि हो जावे, तो उसमें कहना ही क्या? अतः घरका तीर्थरूप हो जाना योग्य ही है।।३३।।

जिन पापोंके निवारणकेलिए शास्त्रोंमें प्रायश्चित नहीं बताये गये वैसे पाप सत्पुरुषोंके आगमनसे जाते हों तो भले ही जाओ, पर जिन पापोंका प्रायश्चित्त धर्मशास्त्रोंमें कहा है, और जिनके विषयमें यह निश्चय हो है कि ये पाप तो निवृत्त होंगे ही नहीं, वैसे पाप केवल सत्पुरुषोंके आगमनसे चले जाते हों तो धर्मशास्त्रमें जिनके प्रायश्चित्त लिखे हैं, वे सब अर्थहीन हो जावें? ऐसी शंका करके कहते हैं:

सान्निध्यात् ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि।
सद्यो नश्यन्ति वै पुसां विष्णोरिव सुरेतराः।।३४।।

हे महायोगी, विष्णु समीपमें विराजते हों, तो जिस प्रकार दैत्य नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही आपके सान्निध्य मात्रसे ही पुरुषोंके बडे-बडे पाप भी शीघ्रतासे नष्ट हो जाते हैं।।३४।।

सब प्रायश्चित्त प्रमाणबलसे कहे गये हैं, यहां प्रमेयबलसे प्रायश्चित्त कहते हैं कि सत्पुरुषोंके सान्निध्यसे ही पाप दूर हो जाते हैं. योगसे अपने पुरुषार्थको साधनेवाला योगी कहलाता है और महायोगी तो अपने योगबलसे दूसरोंकेलिये सब वस्तुओंको सिद्ध करनेवाले होते हैं. उसमें पापकी निवृत्ति हो जाना तो आपका आनुषंगिक (मुख्य कार्यके अन्तर्गत प्रासंगिक कार्य) कार्य है. उसे कहते हैं कि महान् पाप भी आपके सान्निध्य मात्रसे ही नष्ट हो जाते हैं. बार-बारकी सन्निधि अथवा स्थिति की भी अपेक्षा नहीं रखते. उसमें प्रमेयबल ही कारणरूप है. इसकेलिये दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार विष्णु भगवान् पासमें ही बिराजते हों, तो देवताओंसे ईर्ष्या करनेवाले बडे-बडे दैत्य नाशको प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही आपके विराजनेसे आसपासके भी सब पाप नष्ट हो जाते हैं।।३४।।

इससे अधिक क्या कहें कि भगवानने ही यह उपाय किया है, परीक्षितकी इस भावनाको कहते हैं:

अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः।
पैतृष्वस्त्रेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः।।३५।।

मैं ऐसी सम्भावना करता हूं कि पाण्डुके पुत्र जिन्हें प्रिय हैं और पिताकी बहिनके पुत्रोंकी प्रीतिकेलिए उनके गोत्रका बन्धुपना जिन्होंने ग्रहण किया है, ऐसे श्रीकृष्ण भगवान् मुझ पर प्रसन्न हुए हैं।।३५।।

यदि मैं ही उपाय नहीं करूंगा, तो ब्रह्मदण्डसे भस्म हो जानेवाले

परीक्षितका निस्तार(उद्धार) नहीं होगा, ऐसा विचारकर भगवानने ही यह उपाय किया है. उस उपायको भी भगवानने प्रसन्न होकर किया है. क्योंकि वैसा करनेमें स्वयंको श्रम नहीं होता और दूसरेके पापकी निवृत्ति हो जाती है. यदि प्रभु वैसा न करें तो वह कार्य स्वयंको करना पडे. कौनसे कर्मसे भगवान् आप पर प्रसन्न हुए, ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि भगवानको पाण्डु राजाके पुत्र बहुत ही प्यारे थे. उसमें तुम्हे क्या? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि अपने पिताकी बहिन कुन्तीजी होते हैं, जिससे फूफीके लडकों पर प्रीति रखनेकेलिये भगवान् मुझ पर प्रसन्न हुए हैं, जिससे पिता और उनकी बहिनकी प्रीतिका भी आक्षेप हो जाता है कि दोनोंकी प्रीतिकेलिये मेरे ऊपर श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए हैं, क्योंकि पाण्डवोंके कुलका बन्धुपना श्रीकृष्ण भगवानने ग्रहण किया है अथवा बन्धुपना ही स्वीकारा है, उस प्रीतिकेलिये उनके वंशजके ऊपर हित किया है।।३५।।

इस प्रसंगको सिद्ध करनेवाला तर्क कहते हैं:

अन्यथा तेऽव्यक्तगतेः दर्शनं नः कथं नृणाम्।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः।।३६।।

अन्यथा हम जैसे मनुष्योंको, जो मरनेकी तैयारीमें हैं, उन्हें आप सदृश अव्यक्त गतिवालोंके दर्शन भला कैसे हो सकते हैं? आप सब प्रकारसे सिद्ध हैं और याचना किये जाने पर सब कुछ प्रदान करनेमें समर्थ हैं।।३६।।

लोकमें आपकी गति अव्यक्त है. स्वस्थ मनुष्योंको भी आपके दर्शन दुर्लभ हैं. तो फिर मृत्यु द्वारा पकडे हुए मनुष्योंको आपके दर्शन दुर्लभ क्यों न हों? जिस अदृष्टके द्वारा तुच्छ पुरुषपनेको और मृत्युके सम्बन्धको हमने प्राप्त किया है, उन दोनोंको दूर करनेमें आप समर्थ हो. आपका दर्शन होनेमें किसी अदृष्टका कार्यपना नहीं है, यह तो भगवानकी कृपासे ही सिद्ध हुआ है. तुच्छ नरपना और मरणके सम्बन्धको दूर करनेवाला आपका स्वरूप है. उसे कहते हैं कि आप सब प्रकारसे सिद्ध हो. जो औषधि सब प्रकारसे रसरूप बन गई हो, वह सबकी मृत्युका निवारण कर सकती है. आप भी दूसरोंकी मृत्युका निवारण करनेवाले हो. याचना करनेवालोंमें भी आप उत्तम हो. अन्य याचक तो दूसरेके पदार्थोंको ले जाते हैं, पर आप तो अन्योंके घरों पर जाकर यह कहते हैं कि ''मांगो, मैं समस्त पुरुषार्थोंको दूंगा''. क्षुद्र नरभावको दूर करनेवाले आपके दर्शन भगवानकी इच्छासे ही सिद्ध होते हैं।।३६।।

अतः आपके दर्शन दिखाई देनेवाले फलको प्रदान करनेकेलिये पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाले होवें, इसलिए कुछ पूछता हूं; इस प्रकार राजा परीक्षित् कहते हैंः

अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम्।
पुरुषस्येह यत् कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा ।।३७।।
यत् श्रोतव्यम् अथो जाप्यं यत् कर्त्तव्यं नृभिः प्रभो।
स्मर्त्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्।।३८।।

हे योगियोंके परम गुरु! हे सब प्रकारसे सिद्धिरूप शुकदेवजी! मैं परीक्षित् आपसे पूछता हूं कि यहां रहनेवाले पुरुषको और समीप-मृत्युवाले व्यक्तिको जो कुछ करना चाहिए, उसे आप भली प्रकार कहिए।।३७।।

हे प्रभो, मनुष्योंकेलिये जो सुनने योग्य हो, जप करने योग्य हो अथवा जिसे करना चाहिए, जिसे स्मरण करना चाहिए और जिसका भजन करने योग्य हो, अथवा जो कुछ इसके विपरीत हो, उसे आप मेरे लिए कहिएगा।।३८।।

योगीश्वरोंके होते हुए मुझसे क्यों पूछते हो? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि योगियोंके सिद्धिरूप तो आप ही हो. अर्थात् आपसे ही योगियोंको सिद्धि प्राप्त होती हैं. जिस प्रकार बहुत समय बाद किसी योगीको सिद्धि प्राप्त होती है, उसी प्रकार आप योगियोंसे आकर मिले हो. आप उन्हें समस्त पुरुषार्थ प्रदान करते हो. अतः आप योगियोंके गुरु हो. आप उन्हें ज्ञान प्रदान करते हो और उस ज्ञान द्वारा मोक्ष देनेवाले भी आप ही हो. योगियोंके आप ही परम हो. जिनके द्वारा वासुदेव भगवान् जाने जाते हैं, उन्हें परम कहा जाता है. उसी प्रमाणसे आप भक्ति प्रदान करते हो. जिससे वे भगवान्के स्वरूपको समझ सकते हैं. अतः आप परम हो. अथवा उन्हें आप भक्ति प्रदान करते हो, जिससे उत्तम हो, इसलिए मैं तुमसे पूछता हूं. पूछे जानेमें कारणका कथन करके अब पूछना प्रारंभ करते हैं कि सुनना आदि कर्म पांच प्रकारके हैं और उससे उलटे विषयके प्रश्न भी पांच प्रकारके हैं. इस प्रकार दस प्रकारके कर्म हैं. इसी प्रकार कर्ता भी दो प्रकारके हैं. एक वह जो जीवन जी रहा है और दूसरा वह जो मरनेकी तैयारीमें लग है. उस एक-एक कर्ताके दस-दस कर्म हैं. जिससे दोनों कर्ताओंके बीस कर्म हुए, परन्तु उनका पांच प्रकारके विपरीत कर्मोमें सम्बन्ध नहीं है. जीवित रहनेवालेके पांच कर्मोमें मृत्युको प्राप्त होनेवाले पुरुषका सम्बन्ध नहीं है और इसी प्रकार मरनेवाले

मनुष्यके पांच कर्मोमें जीवित रहनेवाले मनुष्यका सम्बन्ध नहीं है. कर्ता तो दो प्रकारके निश्चित हो ही गये हैं. ये दोनों कर्ता और इनके पांच-पांच कर्म मिलकर बारह होते हैं. उनमेंसे प्रथमको कहा जा रहा है कि यहां ही गृहस्थाश्रममें रहनेवाले जीवित पुरुषको जो करने योग्य हो, प्रथमतः उसे ही कहिए. दूसरेकेलिये पूछते हैं कि जो मरनेकी तैयारीमें हो, उसकेलिये जो आवश्यक कर्म हो, उसे बताइये. अब साधारणतया कहते हैं कि जो मरनेको तैयार बैठा है और जो अभी जीवित रहनेकी स्थितिमें है, उन दोनोंके ही जो सुनने योग्य हो, उसे कहिए. इन कर्ण इन्द्रियोंको किस कार्य-व्यापारमें नियुक्त किया जावे, उसे सुनाइयेगा. इस प्रश्नसे बाहरकी ज्ञानेन्द्रियोंका कहा भेद समझना है. अब दूसरी प्रक्रियासे पूछते हैं, यह बतानेकेलिये 'अथ' अव्ययका प्रयोग किया है. मन तथा वाणी दोनों द्वारा सम्मिलित होकर, जो जप करने योग्य हो, उसे कहिए. इसलिए जपमें वाणी तथा मनको एकाग्र रखना चाहिए. अब इन दो ज्ञानेन्द्रियोंका कर्तव्य पूछकर केवल कर्म इन्द्रियोंका कर्तव्य पूछते हैं कि जो साधारण मनुष्योंको करने योग्य है उसे बताइए. वैसा कहनेमें आपकी सामर्थ्य है, यह बतानेकेलिये 'प्रभो' सम्बोधन दिया है. इस प्रकार वैदिक मार्गसे तीन प्रश्न किये हैं, अब भक्ति मार्ग द्वारा दो प्रश्न किये जा रहे हैं कि स्मरण करने योग्य क्या है? और भजन करने योग्य क्या है? उन्हें कहिए. स्मरण करना अन्दरका कार्य है. भजन करना बाहरका कार्य है. मूलमें 'वा' अव्यय दिया हैं. जो नहीं करने योग्य कर्तव्य हैं, उन्हें न बताने पर भी करने योग्य कर्तव्योंके आधार पर न करने योग्य समझा जा सकता है. जो न करने योग्य कर्मको नहीं कहोगे, तो दोनों प्रकारका कर्तव्य प्राप्त हो जायेगा. उदाहरणके रूपमें, ''पांच नखवाले पांच पशु भक्षण करने योग्य है'', ऐसा कहनेसे बाकीके बचे हुए भक्षण करने योग्य नहीं है यह समझ लिया जाता है. ''ऋतुकालमें ही स्त्रीसे समागम करना चाहिए'', इस कथनसे अन्य समयमें नहीं करना चाहिए, यह बात स्वतः सिद्ध हो गई. उसमें नियम विधि माननेसे कर्तव्य और अकर्तव्यका बोध हो जाता है, परन्तु ये दोनों ही स्थितियां कर्तव्य हैं, ऐसा बोध नहीं होता. उसी प्रकारसे यहां भी नियम विधि प्रमाणसे कर्तव्य बताये जायें तो दोनोंको करनेवाली बात सिद्ध नहीं होती. इसे स्पष्ट करनेकेलिये इन कर्तव्योंका विपरीतपना भी बताइयेगा. ऐसा प्रश्न क्यों किया गया? ऐसी शंका नहीं करना चाहिए. क्योंकि जो कर्तव्य बताये गये हैं, उनमें ही नियम विधि मानना चाहिए,

इसके अतिरिक्त और कोई कर्म नहीं करना है. उसमें आवश्यक रूपसे करने योग्य देहादिक धर्ममें भी बाधा आती है, इसलिए जो विपरीत कर्म हैं, उन्हें भी पूछा है कि आप उन्हें भी कहिए. जिससे यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए समझा जा सके।।३७-३८।।

एक ही समयमें ये सारे ही प्रश्न क्यों कर लिये? उसका समाधान कहते हैं:

नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम्।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानम् अपि गोदोहनं क्वचित्।।३९।।

हे ब्रह्मन्, यह निश्चित है कि गृहस्थियोंके घरो पर आपका ठहराव कभी भी गायको दोहनेके समय जितना भी नहीं होता, मुझे ऐसा ही लगता है।।३९।।

क्षोभ न होने देनेकेलिये 'आप ब्रह्मरूप हो', ऐसा सम्बोधन दिया है. गृहस्थियोंके घरोंमें आपकी स्थिति नहीं जानी जा सकती. दैवगतिसे कभी कुछ स्थिति बनती भी है, तो वह एक गाय दोहनेके समय जितनी ही बन पाती है. कभी भिक्षा लेने पधारे हों, तब जिस घरमें भिक्षाका उत्तर न मिला हो, उस घरमें गाय दोहनेके समय तक आप स्थित रहते हो. यों तो परम हंसोंकेलिये भिक्षा आदिका कोई नियम नहीं है, उसमें भी योगियोंकेलिये तो भिक्षाकेलिये कोई आवश्यक नियम नहीं है. उन सबमें भी जो साक्षात् भगवान्के भावको प्राप्त हुए हैं, उन महानुभावोंकेलिये तो यह नियम सर्वथा ही नहीं है. तिस पर भी जिनकी बुद्धि घरमें ही लगी हुई है, लोककी प्रवृत्तिमें ही जो रचे-पचे हैं, उनके घरोंमें तो आप जैसे भगवद्भावको प्राप्त, भिक्षाकेलिये पधारते ही नहीं. जो बहुत ही मोह करनेवाले हैं, ऐसे पुत्रों आदिसे युक्त घरमें भी तिरस्कार होना सम्भव है, इसलिए उनके घरोंमें गायके दोहने जितने समय भी आप सदृश नहीं ठहरते. ''वानप्रस्थ आश्रमके स्थनोंमें सर्वदा भिक्षा करे'', ऐसे परमहंसोंके धर्मवाक्य हैं. जिससे गृहस्थ आश्रमियोंके घरमें आपकी स्थिति हो ही नहीं सकती. ऐसा होते हुए भी कभी आप भिक्षाकेलिये पधारे हों और वह भिक्षा न दे, तो उस गृहस्थाश्रमीका सारा पुण्य जाता रहता है. इस शंकासे कि कहीं गृहस्थाश्रमी किसी काममें लगा हुआ होगा, ऐसी सम्भावना करके आप वहां केवल गायको दोहनेके समय तक स्थित रहते हो. गृहस्थाश्रमी धर्मके काममें रुका हुआ हो और उसे भिक्षा देनेमें विलम्ब

हो जाय, इसे बतानेकेलिये मात्र गायको दोहने जितने समय तक उसके घर खडे रहते हैं; जिससे अग्निहोत्रवाले गृहस्थाश्रमीके घर गाय दोहनेके समय तक अर्थात् कुछ समय तक रुके रहनेका अभिप्राय बताया है।।३९।।

इस प्रकार राजा परीक्षितके पूछने पर उन्हें उत्तर देनेकेलिए श्रीशुकदेवजी महाराज तत्पर हुए, ऐसा सूतजी कहते हैं:

सूत उवाच

एवम् आभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा।
प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः।।४०।।

इस प्रकार राजा परीक्षित् द्वारा कोमल वाणीसे स्तुति पूर्वक पूछे जाने पर, धर्मके जाननेवाले, व्यासजीके पुत्र भगवान् श्रीशुकदेवजी उत्तर देने लगे ।।४०।।

राजा परीक्षितने शुकदेवजीकी स्तुति की और स्नेहको प्रकाशित करनेवाली वाणीसे प्रश्न किया, अर्थात् किसी प्रकारके वक्र शब्दसे रहित प्रश्न पूछा. उन सब प्रश्नोंका उत्तर शुकदेवजीने द्वितीय स्कन्धके प्रारम्भमें दिया है. शुकदेवजी ब्रह्मको जाननेवाले हैं, अतः उनके देनेका कारण कहते हैं कि वे अपने धर्मको जाननेवाले हैं. ''सभामें प्रश्न किया जावे और तब उत्तर नहीं दिया जावे तो वह मनुष्य पापी कहलाता है'' ऐसा मनुस्मृति आदिमें लिखा है. शुकदेवजी ऐसे धर्मको जाननेते थे अतः जानते होने पर भी उत्तर देनेवालेके प्रति ये शास्त्रवचन प्रसक्त होते हैं. उत्तर देने पर भी उनको किसी बातकी हानि नहीं है, यह बतानेकेलिये कहा है कि वे भगवान् हैं. उत्तर देनेकी आवश्यकता बतानेकेलिये कहते हैं कि वे व्यासजीके पुत्र हैं. यदि वे उत्तर न दें तो व्यासजीका भागवत् बनाना ही निरर्थक हो जावे. उनका शरीर व्यासजीसे उत्पन्न हुआ है, इसलिए भी उस दायित्वका निर्वहन करनेकेलिये या निवृत्तिकेलिये, उन्होंने उत्तर प्रदान किया है. इस तरह शुकदेवजी द्वारा उत्तर दिये जानेकी अवधिके कार्यको प्रथम स्कन्धमें निरूपित कर दिया है।।४०।।

अब श्रीवल्लभाचार्यजी द्वारा इस स्कन्धकी समाप्ति पर जो सुबोधिनी विषयक कारिकाएं अन्तमें लिखी गई हैं, वे इस प्रकार हैं:

आद्यस्कन्धस्य विवृतिः श्रीकृष्णचरणाम्बुजे।।

निवेदितातियत्नेन वाक्पुष्पाञ्जलिरुज्जवला ।।का.१।।
सुज्ञेषु हस्त–युगलं पुरतो निधाय विज्ञापयामि मुरवैरि–पदाब्ज–निष्ठः ।।
उच्छृंखलापि विवृतिर्मम चिन्तनीया श्रीकृष्णपादयुगले विनिवेशितेति ।।का.२।।

प्रथम स्कन्धकी विवृति (व्याख्या) करनेकेलिए उज्वल वाणीरूपी पुष्पाञ्जली अत्यन्त परिश्रमसे श्रीकृष्ण भगवान्के चरणकमलोंमें निवेदन की है।।१।।

मुर दैत्यके शत्रु श्रीकृष्ण भगवान्के चरणकमलोंमें मैं निष्ठावाला हूं. जो श्रेष्ठको जाननेवाले सुज्ञ हैं, उन पुरुषोंके सामने मैं दोनों हाथ आगे रखकर यह विज्ञापित करता हूं कि मेरे द्वारा की गई यह व्याख्या; हो सकता है कि उच्छृंखल हो (मर्यादाका उल्लंघन कर गई हो), तो भी उसे श्रीकृष्ण भगवान्के दोनों चरणोंमें पधराया है, अतः यह विवरण चिन्तन करने योग्य है।।२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथम स्कन्धके १९वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
के 'उत्तमाधिकार प्रकरण'का तेरहवां अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण